श्रीभगवत्कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत

कुन्दकुन्द-भारती

सम्पादक
पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर
साहित्याध्यापक
श्री गणेश दि० जैन संस्कृत विद्यालय, सागर

प्रकाशक
श्रुत भण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटन

प्रकाशक :
श्री वालचन्द देवचन्द शहा, बी० ए०, मंत्री
श्री मोतीचन्द मलूकचन्द दोशी, मंत्री
श्री श्रुत भण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटन

प्रथमावृत्ति :
वीर निर्वाणाब्द : २४९७
विक्रमाब्द : २०२७
सन् : १९७०

मुद्रक :
आनन्द प्रेस
गौरीगंज, वाराणसी-१
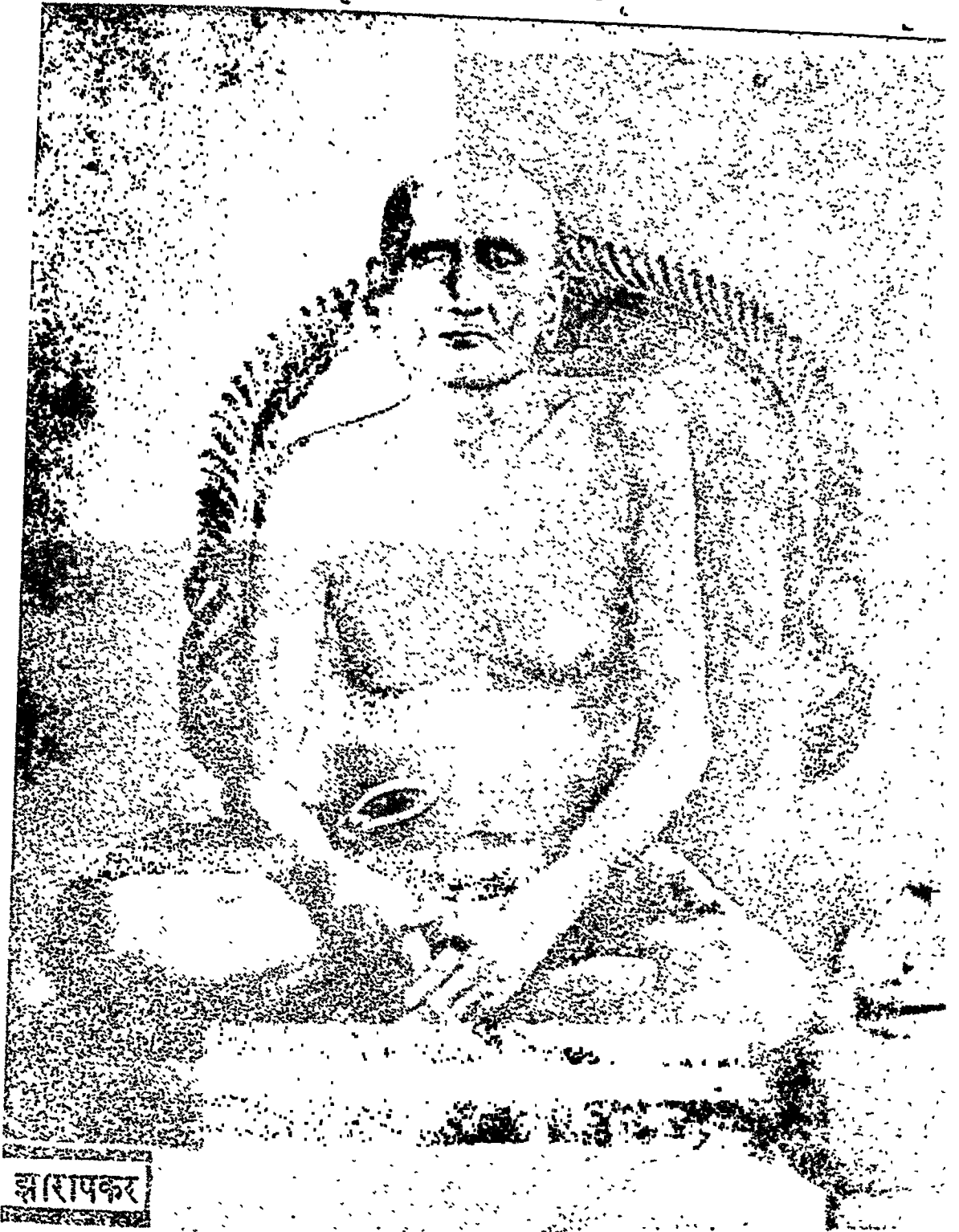
चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी महाराज

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रातः स्मरणीय पू. १०८ चा. च. आचार्य श्री शांतिसागर महाराजने विशिष्ट दृष्टिसे जिनवाणीके प्रसारके कार्यको हमें सौंपा था। उसका उन्हींके आदेशानुसार यथाशक्ति निर्वाह करते आ रहे हैं। आचार्यश्रीके आदेशानुसार उच्चकोटिके सिद्धान्त ग्रंथोंके प्रकाशनके लिए यथासंभव प्रयत्नशील रहे।

आज भगवान् कुन्दकुन्दके समग्र आध्यात्मिक ग्रन्थोंका मूलगाथानुगामी हिंदी अनुवाद "श्री कुन्दकुन्द-भारती" के नामसे प्रकाशित हो रहा है।

दिगम्बर जैन संप्रदायमें आचार्य कुन्दकुन्दकी प्रतिष्ठा विशेष है। महावीर तीर्थंकर और गणधर गौतमस्वामीके अनंतर मंगलरूपसे आचार्य कुन्दकुन्दका नाम गौरवके साथ लिया जाता है। जैनसाहित्यमें इनकी रचनाओंका अनेक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैनधर्म व सिद्धान्त विषयक सभी मुख्य-मुख्य विषयोंका इसमें समावेश हुआ है।

यह कुन्दकुन्द-भारती स्वाध्याय-प्रेमी व्यक्तियोंको आचार्यश्रीके दृष्टिका अध्ययन, चिंतन, मनन करनेके लिए अवश्य ही सहायता पहुँचावेगी ऐसा हमें विश्वास है। इस ग्रंथके अनुवादक तथा संपादक विद्वद्वर्य श्री पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य अनेक ग्रंथोंके सुयोग्य अनुवादक संपादक टीकाकार हैं। आपके द्वारा पुराण काव्य नाटकादि ग्रंथोंका सरल तथा सुबोध अनुवाद हुआ है। आप सागर गणेश महाविद्यालयके साहित्य विषयके प्रधानाध्यापक और भा. दि. जैन विद्वत् परिषद्के कार्यकारी मंत्री हैं। कुन्दकुन्द-भारतीका संपादन तथा अनुवाद आपहीके द्वारा हुआ है। और आपने यह ग्रन्थ ग्रन्थमालाको प्रकाशनार्थ दिया है इसलिए ग्रंथमाला आपकी अत्यंत आभारी है।

इस ग्रंथका श्रीमान् विद्वद्वर्य पं. जिनदासजी पार्श्वनाथजी फडकुले शास्त्री सोलापूरने स्वाध्याय करके प्राक्कथन भी लिखकर देनेकी कृपा की जिसके लिए संस्था आपकी भी अत्यंत आभारी है।

मधुकुंज घाटकोपर
मुंबई
दिनांक ३१-१०-७०

श्री आ. शांतिसागर दि. जै. जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्थाके
ट्रस्टियोंकी ओरसे
बालचंद देवचंद शहा
मंत्री

श्रीमान् पं० पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य दि० जैन समाजमें एक अग्रगण्य विद्वान् हैं। इन्होंने अनेक दिगंवर ऋषि प्रणीत ग्रन्थोंका अनुवाद करके जैन समाजके ऊपर महोपकार किया है। आचार्य प्रवर श्री जिनसेन, श्रीगुणभद्र आदिके पूर्व पुराण, उत्तरपुराण (महापुराणान्तर्गत) तथा हरिवंशपुराण आदि प्रथमानुयोग संवंधी ग्रंथोंका अनुवाद किया है। उन ग्रंथोंका स्वाध्याय करके दि० जैनधर्ममें सार्धमिकजन दृढ़ स्थिर हुए हैं। हाल ही में उन्होंने प्राचीन और स्वाध्यायके प्रारम्भमें जिनका नाम स्मरण भगवान् महावीर, और गौतम गणधरके साथ किया जाता है ऐसे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यजीके प्रायः समस्त ग्रंथोंका अनुवाद किया है जिससे दि० जैनागमका तत्त्वज्ञान, अहिंसादिक यथार्थ आचार, परमार्थ सत्य, देव, शास्त्र गुरुओंका स्वरूप पाठकोंको ज्ञात होगा, महान् आचार्य अमृतचन्द्र, श्रीजयसेनाचार्य, पद्मप्रभ मलधारी, श्रीश्रुतसागरजी आदिकोंने संस्कृत भाषामें विस्तृत टीकाओंकी रचना कर आचार्यश्रीके आगमोंका खुलासा किया है परन्तु उनको पढ़कर आचार्यश्रीका आगमार्थ जानना महा कठिन था—श्रीमान् पंडितजीने अपने धार्मिक वन्धुगण, आचार्यश्रीके ग्रंन्थोंका अभिप्राय सुलभतासे जिस प्रकारसे समझ सकेंगे उसका अवलंवन किया है।

प्रारम्भमें विस्तृत प्रस्तावना दी है जिसमें कुन्दकुन्दस्वामीके परिचयके साथ उनके समस्त ग्रंथोंका हार्द सरल हिन्दी भाषामें दिया है, विस्तृत विषय सूची और प्रत्येक ग्रन्थकी अलग-अलग अनुक्रमणिकाएँ दी हैं।

आचार्य श्रीकुन्दकुन्दके सर्वग्रंथ अर्धमागधी भाषाके अधिकांश गाथा छन्दमें हैं, उनकी प्रत्येक गाथा अतिशय सरलतासे अपना अभिप्राय वताती है। इनके ग्रंथ पढ़नेसे अर्धमागधी भाषाभिज्ञोंको जल्दी ध्यानमें आता है।

पंडितजीने हिन्दी अनुवाद अतिशय सरल रीतिसे किया है। प्रत्येक गाथाका यथार्थ अभिप्राय वे अपने अनुवादमें पूर्णतया ला सके हैं। तथा भावार्थमें उन्होंने और अधिक खुलासा किया है।

मैंने प्रत्येक गाथाका अनुवाद ध्यानपूर्वक देखा है वह पूर्ण समुचित है तथा निर्दोष है। मुझे इस अनुवादके पढ़नेसे वहुत प्रसन्नता हुई। प्रातर्वन्द्य आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थ समुच्चयका नाम पंडितजीने "श्रीकुन्दकुन्दभारती" रक्खा है व योग्य है।

इन पुस्तकोंमेंसे जो 'भक्तिसंग्रह' प्राकृत भाषामें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यका है उस विषयमें श्रीप्रभाचन्द्राचार्य ऐसा लिखते हैं "संस्कृताः सर्वा भक्तयः पूज्यपादस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः" अर्थात् प्राकृत सिद्धभक्ति, प्राकृत श्रुतभक्ति, प्राकृत चारित्रभक्ति, प्राकृतयोगिभक्ति, और प्राकृत आचार्यभक्ति, तथा प्राकृत तीर्थकरभक्ति, निर्वाणभक्ति, पंचगुरुभक्ति, इतने भक्तियोंका संग्रह इसमें है। कुछ भक्तियोंकी अंचलिका मात्र है। जैसे नन्दीश्वरभक्ति, शान्तिभक्ति, समाधिभक्ति, और चैत्यभक्ति। इनकी गाथाएँ नहीं हैं।

अस्तु यह 'श्रीकुन्दकुन्दभारती' स्वाध्यायके वड़ी उपयोगी है। इस सत्प्रकाशनके लिये सम्पादक और प्रकाशक धन्यवादके पात्र हैं।

विनीत
जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले
सोलापुर

श्री १०८ आ. शांतिसागर दि. जै. जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था का संक्षिप्त परिचय

श्रेयःपद्मविकासवासरमणिः स्याद्वादरक्षामणिः
संसारोरगदर्पगारुड़मणिर्भव्यौघचिन्तामणिः ।
आशान्ताक्षयशान्तिमुक्तिमहिषीसीमन्तमुक्तामणिः
श्रीमद्देवशिरोमणिविजयते श्रीवर्धमानो जिनः ॥

श्री १०८ चारित्र चक्रवर्ती श्री आचार्य शांतिसागर महाराजके जीवनचरित्र और जीवन संदेशसे सकल दि. जैन समाज भलीभाँति परिचित है। आचार्य श्री का तपोमय पवित्र जीवन परम गौरवशाली रहा है। उनके जीवन कालमें अगणित धर्मकार्योंकी सम्पन्नता और विविध संस्थाओंकी स्थापना हुई है। उन्होंने अपने समाधिकालमें स्वात्मानुभव तथा आगमके अनुसार जीवनकी सफलताके लिए अपूर्व उपदेश देकर संसारको सुखशान्तिका मार्ग दर्शन किया है जिसमें पहिला आत्मचिन्तनका और दूसरा निरन्तर आगमरक्षा ज्ञानदानका पावन सुलभ मार्ग वतलाया है। आत्मचिन्तनका मार्ग व्यक्तिगत है फिर भी इस मार्गपर चलनेके पहले आत्मविश्वासके लिए आगमका अध्ययन आवश्यक है। सर्व साधारणको आगमकी प्राप्ति सुलभ हो इसके लिए आचार्यश्रीने समय समयपर अपने उपदेशों द्वारा अमूल्य शास्त्रदान करनेकी प्रेरणा की जिस उपक्रमका परिचय सभी भारतवासी जैन भाइयोंको होना आवश्यक है।

इसी समय आचार्यश्रीको ज्ञात हुआ कि दिगम्बर संप्रदायके महामान्य और प्राचीनतम ग्रंथराज श्री षट्खण्डागम–धवल–कषाय पाहुड–जयधवल–और महाबंध–महाधवल–की एक मात्र मूडबिद्रीमें उपलब्ध ताडपत्रीय प्रतियाँ जीर्ण शीर्ण होती जा रही हैं। उनमेंसे एक ग्रंथके तो पाँच हजार श्लोक नष्ट हो गये हैं और शेषके पत्र हाथमें उठाते ही टूटकर विखरने लगे हैं। यह ज्ञात होते ही आचार्यश्रीका हृदय द्रवीभूत हो उठा और अहर्निश यह विचार मनमें चक्कर लगाने लगा कि किस तरह इस अमूल्य आगम निधिकी रक्षा की जाय, जिससे कि ये ग्रंथराज युगयुगान्त तक सुरक्षित रह सकें। उन्होंने अपना आशय समाजके कुछ प्रमुख लोगोंके सामने व्यक्त किया कि यदि इन ग्रंथराजोंको ताम्रपत्रोंपर उत्कीर्ण करा दिया जाय तो यह अमूल्य श्रुतनिधि युगंयुगके लिए सुरक्षित हो जाय। तदनुसार उक्तकार्यको सम्पन्न करने के लिए 'श्री १०८ चा. च. आ. शान्तिसागर दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक' संस्था की स्थापना वीर सं २४७० के पर्यूषण पर्वपर श्री सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरिपर हुई।

तत्पश्चात् वीर सं० २४७१ के फाल्गुन मासमें आचार्यश्रीके वारामती पदार्पण करनेपर उक्त संस्थाकी नियमावली बनवाकर कानूनके अनुसार रजिस्ट्री करा दी गई। अधिकारी व अनुभवी विद्वानोंकी देखभालमें तीनों सिद्धान्त ग्रंथोंको ताम्रपत्रोंपर उत्कीर्ण कराया गया। उत्कीर्ण ताम्रपत्रोंका आकार ८×१३ इंच है। तीनों सिद्धान्त ग्रन्थोंके ताम्रपत्रोंकी संख्या

२६६४ हैं जिसका वजन लगभग ५० मन है। साथ ही साथ तीनों ग्रंथोंकी पाँच पाँच सौ प्रतियाँ भी मुद्रित कराई गयी हैं जिनका उपयोग अधिकारी विद्वान् और स्वाध्याय प्रेमी पाठक चिरकाल तक करते रहेंगे। तीनों ग्रंथ विशुद्ध रीतिसे छापे जाँय इसलिए मूडविद्रीको फोटोग्राफर भेजकर ताडपत्रपर लिखे गये तीनों ग्रंथके फोटो भी लाए गये। वे फोटो संस्थाकी लायब्रेरी फलटणमें सुरक्षित रखे गये हैं। ऐसा महान् कार्य जैन समाजमें तो क्या अन्य भारतीय या विदेशीय समाजमें भी अभी तक नहीं हुआ है।

वीर संवत् २४८० में आचार्यश्रीका चातुर्मास फलटणमें हुआ था। इस समय आचार्य-श्रीने आगमसंरक्षण और ज्ञानदानकी एक रचनात्मक योजना समाजके सामने रखी। फल-स्वरूप ताम्रपत्रोत्कीर्ण ग्रंथराजोंकी सुरक्षाके लिए श्री १००८ चंद्रप्रभमंदिरजीमें आचार्यश्रीके हीरकमहोत्सवके समय संकलित निधिमेंसे बचे हुए करीब बीस हजार रुपयोंसे नया भवन बनवाया गया, जिसमें यह समस्त श्रुतनिधि अत्यन्त सुरक्षित रूपसे रखी गयी है।

सल्लेखना अंगीकार करनेके थोड़े समय पूर्व आचार्यश्रीके उपदेशोंमें एक महान् परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। अब तक आचार्य श्री गृहस्थोंके कल्याणके लिए जिनबिंब, जिनागार और पूजादि पुण्यकार्यके लिए अधिकतर उपदेश देते थे किन्तु अब आपने अनुभव किया कि शास्त्रस्वाध्याय बिना धर्मश्रद्धान दृढ़ नहीं रहेगा और शास्त्रोंके सुलभता बिना स्वाध्याय नहीं हो सकेगा, अतः प्रत्येक ग्रामके जिनमंदिरोंमें आगमकी सुलभता होनी चाहिए। स्वाध्यायके साधनभूत शास्त्र यदि सानुवाद हों तो जनताको भारी लाभ होगा। अतः स्वाध्यायप्रेमियोंको शास्त्र बिना मूल्य मिलना चाहिए। आचार्यश्रीके उक्त उद्‌गारोंसे प्रेरणा पाकर फलटण निवासी दि० जैन समाजने पूर्व संस्थापित श्री १०८ चा० च० आचार्य शांतिसागर दि० जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्थासे प्रमाणित श्रुतभण्डार और ग्रंथ प्रकाशन समितिकी स्थापना की। इस संस्थाके निर्माणमें तथा विकास-कार्यमें फलटणके सभी भाइयोंने उत्साहपूर्वक सहयोग दिया। जिन उद्देश्योंको लेकर यह संस्था स्थापित हुई वे इस प्रकार हैं—

(१) प्राचीन तथा जीर्णोद्धार किये गये श्री धवलादि ग्रंथराज इस संस्थाके द्वारा सुरक्षित रखे जाँय और उनकी सुरक्षाका कार्य निरन्तर फलटणवासियोंकी ओरसे जिम्मेदारी पर किया जाय।

(२) श्री धवल ग्रंथके ताम्रपत्र तथा अन्य छपे ग्रंथोंकी छपी हुई प्रतियोंकी सुरक्षा तथा ज्ञानदानके योग्य प्रबन्धका कार्य होवे।

(३) इन दोनों उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए योग्य और अच्छे भवनका प्रबन्ध।

(४) आगम ग्रंथोंके स्वाध्यायके लिए प्रचलित भाषाओंमें अनुवाद सहित मूल गाथा सूत्रके साथ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ छापनेका और ज्ञानदानका साक्षात् प्रबन्ध करना।

उक्त उद्देश्यों की पूर्तिके लिए इस अवधिमें जो कार्य हुआ है वह समाजके सम्मुख हैं। ज्ञानदानके शुद्ध ध्येयकी दृष्टिमें रखकर जो ग्रन्थराज मुद्रित होकर वितरण करनेके लिए तैयार हो गये हैं उनकी सूची तथा केवल छपाईमें लगे हुए खर्च के लिए जिन्होंने दान दिया है उनके शुभ नाम इस प्रकार हैं।

ग्रंथनाम	दातारनाम
१. श्री रत्नकरंडश्रावकाचार	श्री गंगाराम कामचन्द दोशी—फलटण
२. श्री समयसार	श्री हिराचन्द केवलचन्द दोशी—फलटण
३. श्रीसर्वार्थसिद्धि	श्री शिवलाल माणिकचन्द कोठारी—बुध
४. श्री मूलाचार	श्री गुलावचन्द जीवन गाँधी—दहीवडी
५. श्री उत्तर पुराण	श्री जिवराज खुशालचन्द गाँधी—फलटण
६. श्री अनगार धर्मामृत	श्री चन्दुलाल कस्तूरचन्द—मुंवई
७. श्री सागारधर्मामृत	डॉ पम्दण्णी धरण्पा वैद्य, निमगाँव
८. श्री धवलग्रंथराज	श्री हिराचन्द तलकचंद—वारामती
९. श्री कपायपाहुड	श्री वावूराव भरमप्पा ऐनापुरे—कुडची

आचार्य महाराजके संकेत और आज्ञानुसार इन ग्रंथोंके लिए कागज संस्थाकी ओरसे दिया गया है। ग्रंथोंका वितरण प्रत्येक शहर तथा ग्राममें जहाँपर दि. जैन मन्दिर विद्यमान हैं वहाँपर प्रत्येक ग्रंथकी एक-एक प्रति पहुँचे ऐसी योजना की गई है। संस्थाके सभी सदस्योंको भी एक-एक प्रति विना मूल्य दी जाती है।

समाजके जिन श्रीमानोंका संस्थाकी स्थापना और विकासमें हमें आर्थिक सहयोग प्राप्त है, और जिसके कारण संस्थाके द्वारा महान् कार्य हो रहे हैं तथा जो आचार्य महाराजकी अमूर्त आज्ञाको साकार एवं कार्यान्वित करनेमें प्रधान कारण हैं ऐसे उन सभी श्रीमानों और उदारतापूर्व ग्रंथोंकी छपाई आदिमें आर्थिक तथा अन्य सहायता पहुँचानेवाले दातारोंको उनके धर्म प्रेमके लिए हार्दिक धन्यवाद है।

आशा है कि अन्य दानी धर्मप्रेमी महानुभाव इस परम पवित्र विश्वपावनी जिनवाणीके प्रसारके महत्त्वपूर्ण कार्यके लिए सक्रिय सहयोग देकर और अपनी उदारता प्रकट कर महान् पुण्यका संचय करेंगे, ताकि संस्थाका कार्य उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता रहे।

आज आचार्यश्री हमारे सामने नहीं हैं, तथापि उनकी पवित्र आज्ञाको शिरोधार्य कर हम जितना कार्य उनके सम्मुख कर सके थे, उससे उन्होंने परम संतोपका अनुभव अपने सल्लेखना कालमें किया था और उनकी ही आज्ञा और इच्छाके अनुसार हम भगवान् कुंदकुंदाचार्यके समग्र ग्रंथोंका श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागरके हिन्दी अनुवाद सहित "श्रीकुन्दकुन्दभारती" नामक अमूल्य ग्रंथ पाठकोंके करकमलोंमें स्वाध्यायार्थ भेंट करते हुए परम हर्पका अनुभव कर रहे हैं।

आचार्यश्री प्रशान्तचित्त, गाढतपस्वी, जिनधर्म प्रभावक श्रेयोमार्गप्रवर्तक वालब्रह्मचारी और जगद्हितैपी थे। उनके द्वारा इस परमागमरूपिणी भगवन्ती जिनवाणी माताके ग्रंथरूप द्रव्य शरीरका जीर्णोद्धार और प्रसार रूप महान् कार्य हुआ है। ऐसे महान् आचार्योंके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करनेकी किंचिदपि शक्ति समाजके लिए किसी भी शब्द या अर्थमें नहीं है। सच्ची कृतज्ञता तो उनके उपदेशों और आदेशके अनुसार धर्ममें प्रगाढ़ श्रद्धा, चारित्रमें अचल निष्ठा, स्वाध्याय और आत्मचिन्तनमें प्रवृत्ति तथा तदनुकूल आचार द्वारा ही व्यक्त की जा सकती है। स्वर्गीय परमश्रद्धेय आचार्यश्रीके विना इस महान् कार्यका प्रारम्भ होना असम्भव

संकलन भी मेरी उक्त भावनाके उत्पन्न होनेमें कारण रहा है। उसी भावनाके फलस्वरूप मैंने कुन्दकुन्द स्वामीके समस्त ग्रंथोंका संक्षिप्त अनुवाद कर भी लिया था परन्तु उसके प्रकाशनकी काललब्धि नहीं आई इसलिये वह अनुवाद रखा रहा। अब श्री बालचन्द देवचंदजी शहा मंत्री, श्री चा० च० आचार्य शान्तिसागर दिगम्बर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्थाके सौजन्यसे इसके प्रकाशनका सुअवसर आया है। इस संकलनमें मैंने पूज्य वर्णीजीसे प्राप्त विशिष्ट दृष्टिके आधारपर संकलनका क्रम इस प्रकार रक्खा है—

१. पञ्चास्तिकाय, २. समयसार, ३. प्रवचनसार, ४. नियमसार, ५. अष्टपाहुड, ६. बारसणुवेक्खा, ७. और भक्तिसंगह।

इस संस्करणमें पञ्चास्तिकाय, समयसार और प्रवचनसारकी गाथाओंका चयन अमृतचन्द्र सूरिकृत संस्कृत टीकाके आधारपर किया गया है। जयसेन सूरिकृत टीकामें व्याख्यात विशिष्ट गाथाओंका उल्लेख टिप्पणमें किया गया है। जो महानुभाव इन ग्रन्थोंका विस्तारसे स्वाध्याय करना चाहते हैं वे अलगसे प्रकाशित संस्करणोंका स्वाध्याय कर अपनी जिज्ञासाको पूर्ण कर सकते हैं और जो कुन्दकुन्द स्वामीकी पवित्र भारतीका पाठ करते हुए संक्षेपमें उसका भाव जानना चाहते हैं वे इस संस्करणसे लाभ उठावें।

यहाँ उक्त ग्रंथोंका परिचय देनेके पूर्व श्री कुन्दकुन्दाचार्यके जीवनवृत्तपर कुछ प्रकाश डालना उचित मालूम होता है।

आचार्यश्री कुन्दकुन्द

कुन्दकुन्दाचार्य और उनका प्रभाव

दिगम्बर जैनाचार्योंमें कुन्दकुन्दका नाम सर्वोपरि है। मूर्तिलेखों, शिलालेखों, ग्रन्थप्रशस्ति लेखों एवं पूर्वाचार्योंके संस्करणोंमें कुन्दकुन्द स्वामीका नाम बड़ी श्रद्धाके साथ लिया मिलता है।

मङ्गलं भगवान्वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

इस मङ्गल पद्यके द्वारा भगवान् महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतमके बाद कुन्दकुन्द स्वामीको मंगल कहा गया है। इनकी प्रशस्तिमें कविवर वृन्दावनका निम्नाङ्कित सवैया अत्यन्त प्रसिद्ध है; जिसमें बतलाया गया है कि मुनीन्द्र कुन्दकुन्द सा आचार्य न हुआ है, न है, और न होगा—

जासके मुखारविन्दतैं प्रकाश भासवृन्द
स्याद्वाद जैन वैन इंद कुंदकुंद से
तासके अभ्यासतैं विकास भेद ज्ञात होत
मूढ़ सो लखे नहीं कुबुद्धि कुन्दकुन्द से।
देत हैं अशीस शीस नाय इन्द चंद जाहि
मोह मार खंड मारतंड कुन्दकुन्द से
विशुद्धि वुद्धि वृद्धिदा प्रसिद्ध ऋद्धि सिद्धिदा
हुए न हैं न होंहिंगे मुनिंद कुन्दकुन्द से॥

श्री कुन्दकुन्द स्वामीके इस जयघोषका कारण है उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्त्वका, विशेषतया आत्मतत्त्वका विशद वर्णन। समयसार आदि ग्रंथोंमें उन्होंने परसे भिन्न तथा स्वकीय गुण पर्यायोंसे अभिन्न आत्माका जो वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने इन ग्रन्थोंमें अध्यात्मधारा रूप जिस मन्दाकिनीको

प्रवाहित किया है उसके शीतल एवं पावन प्रवाहमें अवगाहन कर भवभ्रमण श्रान्त पुरुष शाश्वतशान्तिको प्राप्त करते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्यका विदेह गमन

श्री कुन्दकुन्दाचार्यके विषयमें यह मान्यता प्रचलित है कि वे विदेह क्षेत्र गये थे और सीमंधर स्वामी की दिव्य ध्वनिसे उन्होंने आत्मतत्त्वका स्वरूप प्राप्त किया था। विदेह गमनका सर्वप्रथम उल्लेख करनेवाले आचार्य देवसेन (वि० सं० दशवीं शती) हैं। जैसा कि उनके दर्शनसारसे प्रकट है।

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कह सुमग्गं पयाणंति ॥ ४३ ॥

इसमें कहा गया है कि यदि पद्मनन्दिनाथ, सीमन्धर स्वामीद्वारा प्राप्त दिव्यज्ञानसे बोध न देते तो श्रमण—मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते ?

देवसेनके बाद ईसाकी बारहवीं शताब्दीके विद्वान् जयसेनाचार्यने भी पञ्चास्तिकायकी टीकाके आरम्भमें निम्नलिखित अवतरण पुष्पिकामें कुन्दकुन्द स्वामीके विदेहगमनकी चर्चा की है—

'अथ श्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञ-श्रीमंदरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थं अथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यव्याख्यानं कथ्यते।'

जो कुमारनन्दि सिद्धान्तदेवके शिष्य थे, प्रसिद्ध कथाके अनुसार पूर्व विदेह क्षेत्र जाकर वीतराग सर्वज्ञ श्रीमंदरस्वामी तीर्थंकर परमदेवके दर्शन कर तथा उनके मुखकमलसे विनिर्गत दिव्यध्वनिके श्रवणसे अवधारित पदार्थोंसे शुद्ध आत्मतत्त्व आदि सारभूत अर्थको ग्रहण कर जो पुनः वापिस आये थे तथा पद्मनन्दी आदि जिनके दूसरे नाम थे, ऐसे श्रीकुन्दकुन्दाचार्य देवके द्वारा अन्तस्तत्त्वकी मुख्य रूपसे और बहिस्तत्त्वकी गौणरूपसे प्रतिपत्ति करानेके लिये अथवा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्योंको समझानेके लिये पञ्चास्तिकाय प्राभृत शास्त्र रचा गया।

षट्प्राभृतके संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरिने अपनी टीकाके अन्तमें भी कुन्दकुन्द स्वामीके विदेह गमनका उल्लेख किया है—

'श्रीमत्पद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरङ्गुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितश्रीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तत्प्राप्तश्रुतज्ञानसम्बोधितभारतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृत ग्रन्थे—'

'पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृध्रपिच्छाचार्य, इन पाँच नामोंसे जो युक्त थे, चार अंगुल ऊपर आकाश गमनकी ऋद्धि जिन्हें प्राप्त थी, पूर्वविदेह क्षेत्रके पुण्डरीकिणी नगरमें जाकर श्रीमन्धर अपर नाम स्वयंप्रभ जिनेन्द्रकी जिन्होंने वन्दना की थी, उनसे प्राप्त श्रुतज्ञानके द्वारा जिन्होंने भरत क्षेत्रके भव्य जीवोंको संबोधित किया था जो जिनचन्द्र सूरिभट्टारकके पट्टके आभूषण स्वरूप थे तथा कलिकालके सर्वज्ञ थे; ऐसे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित षट्प्राभृत ग्रन्थमें।'

उपर्युक्त उल्लेखोंसे साक्षात् सर्वज्ञदेवकी वाणी सुननेके कारण कुन्दकुन्द स्वामीकी अपूर्व महिमा प्रख्यापित की गई है। किन्तु कुन्दकुन्द स्वामीके ग्रन्थोंमें उनके स्वमुखसे कहीं विदेह गमनकी चर्चा उपलब्ध नहीं होती। उन्होंने समयप्राभृतके प्रारम्भमें सिद्धोंकी वन्दनापूर्वक निम्न प्रतिज्ञा की है—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥ १ ॥

इसमें कहा गया है कि मैं श्रुतकेवलीके द्वारा भणित समयप्राभृतको कहूँगा। यद्यपि 'सुयकेवलिभणियं' इस पदकी टीकामें श्रीअमृतचन्द्र स्वामीने कहा है—'अनादिनिधनश्रुतप्रकाशितत्वेन, निखिलार्थसाक्षात्कारिकेवलिप्रणीतत्वेन, श्रुतकेवलिभिः स्वयमनुभवद्भिरभिहितत्वेन च प्रमाणतामुपगतस्य।'

अर्थात् अनादिनिधन परमागम शब्द ब्रह्मद्वारा प्रकाशित होनेसे, तथा सब पदार्थोंके समूहका साक्षात् करनेवाले केवली भगवान् सर्वज्ञदेवके द्वारा प्रणीत होनेसे और स्वयं अनुभव करनेवाले श्रुतकेवलियोंके द्वारा कहे जानेसे जो प्रमाणताको प्राप्त है।

तो भी इस कथनसे यह स्पष्ट नहीं होता कि मैंने केवलीकी वाणी प्रत्यक्ष सुनी है अतः केवली इसके कर्ता हैं। यहाँ तो मूलकर्ताकी अपेक्षा केवलीका उल्लेख जान पड़ता है। जयसेनाचार्यने भी केवलीका साक्षात् कर्ताके रूपमें कोई उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने 'सुयकेवलीभणियं' की टीका इस प्रकार की है—'श्रुते परमागमे केवलिभिः सर्वज्ञैर्भणितं श्रुतकेवलिभणितं। अथवा श्रुतकेवलिभणितं गणधरकथितमिति'।

अर्थात् श्रुत—परमागममें केवली—सर्वज्ञ भगवान्के द्वारा कहा गया। अथवा श्रुतकेवली—गणधरके द्वारा कहा गया।

फिर भी देवसेन आदिके उल्लेख सर्वथा निराधार नहीं हो सकते। देवसेनने, आचार्यपरम्परासे जो चर्चाएँ चली आ रही थीं उन्हें दर्शनसारमें निबद्ध किया है। इससे सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्दके विदेहगमनकी चर्चा दर्शनसारकी रचनाके पहले भी प्रचलित रही होगी।

कुन्दकुन्दाचार्यके नाम

पञ्चास्तिकायके टीकाकार जयसेनाचार्यने कुन्दकुन्दके पद्मनन्दी आदि अपर नामोंका उल्लेख किया है। षट्प्राभृतके टीकाकार श्रुतसागरसूरिने पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृध्रपिच्छाचार्य इन पाँच नामोंका निर्देश किया है। नन्दिसंघसे संबद्ध विजयनगरके शिलालेखमें भी जो लगभग १३८६ ई० का है, उक्त पाँच नाम बतलाये गये हैं। नन्दिसंघकी पट्टावलीमें भी उपर्युक्त पाँच नाम निर्दिष्ट हैं। परन्तु अन्य शिलालेखोंमें पद्मनन्दी और कुन्दकुन्द अथवा कोण्डकुन्द इन दो नामोंका ही उल्लेख मिलता है।

कुन्दकुन्दका जन्मस्थान

इन्द्रनन्दी आचार्यने पद्मनन्दीको कुण्डकुन्दपुरका बतलाया है। इसीलिये श्रवणबेलगोलाके कितने ही शिलालेखोंमें उनका कोण्डकुन्द नाम लिखा है। श्री पी० बी० देसाईने 'जैनिज्म इन साउथ इण्डिया' में लिखा है कि गुण्टकल रेलवे स्टेशनसे दक्षिणकी ओर लगभग ४ मीलपर एक कोनकुण्डल नामका स्थान है जो अनन्तपुर जिलेके गुटी तालुकेमें स्थित है। शिलालेखमें उसका प्राचीन नाम 'कोण्डकुन्दे' मिलता है। यहाँके निवासी इसे आज भी 'कोण्डकुन्दि' कहते हैं। बहुत कुछ संभव है कि कुन्दकुन्दाचार्यका जन्मस्थान यही हो।

कुन्दकुन्दके गुरु

संसारसे निःस्पृह वीतराग साधुओंके माता-पिताके नाम सुरक्षित रखने—लेखबद्ध करनेकी परम्परा

प्रायः नहीं रही है। यही कारण है कि समस्त आचार्योंके माता-पिता विषयक इतिहासकी उपलब्धि प्रायः नहीं है। हाँ, इनके गुरुओंके नाम किसी न किसी रूपमें उपलब्ध होते हैं। पञ्चास्तिकायकी तात्पर्यवृत्तिमें जयसेनाचार्यने कुन्दकुन्दस्वामीके गुरुका नाम कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव लिखा है और नन्दिसंघकी पट्टावलीमें उन्हें जिनचन्द्रका शिष्य बतलाया गया है। परन्तु कुन्दकुन्दाचार्यने बोधपाहुडके अन्तमें अपने गुरुके रूपमें भद्रबाहुका स्मरण करते हुए अपने आपको भद्रबाहुका शिष्य बतलाया है। बोधपाहुडकी गाथाएँ इस प्रकार हैं—

सद्दविआरो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णाणं सीसेण य भद्दबाहुस्स॥ ६१॥
बारस अंगवियाणं चउदस पुव्वंग विउल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ॥ ६२॥

प्रथम गाथामें कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान् महावीरने अर्थरूपसे जो कथन किया है वह भाषासूत्रोंमें शब्दविकारको प्राप्त हुआ अर्थात् अनेक प्रकारके शब्दोंमें ग्रथित किया गया है। भद्रबाहुके शिष्यने उसे उसी रूपमें जाना है और कथन किया है। द्वितीय गाथामें कहा गया है कि बारह अंगों और चौदह पूर्वोंके विपुल विस्तारके वेत्ता गमक गुरु भगवान् श्रुतकेवली भद्रबाहु जयवंत हों।

ये दोनों गाथाएँ परस्परमें संबद्ध हैं। पहली गाथामें अपने आपको जिन भद्रबाहुका शिष्य कहा है दूसरी गाथामें उन्हींका जयघोष किया है। यहाँ भद्रबाहुसे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही ग्राह्य जान पड़ते हैं क्योंकि द्वादश अंग और चतुर्दश पूर्वोका विपुल विस्तार उन्हींसे संभव था। इसका समर्थन समयप्राभृतके पूर्वोक्त प्रतिज्ञा वाक्य 'वंदित्तु सव्व सिद्धे'—से भी होता है। जिसमें उन्होंने कहा है कि मैं श्रुतकेवलीके द्वारा प्रतिपादित समयप्राभृतको कहूँगा। श्रवणबेलगोलाके अनेक शिलालेखोंमें यह उल्लेख मिलता है कि अपने शिष्य चन्द्रगुप्तके साथ भद्रबाहु यहाँ पधारे और वहीं एक गुफामें उनका स्वर्गवास हुआ। इस घटनाको आज ऐतिहासिक तथ्यके रूपमें स्वीकृत किया गया है।

अब विचारणीय बात यह रहती है कि यदि कुन्दकुन्दको अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुका साक्षात् शिष्य माना जाता है तो वे विक्रम शताब्दीसे ३०० वर्ष पूर्व ठहरते हैं और उस समय जबकि ग्यारह अंग और चौदह पूर्वोंके जानकार आचार्योंकी परम्परा विद्यमान थी तब उनके रहते हुए कुन्दकुन्दस्वामीकी इतनी प्रतिष्ठा कैसे संभव हो सकती है और कैसे उनका अन्वय चल सकता है? इस स्थितिमें कुन्दकुन्दको उनका परम्परा शिष्य ही माना जा सकता है, साक्षात् नहीं। श्रुतकेवली भद्रबाहुके द्वारा उपदिष्ट तत्त्व उन्हें गुरुपरम्परासे प्राप्त रहा होगा, उसीके आधारपर उन्होंने अपने आपको भद्रबाहुका शिष्य घोषित किया है। बोधपाहुडके संस्कृत टीकाकार श्रीश्रुतसागरसूरिने भी 'भद्दबाहुसीसेण' का अर्थ विशाखाचार्य कर कुन्दकुन्दको उनका परम्परा शिष्य ही स्वीकृत किया है। श्रुतसागरसूरिकी पंक्तियाँ निम्न प्रकार हैं—

भद्रबाहुशिष्येण अर्हद्वलिगुप्तिगुप्तापरनामद्वयेन विशाखाचार्यनाम्ना दशपूर्वधारिणामेकादशाचार्याणां मध्ये प्रथमेन ज्ञातम्।

इन पंक्तियों द्वारा कहा गया है कि यहाँ भद्रबाहुके शिष्यसे विशाखाचार्यका ग्रहण है। इन विशाखाचार्यके अर्हद्वलि और गुप्तिगुप्त ये दो नाम और भी हैं तथा ये दशपूर्वके धारक ग्यारह आचार्योंके मध्य प्रथम आचार्य थे। भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे जैसा कि श्रुतसागरसूरिने ६२वीं गाथाकी टीकामें कहा है—

'पञ्चानां श्रुतकेवलिनां मध्येऽन्त्यो भद्रबाहुः'

अर्थात् भद्रबाहु पाँच श्रुतकेवलियोंमें अन्तिम श्रुतकेवली थे। अतः उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वको उनके

शिष्य विशाखाचार्यने जाना। उसीकी परम्परा आगे चलती रही। गमकगुरुका अर्थ श्रुतसागर सूरिने उपाध्याय किया है सो विशाखाचार्यके लिये यह विशेषण उचित ही है।

कुन्दकुन्द स्वामीका समय

कुन्दकुन्द स्वामीके समय निर्धारणपर 'प्रवचनसार' की प्रस्तावनामें डा० ए० एन० उपाध्ये ने, 'समन्तभद्र' की प्रस्तावनामें स्व० श्री जुगल किशोर जी मुख्त्यारने, 'पञ्चास्तिकाय' की प्रस्तावनामें डा० ए० चक्रवर्ती ने तथा 'कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह' की प्रस्तावना में श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने विस्तारसे चर्चा की है। लेख विस्तारके भयसे मैं उन सब चर्चाओंके अवतरण नहीं देना चाहता। जिज्ञासु पाठकोंको तत् तत् ग्रंथोंसे जाननेकी प्रेरणा करता हुआ कुन्दकुन्द स्वामीके समय निर्धारणके विषयमें प्रचलित मात्र दो मान्यताओंका उल्लेख कर रहा हूँ। एक मान्यता प्रो० हार्नले द्वारा संपादित नन्दिसंघकी पट्टावलियोंके आधारपर यह है कि कुन्दकुन्द विक्रमकी पहली शताब्दीके विद्वान् थे। वि० सं० ४९ में वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए, ४४ वर्षकी अवस्थामें उन्हें आचार्य पद मिला, ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पद पर प्रतिष्ठित रहे और उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० माह १५ दिन की थी। डा० ए० चक्रवर्ती ने पञ्चास्तिकायकी प्रस्तावना में अपना यही अभिप्राय प्रकट किया है। और दूसरी मान्यता यह है कि वे विक्रमकी दूसरी शताब्दीके उत्तरार्ध अथवा तीसरी शताब्दीके प्रारम्भके विद्वान् हैं। जिसका समर्थन श्री स्व० नाथूरामजी प्रेमी तथा पं० जुगलकिशोर जी मुख्त्यार आदि विद्वान् करते आये हैं।

कुन्दकुन्दके ग्रन्थ और उनकी महत्ता

दिगम्बर जैन ग्रन्थोंमें कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित ग्रंथ अपना अलग प्रभाव रखते हैं। उनकी वर्णन शैली ही इस प्रकारकी है कि पाठक उससे वस्तुस्वरूपका अनुगम बड़ी सरलतासे कर लेता है। व्यर्थके विस्तारसे रहित, नपे-तुले शब्दोंमें किसी बातको कहना इन ग्रन्थोंकी विशेषता है। कुन्दकुन्दकी वाणी सीधी हृदयपर असर करती है। निम्नांकित ग्रन्थ कुन्दकुन्द स्वामीके द्वारा रचित निर्विवाद रूपसे माने जाते हैं तथा जैन समाजमें उनका सर्वोपरि मान है। १ पञ्चास्तिकाय २ समयसार ३ प्रवचनसार ४ नियमसार ५ अष्टपाहुड (दंसणपाहुड, चरित्तपाहु, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, सीलपाहुड और लिंगपाहुड) ६ वारसणुपेक्खा और भत्तिसंगहो।

इनके सिवाय 'रयणसार' नामका ग्रन्थ भी कुन्दकुन्द स्वामीके द्वारा रचित प्रसिद्ध है परन्तु उसके अनेक पाठभेद देखकर विद्वानोंका मत है कि यह कुन्दकुन्दके द्वारा रचित नहीं है अथवा इसके अन्दर अन्य लोगोंकी गाथाएँ भी सम्मिलित हो गई हैं। भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूनासे हमने १८२५ संवत्की लिखित हस्तलिखित प्रति बुलाकर उससे मुद्रित रयणसारकी गाथाओंका मिलान किया तो बहुत अन्तर मालूम हुआ। मुद्रित प्रतिमें बहुतसी गाथाएँ छूटी हुई हैं तथा नवीन गाथाएँ मुद्रित हैं। उस प्रतिपर रचयिता का नाम नहीं है। उधर सूचीमें भी यह प्रति अज्ञात लेखकके नामसे दर्ज है। चर्चा आने पर पं० परमानन्दजी शास्त्री ने बतलाया कि हमने ७०-८० प्रतियाँ देखी हैं, सबका यही हाल है। मुद्रित प्रतिमें अपभ्रंशका एक दोहा भी शामिल हो गया है तथा कुछ इस अभिप्रायकी गाथाएँ हैं जिनका कुन्दकुन्दकी विचारधारा से मेल नहीं खाता। यही कारण है कि मैंने इस संग्रहमें उसका संकलन नहीं किया है। प्रसिद्धिको देखकर गाथाओंका अनुवाद शुरू किया था और आधेसे अधिक गाथाओंका अनुवाद हो भी चुका था पर मुद्रित प्रतिके पाठों पर संतोष न होनेसे पूनासे हस्तलिखित प्रति बुलाई। मिलान करनेपर जब भारी भेद देखा तब उसे सम्मिलित करनेका विचार छोड़ दिया। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके अनुसार षट्खण्डागमके आद्य भाग पर कुन्दकुन्द स्वामीके द्वारा रचित परिकर्म ग्रंथका उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थका उल्लेख षट्खण्डागमके विशिष्ट

पुरस्कर्ता आचार्य वीरसेन ने अपनी टीकामें कई जगह किया है। इससे पता चलता है कि उनके समय तक तो वह उपलब्ध रहा। परन्तु आजकल उसकी उपलब्धि नहीं है। शास्त्र भाण्डारों, खासकर दक्षिणके शास्त्र भण्डारोंमें इसकी खोज की जानी चाहिये। मूलाचार भी कुन्दकुन्द स्वामीके द्वारा रचित माना जाने लगा है क्योंकि उसकी अन्तिम पुष्पिकामें 'इति मूलाचार विवृतौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत मूलाचाराख्य विवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रमणस्य' यह उल्लेख पाया जाता है। विशेष परिज्ञानके लिये पुरातन वाक्य सूचीकी प्रस्तावनामें स्व० पं० जुगलकिशोरजी मुख्त्यारका संदर्भ पठितव्य है।

कुन्दकुन्द साहित्यमें साहित्यिक सुषमा

कुन्दकुन्दाचार्य ने अधिकांश गाथा छन्दका, जो कि आर्या नामसे प्रसिद्ध है, प्रयोग किया है। कहीं अनुष्टुप् और उपजातिका भी प्रयोग किया है। एक ही छन्द को पढ़ते-पढ़ते बीचमें यदि विभिन्न छन्द आ जाता है तो उससे पाठकको एक विशेष प्रकारका हर्ष होता है। कुन्दकुन्द स्वामीके कुछ अनुष्टुप् छन्दोंका नमूना देखिये।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंवणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे॥ ५७ ॥—भाव प्राभृत
एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा॥ ५९ ॥—भाव प्राभृत
सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहावलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए॥ ६२ ॥—मोक्ष प्राभृत
विरदी सव्वसावज्जे त्रिगुत्ती पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे॥ १२५ ॥
जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे॥ १२६ ॥—नियमसार
चेया उ पयडी अट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ॥ ३१२ ॥
एवं वंधो उ दुण्हं वि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए॥ ३१३ ॥—समय प्राभृत

एक उपजातिका नमूना देखिए—

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण
लुक्खस्स लुक्खेण दुराहियेण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि वंधो
जहण्णवज्जे विसमे समे वा॥—प्रवचनसार

अलंकारोंकी पुट भी कुन्दकुन्दस्वामी ने यथा स्थान दी है। जैसे, अप्रस्तुत प्रशंसाका एक उदाहरण देखिये—

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं।
गुडदुद्धं पि पिवंता ण पण्णया णिव्विसा होंति॥ १३६ ॥—भाव प्राभृत

थोड़ेसे हेर-फेरके साथ यह गाथा समय प्राभृतमें आई है। उपमालंकारकी छटा देखिये—

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाणं सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावय दुविहधम्माणं ॥ १४२ ॥
जह फणिराओ रेहइ फणमणिमाणिक्ककिरणविप्फुरिओ।
लह विमलदंसणधरो जिणभत्ती पवयणो जीवो ॥ १४३ ॥
जह तारायण सहियं ससहरविंबं खमंडले विमले।
भाविय तह वयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ॥ १४४ ॥
जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए।
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसए हि सुप्पुरिसो ॥ १५२ ॥—भाव प्राभृत

रूपकालंकारकी बहार देखिये—

जिणवर चरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिरायेण।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥ १५१ ॥
ते धीर वीर पुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण।
दुज्जयपवलबलुद्धरकसायमडणिज्जिया जेहिं ॥ १५४ ॥
मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरूढा।
विसयविस पुप्फफुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं ॥ १५६ ॥—भाव प्राभृत

कहींपर कूटक पद्धतिका भी अनुसरण किया है। यथा,

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरिओ।
दो दोस विप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ।।४४।।—मोक्ष प्राभृत

अर्थात् तीनके द्वारा (तीन गुप्तियोंके द्वारा) तीनको (मन वचन कायको) धारणकर, निरन्तर तीनसे (शल्यत्रयसे) रहित; तीनसे (रत्नत्रयसे) सहित और दो दोषों (राग द्वेष) मुक्त रहनेवाला योगी परमात्माका ध्यान करता है।

कुन्दकुन्दका शिलालेखों तथा उत्तरवर्ती ग्रंथोंमें उल्लेख

कुन्दकुन्द स्वामी अत्यन्त प्रसिद्ध और सर्वमान्य आचार्य थे अतः इनका उल्लेख अनेक शिलालेखोंमें मिलता है तथा इनके उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंने बड़ी श्रद्धाके साथ इनका संस्मरण किया है। जैन सन्देशके शोधाङ्कोंके आधार कुछ उल्लेखोंका यहाँ सङ्कलन किया जाता है—

श्रीमतो वर्धमानस्य वर्द्धमानस्य शासने।
श्रीकोण्डकुन्दनामाभून्मूलसङ्घाग्रणीर्गणी ॥

—श्र० वे० शि० ५५।६९।४९२

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कोण्डकुन्दः
कुन्दप्रभाप्रणयिकीर्तिविभूषिताशः।
यश्चारुचारणकराम्बुजचञ्चरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥ श्र० वे० शि० ५४।६७
तस्यान्वये भूविदिते वभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्तत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः ॥—श्र० वे० शि० ४०।६०

श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः ।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसंजातसुचारणर्द्धिः ॥
—श्र० बे० शि० ४२, ४३, ४७, ५०

'इत्याद्यनेकसूरिष्वथ सुपदमुपेतेषु दीव्यत्तपस्या—
शास्त्राधारेषु पुण्यादजनि स जगतां कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ।
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्योऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरङ्गुलं सः ॥ श्र० बे० शि० १०५
तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला ।
बभौ यदन्तर्म्मणिवन्मुनीन्द्रस्स कुण्डकुन्दोदितचण्डदण्डः ॥ श्र० बे० शि० १०८
श्रीमूलसङ्घेऽजनि कुन्दकुन्दः सूरिर्महात्माखिलतत्त्ववेदी ।
सीमन्धरस्वामिपदप्रबन्दी पञ्चाह्वयो जैनमतप्रदीपः ॥ धर्मकीर्ति, हरिवंशपुराण
कवित्वनलिनीग्रामनिबोधनसुधाघृणिम् ।
वन्द्यैर्वन्द्यमहं वन्दे कुन्दकुन्दाभिधं मुनिम् ॥ मु० विद्यानन्दि-सुदर्शन च०
श्रीमूलसङ्घेऽजनि नन्दिसङ्घस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः ।
तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनन्दी ॥
आचार्यकुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः ।
एलाचार्यो गृध्रपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा ॥ सा० इ० इन्स०, I नं० १५२
कुन्दकुन्दमुनिं वन्दे चतुरङ्गुलचारणम् ।
कलिकाले कृतं येन वात्सल्यं सर्वजन्तुषु ॥ सोमसेन पुराण
सृष्टेः समयसारस्य कर्ता सूरिपदेश्वरः ।
श्रीमच्छ्रीकुन्दकुन्दाख्यस्तनोतु मतिमेदुराम् ॥ अजितब्रह्म-हनूमच्चरित्र
सन्नन्दिसङ्घसुरवर्त्मदिवाकरोऽभूच्छ्रीकुन्दकुन्द इतिनाम मुनीश्वरोऽसौ ।
जीयात् स वै विहितशास्त्रसुधारसेन मिथ्याभुजङ्गगरलं जगतः प्रणष्टम् ॥
—मेधावी धर्मसंग्रह श्रावकाचार

आसाद्य द्युसदां सहायमसमं गत्वा विदेहं जवा—
दद्राक्षीत् किल केवलेक्षणमिनं द्योतक्षमध्यक्षतः ।
स्वामी साम्यपदाधिरूढधिषणः श्रीनन्दिसङ्घश्रियो
मान्यः सोऽस्तु शिवाय शान्तमनसां श्रीकुन्दकुन्दाभिधः ॥
—अमरकीर्तिसूरि, जिनसहस्रनाम टीका

श्रीमूलसङ्घेऽजनि नन्दिसङ्घस्तस्मिन् बलात्कारगणेऽतिरम्ये ।
तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्यः ॥
पदे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ जिनादिचन्द्रः समभूदतन्द्रः ।
ततोऽभवत्पञ्चसुनामधामा श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती ॥—नन्दिसङ्घ पट्टावली

कुन्दकुन्दाचार्यकी नय व्यवस्था

वस्तु स्वरूपका अधिगम—ज्ञान, प्रमाण और नयके द्वारा होता है। प्रमाण वह है जो पदार्थ में

रहने वाले परस्पर विरोधी दो धर्मोंको एक साथ ग्रहण करता है और नय वह है जो पदार्थमें रहने वाले परस्पर विरोधी दो धर्मोंमेंसे एकको प्रमुख और दूसरेको गौणकर विवक्षानुसार क्रमसे ग्रहण करता है। नयोंका निरूपण करनेवाले आचार्योंने उनका शास्त्रीय और आध्यात्मिक दृष्टिसे विवेचन किया है। शास्त्रीय दृष्टिकी नय विवेचनामें नयके द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक तथा उनके नैगमादि सात भेद निरूपित किये गये हैं और आध्यात्मिक दृष्टिमें निश्चय तथा व्यवहार नयका निरूपण है। यहाँ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों ही निश्चयमें समा जाते हैं और व्यवहारमें उपचार कथन रह जाता है। शास्त्रीय दृष्टिमें वस्तु स्वरूपकी विवेचनाका लक्ष्य रहता है और आध्यात्मिक दृष्टिमें उस नय विवेचनाके द्वारा आत्माके शुद्ध स्वरूपको प्राप्त करनेका अभिप्राय रहता है। इन दोनों दृष्टियोंका अन्तर बतलाते हुए कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रहकी प्रस्तावनामें पृष्ठ ८२ पर श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजीने निम्नांकित पंक्तियाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण लिखी हैं—

"शास्त्रीय दृष्टि वस्तुका विश्लेषण करके उसकी तह तक पहुँचनेकी चेष्टा करती है। उसकी दृष्टिमें निमित्त कारणके व्यापारका उतना ही मूल्य है जितना उपादान कारणके व्यापारका। और परसंयोगजन्य अवस्था भी उतनी ही परमार्थ है जितनी स्वाभाविक अवस्था। जैसे उपादान कारणके विना कार्य नहीं होता वैसे ही निमित्त कारणके विना भी कार्य नहीं होता। अतः कार्यकी उत्पत्तिमें दोनोंका सम व्यापार है। जैसे मिट्टीके विना घट उत्पन्न नहीं होता वैसे ही कुम्हार-चक्र आदिके विना भी घट उत्पन्न नहीं होता। ऐसी स्थितिमें वास्तविक स्थितिका विश्लेषण करने वाली शास्त्रीय दृष्टि किसी एकके पक्षमें अपना फैसला कैसे दे सकती है? इसी तरह मोक्ष जितना यथार्थ है संसार भी उतना ही यथार्थ है और संसार जितना यथार्थ है उसके कारण कलाप भी उतने ही यथार्थ हैं। संसार दशा न केवल जीवकी अशुद्ध दशाका परिणाम है और न केवल पुद्गलकी अशुद्ध दशाका परिणाम है। किन्तु जीव और पुद्गलके मेलसे उत्पन्न हुई अशुद्ध दशाका परिणाम है। अतः शास्त्रीय दृष्टिसे जितना सत्य जीवका अस्तित्व है और जितना सत्य पुद्गलका अस्तित्व है उतना ही सत्य उन दोनोंका मेल और संयोगज विकार भी है। वह सांख्यकी तरह पुरुषमें आरोपित नहीं है किन्तु प्रकृति और पुरुषके संयोगजन्य वन्धका परिणाम है अतः शास्त्रीय दृष्टिसे जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, संवर, निर्जरा, पुण्य, पाप और मोक्ष सभी यथार्थ और सारभूत हैं। अतः सभीका यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। और चूँकि उसकी दृष्टिमें कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण भी उतना ही आवश्यक है जितना कि उपादान कारण, अतः आत्मप्रतीतिमें निमित्तभूत देव शास्त्र और गुरु वगैरहका श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन है। उसमें गुणस्थान भी हैं, मार्गणास्थान भी हैं—सभी हैं। शास्त्रीय दृष्टिकी किसी वस्तु-विशेषके साथ कोई पक्षपात नहीं है। वह वस्तु स्वरूपका विश्लेषण किसीके हित अहितको दृष्टिमें रख कर नहीं करती"।

आध्यात्मिक दृष्टिका विवेचन करते हुए पृष्ठ ८३ पर लिखा है—

"शास्त्रीय दृष्टिके सिवाय एक दृष्टि आध्यात्मिक भी है। उसके द्वारा आत्मतत्त्वको लक्ष्यमें रखकर वस्तुका विचार किया जाता है। जो आत्माके आश्रित हो उसे अध्यात्म कहते हैं। जैसे वेदान्ती ब्रह्मको केन्द्रमें रखकर जगत्के स्वरूपका विचार करते हैं वैसे ही अध्यात्म दृष्टि आत्माको केन्द्रमें रखकर विचार करती है। जैसे वेदान्तमें ब्रह्म ही परमार्थ सत् है और जगत् मिथ्या है, वैसे ही अध्यात्म विचारणामें एकमात्र शुद्ध बुद्ध आत्मा ही परमार्थ सत् है और उसकी अन्य सब दशाएँ व्यवहार सत्य हैं। इसीसे शास्त्रीय क्षेत्रमें जैसे वस्तुतत्त्वका विवेचन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके द्वारा किया जाता है वैसे ही अध्यात्ममें निश्चय और व्यवहार नयके द्वारा आत्मतत्त्वका विवेचन किया जाता है और निश्चय दृष्टिको परमार्थ और व्यवहार दृष्टिको अपरमार्थ कहा जाता है। क्योंकि निश्चय दृष्टि आत्माके यथार्थ शुद्ध स्वरूपको दिखलाती है और व्यवहार दृष्टि अशुद्ध अवस्था को दिखलाती है। अध्यात्मी मुमुक्षु शुद्ध आत्मतत्त्वको प्राप्त करना चाहता है अतः उसकी

प्राप्तिके लिये सबसे प्रथम उसे उस दृष्टिकी आवश्यकता है जो आत्माके शुद्ध स्वरूपका दर्शन करा सकनेमें समर्थ है। ऐसी दृष्टि निश्चय दृष्टि है अतः मुमुक्षुके लिये वही दृष्टि भूतार्थ है। जिससे आत्माके अशुद्ध स्वरूपका दर्शन होता है वह व्यवहार दृष्टि उसके लिये कार्यकारी नहीं है अतः वह अभूतार्थ कही जाती है। इसीसे आचार्य कुन्दकुन्दने समयप्राभृतके प्रारम्भमें 'ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो य सुद्धणयो' लिखकर व्यवहारको अभूतार्थ और शुद्धनय अर्थात् निश्चयको भूतार्थ कहा है।"

कुन्दकुन्द स्वामीने समयसार और नियमसारमें आध्यात्मिक दृष्टिसे आत्मस्वरूपका विवेचन किया है अतः इनमें निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो भेद ही दृष्टिगत होते हैं। वस्तुके एक—अभिन्न और स्वाश्रित—परनिरपेक्ष त्रैकालिक स्वभावको जाननेवाला नय निश्चयनय है और अनेक—भेदरूप वस्तु तथा उसके पराश्रित—परसापेक्ष परिणमनको जाननेवाला नय व्यवहारनय है। यद्यपि अन्य आचार्योंने निश्चयनयके शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय इस प्रकार दो भेद किये हैं तथा व्यवहारनयके सद्भूत, असद्भूत, अनुपचरित और उपचरितके भेदसे अनेक भेद स्वीकृत किये हैं। परन्तु कुन्दकुन्द स्वामीने इन भेदोंके चक्रमें न पड़कर मात्र दो भेद स्वीकृत किये हैं। अपने गुण पर्यायोंसे अभिन्न आत्माके त्रैकालिक स्वभावको उन्होंने निश्चय नयका विषय माना है और कर्मके निमित्तसे होनेवाली आत्माकी परिणतिको व्यवहार नयका विषय कहा है। निश्चय नय आत्मामें काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारोंको स्वीकृत नहीं करता। चूंकि वे पुद्गलके निमित्तसे होते हैं अतः उन्हें पुद्गलके मानता है। इसी तरह गुणस्थान तथा मार्गणा आदि विकल्प जीवके स्वभाव नहीं हैं अतः निश्चय नय उन्हें स्वीकृत नहीं करता। इन सबको आत्माके कहना व्यवहार नयका विषय है। निश्चय नय स्वभावको विषय करता है, विभावको नहीं। जो स्वमें स्वके निमित्तसे सदा रहता है वह स्वभाव है जैसे जीवके ज्ञानादि, और जो स्वमें परके निमित्तसे होते हैं वे विभाव हैं जैसे जीवमें क्रोधादि। ये विभाव, चूंकि आत्मामें ही परके निमित्तसे होते हैं इसलिये इन्हें कथंचित् आत्माके कहनेके लिये जयसेन आदि आचार्योंने निश्चय नयमें शुद्ध और अशुद्धका विकल्प स्वीकृत किया है परन्तु कुंदकुंद महाराज विभावको आत्माका मानना स्वीकृत नहीं करते, वे उसे व्यवहारका ही विषय मानते हैं। अमृतचंद्रसूरिने भी इन्हींका अनुसरण किया है।

यद्यपि वर्तमानमें जीवकी बद्धस्पृष्ट दशा है और उसके कारण रागादि विकारी भाव उसके अस्तित्वमें प्रतीत हो रहे हैं तथापि निश्चय नय जीवकी अबद्धस्पृष्ट दशा और उसके फलस्वरूप रागादि रहित—वीतराग परिणति की ही अनुभूति कराता है। स्वरूपकी अनुभूति कराना इस नयका उद्देश्य है अतः वह संयोगज दशा और संयोगज परिणामोंकी ओरसे मुमुक्षुका लक्ष्य हटा देना चाहता है। निश्चय नयका उद्घोष है कि हे मुमुक्षु प्राणी! यदि तू अपने स्वभावकी ओर लक्ष्य नहीं करेगा तो इस संयोगजदशा और तज्जन्य विकारोंको दूर करनेका तेरा पुरुषार्थ कैसे जागृत होगा?

अध्यात्म दृष्टि आत्मामें गुणस्थान तथा मार्गणा आदिके भेदोंका अस्तित्व भी स्वीकृत नहीं करती। वह परनिरपेक्ष आत्म स्वभावको और उसके प्रतिपादक निश्चय नयको ही भूतार्थ तथा उपादेय मानती है और परसापेक्ष आत्माके विभाव और उसके प्रतिपादक व्यवहार नयको अभूतार्थ तथा हेय मानती है। इसकी दृष्टिमें एक निश्चय ही मोक्षमार्ग है व्यवहार नहीं। यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्ग, निश्चय मोक्षमार्गका साधक है तथापि वह साध्यसाधकके विकल्पसे हटकर एक निश्चय मोक्षमार्गको ही अंगीकृत करती है। व्यवहार मोक्षमार्ग इसके साथ चलता है इसका निषेध यह नहीं करती।

पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसारमें आचार्यने आध्यात्मिक दृष्टिके साथ शास्त्रीय दृष्टिको भी प्रश्रय

दिया है इसलिए इन ग्रन्थोंमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंका भी वर्णन प्राप्त होता है सम्यग्दर्शनके विषयभूत जीवादि पदार्थोंका वर्णन करनेके लिए शास्त्रीय दृष्टिको अंगीकृत किये विना काम नहीं चल सकता। इसलिए द्रव्यार्थिक नयसे जहाँ जीवके नित्य—अपरिणामी स्वभावका वर्णन किया जाता है वहाँ पर्यायार्थिक नयसे उसके अनित्य—परिणामी स्वभावका भी वर्णन किया जाता है। द्रव्य, यद्यपि गुण और पर्यायोंका एक अभिन्न-अखंड पिण्ड है तथापि उनका अस्तित्व बतलानेके लिए उनका भेद भी स्वीकृत किया जाता है। इसीलिए द्रव्यमें गुण और पर्यायोंका भेदाभेद दृष्टिसे निरूपण मिलता है। इन ग्रन्थोंमें व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्गकी भी चर्चा की गयी है तथा उनमें साधक साम्यभाव का उल्लेख किया गया है।

प्रवचनसारके अन्तमें अमृतचंद्र स्वामीने द्रव्यनय, पर्यायनय, अस्तित्वनय, नास्तित्वनय, नामनय, स्थापनानय, नियतिनय, अनियतिनय, कालनय, अकालनय, पुरुषकारनय, दैवनय, निश्चयनय, व्यवहारनय, शुद्धनय तथा अशुद्धनय आदि ४७ नयोंके द्वारा आत्माका निरूपण किया है। इन नयोंको द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक अथवा निश्चय और व्यवहारनयका विषय न बनाकर स्वतंत्ररूपसे प्रतिपादित किया गया है।

निश्चयनयकी भूतार्थता और व्यवहारनयकी अभूतार्थता

आध्यात्मिक दृष्टिमें भूतार्थग्राही होनेसे निश्चयनयको भूतार्थ और अभूतार्थग्राही होनेसे व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा गया है। इसकी संगति अनेकान्तके आलोकमें ही संपन्न होती है क्योंकि व्यवहारनयकी अभूतार्थता निश्चयनयकी अपेक्षा है। स्वरूप और स्वप्रयोजनकी अपेक्षा नहीं। उसे सर्वथा अभूतार्थ माननेमें बड़ी आपत्ति दिखती है। श्रीअमृतचन्द्रसूरिने समयसारकी ४६वीं गाथाकी टीकामें लिखा है—

'व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रस-स्थावराणां भस्मन इव निःशङ्कमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद् भवत्येव बन्धस्याभावः। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपाय-परिग्रहणाभावाद्भवत्येव मोक्षस्याभावः'।

यही भाव तात्पर्यवृत्तिमें जयसेनाचार्यने भी दिखलाया है—

'यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यालम्बनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यालम्बनरहित-विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावालम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद् दर्शयितुमुचितो भवति। यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीति मत्वा निःशङ्को-पमर्दनं कुर्वन्ति जनाः। ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येकं दूषणं, तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहितः पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति, ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणम्। तस्माद् व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्रायः।'

इन अवतरणोंका भाव यह है—

यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तो भी जिस प्रकार म्लेच्छोंको समझानेके लिये म्लेच्छ भाषाका अंगीकार करना उचित है—उसी प्रकार व्यवहारी जीवोंको परमार्थका प्रतिपादक होनेसे तीर्थको प्रवृत्तिके निमित्त, अपरमार्थ होनेपर भी व्यवहार नयका दिखलाना न्यायसंगत है। अन्यथा व्यवहार के विना परमार्थनयसे जीव, शरीरसे सर्वथा भिन्न दिखाया गया है, इस दशामें जिस प्रकार भस्मका उपमर्दन करनेसे हिंसा नहीं होती उसी प्रकार त्रस स्थावर जीवोंका निःशङ्क उपमर्दन करनेसे हिंसा नहीं होगी और हिंसाके न होनेसे बंधका अभाव हो जायगा. बंधके अभावसे संसारका अभाव हो जायगा। इसके अतिरिक्त 'रागी द्वेषी और

मोही जीव बंधको प्राप्त होता है। अतः उसे ऐसा उपदेश देना चाहिये कि जिससे वह राग, द्वेष और मोहसे छूट जावें' यह जो आचार्योंने मोक्षका उपाय वतलाया है वह व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि परमार्थसे जीव, राग द्वेष मोहसे भिन्न ही दिखाया जाता है। जब भिन्न है तब मोक्षके उपाय स्वीकृति करना असंगत होगा, इस तरह मोक्षका भी अभाव हो जायगा।

नय श्रुत ज्ञानके विकल्प हैं और श्रुत स्वार्थ तथा परार्थकी अपेक्षा दो प्रकारका है। जिससे अपना अज्ञान दूर हो वह स्वार्थ श्रुत है और जिससे दूसरेका अज्ञान दूर हो वह परार्थश्रुत है। नयोंका प्रयोग पात्र-भेदकी अपेक्षा रखता है। एक ही नयसे सब पात्रोंका कल्याण नहीं हो सकता। कुन्दकुन्द स्वामीने स्वयं भी समयसारकी १२वीं गाथामें इसका विभाग किया है कि शुद्धनय किसके लिये और अशुद्धनय किसके लिये आवश्यक है। शुद्धनयसे तात्पर्य निश्चय नयका और अशुद्धनयसे तात्पर्य व्यवहारनयका लिया गया है।

गाथा इस प्रकार है—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१२॥

अर्थात्, जो परमभावको देखनेवाले हैं उनके द्वारा तो शुद्धनयका कथन करनेवाला शुद्धनय जाननेके योग्य है और जो अपरमभावमें स्थित हैं वे व्यवहारनयके द्वारा उपदेश देनेके योग्य हैं।

नयोंके विसंवादसे मुक्त होनेके लिये कहा गया है—

जइ जिणमअं पवज्जह तो मा ववहारणिच्छए मुयह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ॥

अर्थात्, यदि जिनेन्द्र भगवान्‌के मतकी प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयोंको मत छोड़ो। क्योंकि यदि व्यवहारको छोड़ोगे तो तीर्थकी प्रवृत्तिका लोप हो जावेगा अर्थात् धर्मका उपदेश ही नहीं हो सकेगा, फलतः धर्मतीर्थका लोप हो जावेगा और यदि निश्चयको छोड़ोगे तो तत्त्वके स्वरूपका ही लोप हो जावेगा, क्योंकि तत्त्वको कहनेवाला तो वही है।

यही भाव श्री अमृतचन्द्र सूरिने कलश काव्यमें दरशाया है—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥१४॥

अर्थात् जो जीव स्वयं मोहका वमन कर निश्चय और व्यवहारनयके विरोधको ध्वस्त करनेवाले एवं स्यात्पदसे चिह्नित जिनवचनमें रमण करते हैं वे शीघ्र ही उस समयसारका अवलोकन करते हैं जो कि परम ज्योति स्वरूप है, नवीन नहीं है अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे नित्य है और अनय पक्ष—एकान्तपक्षसे जिसका खण्डन नहीं हो सकता।

इस संदर्भका सार यह है—

चूँकि वस्तु, सामान्य विशेषात्मक अथवा द्रव्य पर्यायात्मक है अतः उसके दोनों अंशोंकी ओर दृष्टि रहनेपर ही वस्तुका पूर्ण विवेचन होता है। सामान्य अथवा द्रव्यको ग्रहण करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है और विशेष अथवा पर्यायको ग्रहण करनेवाला नय पर्यायार्थिकनय कहलाता है। आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके स्थानपर निश्चय और व्यवहार नयका उल्लेख किया गया है। द्रव्यके त्रैकालिक स्वभावको ग्रहण करनेवाला निश्चयनय है और विभावको ग्रहण करनेवाला व्यवहारनय है। एक कालमें दोनों नयोंसे पदार्थको जाना तो जा सकता है पर उसका कथन नहीं किया जा सकता। कथन क्रमसे ही किया जाता है। वक्ता अपनी विवक्षानुसार जिस समय जिस अंशको कहना चाहता है वह विवक्षित अथवा मुख्य अंश कहलाता है और वक्ता जिस अंशको नहीं कहना चाहता है वह अविवक्षित अथवा गौण कहलाता है। 'स्यात्' निपातका अर्थ कथंचित्—किसी प्रकार होता है। वक्ता किसी विवक्षासे जब पदार्थके एक अंशका वर्णन करता है तब वह दूसरे अंशको गौण तो कर देता है पर सर्वथा छोड़ता नहीं है क्योंकि सर्वथा छोड़ देनेपर एकान्तवाद का प्रसङ्ग आता है और उससे वस्तुतत्त्वका पूर्ण विवेचन नहीं हो पाता। इसी अभिप्रायसे आचार्योंने कहा है कि जो दोनों नयोंके विरोधको नष्ट करनेवाले स्यात्पद चिह्नित जिनवचनमें रमण करते हैं वे ही समयसाररूप परम ज्योतिको प्राप्त करते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीववस्तुतत्त्वका परिज्ञान प्राप्त करनेके लिये दोनों नयोंका आलम्बन लेता है परन्तु श्रद्धामें वह अशुद्ध नयके आलम्बनको हेय समझता है। यही कारण है कि वस्तु स्वरूपका यथार्थ परिज्ञान होनेपर अशुद्धनयका आलम्बन स्वयं छूट जाता है। कुन्दकुन्द स्वामीने उभयनयोंके आलम्बनसे वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन किया है इसलिये वह निर्विवाद रूपसे सर्वग्राह्य है।

आगे सङ्कलित ग्रन्थोंका परिचय दिया जाता है।

पञ्चास्तिकाय—

इसमें श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीकाके अनुसार १७३ और जयसेनाचार्य कृत टीकाके अनुसार १८१ गाथा हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं क्योंकि ये अणु अर्थात् प्रदेशोंकी अपेक्षा महान् हैं—बहुप्रदेशी हैं।[1] लोकके अन्दर समस्त द्रव्य परस्परमें प्रविष्ट होकर स्थित हैं फिर भी अपने-अपने स्वभावको नहीं छोड़ते हैं। सत्ताका स्वरूप बतलाकर द्रव्यका लक्षण करते हुए कहा है कि जो विभिन्न पर्यायोंको प्राप्त हो उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य सत्तासे अभिन्न है एतावता सत् ही द्रव्यका लक्षण है। अथवा जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे सहित हो वह द्रव्य है। अथवा जो गुण और पर्यायोंका आश्रय हो वह द्रव्य है।

चूँकि अनेकान्त जिनागमका जीव—प्राण है इसलिये उसमें विवक्षावश द्रव्यमें अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य, अस्तिअवक्तव्य, नास्तिअवक्तव्य और अस्तिनास्ति अवक्तव्य इन सात भङ्गोंका निरूपण किया है। इन प्रत्येक भंगोंके साथ विशिष्ट विवक्षाको दिखानेवाला, कथंचित् अर्थका द्योतक 'स्यात्' शब्द लगाया जाता है जैसे स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति आदि। ये सात भङ्ग विवक्षासे ही सिद्ध होते हैं। इसके लिये गाथा है—

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥१०॥

अर्थात् द्रव्य स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप है, परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप है, क्रमशः स्वचतुष्टय

---

१. जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आगासं।
अत्थित्तम्हि य णियदा अणण्णमइया अणु महंता ॥४॥
'अणवोऽत्र प्रदेशा मूर्तामूर्ताश्च निर्विभागांशास्तैः महान्तोऽणुमहान्तः प्रदेशप्रचयात्मका इति सिद्धं तेषां कायत्वम्।'
सं० टीका

और परचतुष्टयकी अपेक्षा उभय—अस्तिनास्तिरूप है, एक साथ स्वचतुष्टय-परचतुष्टयकी अपेक्षा अवक्तव्य रूप है, अस्ति और अवक्तव्यके संयोगकी अपेक्षा अस्ति अवक्तव्य है, नास्ति और अवक्तव्य के संयोग की अपेक्षा नास्तिअवक्तव्य है, और अस्तिनास्ति तथा अवक्तव्यके संयोगकी अपेक्षा अस्तिनास्ति अवक्तव्य है।

'असत्का जन्म और सत्का विनाश नहीं होता' इस सनातन सिद्धान्तको स्वीकृत करते हुए कहा गया है कि भाव-सत् रूप पदार्थका न नाश होता है और न उत्पाद। किन्तु पर्यायोंमें ही ये होते हैं। अर्थात् पदार्थ, द्रव्य दृष्टिसे नित्य है और पर्याय दृष्टिसे अनित्य है। यह एकान्त भी कुन्दकुन्द स्वामीको स्वीकार्य नहीं है कि सत्का विनाश नहीं होता और असत्की उत्पत्ति नहीं होती। वे कहते हैं कि मनुष्य मरकर देव हो गया, यहाँ सत्रूप मनुष्य पर्यायका विनाश हुआ और असत्रूप देवपर्यायका उत्पाद हुआ। मनुष्य पर्यायमें मनुष्य सत् रूप ही है। और देवपर्याय असत् रूप ही है, क्योंकि एक कालमें दो पर्यायोंका सद्भाव नहीं हो सकता। इस तरह जव पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कथन होता है तब सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति होती है। 'सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति नहीं होती' यह द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कथन है। संसारी जीवके साथ ज्ञानावरणादिकर्म अनादिकालसे बद्ध हैं, उनका अभाव करनेपर ही सिद्ध पर्याय प्रकट होती है। यहाँ संसारी पर्यायमें सिद्ध पर्यायका सद्भाव नहीं है क्योंकि दोनोंमें सहानवस्थान नामका विरोध है अतः संसारी पर्यायका नाश होनेपर ही असत्रूप सिद्ध पर्याय उत्पन्न होती है। इस तरह पर्याय दृष्टिसे सत्का विनाश और असत्का उत्पाद होता है परन्तु द्रव्यदृष्टिसे जो जीव संसारी पर्यायमें था वही सिद्ध पर्यायको प्राप्त करता है अतः क्या नष्ट हुआ और क्या उत्पन्न हुआ ? कुछ भी नहीं।

तदनन्तर जीवादि छह द्रव्योंके सामान्य लक्षण कहकर २६ गाथाओंमें पीठबन्ध समाप्त किया है। इसके वाद जीवादि द्रव्योंका विशेष व्याख्यान शुरू होता है। उसमें जीवके संसारी और सिद्ध इन दो भेदोंका वर्णन करते हुए सिद्ध जीवका लक्षण निम्नप्रकार कहा है—

कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं॥ २८॥

अर्थात् सिद्धजीव कर्मरूपी मलसे विप्रमुक्त हैं—सदाके लिये छूट चुके हैं, ऊर्ध्वगति स्वभावके कारण लोकके अन्तको प्राप्त हैं, सबको जानने देखनेवाले हैं और अनिन्द्रिय अनन्त सुखको प्राप्त हैं।

जीव द्रव्यका वर्णन करनेके लिये—

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओग विसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥ २७॥

इस गाथा द्वारा जीव, चेतयिता, उपयोग, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, देहमात्र, मूर्त और कर्मसंयुक्त इन नौ अधिकारोंका निरूपण किया है। इन सव अधिकारोंमें नयविवक्षासे कथन किया गया है।

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं॥ ५८॥

इस गाथा द्वारा स्पष्ट किया है कि कर्मोंके विना औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव नहीं हो सकते इसलिये ये भाव कर्मनिमित्तसे होते हैं। ७३वीं गाथा तक जीव द्रव्यका वर्णन करनेके वाद पुद्गल द्रव्यका वर्णन शुरू होता है।

प्रारम्भमें पुद्गलके स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु ये चार भेद हैं तथा चारोंके निम्न प्रकार लक्षण है—

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति ।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी ।। ७५ ।।

अनन्त परमाणुओंके पिण्डको स्कन्ध, उससे आधेको देश, देशके आधेको प्रदेश, और अविभागी अंशको परमाणु कहते हैं।

इस अधिकारमें पुद्गल द्रव्यके बादर बादर आदि छह भेदों तथा स्कन्ध और परमाणुरूप दो भेदोंका भी सुन्दर वर्णन है। यह अधिकार ८२ वीं गाथा तक चलता है। उसके बाद धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश द्रव्यका वर्णन है तथा चूलिका नामक अवान्तर अधिकारके द्वारा द्रव्योंकी विशेषताका वर्णन किया गया है। इसी अधिकारके अन्तमें कालद्रव्यका वर्णन कर चुकनेके बाद पंचास्तिकायोंके जाननेका फल बहुत ही हृदयग्राही शब्दोंमें व्यक्त किया है।

एवं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं वियाणित्ता ।
जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं ।। १०३ ।।

इस तरह आगमके सारभूत पञ्चास्तिकाय संग्रहको जानकर जो राग और द्वेषको छोड़ता है वह दुःखोंसे छुटकारा पाता है।

प्रथम स्कन्ध १०४ गाथाओंमें पूर्ण हुआ है। तदनन्तर द्वितीय स्कन्धमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको मोक्षमार्ग बतलाकर इन तीनोंका स्पष्ट स्वरूप बतलाया है। इस द्वितीय श्रुतस्कन्धका नाम नवपदार्थाधिकार है अर्थात् इसमें जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन नौ पदार्थोंका वर्णन किया है। प्रत्येक पदार्थका वर्णन यद्यपि संक्षिप्त है तथापि इतना सारगर्भित है कि सारभूत समस्त प्रतिपाद्य विषयोंका उसमें पूर्ण समावेश पाया जाता है। निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्गका वर्णन करते हुए निश्चयनय और व्यवहारनयका उत्तम सामञ्जस्य बैठाया है। अमृतचन्द्र स्वामी ने इस प्रकरण-का समारोप करते हुए लिखा है—'अतएवोभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति' अर्थात् जिनेन्द्र भगवान्‌की तीर्थप्रवर्तना दोनों नयोंके अधीन है। यहाँ निश्चय मोक्षमार्गको साध्य तथा व्यवहार मोक्षमार्गको साधक बताया गया है। यही भाव आपने तत्त्वार्थसार ग्रन्थमें भी प्रकट किया है—

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ।। २ ।।
श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः ।। ३ ।।
श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मनाम् ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ।। ४ ।।

—नवमाधिकार

अर्थात् निश्चय और व्यवहारके भेदसे मोक्षमार्ग दो प्रकारका है। उसमें पहला—निश्चय साध्यरूप है और दूसरा—व्यवहार उसका साधन है। शुद्ध स्वात्म द्रव्यकी श्रद्धा ज्ञान और चारित्ररूप निश्चय मोक्ष-मार्ग है तथा परात्म द्रव्यकी श्रद्धा ज्ञान और चारित्र रूप व्यवहार मोक्षमार्ग है। नियमसारमें कुन्दकुन्द स्वामी ने भी निश्चय और व्यवहारके भेदसे नियम—सम्यग्दर्शनादिका द्विविध निरूपण किया है। आध्यात्मिक दृष्टि

निश्चय ही को मोक्षमार्ग मानती हैं। वह मोक्षमार्गका निरूपण, निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका मानती हैं परन्तु मोक्षमार्गको एक निश्चय रूप ही स्वीकृत करती है। निश्चयको ही स्वीकृत करती है इसका फलितार्थ यह नहीं है कि वह व्यवहार मोक्षमार्गको छोड़ देती है। उसका अभिप्राय है कि निश्चयके साथ व्यवहार तो नियमसे होता ही है पर व्यवहारके साथ निश्चय हो भी और न भी हो। निश्चय मोक्षमार्ग, कार्यका साक्षात् जनक है इसलिए उसे मोक्षमार्ग स्वीकृत किया गया है परन्तु व्यवहार मोक्षमार्ग, परम्परासे कार्यका जनक है इसलिए उसे मोक्षमार्ग स्वीकृत नहीं किया है। शास्त्रीय दृष्टि परम्परासे कार्यजनकको भी कारण, स्वीकृत करती है अतः उसकी दृष्टिमें व्यवहारको भी मोक्षमार्ग स्वीकृत किया गया है।

स्वसमय और परसमयका सूक्ष्मतम वर्णन करते हुए कितना सुन्दर कहा है—

जस्स हिदयेणुमत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।
सो ण वि जाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरो वि ॥ १६७ ॥

अर्थात् जिसके हृदयमें अरहंत आदि विषयक राग अणुमात्र भी विद्यमान है वह समस्त आगमका धारी होकर भी स्वसमयको नहीं जानता है।

सूक्ष्म परसमयका वर्णन करते हुए कहा है कि यदि ज्ञानी—सराग सम्यग्दृष्टि जीव भी अज्ञान—शुद्धात्म परिणतिसे विलक्षण अज्ञानके कारण, शुद्ध संप्रयोग—अरहन्त आदिककी भक्तिसे दुःखमोक्ष—सांसारिक दुःखोंसे छुटकारा होता है यदि ऐसा मानता है तो वह भी परसमयरत कहलाता है। गाथा इस प्रकार है—

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपयोगादो।
हवदित्ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो ॥ १६५ ॥

इस गाथाकी[1] संस्कृत टीकामें अमृतचन्द्रसूरिने कहा है कि सिद्धिके साधनभूत अरहंत आदि भगवंतों में भक्तिभावसे अनुरंजित चित्तप्रवृत्ति यहाँ शुद्ध संप्रयोग है। अज्ञान अंशके आवेशसे यदि ज्ञानवान् भी, 'उस शुद्ध संप्रयोगसे मोक्ष होता है' ऐसे अभिप्रायके द्वारा खिन्न होता हुआ उसमें (शुद्धसंप्रयोगमें) प्रवर्ते तो वह भी रागांशके सद्भावके कारण परसमयरत कहलाता है तो फिर निरंकुश रागरूप कालिमासे कलंकित अन्तरङ्गवृत्ति वाला इतरजन क्या परसमयरत नहीं कहलावेगा? अवश्य कहलावेगा। तात्पर्य यह है कि जब सरागसम्यग्दृष्टि भी रागांशके विद्यमान होनेसे परसमयरत है तब जो स्पष्ट ही रागसे कलुषित है वह परसमय कैसे नहीं होगा।

श्री कुन्दकुन्द स्वामीने स्पष्ट कहा है—

अरहंत सिद्धचेदिय पवयणगणभत्तिसंपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण दु सो कम्मक्खयं कुणदि ॥ १६६ ॥

अर्थात् अरहन्त सिद्ध परमेष्ठी, जिनप्रतिमा तथा साधु समूहको भक्तिसे संपन्न मनुष्य बहुत प्रकारका पुण्यबन्ध करता है परन्तु कर्मोंका क्षय नहीं करता। कर्मक्षयका प्रमुख कारण प्रशस्त और अप्रशस्त—सभी प्रकारके रागका अभाव होना ही है। पूर्णवीतराग दशा होने पर अन्तर्मुहूर्तके अन्दर नियमसे घातिचतुष्कका क्षय होकर अरहन्त अवस्था प्रकट हो जाती है। जिसकी अरहन्त अवस्था प्रकट हो जाती है वह उसी भवसे निर्वाणको प्राप्त करता है।

---

१. 'अर्हदादिषु भगवत्सु सिद्धिसाधनीभूतेषु भक्तिबलानुरंजिता चित्तवृत्तिरत्र शुद्धसंप्रयोगः। अथ खल्वज्ञानलवावेशाद्यदि यावज्ज्ञानवानपि ततः शुद्धसंप्रयोगान्मोक्षो भवतीत्यभिप्रायेण खिद्यमानस्तत्र प्रवर्तते तदा तावत्सोऽपि रागलवसद्भावात्परसमयरत इत्युपगीयते। अथ न किं पुनर्निरङ्कुशरागकलिकलङ्कितान्तरङ्गवृत्तिरितरो जन इति'।

अरहंत सिद्ध चेदिय पवयणभत्तो परेण णियमेण ।
जो कुणदि तवोकम्मं सो सुरलोगं समादियदि ।।१७१।।

अर्थात् अरहन्त, सिद्ध, जिनप्रतिमा तथा जिनागमकी भक्तिसे युक्त जो पुरुष उत्कृष्ट संयमके साथ तपस्या करता है वह स्वर्गलोकको प्राप्त होता है । कहनेका तात्पर्य यह है कि अरहन्तादिककी भक्तिरूप शुभ-राग देवायुके बन्धका कारण है मोक्षका कारण नहीं । इसे परम्परासे ही मोक्षका कारण कहा जा सकता है ।

मोक्षका साक्षात् कारण बतलाते हुए ग्रन्थान्तमें कहा है—

तह्मा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदि मा किंचि ।
सो तेण वीदरागो भवियो भवसागरं तरदि ।।१७२।।

इसलिये निर्वाणकी इच्छा रखनेवाला पुरुष सर्वत्र—शुभ-अशुभ सभी अवस्थाओंमें कुछ भी राग मत करे । उसीसे यह भव्य जीव वीतराग होता हुआ भवसागर—संसाररूपी समुद्रको तरता है । अर्थात् मोक्ष-का साक्षात् कारण परम वीतराग भाव ही है ।

इस वीतराग भावके विषयमें श्री अमृतचन्द्र स्वामीने लिखा है—

तदिदं वीतरागत्वं व्यवहारनिश्चयाविरोधेनैवानुगम्यमानं भवति समीहितसिद्धये न पुनर-न्यथा ।

अर्थात् इस वीतरागताका अनुगमन यदि व्यवहार और निश्चयनयका विरोध न करते हुए किया जाता है तो वह समीहित—चिराभिलषित मोक्षकी सिद्धिके लिये होता है अन्य प्रकार नहीं ।

१७२ वीं गाथाकी टीकामें विस्तारसे कहा गया है कि यह मुमुक्षु प्राणी व्यवहार और निश्चयनय के आलम्बनसे किस प्रकार आत्म समीहित को सिद्ध करता है । अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं कि जो केवल व्यवहार-नयका अवलम्बन लेते हैं वे बाह्य-क्रियाओंको करते हुए भी ज्ञान चेतनाका कुछ भी सन्मान नहीं करते इसलिये प्रभूत पुण्यभारसे मन्थरित चित्तवृत्ति होते हुए सुरलोक आदिके क्लेशोंकी परम्परासे चिरकाल तक संसार-सागरमें ही परिभ्रमण करते रहते हैं । ऐसे जीवोंके विषयमें कहा है—

चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कवावारा ।
चरणकरणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण जाणंति ।।

अर्थात् जो बाह्य आचरण के कर्तृत्वको ही प्रधान मानते हैं तथा स्वसमयके परमार्थ—वास्तविक स्वरूपमें मुक्त व्यापार हैं—स्वसमय—स्वकीय शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिमें कुछ भी उद्यम नहीं करते वे बाह्याचरण के सारभूत शुद्ध निश्चयको जानते ही नहीं हैं ।

इसी प्रकार जो केवल निश्चयनयका आलम्बन लेकर बाह्याचरणसे विरक्त बुद्धि हो जाते हैं—परा-ङ्मुख हो जाते हैं वे भिन्न साध्यसाधन रूप व्यवहारकी अपेक्षा कर देते हैं तथा अभिन्न साध्य साधनरूप निश्चयको प्राप्त होते नहीं हैं इसलिये अधरमें लटकते हुए केवल पापका ही बन्ध करते हैं । ऐसे जीवोंके विषयमें कहा है—

णिच्छयमालंवंता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता ।
णासंति चरणकरणं बाहरिचरणालसा केई ।।

अर्थात् जो निश्चयके वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते हुए निश्चयाभासको ही निश्चय मानकर उसका आलम्बन लेते हैं वे बाह्याचरणमें आलसी होते हुए प्रवृत्तिरूप चारित्रको नष्ट करते हैं ।

यही भाव उन्होंने अपने पुरुषार्थसिद्धचुपाय ग्रंथमें प्रकट किया है—

> निश्चयमवुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
> नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः ॥५०॥

अर्थ स्पष्ट है।

इसी प्रकार जो निश्चय और व्यवहारके यथार्थ स्वरूपको न समझकर निश्चयाभास और व्यवहाराभास—दोनोंका आलम्वन लेते हैं वे भी समीहित सिद्धिसे वंचित रहते हैं। जाननेमें केवल निश्चय और केवल व्यवहारके आलम्वनसे विमुख हो जो अत्यन्त मध्यस्थ रहते हैं अर्थात् पदार्थके जाननेमें अपने-अपने पदके अनुसार दोनों नयोंका आलम्वन लेकर अन्तमें दोनों नयोंके विकल्पसे परे रहनेवाली निर्विकल्प भूमिका—शुद्धात्म परिणतिको प्राप्त होते हैं वे शीघ्र ही संसार समुद्रको तैरकर शब्दब्रह्म—शास्त्रज्ञानके स्थायीफलके भोक्ता होते हैं—मोक्षको प्राप्त होते हैं। यही भाव इन्होंने पुरुषार्थसिद्धचुपायमें भी दिखाया है—

> व्यवहारनिश्चयौ यः प्रवुध्य तत्त्वेन भवति माध्यस्थः।
> प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥ ८ ॥

अर्थात् जो यथार्थरूपसे व्यवहार और निश्चयको जानकर मध्यस्थ होता है—किसी एकके पक्षको पकड़कर नहीं बैठता, वही शिष्य देशना—गुरूपदेशके पूर्ण फलको प्राप्त होता है।

पञ्चास्तिकायमें सम्यग्दर्शनके विपयभूत पञ्चास्तिकायों और छह द्रव्योंका प्रमुख रूपसे वर्णन है।

समयप्राभृत अथवा समयसार

'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं' इस प्रतिज्ञावाक्यसे मालूम होता है कि इस ग्रन्थका नाम कुन्दकुन्दस्वामीको समयपाहुड (समयप्राभृत) अभीष्ट था। परन्तु पीछे चलकर 'प्रवचनसार' और 'नियमसार' इन सारान्त नामोंके साथ 'समयसार' नामसे प्रचलित हो गया। 'समयते एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति च' अर्थात् जो पदार्थोंको एक साथ जाने अथवा गुणपर्यायरूप परिणमन करे वह समय है इस निरुक्तिके अनुसार समय शब्दका अर्थ जीव होता है और 'प्रकर्षेण आसमन्तात् भृतम् इति प्राभृतम्' जो उत्कृष्टताके साथ सब ओरसे भरा हुआ हो—जिसमें पूर्वापर विरोधरहित साङ्गोपाङ्ग वर्णन हो उसे प्राभृत कहते हैं इस निरुक्तिके अनुसार प्राभृतका अर्थ शास्त्र होता है। 'समयस्य प्राभृतम्' इस समासके अनुसार समयप्राभृतका अर्थ जीव—आत्माका शास्त्र होता है। ग्रन्थका चालू नाम समयसार है अतः इसका अर्थ त्रैकालिक शुद्धस्वभाव अथवा सिद्धपर्याय है।

समयप्राभृत ग्रन्थ निम्नलिखित १० अधिकारोंमें विभाजित है—१. पूर्वरङ्ग २. जीवाजीवाधिकार ३. कर्तृकर्माधिकार ४. पुण्यपापाधिकार ५. आस्रवाधिकार ६. संवराधिकार ७. निर्जराधिकार ८. बन्धाधिकार ९. मोक्षाधिकार और १०. सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार। नयोंका सामञ्जस्य बैठानेके लिये अमृतचन्द्रस्वामीने पीछेसे स्याद्वादाधिकार और उपायोपेयाभावाधिकार नामक दो स्वतन्त्र परिशिष्ट और जोड़े हैं। अमृतचन्द्रसूरिकृत टीकाके अनुसार समग्र ग्रन्थ ४१५ गाथाओंमें समाप्त हुआ है और जयसेनाचार्यकृत टीकाके अनुसार ४४२ गाथाओंमें।

उपर्युक्त अधिकारोंका प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है—

पूर्वरङ्गाधिकार

कुन्दकुन्दस्वामीने स्वयं पूर्वरङ्गनामका कोई अधिकार सूचित नहीं किया है परन्तु संस्कृतटीकाकार

अमृतचन्द्रसूरिने ३८वीं गाथाकी समाप्तिपर पूर्वरङ्ग समाप्तिकी सूचना दी है। इन ३८ गाथाओंमें प्रारम्भकी १२ गाथाएँ पीठिकारूपमें हैं। जिनमें ग्रन्थकर्ताने मङ्गलाचरण, ग्रन्थप्रतिज्ञा, स्वसमय-परसमयका व्याख्यान तथा शुद्धनय और अशुद्धनयके स्वरूपका दिग्दर्शन कराया है। इन नयोंके ज्ञानके बिना समयप्राभृतको समझना अशक्य है। पीठिकाके बाद ३८वीं गाथातक पूर्वरङ्ग नामका अधिकार है जिसमें आत्माके शुद्धस्वरूपका निदर्शन कराया गया हैं। शुद्धनय आत्मामें जहाँ परद्रव्यजनित विभावभावको स्वीकृत नहीं करता वहाँ वह अपने गुण और पर्यायोंके साथ भेद भी स्वीकृत नहीं करता। वह इस बातको भी स्वीकृत नहीं करता कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये आत्माके गुण हैं, क्योंकि इनमें गुण और गुणीका भेद सिद्ध होता है। वह, यह घोषित करता है कि आत्मा सम्यग्दर्शनादिरूप है। 'आत्मा प्रमत्त है और आत्मा अप्रमत्त है' इस कथनको भी शुद्धनय स्वीकृत नहीं करता, क्योंकि इस कथनमें आत्मा प्रमत्त और अप्रमत्त पर्यायोंमें विभक्त होता है। वह तो आत्माको एक ज्ञायक ही स्वीकृत करता है। जीवाधिकारमें जीवके निजस्वरूपका कथनकर उसे परपदार्थों और परपदार्थोंके निमित्तसे होनेवाले विभावोंसे पृथक् निरूपित किया है। नोकर्म मेरा नहीं है, द्रव्यकर्म मेरा नहीं है, और भावकर्म भी मेरा नहीं है, इस तरह इन पदार्थोंसे आत्मतत्त्वको पृथक् सिद्धकर ज्ञेय-ज्ञायकभाव एवं भाव्यभावक भावकी अपेक्षा भी आत्माको ज्ञेय तथा भाव्यसे पृथक् सिद्ध किया है। जिस प्रकार दर्पण अपनेमें प्रतिबिम्बित मयूरसे भिन्न है उसी प्रकार आत्मा अपने ज्ञानमें आये हुए घटपटादि ज्ञेयोंसे भिन्न है और जिस प्रकार दर्पण ज्वालाओंके प्रतिबिम्बसे संयुक्त होनेपर भी तज्जन्यतापसे उन्मुक्त रहता है इसी प्रकार आत्मा अपने अस्तित्वमें रहनेवाले सुख दुःखरूप कर्मफलके अनुभवसे रहित है। इस तरह प्रत्येक परपदार्थोंसे भिन्न आत्माके अस्तित्वका श्रद्धान करना जीवतत्त्वके निरूपणका लक्ष्य है। इस प्रकरणके अन्तमें कुन्दकुन्दस्वामीने उद्घोष किया है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदा रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥ ३८ ॥

अर्थात् निश्चयसे मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानसे तन्मय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

इस सब कथनका तात्पर्य यह है कि यह जीव, पुद्गलके संयोगसे उत्पन्न हुई संयोगज पर्याय में आत्मबुद्धिकर उनकी इष्ट-अनिष्ट परिणतिमें हर्षविषादका अनुभव करता हुआ व्यर्थ ही रागी द्वेषी होता है और उनके निमित्तसे नवीन कर्मबन्धकर अपने संसारकी वृद्धि करता है। जब यह जीव, परपदार्थोंसे भिन्न निज शुद्ध स्वरूपकी ओर लक्ष्य करने लगता है तब परपदार्थोंसे इसका ममत्वभाव स्वयमेव दूर होने लगता है।

जीवाजीवाधिकार

जीवके साथ अनादिकालसे कर्म-नोकर्म रूप पुद्गल द्रव्यका सम्बन्ध चला आ रहा है। मिथ्यात्व दशामें यह जीव शरीररूप नोकर्मकी परिणतिको आत्माकी परिणति मानकर उसमें अहंकार करता है—इस रूप ही मैं हूँ ऐसा मानता है अतः सर्वप्रथम इसकी शरीरसे पृथक्ता सिद्ध की है। उसके बाद ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागादिकभाव कर्मोंसे इसका पृथक्त्व दिखाया है। आचार्य महाराजने कहा है कि हे भाई! ये सब पुद्गल द्रव्यके परिणमनसे निष्पन्न हैं अतः पुद्गलके हैं, तू इन्हें जीव क्यों मान रहा है? यथा—

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवोत्ति वुच्चंति ॥ ४४ ॥

जो स्पष्ट ही अजीव हैं उनके अजीव कहनेमें तो कोई खास बात नहीं है परन्तु जो अजीवाश्रित परिणमन जीवके साथ घुलमिलकर अनित्य तन्मयीभावसे तादात्म्य जैसी अवस्थाको प्राप्त हो रहे हैं उन्हें अजीव सिद्ध करना इस अधिकारकी विशेपता है। रागादिक भाव अजीव हैं, गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास आदि भाव अजीव हैं यह बात यहाँ तक सिद्ध की गई है। अजीव हैं—इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ये घटपटादिके समान अजीव हैं। यहाँ 'अजीव हैं' इसका इतना ही तात्पर्य है कि ये जीवकी स्वभाव परिणति नहीं हैं। यदि जीवकी स्वभाव परिणति होती तो त्रिकाल में इनका अभाव नहीं होता। परन्तु जिस पौद्गलिक कर्मकी उदयावस्थामें ये भाव होते हैं उसका अभाव होनेपर ये स्वयं विलीन हो जाते हैं। अग्निके संसर्गसे पानीमें उष्णता आती है परन्तु वह उष्णता सदाके लिये नहीं आती है। अग्निका सम्बन्ध दूर होते ही दूर हो जाती है। इसी प्रकार क्रोधादि द्रव्यकर्मोके उदय कालमें होनेवाले रागादिभाव आत्मामें अनुभूत होते हैं परन्तु वे संयोगज भाव होनेसे आत्माके विभाव भाव हैं, स्वभाव नहीं, इसीलिये इनका अभाव हो जाता है।

ये रागादिक भाव आत्माको छोड़कर अन्य पदार्थोमें नहीं होते इसलिये उन्हें आत्माके कहनेके लिये अन्य आचार्योंने एक अशुद्ध निश्चय नयकी कल्पना की है। वे, 'शुद्धनिश्चय नयसे आत्माके नहीं हैं परन्तु अशुद्ध निश्चय नयसे आत्माके हैं, ऐसा कथन करते हैं परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी विभावको आत्मा माननेके लिये तैयार नहीं हैं। उन्हें आत्माके कहना, वे व्यवहार नयका विषय मानते हैं और उस व्यवहारका जिसे कि उन्होंने अभूतार्थ कहा है।

इसी प्रसंगमें जीवका स्वरूप बतलाते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—

> अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
> जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिदिट्ठसंठाणं ॥ ४९ ॥

अर्थात् हे भव्य ! तू आत्माको ऐसा जान कि वह रसरहित है, रूपरहित है, गन्ध रहित है, अव्यक्त अर्थात् स्पर्श रहित है, शब्द रहित है, अलिङ्गग्रहण है अर्थात् किसी खास लिङ्गसे उसका ग्रहण नहीं होता तथा जिसका कोई आकार निर्दिष्ट नहीं किया गया है, ऐसा है, किन्तु चेतनागुणवाला है।

यहाँ चेतनागुण जीवका स्वरूप है और रस गन्ध आदि उसके स्वरूप नही हैं। परपदार्थसे उसका पृथक्त्व सिद्ध करनेके लिये ही यहाँ उनका उल्लेख किया गया है। वर्णादिक और रागादिक—सभी जीवसे भिन्न हैं—जीवेतर हैं। इस तरह इस जीवाजीवाधिकारमें आचार्यने मुमुक्षु प्राणीके लिये परपदार्थसे भिन्न जीवके शुद्धस्वरूपका दर्शन कराया है। साथ ही उससे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थको अजीव दिखलाया है। यह जीवाजीवाधिकार ३९ वीं गाथासे लेकर ६८ वीं गाथा तक चला है।

कर्तृकर्माधिकार

जीव और अजीव (पौद्गलिक कर्म) अनादि कालसे सम्बद्ध अवस्थाको प्राप्त हैं इसलिये प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इनके अनादि सम्बन्धका कारण क्या है ? जीवने कर्मको किया या कर्मने जीवको किया ? यदि जीवने कर्मको किया तो जीवमें ऐसी कौनसी विशेषता थी कि जिससे उसने कर्मको किया ? यदि विना विशेपताके ही किया तो सिद्ध महाराज भी कर्मको करें, इसमें क्या आपत्ति है ? और कर्म ने जीवको किया तो कर्ममें ऐसी विशेपता कहाँसे आई कि वे जीवको कर सकें—उसमें रागादिक भाव उत्पन्न कर सकें। विना विशेपताके ही यदि कर्म रागादिक करते हैं तो कर्मके अस्तित्व कालमें सदा रागादिक उत्पन्न होना चाहिये। इस प्रश्नावलीसे बचनेके लिये यह समाधान किया गया है कि जीव के रागादि परिणामोंसे पुद्गल द्रव्यमें कर्म-

रूप परिणमन होता है और पुद्गलके कर्मरूप परिणमन—उनकी उदयावस्थाका निमित्त पाकर आत्मामें रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं। इस समाधानमें जो अन्योन्याश्रय दोष आता है उसे अनादि संयोग मानकर दूर किया गया है। इस कर्तृकर्माधिकारमें कुन्दकुन्द स्वामीने इसी बातका बड़ी सूक्ष्मतासे वर्णन किया है।

अमृतचन्द्र स्वामीने कर्ता, कर्म और क्रियाका लक्षण लिखते हुए कहा है—

य: परिणमति स कर्ता य: परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणति: क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥

अर्थात् जो परिणमन करता है वह कर्ता कहलाता है, जो परिणाम होता है उसे कर्म कहते हैं और जो परिणति होती है वह क्रिया कहलाती है। वास्तवमें ये तीनों ही भिन्न नहीं हैं एक द्रव्यकी ही परिणति हैं।

निश्चय नय, कर्तृकर्म भाव उसी द्रव्यमें मानता है जिसमें व्याप्य व्यापक भाव अथवा उपादानोपादेय भाव होता है। जो कार्य रूप परिणत होता है उसे व्यापक या उपादान कहते हैं और जो कार्य होता है उसे व्याप्य या उपादेय कहते हैं। 'मिट्टीसे घट बना' यहाँ मिट्टी व्यापक या उपादान है और घट व्याप्य या उपादेय है। यह व्याप्य व्यापक भाव या उपादानोपादेय भाव सदा एक द्रव्यमें ही होता है, दो द्रव्यों में नहीं, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप परिणमन त्रिकालमें भी नहीं कर सकता। जो उपादानके कार्यरूप परिणमनमें सहायक होता है वह निमित्त कहलाता है जैसे मिट्टी के घटाकार परिणमनमें कुम्भकार तथा दण्ड चक्र आदि। और उस निमित्तकी सहायतासे उपादानमें जो कार्य होता है वह नैमित्तिक कहलाता है जैसे कुम्भकार आदि की सहायतासे मिट्टीमें हुआ घटाकार परिणमन। यह निमित्त नैमित्तिक भाव दो विभिन्न द्रव्योंमें भी बन जाता है परन्तु उपादानोपादेय भाव या व्याप्य व्यापक भाव एक द्रव्यमें ही बनता है। जीवके रागादि भावका निमित्त पाकर पुद्गलमें कार्यरूप परिणमन होता है और पुद्गलकी उदयावस्थाका निमित्त पाकर जीवमें रागादि भाव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार दोनोंमें निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी निश्चयनय उनमें कर्तृ-कर्मभावको स्वीकृत नहीं करता। निमित्त नैमित्तिक भावके होनेपर भी कर्तृकर्मभाव न माननेमें युक्ति यह दी है कि ऐसा माननेपर निमित्तमें द्विक्रियाकारित्वका दोष आता है अर्थात् निमित्त अपने परिणमनका भी कर्ता होगा और उपादानके परिणमनका भी कर्ता होगा, जो कि संभव नहीं है। कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है—

जीवोण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवजोगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥

जीव न तो घटको करता है, न पटको करता है और न बाकीके अन्यद्रव्योंको करता है जीवके योग और उपयोग ही उनके कर्ता हैं।

इसकी टीकामें अमृतचन्द्र स्वामीने लिखा है—जो घटादिक और क्रोधादिक परद्रव्यात्मक कर्म हैं यदि इन्हें आत्मा व्याप्यव्यापकभावसे करता है तो तद्रूपताका प्रसंग आता है और निमित्त नैमित्तिक भावसे करता है तो नित्यकर्तृत्वका प्रसंग आता है परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि आत्मा उनसे न तो तन्मय ही है और न नित्यकर्ता ही है अत: न तो व्याप्य व्यापक भाव से कर्ता है और न निमित्त नैमित्तिक भावसे। किन्तु अनित्य जो योग और उपयोग हैं वे ही घट पटादि द्रव्योंके निमित्त कर्ता हैं। उपयोग और योग आत्माके विकल्प और व्यापार हैं अर्थात् जब आत्मा ऐसा विकल्प करता है कि मैं घटको बनाऊँ, तब काय योगके द्वारा आत्माके प्रदेशोंमें चञ्चलता आती है और चञ्चलताकी निमित्तता पाकर हस्तादिकके व्यापार द्वारा दण्डनिमित्तक चक्र भ्रमि होती है तब घटादिककी निष्पत्ति होती है। यह विकल्प और योग अनित्य हैं, कदाचित् अज्ञानके द्वारा करनेसे आत्मा इनका कर्ता हो भी सकता है परन्तु परद्रव्यात्मक कर्मोंका कर्ता कदापि नहीं हो सकता। यहाँ

निमित्त कारणको दो भागोंमें विभाजित किया है—एक साक्षात् निमित्त और दूसरा परम्परा निमित्त। कुम्भकार अपने योग और उपयोगका कर्ता है, यह साक्षात् निमित्तकी अपेक्षा कथन है क्योंकि इनके साथ कुम्भकारका साक्षात् सम्बन्ध है और कुम्भकारके योग तथा उपयोगसे दण्ड तथा चक्रादिमें जो व्यापार होता है तथा उससे जो घटादिककी उत्पत्ति होती है वह परम्परा निमित्तकी अपेक्षा कथन है। जब परम्परा निमित्तसे होने वाले निमित्त नैमित्तिक भावको गौणकर कथन किया जाता है तब यह बात कही जाती है कि जीव घट पटादि का कर्ता नहीं है परन्तु जब परम्परा निमित्तसे होनेवाले निमित्त नैमित्तिक भावको प्रमुखता देकर कथन किया जाता है तब जीव घटपटादिका कर्ता होता है। तात्पर्यवृत्तिकी निम्न पंक्तियोंसे यही भाव प्रकट होता है—

'इति परम्परया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात्। यदि पुनः मुख्यवृत्त्या निमित्तकर्तृत्वं भवति तर्हि जीवस्य नित्यत्वात् सर्वदैव कर्मकर्तृत्वप्रसंगात् मोक्षाभावः।' गाथा १००

इस प्रकार परम्परा निमित्त रूपसे जीव घटादिकका कर्ता होता है, यदि मुख्य वृत्तिसे जीवको निमित्त कर्त्ता माना जावे तो जीवके नित्य होनेसे सदा ही कर्मकर्तृत्वका प्रसंग आ जायगा और उस प्रसंगसे मोक्षका अभाव हो जावेगा।

'घटका कर्ता कुम्हार नहीं है, पटका कर्ता कुविन्द नहीं है, और रथका कर्ता बढ़ई नहीं है, यह कथन लोकविरुद्ध अवश्य प्रतीत होता है पर यथार्थमें जब विचार किया जाता है तब कुम्हार, कुविन्द और बढ़ई अपने-अपने उपयोग और योगके ही कर्ता होते हैं। लोकमें जो उनका कर्तृत्व प्रसिद्ध है वह परम्परा निमित्तकी अपेक्षा ही संगत होता है।

मूल प्रश्न यह था कि कर्मका कर्ता कौन है? तथा रागादिकका कर्ता कौन है? इस प्रश्नके उत्तरमें जब व्याप्यव्यापकभाव या उपादानोपादेयभावकी अपेक्षा विचार होता है तब यह बात आती है कि चूँकि कर्मरूप परिणमन पुद्गलरूप उपादानमें हुआ है इसलिए इसका कर्ता पुद्गल ही है जीव नहीं है। परन्तु जब परम्परा निमित्तनैमित्तिक भावकी अपेक्षा विचार होता है तब जीवके रागादिक भावोंका निमित्त पाकर पुद्गलमें कर्मरूप परिणमन हुआ है इसलिए उनका कर्ता जीव है। उपादनोपादेयभावकी अपेक्षा रागादिकका कर्ता जीव है और परम्परा निमित्तनैमित्तिकभावकी अपेक्षा उदयावस्थाको प्राप्त रागादिक द्रव्य कर्म।

जीवादिक नौ पदार्थोंके विवेचनके बीचमें कर्तृकर्मभावकी चर्चा छेड़नेमें कुन्दकुन्द स्वामीका इतना ही अभिप्राय ध्वनित होता है कि यह जीव अपने आपको किसी पदार्थका कर्ता, धर्ता तथा हर्ता मानकर व्यर्थ ही रागद्वेषके प्रपञ्चमें पड़ता है। अपने आपको परका कर्ता माननेसे अहंकार उत्पन्न होता है और परकी इष्ट अनिष्ट परिणतिमें हर्ष विषादका अनुभव होता है। जब तक परपदार्थों और तन्निमित्तक वैभाविकभावोंमें हर्ष विषादका अनुभव होता रहता है तब तक यह जीव अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभावमें सुस्थिर नहीं होता। वह मोह की धारामें बह कर स्वरूपसे च्युत रहता है। मोक्षाभिलाषी जीवको अपनी यह भूल सबसे पहले सुधार लेनी चाहिए। इसी उद्देश्यसे आस्रवादि तत्त्वोंकी चर्चा करनेके पूर्व कुन्दकुन्द महाराजने सचेत किया है कि हे मुमुक्ष प्राणी! तूं कर्तृत्वके अहंकारसे बच, अन्यथा रागद्वेषकी दल-दलमें फँस जावेगा।

'आत्मा कर्मोंका कर्ता और भोक्ता नहीं है' निश्चय नयके इस कथनका विपरीत फलितार्थ निकाल कर जीवोंको स्वच्छन्द नहीं होना चाहिए। क्योंकि अशुद्ध निश्चयनयके जीव रागादिक भावोंका और व्यवहार नयसे कर्मोका कर्ता तथा भोक्ता स्वीकृत किया गया है। परस्पर विरोधी नयोंका सामञ्जस्य पात्र भेदके विचार से ही सम्पन्न होता है।

इसी कर्तृकर्माधिकारमें अमृतचन्द्र स्वामीने अनेक नयपक्षोंका उल्लेखकर तत्त्ववेदी पुरुषको उनके पक्षसे अतिक्रान्त-परे रहनेवाला बताया है। आखिर, नय वस्तुस्वरूपको समझनेके साधन हैं, साध्य नहीं। एक अवस्था ऐसी भी आती है जहाँ व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकारके नयोंके विकल्पोंका अस्तित्व नहीं रहता, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेप चक्रका तो पता ही नहीं चलता कि वह कहाँ गया—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि न च विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ।। ९ ।।

पुण्यपापाधिकार

संसारचक्रसे निकलकर मोक्ष प्राप्त करनेके अभिलाषी प्राणीको पुण्यका प्रलोभन अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट करनेवाला है इसलिये कुन्दकुन्दस्वामी आस्रवाधिकारका प्रारम्भ करनेके पहले ही इसे सचेत करते हुए कहते हैं कि हे मुमुक्षु ! तू मोक्षरूपी महानगरकी यात्राके लिये निकला है। देख, कहीं बीचमें ही पुण्यके प्रलोभनमें नहीं पड़ जाना। यदि उसके प्रलोभनमें पड़ा तो एक झटकेमें ऊपरसे नीचे आ जावेगा और सागरोंपर्यन्तके लिये उसी पुण्यमहलमें नजरकैद हो जायगा।

अधिकारके प्रारम्भमें कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं कि लोग अशुभको कुशील और शुभको सुशील कहते हैं परन्तु वह शुभ सुशील कैसे हो सकता है ? जो इस जीवको संसारमें ही प्रविष्ट रखता है—उससे बाहर नहीं निकलने देता। बन्धनकी अपेक्षा सुवर्ण और लोह—दोनोंकी बेड़ियाँ समान हैं। जो बन्धनसे बचना चाहता है उसे सुवर्णकी बेड़ी भी तोड़नी होगी।

वास्तवमें यह जीव पुण्यका प्रलोभन तोड़नेमें असमर्थ-सा हो रहा है। यदि अपने आत्मस्वातन्त्र्य तथा शुद्धस्वभावकी ओर इसका लक्ष्य बन जावे तो कठिन नहीं है। दया, दान, व्रताचरण आदिके भावलोकमें पुण्य कहे जाते हैं और हिंसादि पापोंमें प्रवृत्तिरूपभाव पाप कहे जाते हैं। पुण्यके फल स्वरूप पुण्य प्रकृतियोंका बन्ध होता है और पापके फलस्वरूप पाप प्रकृतियोंका। जब उन पुण्य और पाप प्रकृतियोंका उदयकाल आता है तब इस जीवको सुख दुःखका अनुभव होता है। परमार्थसे विचार किया जावे तो पुण्य और पाप-दोनों प्रकारकी प्रकृतियोंका बन्ध इस जीवको संसारमें ही रोकने वाला है। इसलिये इनसे बचकर उस तृतीया-वस्थाको प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिये जो पुण्य और पाप—दोनोंके विकल्पसे परे है। उस तृतीयावस्थामें पहुँचनेपर ही यह जीव कर्मबन्धसे बच सकता है और कर्मबन्धसे बचनेपर ही जीवका वास्तविक कल्याण हो सकता है। उन्होंने कहा है—

परमट्ठबाहिरा जे अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता ।। १५४ ।।

जो परमार्थसे बाह्य हैं अर्थात् ज्ञानात्मक आत्माके अनुभवसे शून्य हैं वे अज्ञानसे संसार गमनका कारण होनेपर भी पुण्यकी इच्छा करते हैं तथा मोक्षके कारणको जानते भी नहीं हैं।

यहाँ आचार्य महाराजने कहा है कि जो मनुष्य परमार्थज्ञानसे रहित हैं वे अज्ञानवश मोक्षका साक्षात् कारण जो वीतराग परिणति है उसे तो जानते नहीं हैं और पुण्यको मोक्षका साक्षात् कारण समझकर उसकी उपासना करते हैं जब कि यह पुण्य संसारकी ही प्राप्तिका कारण है। यहाँ पुण्य रूप आचरणका निषेध नहीं

है किन्तु पुण्याचरणको मोक्षका साक्षात् मार्ग माननेका निषेध किया है। ज्ञानी जीव अपने पदके अनुरूप पुण्याचरण करता है और उसके फल स्वरूप प्राप्त हुए इन्द्र, चक्रवर्ती आदिके वैभवका उपभोग भी करता है परन्तु श्रद्धामें यही भाव रखता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्षका साक्षात् कारण नहीं है तथा उसके फल स्वरूप जो वैभव प्राप्त होता है वह मेरा स्वपद नहीं है। यहाँ इतनी बात ध्यानमें रखनेके योग्य है कि जिस प्रकार पापाचरण बुद्धि पूर्वक छोड़ा जाता है उस प्रकार बुद्धि पूर्वक पुण्याचरण नहीं छोड़ा जाता, वह तो शुद्धोपयोगकी भूमिकामें प्रविष्ट होनेपर स्वयं छूट जाता है।

जिनागमका कथन नयसापेक्ष होता है अतः शुद्धोपयोगकी अपेक्षा शुभोपयोगरूप पुण्यको त्याज्य कहा गया है परन्तु अशुभोपयोगरूप पापकी अपेक्षा उसे उपादेय बताया गया है। शुभोपयोगमें यथार्थमार्ग जल्दी मिल सकता है परन्तु अशुभोपयोगमें उसकी संभावना ही नहीं है। जैसे प्रातःकाल सम्बन्धी सूर्यलालिमाका फल सूर्योदय है और सायंकाल सम्बन्धी सूर्यलालिमाका फल सूर्यास्त है। इसी आपेक्षिक कथनको अंगीकृत करते हुए श्रीकुन्दकुन्दस्वामीने मोक्ष पाहुडमें कहा है—

वर वयतवेहिं सग्गो मा दुक्खं होउ णिरय इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं॥ २५॥

और इसी अभिप्रायसे पूज्यपाद स्वामीने भी इष्टोपदेशमें शुभोपयोगरूप व्रताचरणसे होनेवाले देवपदको कुछ अच्छा कहा है और अशुभोपयोगरूप पापाचरणसे होनेवाले नारकपदको बुरा कहा है—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम्।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्॥ ३॥

अर्थात् व्रतोंसे देवपद पाना कुछ अच्छा है परन्तु अव्रतोंसे नारकपद पाना अच्छा नहीं है। क्योंकि छाया और धूपमें बैठकर प्रतीक्षा करनेवालोंमें महान् अन्तर है।

अशुभोपयोग सर्वथा त्याज्य ही है और शुद्धोपयोग उपादेय ही है। परन्तु शुभोपयोग पात्रभेद की अपेक्षा हेय और उपादेय दोनों रूप है। [1]किन्हीं-किन्हीं आचार्योंने सम्यग्दृष्टिके पुण्यको मोक्षका कारण बताया है। और मिथ्या दृष्टिके पुण्यको बन्धका कारण। उनका यह कथन भी नयविवक्षासे संगत होता है। वस्तुतत्त्वका यथार्थ विश्लेषण करनेपर यह बात अनुभव में आती है कि सम्यग्दृष्टि जीवकी, मोहका आंशिक अभाव हो जानेसे जो आंशिक निर्मोह अवस्था हुई है वही उसकी निर्जराका कारण है और जो शुभ रागरूप अवस्था है वह बन्धका ही कारण है। बन्धके कारणोंकी चर्चा करते हुए कुन्दकुन्द स्वामीने तो एक ही बात कही है—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥ १५०॥

रागी जीव कर्मोंको बांधता है और विरागको प्राप्त हुआ जीव कर्मोंको छोड़ता है। यह भी जिनेश्वरका उपदेश है, इससे कर्मोंमें राग मत करो।

यहाँ आचार्यने शुभ अशुभ दोनों प्रकारके रागको ही बन्धका कारण कहा है। यह बात जुदी है कि शुभरागसे शुभ कर्मका बन्ध होता है और अशुभ रागसे अशुभ कर्मका। शुभ रागके समय शुभ कर्मोंमें स्थिति-

---

१. सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइवि णिदाणं ण सो कुणई॥ ४०४॥ भावसंग्रहे देवसेनस्य

अनुभाग वन्ध अधिक होता है और अशुभ रागमें अशुभ कर्मोंमें स्थिति-अनुभाग वन्ध अधिक होता है। वैसे प्रकृति और प्रदेश वन्ध तो यथा संभव व्युच्छित्ति पर्यन्त सभी कर्मोका होता रहता है।

यह पुण्यपापाधिकार १४५ से १६३ गाथा तक चलता है।

आस्रवाधिकार

संक्षेपमें जीव द्रव्यकी दो अवस्थाएँ हैं—एक संसारी और दूसरी मुक्त। इनमें संसारी अवस्था अशुद्ध होनेसे हेय है और मुक्त अवस्था शुद्ध होनेसे उपादेय है। संसार अवस्थाका कारण आस्रव और वन्धतत्त्व है तथा मोक्ष अवस्थाका कारण संवर और निर्जरा तत्त्व है। आत्माके जिन भावोंसे कर्म आते हैं उन्हें आस्रव कहते हैं। ऐसे भाव चार हैं—१ मिथ्यात्व २ अविरमण ३ कषाय और ४ योग। यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्रकारने इन चारके सिवाय प्रमादका भी वर्णन किया है परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी प्रमादको कषायका ही एक रूप मानते हैं अतः उन्होंने चार आस्रवोंका ही वर्णन किया है। इन्हीं चारके निमित्तसे आस्रव होता है। मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें चारों ही आस्रव हैं, उसके वाद अविरत सम्यग्दृष्टि तक अविरमण, कषाय और योग ये तीन आस्रव हैं। पञ्चम गुणस्थानमें एक देश अविरमणका अभाव हो जाता है। छठवें गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक कषाय और योग ये दो आस्रव हैं और उसके वाद ११, १२ और १३ वें गुणस्थानमें मात्र योग आस्रव है। तथा चौदहवें गुणस्थानमें आस्रव विलकुल ही नहीं हैं।

इस अधिकारकी खास चर्चा यह है कि ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रव और वन्ध नहीं होते। जव कि करणानुयोगकी पद्धतिसे अविरत सम्यग्दृष्टिको आदि लेकर तेरहवें गुणस्थान तक क्रमसे ७७, ६७, ६३, ५९, ५८, २२,, १७, १, १, १ प्रकृतियोंका वन्ध वताया है। यहाँ कुन्दकुन्द स्वामीका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार मिथ्यात्व और अनन्तानुवन्धीके उदयकालमें इस जीवके तीव्र अर्थात् अनन्त संसारका कारण वन्ध होता था उस प्रकारका वन्ध सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होता। सम्यग्दर्शनकी ऐसी अद्भुत महिमा है कि उसके होनेके पूर्व ही वध्यमान कर्मोकी स्थिति घटकर अन्तःकोडाकोडी सागर प्रमाण हो जाती है और सत्तामें स्थित कर्मोकी स्थिति इससे भी संख्यात हजार सागर कम रह जाती है। वैसे भी अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके ४१ प्रकृतियोंका आस्रव और वन्ध तो रुक ही जाता है। वास्तविक वात यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यग्दर्शन रूप परिणामोंसे वन्ध नहीं होता। उसके जो वन्ध होता है उसका कारण अप्रत्याख्यानावरणादि कषायोंका उदय है। सम्यग्दर्शनादि भाव, मोक्षके कारण हैं वे वन्धके कारण नहीं हो सकते किन्तु उनके सद्भावकालमें जो रागादिक भाव हैं वे ही वन्धके कारण हैं। इसी भावको अमृतचन्द्रसूरिने निम्नांकित कलशमें प्रकट किया है—

> रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः।
> तत एव न वन्धोऽस्य ते हि वन्धस्य कारणम् ॥ ११९ ॥

चूँकि ज्ञानी जीवके राग द्वेष और विमोहका अभाव है इसलिये उसके वन्ध नहीं होता। वास्तवमें रागादिक ही वन्धके कारण हैं जहाँ जघन्य रत्नत्रयको वन्धका कारण वतलाया है वहाँ भी यही विवक्षा ग्राह्य है कि उसके कालमें जो रागादिक भाव हैं वे वन्धके कारण हैं। रत्नत्रयको उपचारसे वन्धका कारण कहा गया है।

यह आस्रवाधिकार १६४ से १८० गाथा तक चलता है।

संवराधिकार

आस्रवका विरोधी तत्त्व संवर है अतः आस्रवके वाद ही उसका वर्णन किया जा रहा है। "[1]आस्रव निरोधः संवरः' आस्रवका रुक जाना संवर है। यद्यपि अन्य ग्रन्थकारोंने गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रको संवर कहा है किन्तु इस अधिकारमें कुन्दकुन्द स्वामीने भेद विज्ञानको ही संवरका मूल कारण वतलाया है। उनका कहना है कि उपयोग, उपयोगमें ही है, क्रोधादिकमें नहीं है और क्रोधादिक, क्रोधादिक ही में हैं उपयोगमें नहीं हैं। कर्म और नोकर्म तो स्पष्ट ही आत्मासे भिन्न हैं अतः उनसे भेदज्ञान प्राप्त करनेमें महिमा नहीं है। महिमा तो उस रागादिक भाव कर्मोंसे अपने ज्ञानोपयोगको भिन्न करनेमें है जो तन्मयीभावको प्राप्त होकर एक दिख रहे हैं। अज्ञानी जीव इस ज्ञानधारा और रागादिधाराको भिन्न-भिन्न नहीं समझ पाता इसलिये वह किसी पदार्थका ज्ञान होनेपर उसमें तत्काल राग द्वेष करने लगता है परन्तु ज्ञानी जीव उन दोनों धाराओंके अन्तरको समझता है इसलिये वह किसी पदार्थको देखकर उसका ज्ञाता द्रष्टा तो रहता है परन्तु रागी द्वेषी नहीं वनता। जहाँ यह जीव रागादिकको अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव से भिन्न अनुभव करने लगता है वहीं उनके सम्बन्धसे होने वाले राग द्वेपसे वच जाता है। राग द्वेष से वच जाना ही सच्चा संवर है। किसी वृक्षको उखाड़ना हो तो उसके पत्ते नोंचनेसे काम नहीं चलेगा, उसकी जड़ पर प्रहार करना होगा। राग द्वेपकी जड़ है भेद विज्ञानका अभाव। अतः भेद विज्ञानके द्वारा उन्हें अपने स्वरूपसे पृथक् समझना यही उनके नष्ट करने का वास्तविक उपाय है। इस भेद-विज्ञान की महिमा का गान करते हुए भी अमृतचन्द्रसूरिने कहा है—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो वद्धा बद्धा ये किल केचन॥ १३१॥

आजतक जितने सिद्ध हुए हैं वे सव भेदविज्ञानसे ही सिद्ध हुए हैं और जितने संसारमें वद्ध हैं वे भेद-विज्ञानके अभावसे ही वद्ध हैं।

इस भेदविज्ञानकी भावना तव तक करते रहना चाहिये जव तक कि ज्ञान, परसे च्युत होकर ज्ञानमें ही प्रतिष्ठित नहीं हो जाता। परपदार्थसे ज्ञानको भिन्न करनेका पुरुषार्थ चतुर्थगुणस्थानसे शुरू होता है और दशम-गुणस्थानके अन्तिम समयमें समाप्त होता है। वहाँ वह जीव परमार्थसे अपनी ज्ञानधाराको रागादिककी धारासे पृथक् कर लेता है। इस दशामें इस जीवका ज्ञान, सचमुच ही ज्ञानमें प्रतिष्ठित हो जाता है और इसीलिये जीवके रागादिकके निमित्तसे होनेवाले वन्धका सर्वथा अभाव हो जाता है। मात्र योगके निमित्तसे सातावेदनीय-का आस्रव और वन्ध होता है सो भी सांपरायिक आस्रव और स्थिति तथा अनुभाग वन्ध नहीं। मात्र ईर्यापथ आस्रव और प्रकृति-प्रदेश वन्ध होता है। अन्तर्मुहूर्तके भीतर ऐसा जीव नियमसे केवलज्ञान प्राप्त करता है। अहो भव्यप्राणियो! संवरके इस साक्षात् मार्गपर अग्रसर होओ जिससे आस्रव और बन्धसे छुटकारा मिले।

संवराधिकार १८१ से १९२ गाथा तक चलता है।

निर्जराधिकार

सिद्धोंके अनन्तवें भाग और अभव्यराशिसे अनन्तगुणित कर्म परमाणुओंकी निर्जरा संसारके प्रत्येक प्राणीके प्रतिसमय हो रही है पर ऐसी निर्जरासे किसीका कल्याण नहीं होता। क्योंकि जितने कर्म परमा-

---

१. तत्त्वार्थसूत्र नवमाध्याय १ सूत्र २ 'स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः' तत्त्वार्थसूत्र नवमाध्याय २ सूत्र

णुओंकी निर्जरा होती है। उतने ही कर्म परमाणु आस्रव पूर्वक वन्धको प्राप्त हो जाते हैं। कल्याण उस निर्जरासे होता है जिसके होनेपर नवीन कर्म परमाणुओंका आस्रव और वन्ध नहीं होता। इसी उद्देश्यसे यहाँ कुन्दकुन्द महाराजने संवरके वाद ही निर्जरा पदार्थका निरूपण किया है। संवरके विना निर्जराकी कोई सफलता नहीं है।

निर्जराधिकारके प्रारम्भ में ही कहा गया है—

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं॥ १९३॥

सम्यग्दृष्टि जीवके इन्द्रियोंके द्वारा जो चेतन अचेतन पदार्थोंका उपभोग होता है वह सव निर्जराके निमित्त होता है। अहो! सम्यग्दृष्टि जीवको कैसी उत्कृष्ट महिमा है कि उसके पूर्ववद्ध कर्म उदयमें आ रहे हैं और उनके उदय कालमें होनेवाला उपभोग भी हो रहा है परन्तु उससे नवीन वन्ध नहीं होता। किन्तु पूर्ववद्ध कर्म अपना फल देकर खिर जाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव कर्म और कर्मके फलका भोक्ता अपने आपको नहीं मानता। उनका ज्ञायक तो होता है वह, परन्तु भोक्ता नहीं। भोक्ता अपने ज्ञायक स्वभावका ही होता है। यही कारण है कि उसकी वह प्रवृत्ति निर्जराका कारण वनती है।

सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञान और वैराग्यकी अद्भुत सामर्थ्य है। ज्ञान सामर्थ्यकी महिमा वतलाते हुए कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है कि जिस प्रकार विषका उपभोग करता हुआ वैद्य पुरुष मरणको प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष पुद्गल कर्मके उदयका उपभोग करता हुआ वन्धको प्राप्त नहीं होता। वैराग्य सामर्थ्यकी महिमा वतलाते हुए कहा है कि जिस प्रकार अरतिभावसे मदिराका पान करनेवाला मनुष्य मदको प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार अरतिभावसे द्रव्यका उपभोग करनेवाला ज्ञानी पुरुष वन्धको प्राप्त नहीं होता। कैसी अद्भुत महिमा ज्ञान और वैराग्यकी है कि उसके होनेपर सम्यग्दृष्टि जीव मात्र निर्जराको करता है वन्धको नहीं। अन्य ग्रन्थोंमें इस अविद्याकी निर्जराका कारण तपश्चरण कहा गया है परन्तु कुन्दकुन्द स्वामीने तपश्चरणको यथार्थ तपश्चरण वनानेवाला जो ज्ञान और वैराग्य है उसीका सर्वप्रथम वर्णन किया है। ज्ञान और वैराग्यके विना तपश्चरण निर्जराका कारण न होकर शुभवन्धका कारण होता है। ज्ञान और वैराग्यसे शून्य तपश्चरणके प्रभाव से यह जीव अनन्तवार मुनिव्रतधारण कर नौवें ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो जाता है परन्तु उतने मात्रसे संसारभ्रमणका अन्त नहीं होता।

अव प्रश्न यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवके क्या निर्जरा ही निर्जरा होती है वन्ध विलकुल नहीं होता? इसका उत्तर करणानुयोगकी पद्धतिसे यह होता है कि सम्यग्दृष्टि जीवके निर्जराका होना प्रारम्भ हो गया। मिथ्यादृष्टि जीवके ऐसी निर्जरा आज तक नहीं हुई। किन्तु सम्यग्दर्शनके होते ही वह ऐसी निर्जराका पात्र वन जाता है। 'सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः'—आगममें गुणश्रेणी निर्जराके ये दस स्थान वतलाये हैं। इनमें निर्जरा उत्तरोत्तर वढ़ती जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव के निर्जरा और वन्ध दोनों चलते हैं। निर्जराके कारणोंसे निर्जरा होती है और वन्धके कारणोंसे वन्ध होता है। जहाँ वन्ध का सर्वथा अभाव होकर मात्र निर्जरा ही निर्जरा होती है ऐसा तो सिर्फ चौदहवाँ गुणस्थान है। उसके पूर्व चतुर्थगुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक निर्जरा और वन्ध दोनों चलते हैं। यह ठीक है कि जैसे-जैसे यह जीव उपरितन गुणस्थानोंमें चढ़ता जाता है वैसे-वैसे निर्जरामें वृद्धि और वन्धमें न्यूनता होती जाती है। सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञान और वैराग्यशक्तिकी प्रधानता हो जाती है इसलिये वन्धके कारणों की गौणता कर ऐसा

कथन किया जाता है कि सम्यग्दृष्टिके निर्जरा ही होती है वन्ध नहीं। इसी निर्जराधिकारमें कुन्दकुन्दस्वामीने सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका विशद वर्णन किया है।

यह अधिकार १९३ से लेकर २३६ गाथा तक चलता है।

वन्धाधिकार—

आत्मा और पौद्गलिक कर्म—दोनों ही स्वतन्त्र द्रव्य हैं और दोनोंमें चेतन अचेतनकी अपेक्षा पूर्व पश्चिम जैसा अन्तर है। फिर भी इनका अनादिकालसे संयोग बन रहा है। जिस प्रकार चुम्बकमें लोहाको खींचनेकी और लोहामें खिचने की योग्यता है उसी प्रकार आत्मामें कर्मरूप पुद्गलको खींचनेकी और कर्मरूप पुद्गलमें खिचनेकी योग्यता है। अपनी-अपनी योग्यताके कारण दोनोंका एक क्षेत्रावगाह हो रहा है। इसी एक क्षेत्रावगाहको वन्ध कहते हैं। इस वन्ध दशाके कारणोंका वर्णन करते हुए आचार्यने स्नेह अर्थात् रागभावको ही प्रमुख कारण वतलाया है। अधिकारके प्रारम्भमें ही वे एक दृष्टान्त देते हैं कि जिस *प्रकार धूलिवहुल स्थानमें कोई मनुष्य शस्त्रोंसे व्यायाम करता है, ताड़ तथा केले आदिके* वृक्षोंको छेदता-भेदता है, इस क्रियासे उसके शरीरके साथ धूलिका सम्वन्ध होता है सो इस सम्वन्धके होनेमें कारण क्या है? उस व्यायामकर्त्ताके शरीरमें जो स्नेह-तैल लग रहा है, वही उसका कारण है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव, इन्द्रिय विपयोंमें व्यापार करता है, उस व्यापारके समय जो कर्मरूपी धूलिका सम्वन्ध उसकी आत्माके साथ होता है, उसका कारण क्या है? उसका कारण भी उसकी आत्मामें विद्यमान स्नेह अर्थात् रागभाव है। यह रागभाव जीवका स्वभाव नहीं किन्तु विभाव है और वह भी द्रव्य कर्मोकी उदयावस्था रूप कारणसे उत्पन्न हुआ है।

आस्रवाधिकारमें आस्रवके जो चार प्रत्यय—मिथ्यादर्शन, अविरमण, कषाय और योग वतलाये हैं वे ही वन्धके भी प्रत्यय—कारण हैं। इन्हीं प्रत्ययोंका संक्षिप्त नाम रागद्वेप अथवा अध्यवसान-भाव है। इन अध्यवसानभावोंका जिनके अभाव हो जाता है वे शुभ अशुभ कर्मोंके साथ वन्धको प्राप्त नहीं होते। जैसा कि कहा है—

> एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
> ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणे ण लिंपंति ॥ २७० ॥

मैं किसी की हिंसा करता हूँ तथा कोई अन्य जीव मेरी हिंसा करते हैं। मैं किसीको जिलाता हूँ तथा कोई अन्य मुझे जिलाते हैं। मैं किसी को सुख दुःख देता हूँ तथा कोई अन्य मुझे सुख दुःख देते हैं—यह सब भाव अध्यवसानभाव कहलाते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव इन अध्यवसानभावोंको कर कर्मबन्ध करता है और सम्यग्दृष्टि जीव उससे दूर रहता है।

सम्यग्दृष्टि जीव वन्धके इस वास्तविक कारण को समझता है इसलिये वह उसे दूर कर निर्बन्ध अवस्था को प्राप्त होता है परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इस वास्तविक कारण को नहीं समझ पाता इसलिये करोड़ों वर्ष की तपस्या के द्वारा भी वह निर्वन्ध अवस्था प्राप्त नहीं कर पाता। मिथ्यादृष्टि जीव धर्मका आचरण—तपश्चरण आदि करता भी है परन्तु 'धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं' धर्मको भोगके निमित्त करता है, कर्मक्षय के निमित्त नहीं।

अरे भाई! सच्चा कल्याण यदि करना चाहता है तो इन अध्यवसानभावों को समझ और उन्हें दूर करने का पुरुपार्थ कर।

कितने ही जीव निमित्त की मान्यता से बचने के लिये ऐसा व्याख्यान करते हैं कि आत्मामें रागादिक अध्यवसानभाव स्वतः होते हैं, उनमें द्रव्य कर्मकी उदयावस्था निमित्त नहीं है। ऐसे जीवोंको बन्धाधिकारकी निम्नगाथाओंका मनन कर अपनी श्रद्धा ठीक करनी चाहिए—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥२७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥

जैसे स्फाटिकमणि आप शुद्ध है, वह स्वयं ललाई आदि रंग-रूप परिणमन नहीं करता किन्तु लाल आदि द्रव्योंसे ललाई आदि रंगरूप परिणमन करता है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव आप शुद्ध है, वह स्वयं राग आदि विभाव रूप परिणमन नहीं करता, किन्तु अन्य राग आदि दोषों—द्रव्यकर्मोदयजनित विकारोंसे रागादि विभावभावरूप परिणमन करता है।

श्री अमृतचन्द्र स्वामीने भी कलशाके द्वारा उक्त भाव प्रकट किया है—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५॥

जिस प्रकार अर्ककान्त—स्फटिकमणि स्वयं ललाई आदिको प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार आत्मा स्वयं रागादिके निमित्त भावको प्राप्त नहीं होता उसमें निमित्त परसंग ही है—आत्माके द्वारा किया हुआ परका संग ही है।

ज्ञानी जीव स्वभाव और विभावके अन्तरको समझता है। वह स्वभावको अकारण मानता है पर विभावको सकारण मानता है। ज्ञानी जीव स्वभावमें स्वत्व बुद्धि रखता है और विभावमें परत्व बुद्धि। इसीलिये वह बन्धसे बचता है।

यह अधिकार २३७ से लेकर २८७ गाथा तक चलता है—

मोक्षाधिकार—

आत्माकी सर्वकर्मसे रहित जो अवस्था है उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष शब्द ही इसके पूर्व रहने वाली बद्ध अवस्थाका प्रत्यय कराता है। मोक्षाधिकारमें मोक्षप्राप्तिके कारणोंका विचार किया गया है। प्रारम्भमें ही कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं—जिस प्रकार चिरकालसे बन्धनमें पड़ा हुआ कोई पुरुष उस बन्धनके तीव्र मन्द या मध्यमभावको जानता है तथा उसके कारणोंको भी समझता है परन्तु उस बन्धनका—बेड़ीका छेदन नहीं करता है तो उस बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो जीव कर्मबन्धके प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बन्धको जानता है तथा उनकी स्थिति आदिको भी समझता है परन्तु उस बन्धको छेदनेका पुरुषार्थ नहीं करता तो वह उस कर्मबन्धसे मुक्त नहीं हो सकता।

इस संदर्भमें कुन्दकुन्द स्वामीने बड़ी उत्कृष्ट बात कही है। मेरी समझसे वह उत्कृष्ट बात महाव्रताचरण रूप सम्यक् चारित्र है। हे जीव ! तुझे श्रद्धान है कि मैं कर्म बन्धनसे बद्ध हूँ और बद्ध होनेके कारणोंको भी जानता है परन्तु तेरा यह श्रद्धान और ज्ञान तुझे कर्म बन्धसे मुक्त करने वाला नहीं है। मुक्त करने वाला तो यथार्थ श्रद्धान और ज्ञानके साथ होनेवाला सम्यक् चारित्र रूप पुरुषार्थ ही है। जब तक तूं इस पुरु-

पार्थको अंगीकृत नहीं करेगा तब तक बन्धनसे मुक्त होना दुर्भर है। मात्र ज्ञान और दर्शनको लिये हुए तेरा सागरों पर्यन्तका दीर्घकाल यों ही निकल जाता है पर तू बन्धनसे मुक्त नहीं हो पाता। परन्तु उस श्रद्धान ज्ञानके साथ जहाँ चारित्र रूपी पुरुपार्थको अंगीकृत करता है वहाँ तेरा कार्य बननेमें विलम्ब नहीं लगता। यहाँ तक कि अन्तर्मुहूर्तमें भी काम बन जाता है।

हे जीव! तूं मोक्ष किसका करना चाहता है? आत्माका करना चाहता हूँ। पर संयोगी पर्यायके अन्दर तूंने आत्माको समझा या नहीं? इस बातका तो विचार कर। कहीं इस संयोगी पर्यायको ही तो तूंने आत्मा नहीं समझ रक्खा है। मोक्ष प्राप्तिका पुरुपार्थ करनेके पहले आत्मा और बन्धको समझना आवश्यक है। कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है—

जीवो वंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणोहिं णियएहिं।
वंधो छेएदव्वो सुद्धो अप्पा य घेतव्वो ॥ २९५ ॥

जीव और वन्व अपने-अपने लक्षणोंसे जाने जाते हैं सो जानकर बन्ध तो छेदनेके योग्य है और जीव—आत्मा ग्रहण करनेके योग्य है।

शिष्य कहता है भगवन्! वह उपाय तो बताओ जिसके द्वारा मैं आत्माका ग्रहण कर सकूँ। उत्तरमें कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं—

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णा एव धित्तव्वो ॥ २९६ ॥

उस आत्माका ग्रहण कैसे किया जावे? प्रज्ञा—भेद ज्ञानके द्वारा आत्माका ग्रहण किया जावे। जिस तरह प्रज्ञासे उसे विभक्त किया था उसी तरह प्रज्ञासे उसे ग्रहण करना चाहिये।

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥ २९७ ॥

प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करने योग्य जो चेतयिता है वही मैं हूँ और अवशेष जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं।

इस प्रकार स्वपरके भेद विज्ञान पूर्वक जो चारित्र धारण किया जाता है वही मोक्ष प्राप्तिका वास्तविक पुरुपार्थ है। मोह और क्षोभसे रहित आत्माकी परिणतिको चारित्र कहते हैं। व्रत, समिति, गुप्ति आदि, इसी वास्तविक चारित्रकी प्राप्तिमें साधक होनेसे चारित्र कहे जाते हैं।

यह अधिकार २८८ से लेकर ३०७ गाथा तक चलता है।

सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार

आत्माके अनन्त गुणोंमें ज्ञान ही सबसे प्रमुख गुण है। उसमें किसी प्रकारका विकार शेप न रह जावे, इसलिये पिछले अधिकारोंमें उक्त अनुक्त बातोंका एक बार फिरसे विचारकर ज्ञानको सर्वथा निर्दोष बनानेका प्रयत्न इस सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारमें किया गया है।

'आत्मा पर द्रव्यके कर्तृत्वसे रहित है' इसके समर्थनमें कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही गुण पर्याय रूप परिणमन करता है अन्य द्रव्य रूप नहीं, इसलिये वह परका कर्ता नहीं हो सकता, अपने ही गुण और पर्यायोंका कर्ता हो सकता है। यही कारण है कि आत्मा कर्मोका कर्ता नहीं है। कर्मोका कर्ता पुद्गल द्रव्य है क्योंकि ज्ञानावरणादि रूप परिणमन पुद्गल द्रव्यमें ही हो रहा है। इसी तरह रागादिकका कर्ता आत्मा ही

है, पर द्रव्य नहीं, क्योंकि रागादि रूप परिणमन आत्मा ही करता है। निमित्त प्रधान दृष्टिको लेकर पहले अधिकारमें पुद्गलजन्य होनेके कारण रागको पौद्‌गलिक कहा है। यहाँ उपादान प्रधान दृष्टिको लेकर कहा गया है कि चूँकि रागादि रूप परिणमन आत्माका होता है, अतः आत्माके हैं। अमृतचन्द्रसूरिने तो यहाँ तक कहा है कि जो जीव रागादिककी उत्पत्तिमें परद्रव्यको ही निमित मानते हैं वे शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धि हैं तथा मोहरूपी नदीको नहीं तैर सकते—

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥ २२१ ॥

कितने ही महानुभाव अपनी एकान्त उपादानकी मान्यताका समर्थन करनेके लिये इस कलशाका अवतरण दिया करते हैं पर वे श्लोकमें पड़े हुए 'एव' शब्दकी ओर दृष्टिपात नहीं करते। यहाँ अमृतचन्द्रसूरि 'एव' शब्दके द्वारा यह प्रकट कर रहे हैं कि जो रागकी उत्पत्तिमें परद्रव्यको ही कारण मानते हैं, स्वद्रव्यको नहीं मानते, वे मोह नदीको नहीं तैर सकते। रागादिककी उत्पत्तिमें परद्रव्य निमित्त कारण है और स्वद्रव्य उपादान कारण है। जो पुरुष स्वद्रव्य रूप उपादान कारणको न मानकर परद्रव्यको ही कारण मानते हैं—मात्र निमित्त कारणसे उनकी उत्पत्ति मानते हैं वे मोह नदीको नहीं तैर सकते। यह ठीक है कि निमित्त, कार्य रूप परिणत नहीं होता परन्तु कार्यकी उत्पत्तिमें उसका साहाय्य अनिवार्य आवश्यक है। अन्तरंग बहिरंग कारणोंसे कार्यकी उत्पत्ति होती है, यह जिनागमकी निर्विवाद सनातन मान्यता है। यहाँ जिस निमित्तके साथ कार्यका अन्वय व्यतिरेक रहता है वही निमित्त शब्दसे विवक्षित है इसका ध्यान रखना चाहिये।

आत्मा परका—कर्मका कर्ता नहीं है, यह सिद्धकर जीवको कर्म चेतनासे रहित सिद्ध किया गया है। इसी तरह ज्ञानी जीव अपने ज्ञायक स्वभावका ही भोक्ता है, कर्मफलका भोक्ता नहीं है, यह सिद्ध कर उसे कर्मफल चेतनासे रहित सिद्ध किया गया है। ज्ञानी तो एक ज्ञान चेतनासे ही सहित है, उसीके प्रति उसकी स्वत्वबुद्धि रहती है।

इस अधिकार के अन्त में एक बात और बड़ी सुन्दर कही गई है। कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि कितने ही लोग मुनिलिङ्ग अथवा गृहस्थ के नानालिङ्ग धारण करने की प्रेरणा इसलिये करते हैं कि ये मोक्षमार्ग हैं परन्तु कोई लिङ्ग मोक्ष का मार्ग नहीं है, मोक्ष का मार्ग तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता है। इसलिये—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेया।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥ ४१२ ॥

मोक्षमार्गमें आत्माको लगाओ, उसीका ध्यान करो, उसीका चिन्तन करो और उसमें विहार करो, अन्य द्रव्योंमें नहीं।

इस निश्चयपूर्ण कथनका कोई यह फलितार्थ न निकाल ले कि कुन्दकुन्दस्वामी मुनिलिङ्ग और श्रावक लिङ्गका निषेध करते हैं। इसलिये वे लगे हाथ अपनी नयविवक्षाको प्रकट करते हैं—

ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥ ४१४ ॥

परन्तु व्यवहार नय दोनों नयोंको मोक्ष मार्गमें कहता है और निश्चय नय मोक्षमार्गमें सभी लिङ्गोंको इष्ट नहीं मानता।

इस तरह विवादके स्थलोंको कुन्दकुन्द स्वामी तत्काल स्पष्ट करते हुए चलते हैं। जिनागमका कथन नयविवक्षापर अवलम्बित है, यह तो सर्वसंमत बात है, इसलिये व्याख्यान करते समय वक्ता अपनी नय-विवक्षाको प्रकट करते चलें और श्रोता भी उस नय विवक्षासे व्याख्यात तत्त्वको उसी नयविवक्षासे ग्रहण करनेका प्रयास करें तो विसंवाद होनेका अवसर ही नहीं आवे।

यह अधिकार ३०८ से लेकर ४१५ गाथा तक चलता है।

स्याद्वादाधिकार और उपायोपेयभावाधिकार

ये अधिकार अमृतचन्द्र स्वामीने स्वरचित आत्मख्याति टीकाके अङ्गरूप लिखे हैं। इतना स्पष्ट है कि समयप्राभृत या समयसार अध्यात्म ग्रन्थ है। अध्यात्म ग्रन्थोंका वस्तुतत्त्व सीधा आत्मासे सम्बन्ध रखने वाला होता है। इसलिये उसके कथनमें निश्चयनयका आलम्बन प्रधानरूपसे लिया जाता है। परपदार्थसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यवहारनयका आलम्बन गौण रहता है। जो श्रोता दोनों नयोंके प्रधान और गौणभावपर दृष्टि नहीं रखते हैं उन्हें भ्रम हो सकता है। उनके भ्रमका निराकरण करनेके उद्देश्यसे ही अमृतचन्द्र स्वामीने इन अधिकारोंका अवतरण किया है।

स्याद्वाद अधिकारमें उन्होंने स्याद्वादके वाच्यभूत अनेकान्तका समर्थन करनेके लिये तत्-अतत्, सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेक नयोंसे आत्मतत्त्वका निरूपण किया है। अन्तमें कलशकाव्योंके द्वारा इसी बातका समर्थन किया है। अमृतचन्द्र स्वामीने अनेकान्तको परमागमका जीव—प्राण और समस्त नयोंके विरोधको नष्ट करनेवाला माना है। जैसा कि उन्होंने स्वरचित पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थके मङ्गलाचरणके रूपमें कहा है—

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥ २॥

आत्मख्याति टीकाके प्रारम्भमें भी उन्होंने यही आकांक्षा प्रकट की है—

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्॥ २॥

अनेक धर्मात्मक परमात्मतत्त्वके स्वरूपका अवलोकन करनेवाली अनेकान्तमयी मूर्ति निरन्तर ही प्रकाशमान रहे।

इसी अधिकारमें उन्होंने जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति, आदि ४७ शक्तियोंका निरूपण किया है जो नय-विपक्षाके परिज्ञानसे ही सिद्ध होता है।

उपायोपेयाधिकारमें उपायोपेयभावकी चर्चा की गई है, जिसका सार यह है—

पाने योग्य वस्तु जिससे प्राप्त की जाती है वह उपाय है और उस उपायके द्वारा जो वस्तु प्राप्त की जावे वह उपेय है। आत्मारूप वस्तु यद्यपि ज्ञानमात्र वस्तु है तो भी उसमें उपायोपेयभाव विद्यमान है। क्योंकि उस आत्मवस्तुके एक होनेपर भी उसमें साधक और सिद्धके भेदसे दोनों प्रकारका परिणाम देखा जाता है अर्थात् आत्मा ही साधक है और आत्मा ही सिद्ध है। उन दोनों परिणामोंमें जो साधकरूप है वह उपाय कहलाता है और जो सिद्धरूप है वह उपेय कहलाता है। यह आत्मा अनादिकालसे मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रके कारण संसारमें भ्रमण करता है। जबतक व्यवहार रत्नत्रयको निश्चलरूपसे अंगीकृत कर अनुक्रमसे अपने स्वरूपानुभवकी वृद्धि करता हुआ निश्चय रत्नत्रयकी पूर्णताको प्राप्त होता है तबतक तो साधकभाव है और

निश्चय रत्नत्रयकी पूर्णतासे समस्त कर्मोंका क्षय होकर जो मोक्ष प्राप्त होता है वह सिद्धभाव है। इन दोनों भावरूप परिणमन ज्ञानका ही है इसलिये वही उपायहै और वही उपेय है। यह गुणकी प्रधानतासे कथन है।

प्रवचनसार

प्रथम संस्कृत टीकाकार श्री अमृतचन्द्र सूरिके मतानुसार प्रवचनसारमें २७५ गाथाएँ हैं और वह ज्ञानाधिकार, ज्ञेयाधिकार तथा चारित्राधिकारके भेदसे तीन श्रुतस्कन्धोंमें विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कन्धमें ९२, दूसरे श्रुतस्कन्धमें १०८ और तीसरे श्रुतस्कन्धमें ७५ गाथाएँ हैं। द्वितीय संस्कृत टीकाकार श्री जयसेनाचार्यके मतानुसार प्रवचनसारमें ३११ गाथाएँ हैं। जिनमें प्रथम श्रुतस्कन्धमें १०१, द्वितीय श्रुतस्कन्धमें ११२ और तृतीय श्रुतस्कन्धमें ९७ गाथाएँ हैं। इन स्कन्धोंमें प्रतिपादित विषयोंकी संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है।

(१) ज्ञानाधिकार

चारित्र दो प्रकारका है सराग चारित्र और वीतराग चारित्र। प्रारम्भमें इन दोनों चारित्रोंका फल बतलाते हुए कहते हैं कि दर्शन और ज्ञानकी प्रधानतासे युक्त चारित्र से जीवको देव, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती आदिके विभवके साथ निर्वाणकी प्राप्ति होती है अर्थात् सराग चारित्रसे स्वर्गादिक और वीतराग चारित्रसे निर्वाण प्राप्त होता है। दोनोंका फल बतलाते हुए फलितार्थ रूपमें यह भाव भी प्रकट किया गया है कि चूँकि जीवका परम प्रयोजन निर्वाण प्राप्त करना है अतः उसका साधक वीतराग चारित्र ही उपादेय है औरं स्वर्गादिककी प्राप्तिका साधक सराग चारित्र हेय है।

चारित्रका स्वरूप बतलाते हुए कहा है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ ७ ॥

अर्थात् चारित्र ही वास्तवमें धर्म है, आत्माका जो समभाव है वह धर्म कहलाता है तथा मोह—मिथ्यात्व एवं क्षोभ–राग द्वेषसे रहित आत्माका जो परिणाम है वह समभाव है। इस तरह चारित्र और धर्ममें एकत्व बतलाते हुए कहा है कि आत्माकी जो मोहजन्य विकारोंसे रहित परिणति है वही चारित्र अथवा धर्म है। ऐसा चारित्र जब इस जीवको प्राप्त होता है तभी वह निर्वाणको प्राप्त होता है। यही भाव हिन्दीके महान् कवि पं० दौलतरामजीने छहढालामें प्रकट किया है—

'जो भाव मोह तें न्यारे दृग ज्ञान व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबहि जिय धारे तब ही सुख अचल निहारे।'

मोहसे पृथक् जो दर्शन ज्ञान व्रत आदिक आत्माके भाव हैं वे ही धर्म कहलाते हैं। ऐसा धर्म, जब यह जीव धारण करता है तब ही अचल—अविनाशी—मोक्षसुखको प्राप्त होता है।

धर्मकी इस परिभाषासे, उसका पुण्यसे पृथक्करण स्वयमेव हो जाता है अर्थात् शुभोपयोग परिणति रूप जो आत्माका पुण्यभाव है वह मोहजन्य विकार होनेसे धर्म नहीं है। उसे निश्चय धर्मका कारण होनेसे व्यवहारसे धर्म कहते हैं।

चारित्ररूप धर्मसे परिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोगसे युक्त है तो वह निर्वाण सुखको—मोक्षके अनन्त आनन्दको प्राप्त होता है और यदि शुभोपयोगसे सहित है तो स्वर्गसुखको प्राप्त होता है। चूँकि स्वर्गसुख प्राप्त करना ज्ञानी जीवका लक्ष्य नहीं है अतः उसके लिये वह हेय है। अशुभ, शुभ और शुद्धके भेदसे उपयोगके तीन भेद हैं। अशुभोपयोगके द्वारा यह जीव कुमनुष्य, तिर्यञ्च तथा नारकी होकर हजारों दुःखोंको

भोगता हुआ संसारमें भ्रमण करता है। तथा शुभोपयोगके द्वारा देव और चक्रवर्ती आदि उत्तम मनुष्य गतिके सुख भोगता है। शुद्धोपयोगका फल बतलाते हुए कुन्दकुन्द स्वामीने शुद्धोपयोगके धारक जीवोंके सुखका कितना हृदयहारी वर्णन किया है। देखिये—

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवमणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवयोगप्पसिद्धाणं ॥ १३ ॥

शुद्धोपयोगसे प्रसिद्ध—कृतकृत्यताको प्राप्त हुए अरहंत और सिद्ध परमेष्ठीको जो सुख प्राप्त होता है वह अतिशय पूर्ण है, आत्मोत्थ है, विषयोंसे परे है, अनुपम है, अनन्त है तथा कभी व्युच्छिन्न—नष्ट होने वाला नहीं है।

शुद्धोपयोगके फलस्वरूप यह जीव उस सर्वज्ञ अवस्थाको प्राप्त करता है जिसमें इसके लिए कुछ भी परोक्ष नहीं रह जाता है। वह लोकालोकके समस्त पदार्थोंको एक साथ जानने लगता है। सर्वज्ञता आत्माका स्वभाव है परन्तु वह राग परिणतिके कारण प्रकट नहीं हो पाता। दसमगुणस्थानके अन्तमें ज्योहीं वह राग परिणतका सर्वथा क्षय करता है त्योंही अन्तर्मुहूर्तको भीतर नियमसे सर्वज्ञ हो जाता है। आगममें छद्मस्थ वीतरागका काल अन्तर्मुहूर्त ही बतलाया है जबकि वीतराग सर्वज्ञका काल सिद्धपर्यायकी अपेक्षा सादि अनन्त है। वेदान्त आदि दर्शनोंमें आत्माको व्यापक कहा है परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी ज्ञानकी अपेक्षा ही आत्माको व्यापक कहते हैं। चूँकि आत्मा लोक-अलोकको जानता है अतः वह लोक-अलोकमें व्यापक है। प्रदेश-विस्तारकी अपेक्षा प्राप्त शरीरके प्रमाण ही है।

ज्ञान, ज्ञेयको जानता है फिर भी उन दोनोंमें पृथक् भाव है। यह ज्ञानकी स्वच्छताका ही फल है। देखिये इसका कितना सुन्दर वर्णन है—

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥ २९ ॥

जिस प्रकार चक्षु रूपको जानता है परन्तु रूपमें प्रविष्ट नहीं होता और न रूप ही चक्षुमें प्रविष्ट होता है उसी प्रकार इन्द्रियातीत ज्ञानका धारक आत्मा समस्त जगत्को जानता है फिर भी उसमें प्रविष्ट नहीं होता और न समस्त जगत् ज्ञानमें प्रविष्ट होता है। ज्ञान और ज्ञेयके प्रदेश एक दूसरेमें प्रविष्ट नहीं होते मात्र ज्ञान-ज्ञेयकी अपेक्षा ही इनमें प्रविष्टका व्यवहार होता है।

केवलज्ञानका धारक शुद्धात्मा, पदार्थोंको जानता हुआ भी उन पदार्थों के रूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न होता है इसलिये अबन्धक कहा गया है। यथार्थमें ज्ञानकी हीनाधिकता बन्धका कारण नहीं है किन्तु उसके कालमें पाई जाने वाली राग द्वेष रूप परिणति ही बन्धका कारण है। चूँकि केवलज्ञानी आत्मा राग द्वेषकी परिणतिसे रहित है अतः वह अबन्धक है। यद्यपि सयोगकेवली अवस्थामें सातावेदनीयका बन्ध कहा गया है तथापि स्थिति और अनुभाव बन्धसे रहित होनेके कारण उसकी विवक्षा नहीं की गई है। गाथा निम्न प्रकार है—

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अत्थेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥ ५२ ॥

जिस प्रकार ज्ञान आत्माका अनुजीवी गुण है उसी प्रकार सुख भी आत्माका अनुजीवी गुण है। प्रत्येक आत्माके अन्दर सुखका असीम सागर लहरा रहा है पर उस ओर इस आत्माका लक्ष्य नहीं जाता। अज्ञानावस्थामें यह आत्मा शरीरादि परपदार्थोंमें सुखका अन्वेषण करता है और उन्हें सुखका स्थान समझ उनमें

रागभाव करता है। आचार्य महाराज आत्माकी इस भूलको निरस्त करनेके लिये कहते हैं कि यह आत्मा स्पर्शनादि इन्द्रियोंके द्वारा इष्ट विषयोंको प्राप्त कर स्वयं स्वभावसे ही सुखरूप परिणमन करता है, शरीर सुखरूप नहीं है, और न शरीर सुखका कारण है। शरीरोंमें वैक्रियिक शरीर सुखोपभोगकी अपेक्षा उत्तम माना जाता है परन्तु वह भी सुख रूप नहीं है और न सुखका कारण है। जड़रूप शरीरसे चैतन्यगुणके अविनाभावी सुखकी उद्भूति हो नहीं सकती। विषयोंसे सुख नहीं होता, इस विषयमें देखिये कितना स्पष्ट कथन है—

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कादव्वं।
तध सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥ ६७ ॥

जिस प्रकार जिस जीवकी दृष्टि अन्धकारको हरने वाली होती है उसे दीपकसे क्या प्रयोजन है? इसी प्रकार जिसकी आत्मा स्वयं सुख रूप है उसे विषयोंसे क्या प्रयोजन है?

ज्ञान और सुखका प्रगाढ़ सम्बन्ध है। चूँकि अरहंत अवस्थामें अतीन्द्रिय ज्ञान प्रकट हुआ है अतः अतीन्द्रिय सुख भी उनके प्रकट होता है। अनन्त ज्ञान होते ही अनन्त सुख प्रकट हो जाता है। अनन्त सुख आत्मजन्य है, उसमें इन्द्रियोंकी सहायता अपेक्षित नहीं होती। यह आत्मजन्य सुख अरहन्त तथा सिद्ध अवस्थामें ही प्रकट होता है। स्वाभाविक सुख देवोंके नहीं होता, क्योंकि वे पञ्चेन्द्रियोंके समूह रूप शरीरकी पीड़ासे दुखी होकर रमणीय विषयोंमें प्रवृत्ति करते हैं। जब तक यह आत्मा सुखानुभवके लिये रमणीय पदार्थों की आकांक्षा करता है तब तक उसे स्वाभाविक सुख प्राप्त नहीं हुआ है यह निश्चयसे समझना चाहिये। यह आत्मजन्य सुख शुद्धोपयोगसे ही प्राप्त हो सकता है शुभोपयोगसे नहीं। शुभोपयोगके द्वारा इन्द्र तथा चक्रवर्तीके पदको प्राप्त हुए जीव सुखी जैसे मालूम होते हैं परन्तु परमार्थसे सुखी नहीं हैं। यदि परमार्थसे सुखी होते तो विषयोंमें—पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी भोगोपभोगोंमें झंपापात नहीं करते।

शुभोपयोगके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले इन्द्रियजन्य सुखका वर्णन देखिये कितना मार्मिक है—

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥ ७३ ॥

इन्द्रियोंसे प्राप्त होने वाला जो सुख है वह सपर—पराधीन है, बाधासहित—क्षुधा तृषा आदिकी बाधासे सहित है, विच्छिन्नं—बीच-बीचमें विनष्ट होता रहता है, बन्धका कारण है तथा विषय है। वास्तवमें वह दुखरूप ही है।

जब इन्द्रियजन्य सुखको परमार्थसे दुखकी श्रेणीमें ही रख दिया तब पुण्य और पापमें अन्तर नहीं रह जाता। दोनों ही सांसारिक दुःखोंके कारण होनेसे समान हैं। सांसारिक दुःखोंसे उत्तीर्ण होकर शाश्वत सुखकी प्राप्तिके लिये तो शुद्धोपयोगको ही शरण ग्राह्य है। पुण्य और पापकी समानताको सिद्ध करते हुए कहा है—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥ ७७ ॥

पुण्य और पापमें विशेषता नहीं है—समानता है, ऐसा जो नहीं मानता है वह मोहसे आच्छादित होता हुआ भयंकर अपार संसारमें भ्रमण करता रहता है।

मोहसे किस प्रकार निर्मुक्त हुआ जा सकता है। इसका समाधान करते हुए लिखा है—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥ ८० ॥

जो द्रव्य, गुण और पर्यायकी अपेक्षा अरहंतको जानता है वह आत्माको जानता है और जो आत्माको जानता है उसका मोह नियमसे नाशको प्राप्त होता है। भाव यह है कि मोहसे सम्बन्ध छुड़ानेके लिये इस जीवको सबसे पहले शुद्ध आत्म स्वभावकी ओर अपना लक्ष्य बनाना आवश्यक है। ज्योंही यह जीव अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वरूपकी ओर लक्ष्य करता है त्योंही बुद्धिपूर्वक होनेवाले रागादिकभाव नष्ट होने लगते हैं।

कहा भी है :—

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं॥ ८१॥

मोहसे रहित और आत्माके सम्यक् स्वरूपको प्राप्त हुआ जीव यदि राग और द्वेषको छोड़ता है तो शुद्ध आत्माको प्राप्त हो जाता है। आजतक जितने अरहंत हुए हैं वे इसी विधिसे कर्मोंके अंशों—चार घातिया कर्मोंको नष्ट कर अरहंत हुए हैं तथा उपदेश देकर अन्तमें निर्वाणको प्राप्त हुए हैं।

मोहक्षयका दूसरा उपाय बतलाते हुए कहा है—

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं॥ ८६॥

जो पुरुष प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा जिन प्रणीत शास्त्रसे जीवाजीवादि पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करता है उसको मोहका संचय नियमसे नष्ट हो जाता है, इसलिये शास्त्रका अध्ययन करना चाहिए।

द्रव्य, गुण और पर्यायको अर्थ कहते हैं। संसारका प्रत्येक पदार्थ इन तीन रूप ही है अतः इनका जान लेना आवश्यक है। चूँकि इनका यथार्थ ज्ञान जिनेन्द्र प्रतिपादित शास्त्रसे ही हो सकता है इसलिये इन शास्त्रोंका अध्ययन करना आवश्यक है।

मोहक्षयका तीसरा उपाय बतलाते हुए कहा है—

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि॥ ८९॥

जो जीव द्रव्यत्वसे संबद्ध ज्ञानस्वरूप आत्माको तथा शरीरादि परद्रव्यको जानता है वह निश्चयसे मोहका क्षय करता है। तात्पर्य यह है कि स्वपरका भेद विज्ञान, मोह क्षयका कारण है।

उपर्युक्त पंक्तियों में मोह क्षयके जो तीन उपाय बतलाये हैं वे पृथक्-पृथक् न होकर एक दूसरेसे संबद्ध हैं। प्रथम उपायमें आत्मलक्ष्यकी ओर जोर दिया गया है और उसका माध्यम अरहंतका ज्ञान बताया गया है अर्थात् अरंहतके द्रव्य गुण पर्याय और अपने द्रव्य गुण पर्यायका तुलनात्मक मनन करनेसे इस जीवका लक्ष्य परसे हटकर स्वकी ओर आकृष्ट होता है और जब स्वकी ओर लक्ष्य आकृष्ट होने लगा तब मोहको नष्ट होनेमें विलम्ब नहीं लगता। जो मनुष्य दर्पणके माध्यमसे अपने चेहरेपर लगे हुए कालुष्यको देख रहा है वह उसे नष्ट करनेका पुरुषार्थ न करे यह संभव नहीं है। जो जीव मोह—मिथ्यात्वको नष्ट कर चुकता है वह मोहके आश्रयसे रहने वाले राग द्वेषको स्थिर नहीं रख सकता। मिथ्यात्व यदि जड़के समान है तो राग द्वेष उसकी शाखाओंके समान है। जड़के नष्ट होने पर शाखाएँ हरी भरी नहीं रह सकतीं। प्रथम उपाय में इस जीवका लक्ष्य स्वरूपकी ओर आकृष्ट किया गया था परन्तु स्वरूपमें लक्ष्यकी स्थिरता आगम ज्ञानके विना संभव नहीं है इसलिये द्वितीय उपाय में शास्त्राध्ययनकी प्रेरणा की गई है। मूलतः वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा प्रतिपादित और परतः संसार-शरीर और भोगोंसे निर्विण्ण परमर्षियोंके द्वारा रचित शास्त्रोंके स्वाध्यायसे स्वरूपकी श्रद्धामें बहुत स्थिरता आती है। तृतीय उपायमें स्वपर भेदज्ञानकी ओर प्रेरित किया है। स्वाध्याय-

का फल तो स्व—अपने शुद्धस्वरूपका जानना ही है जिसने ग्यारह अंग और नौ पूर्वोका अध्ययन करके भी स्वको नहीं जाना उसका उतना भारी अध्ययन भी निष्फल ही कहा जाता है। जहाँ स्वका ज्ञान होता है वहाँ परका ज्ञान अवश्य होता है अतः स्वपर भेद विज्ञान ही शास्त्र स्वाध्यायका फल है तथा यही मोहक्षय का प्रमुख साधन है इस प्रकार तीनों उपायोंमें अपृथक्ता है।

इस स्कन्ध (अध्याय) के अन्तमें कहा गया है—

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्मि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो॥ ९२॥

जिसने मोहदृष्टि—मिथ्यात्वको नष्ट कर दिया है, जो आगममें कुशल है—आगमका यथार्थ ज्ञाता है और विरागचर्या—वीतराग चारित्रमें उद्यमवन्त है ऐसा महान्—श्रेष्ठ आत्माका धारक श्रमण-साधु 'धर्म है' इस प्रकार कहा गया है। यहां धर्म धर्मोमें अभेद विवक्षा कर धर्मीको ही धर्म कहा गया है।

ज्ञेयतत्त्वाधिकार—

जो ज्ञानका विषय हो उसे ज्ञेय तत्त्व कहते हैं। सामान्य रूपसे ज्ञानका विषय अर्थ है। अर्थ द्रव्यमय है और द्रव्य गुणपर्याय रूप है। इस तरह विस्तारसे द्रव्य, गुण और पर्यायका त्रिक ही ज्ञानका विषय है, वही ज्ञेय है, इसीका इस द्वितीय श्रुतस्कन्धमें वर्णन किया गया है। गुण, सामान्य और विशेषके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण हैं क्योंकि ये सभी द्रव्योंमें पाये जाते हैं और चेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि विशेष गुण हैं क्योंकि ये खास-खास द्रव्योंमें ही पाये जाते हैं। गुण, द्रव्यका सहभावी विशेष है और पर्याय क्रम भावी परिणमन है। जो जीव, पर्यायको ही सब कुछ समझ कर उसीमें मूढ रहता है—इष्ट-अनिष्ट पर्यायमें राग द्वेष करता है उसे 'पज्जयमूढा हि परसमया' इन शब्दों के द्वारा पर्यायमूढ़ और परसमय कहा गया है। स्वसमय और परसमयका विभाग करते हुए कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है—

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिगत्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा॥ २॥

जो जीव पर्यायों में निरत—लीन हैं वे परसमय कहे गये हैं और जो आत्मस्वभाव में स्थित हैं वे स्वसमय जानने योग्य हैं। ज्ञाता, द्रष्टा रहना आत्माका स्वभाव है, रागी द्वेषी होना विभाव है तथा नर नारकादि अवस्थाएँ धारण करना आत्माकी पर्यायें हैं। जो जीव, पदार्थोका ज्ञाता द्रष्टा है अर्थात् उन्हें विराग-भावसे जानता देखता है वह स्वसमय है किन्तु जो इससे विपरीत पदार्थोको जानता हुआ राग द्वेष करता है और उसके फलस्वरूप कर्मबन्ध कर नर नारकादि पर्यायोंमें भ्रमण करता है वह परसमय है।

द्रव्यका लक्षण बतलाते हुए कहा है—

अपरिच्चत्त सहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं।
गुणवं च सपज्जायं जत्तं दव्वत्ति वुच्चंत्ति॥ ३॥

जो अपने स्वभावको न छोड़ता हुआ उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्यसे संबद्ध है अथवा गुण और पर्यायोंसे सहित है उसे द्रव्य कहते हैं। सामान्य रूपसे द्रव्यका लक्षण 'सत्' कहा है और सत् वह है जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे तन्मय हो। उत्पादके विना व्यय नहीं हो सकता, व्ययके विना उत्पाद नहीं हो सकता, और ध्रौव्य के विना उत्पाद व्यय—दोनों नहीं हो सकते। इससे सिद्ध है कि उत्पादादि तीनों परस्पर अविनाभावको प्राप्त

हैं। यद्यपि उत्पादादि तीनों पर्यायमें होते हैं परन्तु पर्याय द्रव्यसे अभिन्न हैं इसलिये द्रव्यके कहे जाते हैं। द्रव्य गुणी है और सत्ता गुण है। गुण गुणीमें प्रदेश भेद नहीं होता इसलिये इनमें पृथक्त्व नहीं है। परन्तु गुण और गुणीका भेद है, संज्ञा लक्षण आदिकी विभिन्नता है इसलिये अन्यत्व विद्यमान है। पृथक्त्व और अन्यत्वका लक्षण इस प्रकार वतलाया है—

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं भवदि कथमेगं ॥ १४ ॥

प्रविभक्त प्रदेशोंका होना 'पृथक्त्व' है और प्रदेश भेद न होनेपर भी तद्रूप नहीं होना 'अतद्भाव' है।

इस तरह सामान्यरूपसे द्रव्यका लक्षण कहकर उसके चेतन और अचेतनकी अपेक्षा दो भेद किये हैं। चेतन द्रव्य, सिर्फ जीव ही है और अचेतन द्रव्य, पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और कालके भेदसे पाँच प्रकारका है। इन्हीं द्रव्योंके लोक और अलोकको तथा मूर्त और अमूर्तकी अपेक्षा भी दो-दो भेद किये हैं। अलोक सिर्फ आकाश रूप है और लोक, षड्द्रव्यमय है। मूर्त, पुद्गल द्रव्य है और अमूर्त, शेष पाँच द्रव्य रूप है। चूँकि पुद्गल द्रव्य मूर्त है इसलिये उसके स्पर्श रस गन्ध और रूप नामक गुण भी मूर्त हैं और जीवादि पाँच द्रव्य अमूर्त हैं इसलिये उनके गुण भी अमूर्त हैं।

जीवादिक समस्त द्रव्य अपना-अपना स्वतः सिद्ध अस्तित्व रखते हैं और लोकाकाशमें एक क्षेत्रावगाह रूपसे स्थित होने पर भी अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ताको नहीं छोड़ते हैं। इन जीवादि द्रव्योंमें काल द्रव्य एक प्रदेशी हैं क्योंकि वह एकप्रदेशी होकर भी अपना कार्य करनेमें पूर्ण समर्थ है परन्तु अन्य पाँच द्रव्य वहुप्रदेशी हैं क्योंकि उनका एकप्रदेश स्वद्रव्य रूपसे कार्य करनेमें समर्थ नहीं है अथवा स्वभावसे ही कालद्रव्य एकप्रदेशी और शेष पाँच द्रव्य वहुप्रदेशी हैं। वहुप्रदेशी द्रव्योंको अस्तिकाय कहा है और एकप्रदेशी द्रव्यको अनस्तिकाय कहा है।

यद्यपि जीवद्रव्य स्वभावकी अपेक्षा कर्मरूप पुद्गल द्रव्यके सम्बन्धसे रहित है तथापि अनादिकालसे इनका परस्पर संयोग सम्बन्ध चला आ रहा है। कर्मरूप पुद्गल द्रव्यके सम्बन्धसे जीव मलिन हो रहा है और मलिन होनेके कारण वार-वार इन्द्रियादि प्राणोंको धारण करता है। देखिये, कितना मार्मिक कथन है—

आदा कम्ममलिमसो धारदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण जहदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसयेसु ॥ ५८ ॥

कर्मसे मलिन आत्मा जव तक शरीरादि विषयोंमें ममत्वभावको नहीं छोड़ता हैं तव तक वार वार अन्य प्राणोंको धारण करता रहता है।

इसके विपरीत प्राणधारण करनेसे कौन छूटता है, इसका वर्णन देखिये—

जो इन्दियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥ ५९ ॥

जो इन्द्रियादिका विजयी होकर उपयोग स्वरूप आत्माका ध्यान करता है वह कर्मोंसे रक्त नहीं होता तथा जो कर्मोंसे रक्त नहीं होता, प्राण उसका अनुचरण—पीछा कैसे कर सकते हैं?

छह द्रव्योंमें प्रयोजन भूत द्रव्य जीव ही है अतः उसका विशेष विस्तारसे वर्णन करना आचार्यको अभीष्ट है। जीव द्रव्यकी विशेषता वतलाते हुए उन्होंने कहा है कि आत्मा-जीव उपयोगात्मक है अर्थात् उपयोग ही आत्माका लक्षण है। वह उपयोग, ज्ञान और दर्शनके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है। यही उपयोग अशुद्ध और शुद्धके भेदसे दो प्रकारका होता है। अशुद्ध उपयोगके शुभ और अशुभकी अपेक्षा दो भेद हैं।

जीवका जो उपयोग, अरहंत सिद्ध तथा साधु परमेष्ठियोंको जानता है उनकी श्रद्धा तथा भक्ति करता है तथा अन्य जीवोंपर अनुकम्पासे सहित होता है वह शुभ उपयोग कहलाता है और जो विषयकषायोंसे परिपूर्ण है, मिथ्या शास्त्रश्रवण, दुर्ध्यान और दुष्टजनोंकी गोष्ठीसे सहित है, उग्र है तथा उन्मार्गमें तत्पर है वह अशुभ-उपयोग है। तथा जो शुभ अशुभके विकल्पसे हटकर मध्यस्थ भावसे अपने ज्ञानदर्शन स्वभावका ध्यान करता है वह शुद्ध उपयोग है। जब जीवके शुभोपयोग होता है तब वह पुण्यका संचय करता है। जब अशुभोपयोग होता है तब पापका संचय करता है और जब शुभ अशुभ—दोनों उपयोगोंका अभाव होकर जीव स्वयं शुद्धोपयोग होता है तब किसी भी कर्मका संचय नहीं करता। अर्थात् शुद्धोपयोग कर्मबन्धका कारण नहीं है।

शुद्धोपयोगी बननेके लिये इस जीवको शरीरादि परद्रव्योंसे पृथग्भावका चिन्तन करना होता है। जैसा कि कहा है—

> नाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
> कत्ता ण ण कारयिता अणुमंता णेव कत्तीणं ।। ६८ ।।

ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि "मैं शरीर नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, वाणी नहीं हूँ, तथा इन सबके जो कारण हैं मैं उनका न कर्ता हूं, और न अनुमंता ही हूँ," क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्यके परिणमन हैं, उनका कर्ता मैं कैसे हो सकता हूं ?

पुद्गलके परमाणु और स्कन्धकी अपेक्षा दो भेद हैं। परमाणु एकप्रदेशी है, एकरूप, एकरस, एक गन्ध और दो स्पर्शों—शीत उष्ण अथवा स्निग्ध-रूक्षमेंसे एक एकसे सहित है, शब्द रहित है। तथा दो से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओंका जो पिण्ड है वह स्कन्ध कहलाता है। परमाणु, अपने स्निग्ध और रूक्षगुणके कारण दूसरे परमाणुओंके साथ मिलकर स्कन्ध अवस्थाको प्राप्त होता है। परमाणुमें पाये जानेवाले स्निग्ध और रूक्ष गुणोंके एकसे लेकर अनन्त तक अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं। इन सभी प्रतिच्छेदोंमें अगुरुलघुगुणरूप अन्तरङ्ग कारण और कालद्रव्यरूप बहिरङ्ग कारणके सहयोगसे षड्गुणी हानि और वृद्धि होती रहती है। हानि चलते-चलते जब स्निग्ध और रूक्ष गुणका एक अविभाग प्रतिच्छेद रह जाता है तब वह परमाणु जघन्यगुणवाला परमाणु कहलाता है। ऐसे परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता। पुनः वृद्धिका दौर शुरू होनेपर जब वह अविभाग प्रतिच्छेद एकसे बढ़कर अधिक संख्याको प्राप्त हो जाता है तब सामान्य अपेक्षासे फिर उस परमाणुका बन्ध होने लगता है। दो अधिक गुणवाले परमाणुओंमें बन्ध योग्यता होती है, गुणोंकी समानता होनेपर सदृश गुणवाले परमाणुओंका बन्ध नहीं होता। यह बन्ध स्निग्ध स्निग्धका, रूक्ष रूक्षका तथा स्निग्ध और रूक्षका भी होता है। अविभाव प्रतिच्छेदोंकी संख्या तीन पाँच आदि विषय हो अथवा दो चार आदि सम हो, दोनों ही अवस्थाओंमें बन्ध होता है। विशेषता इतनी है कि जघन्य-गुणवाले परमाणुओंका बन्ध नहीं होता। इसके लिये कुन्दकुन्द स्वामीकी निम्न गाथा है—

> णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
> समदो दुराधिगा जदि वज्झंति हि आदि परिहीना ।। ७३ ।।

अर्थ ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट है।

इसी संदर्भमें अमृतचन्द्रस्वामीने ७४वीं गाथाकी संस्कृत टीकामें निम्नांकित प्राचीन श्लोक 'उक्तञ्च' कहकर उद्धृत किये हैं—

> 'णिद्धा णिद्धेण वज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला।
> णिद्ध लुक्खा य वज्झंति रूवा रूवी य पोग्गला ।।'

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहियेण लुक्खस्स लुक्खस्स दुराहियेण ।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ।।

पुद्‌गल परमाणुओंके बन्धकी यह प्रक्रिया अनादिकालसे चली आ रही है ।

इस प्रकार नोकर्म वर्गणाओंके परस्पर सम्बन्धसे निर्मित शरीरसे ममत्वभाव छोड़कर आत्मस्वरूपमें जो स्थिर रहता है वह कर्म और नोकर्मके सम्बन्धसे दूर हटकर निर्वाण अवस्थाको प्राप्त होता है । नोकर्मरूप शरीरादि परद्रव्योंसे आत्माको पृथक् करनेके लिये उसके शुद्ध स्वरूपपर बार-बार दृष्टि देना चाहिये ।

आत्माके साथ कर्मोका बन्ध क्यों हो रहा है ? इसका समाधान आचार्य महाराजने बहुत ही सारपूर्ण शब्दोंमें दिया है देखिये—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ।। ८७ ।।

रागी जीव कर्मोको बाँधता है और रागसे रहित आत्मा कर्मोसे मुक्त होता है निश्चयनयसे जीवोंके कर्मबन्धका यह संक्षिप्त कथन है ।

वास्तवमें जीवकी रागपरिणति ही कर्मबन्धका कारण है अतः आत्माके वीतराग स्वभावका लक्ष्य कर रागको दूर करनेका पुरुषार्थ करना चाहिये ।

'शरीर, धन, सांसारिक सुख-दुःख, शत्रु तथा मित्र आदि, इस जीवके नहीं हैं क्योंकि ये सब अध्रुव-विनश्वर हैं । एक उपयोगस्वरूप ध्रुव आत्मा ही आत्माका है' ऐसा विचार कर जो स्वपरका भेदज्ञान करता हुआ 'स्व'का ध्यान करता है वही मोहकी सुदृढ़ गाँठको नष्ट करता है । जो मोहकी गाँठको नष्ट कर चुकता है अर्थात् मिथ्यात्वको छोड़ चुकता है—'परपदार्थ सुख दुःखके कर्ता हैं' इस मिथ्या मान्यताको निरस्त कर चुकता है वही रागद्वेषको नष्टकर श्रमण अवस्थामें, सुख दुःखमें समताभाव रखता हुआ अविनाशी स्वाधीन सुखको प्राप्त होता है ।

इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कन्धमें ज्ञेयतत्त्वोंका विस्तारसे वर्णन कर जीवको स्वयं स्वसन्मुख होनेका उपदेश दिया गया है । आत्मासे अतिरिक्त पदार्थ ज्ञेय तो हो सकते हैं पर ग्राह्य नहीं हो सकते । ग्राह्य एक स्वकीय शुद्ध आत्मा ही हो सकता है ।

चारित्राधिकार

चारित्राधिकारका प्रारम्भ करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

'पडिवज्जद सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं' ।। १ ।।

दुःखोंसे यदि परिमोक्ष—पूर्णमुक्ति चाहते हो तो श्रामण्य—मुनिपद धारण करो ।

सम्यग्दर्शनसे मोक्षमार्ग शुरू होता है और सम्यक्चारित्रसे उसकी पूर्णता होती है ।[1] जब तक सम्यक्-चारित्र—परमयथाख्यात चारित्र नहीं होता तब तक यह जीव मोक्षको प्राप्त नहीं होता । इसलिये मोक्षका

---

१. अत्राह शिष्यः—केवलज्ञानोत्पत्तौ मोक्षकारणभूतरत्नत्रयपरिपूर्णतायां सत्यां तस्मिन्नेव क्षणे मोक्षेण भाव्यं सयोग्य-योगिजिनगुणस्थानद्वये कालो नास्तीति । परिहारमाह—यथाख्यातचारित्रं जातं परं किन्तु परमयथाख्यातं नास्ति । अत्र दृष्टान्तः—यथा चौरव्यापाराभावेऽपि पुरुषस्य चौरसंसर्गो दोषं जनयति तथा चारित्रविनाशक-चारित्रमोहोदयाभावेऽपि सयोग-केवलिनां निष्क्रियशुद्धात्मचरणविलक्षणो योगत्रयव्यापारश्चारित्रमलं जनयति, योगत्रयगते पुनरयोगिजने चरमसमयं विहाय शेषाघातिकर्मोदयश्चारित्रमलं जनयति, चरमसमये तु मन्दोदये सति चारित्र मलाभावान्मोक्षं गच्छति । वृहद्द्रव्यसंग्रहे गाथा १३

साक्षात् मार्ग चारित्र है, यह जानकर चारित्र धारण करनेका प्रयास करना चाहिये। यहाँ इतना स्मरणीय है कि कुन्दकुन्द स्वामी प्रारम्भमें ही चारित्रकी परिभाषा कहते हुए लिख चुके हैं कि मोह और क्षोभसे रहित आत्माकी परिणति ही साम्यभाव है और ऐसा साम्यभाव ही चारित्र कहलाता है। ऐसे चारित्रसे ही कर्मोंका क्षय होकर शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है। चारित्रगुणका पूर्ण विकास मुनिपदमें होता है अतः मुनिपद धारण करनेके लिये आचार्यने भव्यजीवोंको संबोधित किया है। जो भव्यजीव मुनिपद धारण करनेके लिये उत्सुक होता है उसे सर्वप्रथम क्या करना चाहिये ? इसका उल्लेख करते हुए कहा है—

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोइदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ॥ २ ॥

बन्धुवर्गसे पूछकर तथा माता-पिता स्त्री पुत्रोंसे छुटकारा पाकर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारोंको प्राप्त करे। बन्धुवर्ग तथा माता-पिता आदि गुरुजनोंसे किस प्रकार आज्ञा प्राप्त करे, इसका वर्णन अमृतचन्द्र स्वामीने बहुत ही सुन्दर किया है—

'एवं बन्धुवर्गमापृच्छते—अहो इदंजनशरीरबन्धुवर्गवर्तिन आत्मानः अस्य जीवस्य आत्मा न किंचिदपि युष्माकं भवतीति निश्चयेन यूयं जानीत। तत आपृष्टा यूयम् अयमात्मा अद्योद्भिन्न-ज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिबन्धुमुपसर्पति।'

'मुनिपद धारण करनेके लिये इच्छुक भव्य अपने बन्धुवर्गसे पूछता है—हे इस जनके शरीर सम्बन्धी बन्धुजनोंके शरीरमें रहनेवाले आत्माओ ! इस जनका आत्मा आप लोगोंका कुछ भी नहीं है यह आप निश्चयसे जानो, इसीलिये आपसे पूछा जा रहा है। आज इस जनकी ज्ञानज्योति प्रकट हुई है अतएव यह आत्मा अनादि बन्धुस्वरूप जो स्वकीय आत्मा है उसीके समीप जाता है।'

इस तरह समस्त लोगोंसे आज्ञा प्राप्तकर गृहबन्धनसे मुक्त हो, गुणी तथा कुल रूप और वय आदिसे विशिष्ट योग्य गणी—आचार्यके पास जाकर उनसे प्रार्थना करता है—हे भगवन् ! मुझे स्वीकृत करो—चरणोंमें आश्रय प्रदान करो। मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं अन्य लोगोंका नहीं हूँ और अन्य लोग मेरे नहीं हैं—मेरा किसीके साथ ममत्व भाव नहीं है इसलिये मैं यथाजात—दिगम्बर मुद्राका धारक बनना चाहता हूँ।

शिष्यकी योग्यता देखकर आचार्य उसे पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियदमन, छह आवश्यक, केशलोंच, आचेलक्य, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े-खड़े भोजन करना और दिनमें एक बार ही भोजन करना.... इन अट्ठाईस मूलगुणोंका उपदेश देकर उस यथाजात—निर्ग्रन्थवेषको प्रदान करते हैं जो मूर्च्छा तथा आरम्भ आदिसे रहित है और अपुनर्भव—मोक्षका कारण है।

मुनिमुद्राको धारणकर भव्यजीव अपने ज्ञानदर्शन स्वभावमें लीन रहता हुआ बाह्यमें अट्ठाईस मूल-गुणोंका निरतिचार पालन करता है। वह सदा प्रमाद छोड़कर गमनागमन आदि क्रियाओंको करता है। क्योंकि जिनागमका कथन है कि जीव मरे अथवा न मरे जो अयत्नाचारपूर्वक चलता है उसके हिंसा निश्चित रूपसे होती है और जो यत्नाचारपूर्वक चलता है उसके जीवघात हो जानेपर भी हिंसाजनित बन्ध नहीं होता है।

साधुको यह त्याग परनिरपेक्ष—पर पदार्थोंकी अपेक्षासे रहित होकर ही करना चाहिये क्योंकि जो साधु परपदार्थोंकी अपेक्षा रखता है उसके अभिप्रायकी निर्मलता नहीं हो सकती और अभिप्रायकी निर्मलताके बिना कर्मोंका क्षय नहीं हो सकता। गृहीत प्रवृत्तिमें दोष लगने पर आचार्यके समीप उसका प्रतिक्रमण करता है और आगामी कालके लिये उस दोषका प्रत्याख्यान करता है।

निर्ग्रन्थ साधु आगमका अध्ययन कर अपनी श्रद्धाको सुदृढ़ और चारित्रको निर्दोष बनाता है। आगमके स्वाध्यायकी उपयोगिता बताते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू॥ ३३॥

आगमसे रहित साधु निज और परको नहीं जानता तथा जो निज और परको नहीं जानता अर्थात् भेद ज्ञानसे रहित है वह कर्मोंका क्षय कैसे कर सकता है?

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू॥ ३४॥

मुनि आगमचक्षु हैं, संसारके समस्त प्राणी इन्द्रियचक्षु हैं, देव अवधिचक्षु हैं और सिद्ध सर्वतश्चक्षु हैं अर्थात् मुनि आगमसे सब कुछ जानते हैं, संसारके साधारण प्राणी इन्द्रियोंसे जानते हैं, देव अवधिज्ञानसे जानते हैं और सिद्ध भगवान् केवलज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंको जानते हैं।

आगम पुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थित्ति भणइ सुत्तं असंजदो हवदि किध समणो॥ ३६॥

जिसके आगमपूर्वक दृष्टि नहीं है अर्थात् आगमका स्वाध्याय कर जिसने अपनी तत्व श्रद्धाको सुदृढ़ नहीं किया है उसके संयम नहीं होता, ऐसा जिनशास्त्र कहते हैं। फिर जो असंयमी है—संयमसे रहित है वह श्रमण—साधु कैसे हो सकता है?

आगमका अध्ययनमात्र ही कार्यकारी नहीं है, तत्त्वार्थका श्रद्धान भी कार्यकारी है और मात्र श्रद्धान ही कार्यकारी नहीं है उसके साथ संयमका आचरण भी कार्यकारी है। इस विषयको देखिये, कुन्दकुन्द स्वामी कैसा स्पष्ट करते हैं—

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि॥ ३७॥

यदि पदार्थ विषयक श्रद्धान नहीं है तो सिर्फ आगमके ज्ञानसे यह जीव सिद्ध नहीं हो सकता और पदार्थका श्रद्धान करता हुआ भी यदि असंयत है—संयमसे रहित है तो वह निर्वाणको प्राप्त नहीं हो सकता।

ज्ञानकी गरिमा बतलाते हुए कहा है—

जं अण्णाणी कम्मं खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेण॥ ३८॥

अज्ञानी जीव, सैकड़ों हजारों तथा करोड़ो भवमें जिस कर्मको खिपाता है तीन गुप्तियोंका धारक ज्ञानी जीव उसे उच्छ्वास मात्रमें खिपा देता है। यहाँ 'तीन गुप्तियोंका धारक' इस विशेषणसे सम्यक् चारित्रकी भी सत्ता अनिवार्य बतलाई गई है। विना सम्यक् चारित्रके अंग और पूर्वका पाठी जीव भी सर्व कर्मक्षय करनेमें समर्थ नहीं है।

आगम ज्ञानका प्रयोजन स्वपरका ज्ञान कर परपदार्थोंमें मूर्च्छाका छोड़ना है। यदि आगमका ज्ञाता होकर भी कोई परपदार्थोंमें मूर्च्छाको नहीं छोड़ता है तो वह मोक्षको प्राप्त नहीं हो सकता। कुन्दकुन्द स्वामीके वचन देखिये—

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि॥ ३९॥

जिसके शरीरादि परपदार्थोंमें परमाणु प्रमाण भी मूर्च्छा—आत्मीय बुद्धि है वह समस्त आगमका धारक होनेपर भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता।

साधुको श्रमण कहते हैं अतः श्रमणकी परिभाषा करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥ ४१ ॥

जो शत्रु और बन्धुवर्गमें समान बुद्धि है, जो सुख दुःख, प्रशंसा तथा निन्दामें समान है, पत्थरके ढेले और सुवर्णमें समभाव है तथा जीवन और मरणमें समान है, वह श्रमण कहलाता है।

कैसा श्रमण कर्मक्षय कर सकता है ? इसका समाधान देखिये—

अत्थेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोषमुवयादि।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविधाणि ॥ ४४ ॥

जो श्रमण परपदार्थोंमें मोहको प्राप्त नहीं होता—उनमें आत्मबुद्धि नहीं करता और न उनमें रागद्वेष करता है वह निश्चित ही नाना प्रकारके कर्मोंका क्षय करता है।

शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगीके भेदसे मुनियोंके दो भेद हैं। इनमें शुद्धोपयोगी मुनि आस्रवसे रहित होते हैं और शेष मुनि आस्रवसे सहित। शुभोपयोगी मुनि, अरहंत आदिक परमेष्ठियोंकी भक्ति करते हैं तथा प्रवचन—परमागमसे मुक्त शुद्धात्म स्वरूपके उपदेशक महामुनियोंमें गोवत्सके समान वात्सल्य भाव रखते हैं। गुरुजनोंके आने पर उठकर उनका सत्कार करते हैं, जाने पर अनुगमनके द्वारा उनके प्रति आदर प्रकट करते हैं, दर्शन और ज्ञानका उपदेश देते हैं, शिष्योंको दीक्षा देते हैं, उनका पोषण करते हैं, जिनेन्द्र पूजाका उपदेश देते हैं, ऋषि मुनि यति और अनगार इन चार प्रकारके मुनिसंघोंका उपकार करते हैं, अपने पदके अनुकूल उनका वैयावृत्य करते हैं, रोग अथवा क्षुधा तृषा आदिसे पीड़ित श्रमणके प्रति आत्मीयभाव प्रकट कर उनकी दुःख निवृत्तिका प्रयास करते हैं, ग्लान, वृद्ध, बालक आदि मुनियोंकी सेवाके निमित्त लौकिक-जनों—गृहस्थोंके साथ सम्भाषण आदि करते हैं। शुभोपयोगी मुनियोंकी यह प्रशस्तचर्या अपुनर्भव अर्थात् मोक्षका साक्षात् कारण नहीं है परन्तु उससे सांसारिक सुखरूप स्वर्गकी प्राप्ति होती है। उनकी यह प्रशस्त-चर्या परम्परासे मोक्षका कारण है।

शुद्धोपयोगी मुनि इन सब विकल्पोंसे दूर हटकर शुद्धात्म स्वरूपके चिन्तनमें लीन रहते हैं। करणानुयोगकी पद्धतिसे यह शुद्धोपयोग श्रेणीसे प्रारम्भ होता है तथा अपनी उत्कृष्ट सीमापर पहुँचकर कर्मक्षयका कारण होता है।

मुनि मुद्रा धारणकर भी जो लौकिकजनोंके सम्पर्कमें हर्ष मानते हैं तथा उन्मार्गमें प्रवृत्ति करते हैं वे श्रमणाभास हैं तथा अनन्त संसारके पात्र होते हैं। भावलिङ्ग सहित मुनिमुद्रा इस जीवको बत्तीस बारसे अधिक धारण नहीं करनी पड़ती, उसीके भीतर वह मोक्षको प्राप्त हो जाता है परन्तु मात्र द्रव्यलिङ्ग सहित मुनिमुद्रा धारण करनेकी संख्या निश्चित नहीं है। अनन्त बार भी वह यह पद धारण करता है परन्तु उसके द्वारा नवमग्रैवेयकसे अधिकका पद प्राप्त नहीं कर सकता।

अन्तमें अमृतचन्द्र स्वामीने ४७ नयोंका अवलम्बन लेकर आत्माका दिग्दर्शन कराया है। इस तरह प्रवचनसार सचमुच ही प्रवचनसार—आगमका सार है। इसकी रचना अत्यन्त प्रौढ़ और सारगर्भित है।

१. चत्तारि वारमुवसमसेढिं समरुहदि खविदकम्मंसो।
बत्तीसं वाराइं संजममुवलहिय णिव्वादि ॥ ६१९ ॥ कर्मकाण्ड

नियमसार

नियमसार में १८७ गाथाएँ और १२ अधिकार हैं। अधिकारोंके नाम इस प्रकार हैं—(१) जीवाधिकार (२) अजीवाधिकार (३) शुद्ध भावाधिकार (४) व्यवहार चारित्राधिकार (५) परमार्थ प्रतिक्रमणाधिकार (६) निश्चय प्रत्याख्यानाधिकार (७) परमालोचनाधिकार (८) शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्ताधिकार (९) परमसमाध्यधिकार (१०) परम भक्त्यधिकार (११) निश्चय परमावश्यकाधिकार और (१२) शुद्धोपयोगाधिकार।

(१) जीवाधिकार

नियमका अर्थ लिखते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

णियमेण य जं कज्जं तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विपरीय परिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं॥ ३॥

जो नियमसे करने योग्य हों उन्हें नियम कहते हैं। नियमसे करने योग्य ज्ञान दर्शन और चारित्र हैं। विपरीत ज्ञान, दर्शन और चारित्रका परिहार करनेके लिए नियम शब्दके साथ सारपदका प्रयोग किया है। इस तरह नियमसारका अर्थ सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र है। संस्कृत टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने भी कहा है—

'नियमशब्दस्तावत् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु वर्तते, नियमसार इत्यनेन शुद्धरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम्।'

अर्थात् नियम शब्द सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में आता है तथा नियमसार इस शब्दसे शुद्धरत्नत्रयका स्वरूप कहा गया है।

जिन शासनमें मार्ग और मार्गका फल इन दो पदार्थोंका कथन है। उनमें मार्ग—मोक्षका उपाय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहलाता है और निर्वाण, मार्गका फल कहलाता है। इन्हीं तीनका वर्णन इस ग्रन्थमें किया गया है। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनका लक्षण लिखते हुए कहा है—

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पाह वे अत्तो॥ ५॥

आप्त, आगम और तत्त्वोंके श्रद्धानसे सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन होता है। जिसके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं तथा जो सकल गुण स्वरूप है वह आप्त है। क्षुधा तृषा आदि अठारह दोष कहलाते हैं और केवलज्ञान आदि गुण कहे जाते हैं। आप्त भगवान् क्षुधातृषा आदि समस्त दोषोंसे रहित हैं तथा केवलज्ञानादि परमविभव—अनन्त गुण रूप ऐश्वर्यसे रहित हैं। यह आप्त ही परमात्मा कहलाता है। इससे विपरीत आत्मा परमात्मा नहीं हो सकता।

आगम और तत्त्वका वर्णन करते हुए लिखा है—

तस्स मुहग्गद वयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहियं हवंति तच्चत्था॥ ८॥

उन आप्त भगवान्के मुखसे उद्गत—दिव्यध्वनिसे प्रकटित तथा पूर्वापर विरोध रूप दोषसे रहित जो शुद्ध वचन है वह आगम कहलाता है और आगमके द्वारा कथित जो जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश है वे तत्त्वार्थ हैं। वे तत्त्वार्थ नाना गुण और पर्यायोंसे सहित हैं। इन तत्त्वार्थोंमें स्वपराव-

भासी होने से जीवतत्त्व प्रधान है। उपयोग, सुखका लक्षण है। उपयोगके ज्ञानोपयोग और दर्शनीय योगकी अपेक्षा दो भेद हैं। ज्ञानोपयोग स्वभाव और विभावके भेदसे दो प्रकारका है। केवलज्ञान स्वभाव ज्ञानोपयोग है और विभाव ज्ञानोपयोग, सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्याज्ञानकी अपेक्षा दो प्रकारका है। विभाव सम्यग्ज्ञानोपयोगके मति श्रुत अवधि और मन:पर्ययके भेदसे चार भेद हैं और विभाव मिथ्याज्ञानोपयोगके कुमति, कुश्रुत और कुअवधिकी अपेक्षा तीन भेद हैं। इसी तरह दर्शनोपयोगके भी स्वभाव और विभावकी अपेक्षा दो भेद हैं। उनमें केवल दर्शनोपयोग है तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन विभाव-दर्शनोपयोग हैं।

पर्यायके भी परकी अपेक्षासे सहित और परकी अपेक्षासे रहित, इस तरह दो भेद हैं। अर्थ पर्याय और व्यंजनपर्यायके भेदसे भी पर्याय दो प्रकार की होती है। परके आश्रयसे होने वाली षड्गुणी हानि वृद्धिरूप जो संसारी जीवकी परिणति है वह विभाव अर्थ पर्याय है तथा सिद्ध परमेष्ठीकी जो षड्गुणी हानि वृद्धिरूप परिणति है वह जीवकी स्वभाव अर्थ पर्याय है। प्रदेशवत्व गुणके विकार रूप जो जीवकी परिणति है अर्थात् जिसमें किसी आकारकी अपेक्षा रक्खी जाती है उसे व्यञ्जन पर्याय कहते हैं। इसके भी स्वभाव और विभाव की अपेक्षा दो भेद होते हैं। अन्तिम शरीर से किञ्चिदून जो सिद्ध परमेष्ठीका आकार है वह जीवकी स्वभाव व्यञ्जन पर्याय है और कर्मोपाधिसे रचित जो नरनारकादि पर्याय है वह विभाव व्यञ्जन पर्याय है।

व्यवहार नयसे आत्मा पुद्गलकर्मका कर्ता और भोक्ता है तथा अशुद्ध निश्चयनयसे कर्म जनित रागादि भावोंका कर्ता है। संस्कृत टीकाकारने नय विवक्षासे कर्तृत्व और भोक्तृत्व भावको स्पष्ट करते हुए कहा है कि निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयकी अपेक्षा आत्मा द्रव्यकर्मोंका कर्ता है तथा उनके फल-स्वरूप प्राप्त होनेवाले सुख दुःख का भोक्ता है। अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा समस्त मोह-राग-द्वेष रूप भावकर्मों-का कर्ता है तथा उन्हींका भोक्ता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा शरीररूप नोकर्मोंका कर्ता और भोक्ता है तथा उपचरित असद्भूत व्यहारनयसे घटपटादिका कर्ता और भोक्ता है। जहाँ निश्चयनय और व्यवहार नयके भेदसे नयके दो भेद ही विवक्षित हैं वहाँ आत्मा निश्चयनयकी अपेक्षा अपने ज्ञानादि गुणोंका कर्ता भोक्ता होता है और व्यवहार नयसे रागादि भाव कर्मोंका।

श्रीपद्मप्रभमलधारी देवने कहा है—

द्वौ हि नयौ भगवदर्हत्परमेश्वरेण प्रोक्तौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति। द्रव्यमेवार्थः प्रयोजन-मस्येति द्रव्यार्थिकः। पर्यायः एव प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः। न खलु एक नयायत्तोपदेशो ग्राह्यः किन्तु तदुभयायत्तोपदेशः।

भगवान् अर्हन्त परमेश्वरने दो नय कहे हैं—एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक। द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिकनय है और पर्याय ही जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है। एक नयके अधीन उपदेश ग्राह्य नहीं है किन्तु दोनों नयोंके अधीन उपदेश ग्राह्य है।

यह उल्लेख पीछे किया जा चुका है कि नय वस्तुस्वरूपको समझनेके साधन हैं, वक्ता पात्रकी योग्यता देखकर विवक्षानुसार उभयनयोंको अपनाता है। यह ठीक है कि उपदेशके समय एक नय मुख्य तथा दूसरा नय गौण होता है परन्तु सर्वथा उपेक्षित नहीं होता।

इस परिप्रेक्ष्यमें जब त्रैकालिक स्वभावको ग्रहण करनेवाले द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कथन होता है तब जीवद्रव्य रागादिक विभाव परिणति तथा नरनारकादिक व्यञ्जन पर्यायोंसे रहित है यह बात आती है और जब पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कथन होता है तब जीव इन सबसे सहित है यह बात आती है।

(२) अजीवाधिकार

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच अजीव पदार्थ हैं। पुद्गल द्रव्य अणु और स्कन्धके

भेदसे दो प्रकारका होता है। उनमें स्कन्धके अतिस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्मके भेदसे ६ भेद हैं। पृथिवी, तेल आदि, छाया, आतप आदि, चक्षुके सिवाय शेष चार इन्द्रियोंके विषय, कार्मण वर्गणा और द्वयणुकस्कन्ध ये अतिस्थूल आदि स्कन्धोंके उदाहरण हैं। अणुके कारण अणु और कार्यअणुके भेदसे दो भेद हैं। पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चार धातुओंकी उत्पत्तिका जो कारण है उसे कारण परमाणु और कार्य परमाणु कहते हैं। परमाणुका लक्षण इस प्रकार कहा है—

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं परमाणु तं विजाणाहि॥ २६॥

वही जिसका आदि है, वही मध्य है, वही अन्त है, जिसका इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं होता तथा जिसका दूसरा विभाग नहीं हो सकता उसे परमाणु जानना चाहिये।

इस परमाणुमें एक रस, एक रूप, एक गन्ध, और शीत उष्णमेंसे कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्षमेंसे कोई एक इस प्रकार दो स्पर्श पाये जाते हैं। दो या उससे अधिक परमाणुओंके पिण्डको स्कन्ध कहते हैं। अणु और स्कन्धके भेदसे पुद्‌गल द्रव्यके दो भेद हैं।

जीव और पुद्‌गलके गमनका जो निमित्त है उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। जीव और पुद्‌गलकी स्थितिका जो निमित्त है उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं। जीवादि समस्त द्रव्योंके अवगाहका जो निमित्त है उसे आकाश कहते हैं। समस्त द्रव्योंकी अवस्थाओंके बदलनेमें जो सहकारी कारण है वह कालद्रव्य है। यह कालद्रव्य समय और आवलीके भेदसे दो प्रकारका होता है। अथवा अतीत, वर्तमान और भावी (भविष्यत्) की अपेक्षा तीन प्रकारका है। संख्यात आवलियोंसे गुणित सिद्ध राशिका जितना प्रमाण है उतना अतीत काल है। वर्तमानकाल समयमात्र है और भावी (भविष्यत्) काल, समस्त जीवराशि तथा समस्त पुद्‌गल द्रव्योंसे अनन्त गुणा है।

नियमसारमें कालद्रव्य वर्णनकी ३१ और ३२वीं गाथामें परम्परागत अशुद्ध पाठ चला आ रहा है। संस्कृत टीकाकारका भी उस ओर लक्ष्य गया नहीं जान पड़ता है। ३१ वीं गाथामें 'तीदो संखेज्जावलिहद-संठाणप्पमाणं तु' ऐसा पाठ नियमसारमें है परन्तु गोम्मटसार जीवकाण्डमें 'तीदो संखेज्जावलिहदसिद्धाणं पमाणं तु' ऐसा पाठ है। नियमसारकी एतद्विषयक संस्कृत टीका भी भ्रान्त मालूम पड़ती है। ३२ वीं गाथामें 'जीवादु पुग्गलादोऽणंतगुणा चावि संपदा समया' ऐसा पाठ है परन्तु इस पाठसे समस्त अर्थ गड़बड़ा गया है। इसका सही पाठ ऐसा है 'जीवादु पुग्गलादोऽणंतगुणा भावि संपदा समया' इस पाठके माननेपर भावी कालका वर्णन भी गाथोक्त हो जाता है और उसका जीवकाण्डसे मेल खा जाता है। इस पाठमें गाथाका अर्थ होता है कि भावीकाल जीव तथा पुद्‌गल राशिसे अनन्त गुणा है और संपदा अर्थात् साम्प्रत-वर्तमान काल समयमात्र है। लोकाकाशमें-लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशोंपर जो कालाणु स्थित हैं वे परमार्थ—निश्चयकाल द्रव्य हैं। 'भावि' के स्थानपर 'चावि' पाठ लेखकोंके प्रमादसे आ गया जान पड़ता है।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्योंका परिणमन सदा शुद्ध ही रहता है परन्तु जीव और पुद्‌गल द्रव्यमें शुद्ध अशुद्ध—दोनों प्रकारका परिणमन होता है। मूर्त अर्थात् पुद्‌गल द्रव्यके संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं। धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्यसे असंख्यात प्रदेश होते हैं, लोकाकाशके भी असंख्यात प्रदेश हैं परन्तु समस्त आकाशके अनन्त प्रदेश हैं। कालद्रव्य एक प्रदेशी है। उपर्युक्त छह द्रव्योंमें पुद्‌गल द्रव्य मूर्त है, शेष पाँच द्रव्य अमूर्त हैं। एक जीव द्रव्य चेतन है शेष पाँच द्रव्य अचेतन हैं। पुद्‌गलका परमाणु आकाशके जितने अंशको घेरता है उसे प्रदेश कहते हैं।

(३) शुद्धभावाधिकार

जब तत्त्वोंको हेय और उपादेय इन दो भेदोंमें विभाजित करते हैं तब परजीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं और कर्मरूप उपाधिसे रहित स्वकीय स्वयं अर्थात् शुद्ध आत्मा उपादेय हैं। जब तत्त्वोंको हेय उपादेय तथा ज्ञेय तीन भेदोंमें विभाजित करते हैं तब जीवादि बाह्य तत्त्व ज्ञेय हैं, स्वकीय शुद्ध आत्मा उपादेय है और उसका विभाव परिणमन हेय है। तात्पर्य यह है कि आत्मद्रव्यका परिणमन स्वभाव और विभावके भेदसे दो प्रकारका होता है। जो स्वमें स्वके निमित्तसे होता है वह स्वभाव परिणमन कहलाता है जैसे जीवका ज्ञान दर्शन रूप परिणमन। और जो स्वमें परके निमित्तसे होता है वह विभाव परिणमन कहलाता है जैसे जीवका रागद्वेषादिरूप परिणमन। इन दोनों प्रकारके परिणमनोंमें स्वभाव परिणमन उपादेय है और विभाव परिणमन हेय है।

शुद्ध भावाधिकारमें आत्माको इन्हीं विभाव परिणामोंसे पृथक् सिद्ध करनेके लिये कहा गया है कि निश्चयसे रागादिक विभाव स्थान, मान अपमानके स्थान, सांसारिक सुखरूप हर्षभावके स्थान, सांसारिक दुःख रूप अहर्षभावके स्थान, स्थितिबन्ध स्थान, प्रकृतिबन्ध स्थान, प्रदेशबन्ध स्थान, और अनुभाग बन्ध स्थान आत्माके नहीं हैं[1]। क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक, और औदयिकभावके स्थान आत्माके नहीं हैं। चातुर्गतिक परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, भय, शोक, कुल, योनि, जीव समास तथा मार्गणा स्थान जीवके नहीं हैं। नहीं होनेका कारण यही एक है कि ये परके निमित्तसे होते हैं। यद्यपि वर्तमानमें ये आत्माके साथ तन्मयी भावको प्राप्त हो रहे हैं तथापि उनका यह तन्मयीभाव त्रैकालिक नहीं है। ज्ञानदर्शनादि गुणोंके साथ जैसा त्रैकालिक तन्मयीभाव है वैसा रागादिकके साथ नहीं है। अग्निके सम्बन्धसे पानीमें जो उष्णता आई है वह यद्यपि पानीके साथ तन्मयीभावको प्राप्त हुई जान पड़ती है तथापि अग्निका सम्बन्ध दूर हो जानेपर नष्ट हो जानेके कारण वह सर्वथा तन्मयीभावको प्राप्त नहीं होती। यही कारण है कि शीतस्पर्श तो पानीका स्वभाव कहा जाता है और उष्ण स्पर्श विभाव।

स्वभावकी दृष्टिसे आत्मा निर्दण्ड—मनवचन कायके व्यापाररूप योगसे रहित, निर्द्वन्द्व, निर्मम, निष्कलंक, नीराग, निर्द्वेष, निर्मूढ़, निर्भय, निर्ग्रन्थ, निःशल्य, निर्दोष, निष्काम, निःक्रोध, निर्मान और निर्मद है। रूप रस गन्ध स्पर्श, स्त्री-पुरुष-नपुंसक पर्याय, संस्थान तथा संहनन जीवके नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा, द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्मसे रहित है। आत्मा रस रूप गन्ध और स्पर्शके रहित है, चेतना गुणवाला है, शब्द रहित है, अलिङ्ग ग्रहण है, और अनिर्दिष्ट संस्थान है। स्वरूपोपादानकी अपेक्षा आत्मा चेतनागुणसे सहित है और पररूपापोहनकी अपेक्षा रसरूपादिसे रहित है।

स्वभाव दृष्टिसे कहा गया है—

> जारिसया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
> जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण ॥ ४७ ॥

अर्थात् जैसे सिद्ध जीव हैं वैसे ही संसारस्थ जीव भी हैं। जैसे सिद्ध जीव जरा मरण और जन्मसे रहित तथा अष्टगुणोंसे अलंकृत हैं वैसे ही संसारी जीव भी जरामरणादिसे रहित तथा अष्ट गुणोंसे अलंकृत हैं। यहाँ इतना स्मरण रखना आवश्यक है कि यह कथन मात्र स्वभाव दृष्टिसे है वर्तमानकी व्यक्ततासे नहीं। संसारी जीवमें सिद्ध परमेष्ठीके समान होनेकी योग्यता है; इसका इतना ही तात्पर्य है। वर्तमानमें जीवका संसारी पर्याय रूप अशुद्ध परिणमन चल रहा है। चूँकि एक कालमें एक ही परिणमन हो सकता है अतः

---

१. णो खइयभावठाणा णो खयउवसम सहाव ठाणा वा।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहाव ठाणा वा ॥ ४१ ॥ नियमसार

जिस समय जीवका अशुद्ध परिणमन चल रहा है उस समय शुद्ध परिणमनका अभाव ही है परन्तु शुद्ध परिणमनकी योग्यता जीवमें सदा रहती है इसलिये अशुद्ध परिणमनके समय भी उसका शुद्ध परिणमन कहा जाता है। वर्तमानमें जन्मजरामरणके दुःख भोगते रहनेपर भी संसारी जीवको सिद्धात्माके सदृश कहनेका तात्पर्य इतना है कि आचार्य इस जीवको आत्मस्वरूपकी ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। जैसे किसी धनिक व्यक्तिका पुत्र, माता पिताके मर जानेपर स्वकीय संपत्तिका बोध न होनेसे भिखारी बना फिरता है; उसे कोई ज्ञानी पुरुष समझाता है कि तूँ भिखारी क्यों बन रहा है, तूँ तो अमुक सेठके समान लक्षाधीश है, अपने धनको प्राप्त-कर इस भिखारी दशासे मुक्ति पा। इसी प्रकार अपने ज्ञान दर्शन स्वभावको भूलकर यह जीव वर्तमानकी अशुद्ध परिणतिमें आत्मीय बुद्धि कर दुखी हो रहा है, उसे ज्ञानी आचार्य समझाते हैं—अरे भाई! तूँ तो सिद्ध भगवान्‌के समान है, जन्म मरणके चक्रको अपना मानकर दुखी क्यों हो रहा है? आचार्यके उपदेशसे निकट भव्यजीव अपने स्वभावकी ओर लक्ष्य बनाकर सिद्धात्माके समान शुद्ध परिणतिको प्राप्त कर लेते हैं परन्तु दीर्घ संसारी जीव स्वभावकी ओर लक्ष्य न देनेके कारण इसी संसारमें परिभ्रमण करते रहते हैं। शुद्धभावाधिकारमें शुद्धभावकी ओर भी आत्माका लक्ष्य जावे इसी अभिप्रायसे वर्णन किया गया है। यह कथन द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा है। पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा वर्तमानमें जीवकी जो पर्याय है उससे नकारा नहीं किया जा रहा है। मात्र उस ओरसे दृष्टिको हटाकर स्वभावकी ओर लगानेका प्रयास किया गया है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप ये चारों उपाय स्वभावदृष्टिको प्राप्त करनेमें परम सहायक हैं। इसीलिये इन्हें प्राप्त करनेका पुरुषार्थ करना चाहिये। विपरीताभिनिवेशसे रहित आत्मतत्त्व-का जो श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है। संशय विभ्रम तथा अनध्यवसायसे रहित आत्मतत्त्वका जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है। आत्मस्वरूपमें स्थिर रहना सम्यक्चारित्र है और उसीमें प्रतपन करना सम्यक्तप है। यह निश्चयनयका कथन है। चल, मलिन और अगाढ़ दोषोंसे रहित तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है हेयोपादेय तत्त्वोंको जानना सम्यग्ज्ञान है। महाव्रतादि रूप आचरण सम्यक्चारित्र है और उपवासादि तप करना सम्यक्तप है। यह व्यवहारनयका कथन है।

कार्यकी उत्पत्ति बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कारणोंसे होती है अतः सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कारणोंका कथन करते हुए श्री कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है—

समत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्य जाणया पुरिसा।
अन्तरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खय पहुदी॥ ५३॥

अर्थात् सम्यग्दर्शनका बाह्य निमित्त जिनागम तथा उसके ज्ञाता पुरुष हैं और अन्तरङ्ग निमित्त दर्शन-मोहकर्मका क्षय आदिक है।

अन्तरङ्ग निमित्तके होनेपर कार्य नियमसे होता है परन्तु बहिरङ्ग निमित्तके होनेपर कार्यकी उत्पत्ति होनेका नियम नहीं है। हो भी और नहीं भी हो।

इस अधिकारमें कर्मजनित अशुद्ध भावोंको अनात्मीय बतलाकर स्वाश्रित शुद्धभावको आत्मीय बत-लाता है।

(४) व्यवहार चारित्राधिकार

इस अधिकारमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतोंका, ईर्या भाषा एषणा आदान निक्षेपण और प्रतिष्ठापन इन पाँच समितियोंका, मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीन गुप्तियों-का तथा अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेष्ठियोंका स्वरूप बतलाया गया है। हिंसा असत्य चोरी व्यभिचार और परिग्रह ये पाँच पापके पनाले हैं। इनके माध्यमसे आत्मामें कर्मोंका आस्रव होता है अतः

इनका निरोध करना सम्यक् चारित्र है। पाँच पापोंका पूर्ण त्याग हो जानेपर पाँच महाव्रत प्रकट होते हैं उनकी रक्षाके लिये ईर्या आदि पाँच समितियों और तीन गुप्तियोंका पालन करना आवश्यक है। महाव्रतोंकी रक्षाके लिये प्रवचन—आगममें इन आठको माताकी उपमा दी गई है इसीलिये इन्हें अष्ट प्रवचन मातृका कहा गया है। व्यवहारनयसे यह तेरह प्रकारका चारित्र कहलाता है। इस अधिकारमें इसी व्यवहार चारित्रका वर्णन है।

(५) परमार्थ प्रतिक्रमणाधिकार

इस अधिकारमें कर्म और नोकर्मसे भिन्न आत्मस्वरूपका वर्णन करते हुए सर्वप्रथम कहा गया है कि "मैं नारकी नहीं हूँ, तिर्यञ्च नहीं हूँ, मनुष्य नहीं हूँ, देव नहीं हूँ, गुणस्थान मार्गणा तथा जीव समास नहीं हूँ, न इनका करनेवाला हूँ, न करानेवाला हूँ, और न अनुमोदना करनेवाला हूँ। वालवृद्ध आदि अवस्थाएँ तथा राग द्वेष मोह क्रोध मान माया और लोभ रूप विकारी भाव भी मेरे नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञायकस्वभाव वाला स्वतन्त्र जीव द्रव्य हूँ" "इस प्रकार भेदाभ्यास करनेसे जीव मध्यस्थ होता है और मध्यस्थ भावसे चारित्र होता है। उस चारित्रको दृढ़ करनेके लिए प्रतिक्रमण होता है। यथार्थमें प्रतिक्रमण किसके होता है? इसका कितना स्पष्ट वर्णन कुन्दकुन्द स्वामीने किया है। देखिये—

मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदित्ति पडिकमणं ॥ ८३ ॥

जो वचनरचनाको छोड़कर तथा रागादिभावोंका निवारण कर आत्माका ध्यान करता है उसके प्रतिक्रमण होता है और ऐसे परमार्थ प्रतिक्रमणके होनेपर ही चारित्र निर्दोप हो सकता है।

(६) निश्चय प्रत्याख्यानाधिकार

प्रत्याख्यानका अर्थ त्याग है। यह त्याग विकारी भावोंका ही किया जा सकता है स्वभावका नहीं—ऐसा विचार करता हुआ जो समस्त वचनोंके विस्तारको छोड़कर शुभ-अशुभ भावोंका निवारण करता है तथा आत्माका ध्यान करता है उसीके प्रत्याख्यान होता है। शुभ-अशुभ भाव, इस जीवके आत्मध्यानमें वाधक हैं अतः प्रत्याख्यान करनेवालेको सबसे पहले शुभ-अशुभ भावोंको समझ उन्हें दूर करनेका प्रयास करना चाहिये। निश्चय प्रत्याख्यानकी सिद्धिके लिये आचार्य महाराजने इस प्रकारकी भावनाओंका होना आवश्यक वतलाया है—

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्मत्तिमुवट्ठिदो।
आलंवणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे ॥ ९९ ॥

मैं निर्ममत्व भावको प्राप्त कर ममत्व भावको छोड़ता हूँ। मेरा आलम्वन मेरा आत्मा ही है, शेप आलम्बनोंको मैं छोड़ता हूँ।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥ १०० ॥

मेरे ज्ञानमें आत्मा है, मेरे दर्शनमें आत्मा है, मेरे चारित्रमें आत्मा है, मेरे प्रत्याख्यानमें आत्मा है मेरे संवर तथा योग—शुद्धोपयोगमें आत्मा है।

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ १०२ ॥

ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला एक आत्मा ही मेरा है। परपदार्थोंके संयोगसे होने वाले शेप सव भाव मुझसे वाह्य हैं—मेरे स्वभावभूत नहीं हैं।

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ।
आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए ॥ १०४ ॥

सब जीवोंमें मेरे साम्यभाव है, किसीके साथ मेरा वैरभाव नहीं है, मैं सब आशाओंको छोड़कर निश्चयसे समाधिको प्राप्त होता हूँ ।

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो ।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ॥ १०५ ॥

जो कषाय रहित है, इन्द्रियोंका दमन करने वाला है, शूरवीर है, उद्यमवन्त है, और संसारके भयसे भीत है उसीके सुखस्वरूप प्रत्याख्यान होता है ।

(७) परमालोचनाधिकार

परमालोचना किसके होती है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं ।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि ॥ १०७ ॥

जो नोकर्म और कर्मसे रहित तथा विभावगुण और पर्यायोंसे भिन्न आत्माका ध्यान करता है ऐसे श्रमण—मुनिके ही आलोचना होती है ।

आगममें १. आलोचन २. आलुञ्छन ३. अविकृतीकरण और ४. भावशुद्धिके भेदसे आलोचनाके चार अङ्ग कहे गये हैं । इन अंगोंके पृथक्-पृथक् लक्षण इस प्रकार हैं—

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं ।
आलोयणमिदि जाणह परम जिणंदस्स उवएसं ॥ १०९ ॥

जो जीव अपने परिणामको समभावमें स्थापित कर आत्माको देखता है—अनुभवता है वह आलोचन है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्का उपदेश जानो ।

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो ।
साहीणो समभावो आलुञ्छणमिदि समुद्दिट्ठं ॥ ११० ॥

कर्मरूप वृक्षका मूलच्छेद करनेमें समर्थ जो समभावरूप स्वाधीन निज परिणाम है वह आलुञ्छण है ।

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं ।
मज्झत्थभावणाए वियडीकरणं त्ति विण्णेयं ॥ १११ ॥

जो मध्यस्थभावनामें स्थित हो कर्मसे भिन्न तथा निर्मलगुणोंके आलयस्वरूप अपनी आत्माका ध्यान करता है वह अविकृतिकरण है अर्थात् ऐसा विचार करना कि कर्मोदयजनित विकार मेरे नहीं हैं ।

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धित्ति ।
परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥ ११२ ॥

मद मान माया और लोभसे रहित जो निजका भाव है वही भावशुद्धि है ऐसा सर्वत्र जिनेन्द्र भगवान्ने भव्यजीवोंके लिये कहा है ।

व्यवहारनयसे भूतकाल सम्बन्धी दोषोंका पश्चात्ताप करना प्रतिक्रमण है । वर्तमानकाल सम्बन्धी दोषोंका निराकरण करना आलोचना है और भविष्यत्काल सम्बन्धी दोषोंका त्याग करना प्रत्याख्यान है । व्यवहारनय सम्बन्धी प्रतिक्रमणादिकी सफलता तब ही है जब निश्चयसम्बन्धी प्रतिक्रमणादि प्राप्त हो जावें ।

(८) शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार

व्यवहारदृष्टिसे प्रायश्चित्तके अनेकरूप सामने आते हैं परन्तु निश्चयनयसे उसका क्या रूप होना चाहिये इसका दिग्दर्शन श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने इस अधिकारमें किया है। वे कहते हैं कि व्रत, समिति शील और संयमरूप परिणाम तथा इन्द्रियदमनका भाव ही वास्तविक प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त निरन्तर करते रहना चाहिये। आत्मीय गुणोंके द्वारा विकारीभावोंपर विजय प्राप्त करना सच्चा प्रायश्चित्त है। इसीलिये कहा है—

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जयदि खु ए चहुविहकसाए ॥ ११५ ॥

क्षमासे क्रोधको, मार्दवसे मानको, आर्जवसे मायाको और संतोषसे लोभको—इस प्रकार श्रमण इन चार कषायोंको जीतता है।

कषाय विकारीभाव हैं, उनके रहते हुए प्रायश्चित्तकी कोई प्रतिष्ठा नहीं होती, इसलिये क्षमादिगुणोंके द्वारा कषायरूप विकारीभावोंको जीतनेका उपदेश दिया गया है। इसी अधिकारमें कहा है कि अधिक कहनेसे क्या, उत्कृष्ट तपश्चरण ही साधुओंका प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त उनके अनेक कर्मोंके क्षयका हेतु है। अनन्तानन्त भवोंमें इस जीवने जो शुभाशुभ कर्मोंका समूह संचित किया है वह तपश्चरण रूप प्रायश्चित्तके द्वारा ही नष्ट हो सकता है, इसलिये तपश्चरण अवश्य ही करना चाहिये। ध्यान भी प्रायश्चित्तका सर्वोपरिरूप है क्योंकि यह जीव आत्मस्वरूपके आलम्बनसे ही समस्त विकारीभावोंका परिहार कर सकता है। ध्यानका फल बतलाते हुए कहा है कि जो शुभअशुभ वचनोंकी रचना तथा रागादि भावोंका निवारण कर आत्माका ध्यान करता है उसके अवश्य ही प्रायश्चित्त होता है।

(९) परमसमाधिअधिकार

आत्मपरिणामोंका स्वरूपमें सुस्थिर होना परमसमाधि है। इसकी प्राप्ति भी आत्मध्यानसे ही होती है। कहा है—

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥ १२२ ॥

जो मुनि समताभावसे रहित है उसके लिए वनवास, आतापनयोग आदि कायक्लेश, नाना प्रकारके उपवास, और अध्ययन तथा मौन आदि क्या लाभ पहुँचा सकते हैं? अर्थात् कुछ भी नहीं। कुन्दकुन्दके वचन देखिये—

किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्त उववासो।
अज्झयणमौणपहुदी समदारहियस्स समणस्स ॥ १२४ ॥

सामायिक और परमसमाधिको पर्यायवाचक मानते हुए कुन्दकुन्द स्वामीने १२५—१३३ तक नौ गाथाओंमें स्पष्ट किया है कि स्थायी सामायिक किसके हो सकती है? परम समाधिका अधिकारी कौन है? उन गाथाओंका भाव यह है कि जो समस्त सावद्य—पापसहित कर्मोंसे विरक्त है, तीन गुप्तियोंका धारक है तथा इन्द्रियोंका दमन करने वाला है, जो समस्त त्रस स्थावर जीवोंमें समताभाव रखता है, जिसकी आत्मा सदा संयम, नियम और तपमें लीन रहती है, राग और द्वेष जिसके विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, जो आर्त्तरौद्र नामक दुर्ध्यानोंसे सदा दूर रहता है, जो पुण्य और पाप भावका निरन्तर त्याग करता है और जो धर्म्य तथा शुक्लध्यानको सतत धारण करता है उसीके स्थायी सामायिक—परमसमाधि हो सकती है अन्यके नहीं।

(१०) परमभक्ति अधिकार

'भजनं भक्तिः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार उपासनाको भक्ति कहते हैं। 'पूज्यानां गुणेष्वनुरागो भक्तिः' पूज्य पुरुषोंके गुणोंमें अनुराग होना भक्ति है यह भक्तिका वाच्यार्थ है। सर्वश्रेष्ठ भक्ति निर्वृतिभक्ति है अर्थात् मुक्तिकी उपासना है। निर्वृतिभक्ति, योगभक्ति—शुद्धस्वरूपके ध्यानसे सम्पन्न होती है। निर्वृति भक्ति किसके होती है ? इसका समाधान कुन्दकुन्द स्वामीके शब्दोंमें देखिये—

सम्मत्तणाणचरणे जो भत्ति कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदित्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥ १३४ ॥

जो श्रावक अथवा श्रमण, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी भक्ति करता है उसीके निर्वृति भक्ति होती है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है।

योगभक्ति किसके होती है ? इसका समाधान देखिये—

रागादीपरिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोग भत्तिजुत्तो इदरस्स य कह हवे जोगो ॥१३७॥

जो साधु अपने आपको रागादिके परिहारमें लगाता है अर्थात् रागादि विकारी भावोंपर विजय प्राप्त करता है वही योगभक्तिसे युक्त होता है। अन्य साधुके योग कैसे हो सकता है ?

(११) निश्चयपरमावश्यकाधिकार

जो अन्यके वश नहीं है वह अवश है तथा अवशका जो कार्य है वह आवश्यक है। अवश—सदा स्वाधीन रहनेवाला श्रमण ही मोक्षका पात्र होता है। जो साधु शुभ या अशुभभावमें लीन है वह अवश नहीं है किन्तु अन्यवश है, उसका कार्य आवश्यक कैसे हो सकता है ? जो परभावको छोड़कर निर्मल स्वभाववाले आत्माका ध्यान करता है वह आत्मवश—स्ववश—स्वाधीन है उसका कार्य आवश्यक कहलाता है। आवश्यक प्राप्त करनेके लिये कुन्दकुन्द स्वामी कितनी महत्त्वपूर्ण देशना देते हैं, देखिये—

आवासं जइ इच्छसि अप्प सहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स ॥ १४७ ॥

हे श्रमण ! यदि तू आवश्यककी इच्छा करता है तो आत्मस्वभावमें स्थिरता कर, क्योंकि जीवका श्रामण्य-श्रमणपन उसीसे संपूर्ण होता है।

और भी कहा है कि जो श्रमण आवश्यकसे रहित है वह चारित्रसे भ्रष्ट माना जाता है इसलिये पूर्वोक्त विधिसे आवश्यक करना चाहिये। आवश्यकसे सहित श्रमण अन्तरात्मा होता है और आवश्यकसे रहित श्रमण बहिरात्मा होता है।

समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक कहलाते हैं, इनका यथार्थ रीतिसे पालन करनेवाला श्रमण ही यथार्थ श्रमण है।

(१२) शुद्धोपयोगाधिकार

इस अधिकारके प्रारम्भमें ही कुन्दकुन्दस्वामीने निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण गाथा लिखी है—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥ १५९ ॥

केवलज्ञानी व्यवहारनयसे सबको जानते देखते हैं परन्तु निश्चयनयसे आत्माको ही जानते देखते हैं।

इस कथनका फलितार्थ यह नहीं लगाना चाहिये कि केवली, निश्चयनयसे सर्वज्ञ नहीं हैं मात्र आत्मज्ञ हैं, क्योंकि आत्मज्ञतामें ही सर्वज्ञता गर्भित है। वास्तवमें आत्मा किसी भी पदार्थको तब ही जानता है जबकि उसका विकल्प आत्मामें प्रतिफलित होता है। जिस प्रकार दर्पणमें प्रतिबिम्बित घटपटादि पदार्थ दर्पणरूप ही होते हैं उसी प्रकार आत्मामें प्रतिफलित पदार्थोंके विकल्प आत्मरूप ही होते हैं। परमार्थसे आत्मा उन विकल्पोंसे परिपूर्ण आत्माको ही जानता है अतः आत्मज्ञ कहलाता है। उन विकल्पोंके प्रतिफलित होनेमें लोकालोकके समस्त पदार्थ कारण होते हैं अतः व्यवहारसे उन सबका भी ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ, द्रष्टा अर्थात् सर्वदर्शी कहलाता है।

जब जीवका उपयोग—ज्ञानदर्शन स्वभाव, शुभअशुभ रागादिक विकारीभावोंसे रहित हो जाता है तब वह शुद्धोपयोग कहा जाता है। परिपूर्ण शुद्धोपयोग यथाख्यात चारित्रका अविनाभावी है। यथाख्यातचारित्रसे अविनाभावी शुद्धोपयोगके होनेपर वह जीव अन्तर्मुहूर्तके अन्दर नियमसे केवलज्ञानी बन जाता है। इस अधिकारमें कुन्दकुन्द स्वामीने ज्ञान और दर्शनके स्वरूपका सुन्दर विश्लेषण किया है।

इसी शुद्धोपयोगके फलस्वरूप जीव अष्टकर्मोंका क्षयकर अव्याबाध, अनिन्द्रिय, अनुपम, पुण्य पापके विकल्पसे रहित, पुनरागमनसे रहित, नित्य, अचल और परके आलम्बनसे रहित निर्वाणको प्राप्त होता है। कर्मरहित आत्मा लोकाग्र तक ही जाता है क्योंकि धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे उसके आगे गमन नहीं हो सकता।

अष्टपाहुड

प्रसिद्ध है कि कुन्दकुन्द स्वामीने चौरासी पाहुडोंकी रचना की थी पर वे सब उपलब्ध नहीं हैं। संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरिको सर्वप्रथम इसके १. दंसण पाहुड २. चरित्त पाहुड ३. सुत्त पाहुड ४. बोध पाहुड ५. भाव पाहुड और ६. मोक्ख पाहुड ये छह पाहुड उपलब्ध हुए होंगे इसलिये उन्होंने इनपर संस्कृत टीका लिखकर "षट्प्राभृतम्' के नामसे उनका संकलन कर दिया और माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे उसका प्रकाशन हुआ। पीछे चलकर शीलपाहुड और लिंगपाहुड ये दो पाहुड और मिल गये इसलिये पूर्वोक्त छह पाहुडोंमें जोड़कर सबका अष्ट पाहुड नामसे एक संकलन प्रकाशित किया गया। इन पर पं० जयचन्द्रजी छाबड़ाने हिन्दी वचनिका लिखी तथा बम्बई, दिल्ली और मारोठ आदि स्थानोंसे उसका प्रकाशन हुआ। इन सबका संस्कृत और हिन्दी टीका सहित एक विशाल संकलन हमारे द्वारा संपादित होकर महावीरजीसे प्रकाशित हो चुका है। ये अष्टपाहुड स्वतन्त्र स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं परन्तु एक संकलनमें प्रकाशित होनेके कारण वे 'अष्टपाहुड' इस एक ग्रन्थके रूपमें प्रसिद्ध हो गये हैं। यहाँ संक्षेपसे इन प्राभृत ग्रन्थोंका प्रतिपाद्य विषय निरूपित किया है।

(१) दंसण पाहुड

इसमें ३६ गाथाएँ हैं। आत्माके समस्त गुणोंमें सम्यग्दर्शनकी महिमा सबसे महान् है। सम्यग्दर्शन ही धर्मका मूल कारण है ऐसी कुन्दकुन्द स्वामीकी देशना है। दंसण पाहुडके प्रारम्भमें ही वे लिखते हैं—

> दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
> तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥ २ ॥

जिनेन्द्र भगवान्ने शिष्योंके लिये सम्यग्दर्शन मूलक धर्मका उपदेश दिया है सो उसे अपने कानोंसे सुनकर सम्यग्दर्शनसे रहित मनुष्यकी वन्दना नहीं करना चाहिये।

जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वास्तवमें वे ही भ्रष्ट हैं क्योंकि सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट मनुष्यको निर्वाण-की प्राप्ति नहीं हो सकती किन्तु जो चारित्रसे भ्रष्ट हैं वे सम्यग्दर्शनका अस्तित्व रहनेसे पुनः चारित्रको प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। जो मनुष्य सम्यग्दर्शन रूपी रत्नसे भ्रष्ट हैं वे अनेक शास्त्रोंको जानते हुए भी आराधनासे रहित होनेके कारण उसी संसारमें परिभ्रमण करते रहते हैं। सम्यग्दर्शनसे रहित जीव करोड़ों वर्ष तक उग्र तपश्चरण करनेके वाद भी वोधिको प्राप्त नहीं कर सकता जबकि भरत चक्रवर्ती जैसे भव्यजीव दीक्षा लेते ही अन्तर्मुहूर्तके अन्दर केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। जिस प्रकार मूलके नष्ट हो जाने-पर वृक्षके परिवारकी वृद्धि नहीं होती उसी प्रकार सम्यक्त्वके नष्ट हो जानेपर मनुष्यकी श्रीवृद्धि नहीं होती, वह निर्वाणको प्राप्त नहीं कर सकता।

स्वयं सम्यक्त्वसे रहित होकर भी जो दूसरे सम्यक्त्वसहित जीवोंसे अपनी पादवन्दना कराते हैं वे मरकर लूले और गूँगे होते हैं अर्थात् स्थावर होते हैं तथा उन्हें वोधिकी प्राप्ति दुर्लभ रहती है। इसी प्रकार जो जानकर भी लज्जा भय या गौरवके कारण मिथ्यादृष्टि जीवकी पादवन्दना करते हैं वे पापकी ही अनु-मोदना करते हैं, उन्हें भी वोधिकी प्राप्ति नहीं होती।

कुन्दकुन्द स्वामीने वताया है कि सम्यक्त्वसे ज्ञान होता है, ज्ञानसे समस्त पदार्थोकी उपलब्धि होती है और समस्त पदार्थोंकी उपलब्धिको प्राप्त मनुष्य श्रेय तथा अश्रेयको जानता है। इसी दंसण पाहुडमें सम्यग्दृष्टि जीवका लक्षण वतलाते हुए कहा है कि जो छहद्रव्य, नौपदार्थ, पञ्चास्तिकाय तथा सात तत्त्वोंका श्रद्धान करता है उसे ही सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। जीवादि पदार्थोका श्रद्धान करना व्यवहारनयसे सम्यग्दर्शन है और आत्मा का श्रद्धान करना निश्चय सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन समस्त गुणरूपी रत्नोंमें सारभूत है तथा मोक्ष महल की पहली सीढ़ी है।

जो असंयमी है वह वन्दनीय नहीं है भले ही वह वस्त्रसे रहित हो। वस्त्रका त्याग देना ही संयमकी परिभाषा नहीं है किन्तु उसके साथ सम्यग्दर्शनादि गुणोंका प्रकट होना ही संयमकी परिभाषा है। सम्यग्दर्शनादि गुणोंके विना वस्त्ररहित और वस्त्रसहित—दोनों ही एक समान हैं, उनमें एक भी संयमी नहीं है।

(२) चारित्र पाहुड

चारित्र पाहुडमें ४४ गाथाएँ हैं। इनमें चारित्रका निरूपण किया गया है। चारित्र पाहुडका प्रारम्भ करते हुए कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं कि मोक्षाराधनाका साक्षात् कारण सम्यक् चारित्र ही है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र आत्माके अविनाशी—अनन्त भाव है। इन्हींमें शुद्धता लानेके लिए जिनेन्द्र भगवान्ने दो प्रकारके चारित्रका कथन किया है। चारित्रके दो भेद ये हैं—एक सम्यक्त्वाचरण और दूसरा संयमाचरण। निःशङ्कित, निर्विचिकित्सित, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्य-क्त्वके आठ अंग हैं। इन आठ अंगोंमें विशुद्धताको प्राप्त हुआ सम्यक्त्व जिन सम्यक्त्व कहलाता है। ज्ञान-सहित जिन सम्यक्त्वका आचरण सम्यक्त्वाचरण नामका चारित्र है। इसे दर्शनाचार भी कहते है। संयमा-चरणके सागार और अनगारके भेदसे दो भेद हैं। गृहस्थोंका आचरण सागाराचरण और मुनियोंका आचरण अनगाराचरण कहलाता है। सागाराचरणके दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभक्तत्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग, ये ग्यारह भेद हैं, इन्हींको ग्यारह प्रतिमा कहते हैं। समन्तभद्राचार्यने रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें जो ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन किया है उसका मूलाधार यही मालूम होता है। सागार संयमाचरण, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रतके भेदसे बारह भेदोंमें विभाजित हैं। उपर्युक्त ग्यारह प्रतिमाओंमें इसी बारह प्रकारके सागाराचरणका पालन होता है।

स्थूलहिंसा, स्थूलमृषा, स्थूलचौर्य तथा परदार सेवनसे निवृत्त होना और परिग्रह तथा आरम्भका परिमाण करना—सीमा निश्चित करना—ये क्रमसे अहिंसादि पाँच अणुव्रत हैं। दशों दिशाओंमें यातायातका परिमाण करना, अनर्थदण्डका त्याग करना और भोगोपभोगकी वस्तुओंका परिमाण करना—ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा और सल्लेखना ये चार दीक्षाव्रत हैं। तत्त्वार्थ सूत्रकारने दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीनको गुणव्रत तथा सामायिक प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग परिमाण और अतिथि संविभाग इन चारको शिक्षाव्रत कहा है। समन्तभद्रस्वामीने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाण इन्हें तीनगुणव्रत, तथा सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य इन्हें चार शिक्षाव्रत कहा है। इन दोनों आचार्योंने सल्लेखनाका वर्णन अलगसे किया है।

पञ्च इन्द्रियोंको वश करना, पञ्च महाव्रत धारण करना, पञ्च समितियोंका पालन करना और तीन गुप्तियोंको धारण करना यह अनगाराचरण अर्थात् मुनियोंका चारित्र है। मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयोंमें राग-द्वेष न कर मध्यस्थभाव धारण करना स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियोंका वश करना है। हिंसादि पाँच पापोंका सर्वथा त्याग करना अहिंसादि पाँच महाव्रत है। ये महान् प्रयोजनको साधते हैं, महापुरुष इन्हें धारण करते हैं अथवा स्वयं ये महान् हैं इसलिये इन्हें महाव्रत कहते हैं। इन अहिंसादि व्रतोंकी रक्षाके लिये पच्चीस भावनाएँ होती हैं। ये वही पच्चीस भावनाएँ है जिनके आधारपर तत्त्वार्थसूत्रकारने सप्तमाध्यायमें अहिंसादि व्रतोंकी पाँच-पाँच भावनाओंका वर्णन किया है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान और निक्षेप ये पाँच समितियाँ हैं। ग्रन्थान्तरोंमें आदान निक्षेपको एक समिति मानकर प्रतिष्ठापन अथवा व्युत्सर्ग नामकी अलग समिति स्वीकृत की गई है।

इस तरह संयमाचरणका वर्णन करनेके बाद कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि जो जीव परम श्रद्धासे दर्शन, ज्ञान और चारित्रको जानता है वह शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त होता है।

सुत्तपाहुड[1]

सुत्त पाहुड—सूत्र प्राभृतमें २७ गाथाएँ हैं। प्रारम्भमें सूत्रकी परिभाषा दिखलाते हुए कहा गया है कि अरहंत भगवान्ने जिसका अर्थ रूपसे निरूपण किया है, गणधर देवोंने जिसका गुम्फन किया है, तथा शास्त्रका अर्थ खोजना ही जिसका प्रयोजन है उसे सूत्र कहते हैं। ऐसे सूत्रके द्वारा साधु पुरुष परमार्थको साधते हैं। सूत्रकी महिमा बतलाते हुए कहा है कि सूत्रको जानने वाला पुरुष शीघ्र ही भव—संसारका नाश करता है। जिस प्रकार सूत्र अर्थात् सूतसे रहित सुई नाशको प्राप्त होती है उसी प्रकार सूत्र आगम ज्ञानसे रहित मनुष्य नाशको प्राप्त होता है। जो जिनेन्द्र प्रतिपादित सूत्रके अर्थको, जीवाजीवादि नाना प्रकारके पदार्थोंको और हेय तथा उपादेयको जानता है वही सम्यग्दृष्टि है निश्चय नयसे आत्माका शुद्ध स्वभाव उपादेय—ग्रहण करनेके योग्य है और अशुद्ध—रागादिक विभाव भाव हेय—छोड़नेके योग्य है। व्यवहार नयसे मोक्ष तथा उसके साधक संवर और निर्जरा तत्त्व उपादेय हैं तथा अजीव, आस्रव और बन्धतत्त्व हेय हैं। जिनेन्द्र भगवान्ने जिस सूत्रका कथन किया है वह व्यवहार तथा निश्चयरूप है। उसे जानकर ही योगी वास्तविक सुखको प्राप्त होता है तथा पापपुञ्जको नष्ट करता है। सम्यक्त्वके बिना हरिहर तुल्य भी मनुष्य स्वर्ग जाता है और वहाँसे आकर करोड़ों भव धारण करता है परन्तु मोक्षको प्राप्त नहीं होता।

इसी सुत्त पाहुडमें कहा है कि जो मुनि, सिंहके समान निर्भय रहकर उत्कृष्ट चारित्र धारण करते हैं, अनेक प्रकारके व्रत उपवास आदि करते हैं, तथा आचार्य आदिके गुरुतर भार धारण करते हैं परन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं अर्थात् आगम की आज्ञा का उल्लङ्घन कर मनचाही प्रवृत्ति करते हैं वे पापको प्राप्त होते हैं

१. कुछ ग्रन्थोंमें चारित्र पाहुड और सुत्त पाहुडमें क्रमभेद है।

तथा मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। कुन्दकुन्द स्वामीने इस सूत्रपाहुडमें घोषणा की है कि जिनेन्द्र भगवान्‌ने निर्ग्रन्थ मुद्राको ही मोक्षमार्ग कहा है, अन्य सब प्रकारके सवस्त्र—सपरिग्रह वेष मोक्षके अमार्ग हैं। निर्ग्रन्थ साधुओंके बालके अग्रभागकी अनीके बराबर भी परिग्रह नहीं है, इसलिये वे एक ही स्थानपर पाणिपात्रमें श्रावकके द्वारा दिये हुए अन्नको ग्रहण करते हैं। मुनि, नग्नमुद्राको धारण कर तिलतुषके बराबर भी परिग्रहको ग्रहण नहीं करते। यदि कदाचित् ग्रहण करते हैं तो उसके फलस्वरूप निगोदको प्राप्त होते हैं। जिनशासनमें तीन लिङ्ग ही कहे गये हैं—एक निर्ग्रन्थ साधुका, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकोंका और तीसरा आर्यिकाओंका। इनके सिवाय अन्यलिङ्ग मोक्षमार्गमें ग्राह्य नहीं हैं। वस्त्रधारी मनुष्य, भले ही तीर्थंकर हो, सिद्ध अवस्थाको प्राप्त नहीं हो सकता। तीर्थंकर भी तब ही मोक्षको प्राप्त होते हैं जब वस्त्ररहित होकर निर्ग्रन्थमुद्रा धारण करते हैं। स्त्रीके निर्ग्रन्थ दीक्षा संभव नहीं है इसलिये वह उस भवसे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती।

(४) बोधपाहुड

इसमें ६२ गाथाएँ हैं। जिनमें आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, अर्हन्त तथा प्रव्रज्याका स्वरूप समझाया है। प्रव्रज्याका वर्णन करते हुए मुनिचर्याका बहुत ही मार्मिक वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि जो ग्रह तथा परिग्रहके मोहसे रहित है, बाईस परीषहोंको जीतनेवाली है, कषायरहित है तथा पापारम्भसे वियुक्त है ऐसी प्रव्रज्या—दीक्षा हो सकती है। जो शत्रु और मित्रमें समभाव रखती है, प्रशंसा-निन्दा, लाभ-अलाभमें समभावसे सहित है तथा तृण और सुवर्णके बीच जिसमें समानभाव होता है वही प्रव्रज्या कहलाती है। जो उत्तम-अनुत्तम घरों तथा दरिद्र और संपन्न व्यक्तियों में निरपेक्ष है; जिसमें निर्धन और सधन—सभीके घर आहार लिया जाता है वह प्रव्रज्या है। जिसमें तिलतुषमात्र भी परिग्रह नहीं रहता, सर्वदर्शी भगवान्‌ने उसीको प्रव्रज्या कहा है। इस बोधपाहुडके अन्तमें कुन्दकुन्द स्वामीने अपने आपको भद्रबाहुका शिष्य बतलाते हुए उनका जयकार किया है। इस संदर्भकी पिछले साम्यमें समन्वयात्मक चर्चा विस्तारसे की गई है।

(५) भावपाहुड

इसमें १६३ गाथाएँ हैं। कुन्दकुन्द महाराजने मङ्गलाचरणके बाद कहा है कि भाव ही प्रथम लिङ्ग है, द्रव्यलिङ्ग परमार्थ नहीं है अर्थात् भावलिङ्गके बिना द्रव्यलिंग परमार्थकी सिद्धि करनेवाला नहीं है। गुण और दोषोंका कारण भाव ही है। भाव विशुद्धिके लिये बाह्य परिग्रहका त्याग किया जाता है। जो आभ्यन्तर परिग्रहसे सहित हैं उसका बाह्य त्याग निष्फल है। भावरहित साधु यद्यपि कोटिकोटि जन्म तक हाथोंको नीचे लटका कर तथा वस्त्रका परित्यागकर तपश्चरण करता है तो भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता। भावके बिना इस जीवने नरकादि गतियों में दुःख भोगे हैं। भावके बिना इस जीवने अनन्त जन्म धारण कर माताओंका इतना दूध पिया है कि उसका परिमाण समस्त समुद्रोंके सलिलसे भी अधिक है। भावोंके बिना इस जीवने मरण कर अपनी माताओंको इतना रुलाया है कि उनके नेत्रोंका जल समस्त समुद्रोंके जलसे कहीं अधिक हो जाता है। भावोंके बिना इस जीवने अन्तर्मुहूर्तमें छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्ममरण प्राप्त किया है। बाहुबली तथा मधुपिङ्गके दृष्टान्त देकर मुनिको भावशुद्धिके लिये प्रेरित किया गया है। भव्यसेन मुनि अङ्ग और पूर्वके पाठी होकर भी भावश्रमण अवस्थाको प्राप्त नहीं हो सके और शिवभूति मुनि मात्र तुषमाषका बारबार उच्चारण करते हुए केवलज्ञानी बन गये। निष्कर्षके रूपमें कुन्दकुन्द स्वामीने बतलाया है कि भावसे नग्न हुआ जाता है। बाह्यलिंग रूप मात्र नग्नवेषसे क्या साध्य है? भावसहित द्रव्यलिंगके द्वारा ही कर्म-प्रकृतियोंके समूहका नाश होता है।

भावलिंगी साधु कौन होता है ? इसके उत्तरमें कहा है—जो शरीर आदि परिग्रहसे रहित है, मान-कपायसे पूर्णतया निर्मुक्त है, तथा जिसकी आत्मा आत्मस्वरूपमें लीन है वही साधु भावलिंगी होता है। भावलिंगी साधु विचार करता है कि 'ज्ञानदर्शन लक्षणवाला एक नित्य आत्मा ही मेरा है, कर्मोंके संयोगसे होनेवाले भाव मुझसे वाह्यभाव हैं, वे मेरे नहीं हैं।' जिनधर्मकी उत्कृष्टताका वर्णन करते हुए कहा है कि जिस प्रकार रत्नोंमें हीरा और वृक्षोंके समूहमें चन्दन उत्कृष्ट है उसी प्रकार धर्मोंमें, संसारको नष्ट करनेवाला जिनधर्म उत्कृष्ट है। पुण्य और धर्मकी पृथक्ता सिद्ध करते हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि [1]पूजा आदि शुभकार्योंमें व्रतसहित प्रवृत्ति करना पुण्य है, ऐसा जिनमतमें जिनेन्द्रदेवने कहा है और मोह तथा क्षोभसे रहित आत्माका जो परिणाम है वह धर्म है। धर्मका यही लक्षण इन्होंने 'चारित्रं खलु धम्मो' इस गाथा द्वारा प्रवचन सार में कहा है। लोकमें जो पुण्यको धर्म कहा जाता है वह कारणमें कार्यका उपचार कर कहा जाता है।

(६) मोक्खपाहुड

इसमें १०६ गाथाएँ हैं। मंगलाचरण और प्रतिज्ञा वाक्यके अनंतर उस अर्थ—आत्मद्रव्यकी महिमा गाई गई है जिसे जानकर योगी अव्यावाध अनन्त सुखको प्राप्त होता है। वह आत्मद्रव्य, वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्माके भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है। उनमें वहिरात्माको छोड़ने और अन्तरात्माके उपायसे परमात्माके ध्यान करनेकी वात कही गई है। इन्द्रियाँ वहिरात्मा हैं अर्थात् इन्द्रियोंके समूह स्वरूप शरीरमें आत्म वुद्धि करना वहिरात्मा है, आत्म संकल्प अन्तरात्मा है और कर्मकलंकसे विमुक्त देव परमात्मा है। वहिरात्मा—मूढ़ दृष्टि जिनस्वरूपसे च्युत होकर स्वकीय शरीरको ही आत्मा समझता है। यही अज्ञान उसके मोहको वढ़ाता है। इसके विपरीत जो योगी शरीरसे निरपेक्ष, निर्द्वन्द, निर्मल और निरहंकार रहता है वही निर्वाणको प्राप्त होता है। परद्रव्यमें रत रहनेवाला जीव नाना प्रकारके कर्मोंसे वँधता है और परद्रव्यसे विरत रहने वाला नाना कर्मोंसे छूटता है, यह वन्ध और मोक्ष विषयक संक्षेपमय जिनोपदेश है। तपसे स्वर्ग सभी प्राप्त करते हैं पर जो ध्यानसे स्वर्ग प्राप्त करता है उसका स्वर्ग प्राप्त करना कहलाता है। ऐसा जीव परभव में शाश्वत सुख—मोक्षको प्राप्त होता है।

व्रत और तपके द्वारा स्वर्ग प्राप्त कर लेना अच्छा है किन्तु नरकके दुःख भोगना अच्छा नहीं है, क्योंकि छाया और धूपमें वैठकर इष्ट स्थानकी प्रतीक्षा करने वालोंमें महान् अन्तर है[2]। जो व्यवहारमें सोता है वह आत्मकार्यमें जागता है और जो आत्मकार्यमें जागता है वह व्यवहारमें सोता है। जिस प्रकार स्फटिक मणि स्वभावसे शुद्ध है परन्तु परद्रव्यके संयोगसे विभिन्न वर्णका हो जाता है उसी प्रकार जीव स्वभावसे शुद्ध है परन्तु परद्रव्यके संयोगसे रागादियुक्त हो जाता है। अज्ञानी जीव उग्र तपके द्वारा अनेक भवोंमें जिन-कर्मोंको खिपाता है, तीन गुप्तियोंका धारी ज्ञानी जीव उन्हें अन्तर्मुहूर्तमें खिपा देता है। जिसका ज्ञान, चारित्र से रहित है और जिसका तप, सम्यग्दर्शनसे रहित है उसको लिङ्ग ग्रहण—मुनिवेप धारण करनेसे क्या होने वाला है ? आत्मज्ञानके विना वहुत शास्त्रोंका पढ़ना वालश्रुत है और आत्मस्वभावके विपरीत चारित्र पालन करना वालचारित्र है।

---

१. पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥ ८१ ॥

२. वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ निरय इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिपालंताण गुरुभेयं ॥ २५ ॥ —मोक्ष पाहुड
वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम्।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥ —इष्टोपदेश

इत्यादि विविध उपदेशोंके साथ मोक्षका स्वरूप तथा उसकी प्राप्तिके साधन बतलाये गये हैं। इन छह पाहुडोंपर श्री श्रुतसागर सूरिकृत संस्कृत टीका है।

(७) लिङ्ग पाहुड

इसमें बाईस गाथाएँ है। मंगलाचरण और प्रतिज्ञा वाक्यकी प्रथम गाथासे इसका पूरा नाम श्रमण लिङ्ग पाहुड है, ऐसा प्रकट होता है। श्रमणका अर्थ मुनि है, इसमें मुनियोंके लिङ्ग अर्थात् वेषकी चर्चा की गई है। बताया गया है कि रत्नत्रय धर्मसे ही लिङ्ग होता है। अर्थात् लिङ्गकी सार्थकता रत्नत्रय रूप धर्मसे है। मात्र लिङ्ग धारण करनेसे धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। जो पापी जीव जिनेन्द्रदेवके लिङ्गको धारण कर लिङ्गीके यथार्थ भावकी हँसी कराता है वह यथार्थ वेषको नष्ट करता है। जो निर्ग्रन्थ लिङ्ग धारण कर नाचता है, गाता है और बजाता है वह पापी पशु है, श्रमण नहीं है। जो लिङ्ग धारण कर दर्शन ज्ञान और चारित्रको उपधान तथा ध्यानका आश्रय नहीं बनाता है किन्तु इससे विपरीत आर्तध्यान करता है वह अनन्त संसारी बनता है। जो मुनि होकर कांदर्पी आदि कुत्सित भावनाओंको करता है और भोजनमें रस विषयक गृध्रता करता है वह मायावी पशु है, मुनि नहीं है। जो मुनिलिङ्ग धारण कर अदत्त वस्तुका ग्रहण करता है अर्थात् दातारकी इच्छाके बिना अड़ कर किसी वस्तुको लेता है तथा परोक्षदूषण लगाकर दूसरेकी निन्दा करता है वह चोरके समान है। जो स्त्रीसमूहके प्रति राग करता है तथा दूसरोंको दोष लगाता है वह पशु हैं, मुनि नहीं है। जो पुंश्चली स्त्रियोंके घर भोजन करता है तथा उनकी प्रशंसा करता है वह बालस्वभावको प्राप्त होता है और भावसे विनष्ट है अर्थात् द्रव्यलिङ्गी है। अन्तमें कहा गया है कि जो मुनि सर्वज्ञ देवके द्वारा उपदिष्ट धर्मका पालन करता है वही उत्तम स्थानको प्राप्त होता है।

(८) सील पाहुड

इसमें ४० गाथाएँ हैं। प्रथम ही भगवान् महावीरको नमस्कार कर शीलगुणोंके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की गई है। बताया गया है कि शील और ज्ञानमें विरोध नहीं है किन्तु सहभाव है। शीलके बिना विषय, ज्ञानको नष्ट कर देते हैं। ज्ञान बड़ी कठिनाईसे जाना जाता है तथा जानकर उसकी भावना और भी अधिक कठिनाईसे होती है। जब तक यह जीव विषयोंमें लीन रहता है तब तक ज्ञानको नहीं जानता और ज्ञानको जाने बिना विषयोंसे विरक्त जीव; पुरातन कर्मोंको नष्ट नहीं कर सकता। चारित्ररहित ज्ञान, दर्शन रहित लिङ्ग ग्रहण और संयमरहित तप ये सभी निरर्थक हैं। जिस प्रकार सुहागा और नमकके लेपसे फूँका हुआ स्वर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानरूपी जलके द्वारा जीव शुद्ध हो जाता है। यदि कोई ज्ञानसे गर्वित होकर विषयोंमें राग करता है तो यह ज्ञानका अपराध नहीं है किन्तु उस मन्दबुद्धि पुरुषका अपराध है। जो शीलकी रक्षा करते हैं, दर्शनसे शुद्ध हैं, दृढ़चारित्रको धारण करते हैं और विषयोंसे विरक्त रहते हैं उन्हें नियमसे निर्वाणकी प्राप्ति होती है। शीलरहित मनुष्यका जन्म निरर्थक है।

बारसणुवेक्खा

इसका संस्कृत नाम द्वादशानुप्रेक्षा है। ९१ गाथाओंके इस ग्रंथमें वैराग्योत्पादक द्वादश अनुप्रेक्षाओंका बहुत ही सुन्दर वर्णन हुआ है। 'अनु + प्र + ईक्षणं अनुप्रेक्षा' इस व्युत्पत्तिके अनुसार पदार्थके स्वरूपको प्रकर्षताके साथ बार-बार देखना—विचार करना अनुप्रेक्षा कहलाती है। ये अनुप्रेक्षाएँ लोकमें बारह भावनाओंके नामसे प्रचलित हैं। कुन्दकुन्द स्वामीने बारह अनुप्रेक्षाओंका क्रम इस प्रकार रक्खा है—

अद्ध्रुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोहिं च चिंतेज्जो॥ २॥

१ अध्रुव २ अशरण ३ एकत्व ४ अन्यत्व ५ संसार ६ लोक ७ अशुचित्व ८ आस्रव ९ संवर १० निर्जरा ११ धर्म और १२ वोधि—इन भावनाओंका निरन्तर चिन्तन करना चाहिए।

तत्त्वार्थ सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने इन अनुप्रेक्षाओंके क्रममें कुछ परिवर्तन किया है। जैसे—

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः'।

१ अनित्य २ अशरण ३ संसार ४ एकत्व ५ अन्यत्व ६ अशुचि ७ आस्रव ८ संवर ९ निर्जरा १० लोक ११ बोधि दुर्लभ और १२ धर्म—इनके स्वरूपका चिन्तन करना बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं।

आज आम जनतामें तत्त्वार्थसूत्रकारके द्वारा निर्धारित क्रम ही प्रचलित है। सम्भव है छन्दकी परतन्त्रताके कारण कुन्दकुन्दस्वामीको अनुप्रेक्षाओंके क्रममें परिवर्तन करनेके लिये विवश होना पड़ा हो। पर उमास्वामीके सामने गद्यरूप रचना होनेसे छन्दकी कोई विवशता नहीं थी।

इस ग्रन्थमें अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओंके चिन्तन द्वारा श्रमणके वैराग्यभावको सुदृढ़ किया है। इसकी कुछ गाथाएँ स्वयं कुन्दकुन्द स्वामीके अन्य ग्रन्थोंमें पाई जाती हैं और कितनी ही गाथाएँ उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंके द्वारा या तो 'उक्तञ्च' कहकर उद्धृत की गई हैं या अपने ग्रन्थका अंग ही बना ली गई हैं। जैसे—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति॥ १९॥

यह गाथा दंसणपाहुडकी तीसरी गाथा है।

सव्वे वि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण।
असयं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे॥ २५॥
सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तं णत्थि जं ण उप्पण्णं।
उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे॥ २६॥
अवसप्पिणिउवसप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालसंसारे॥ २७॥
णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लया दु गेवेज्जा।
मिच्छत्त संसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो॥ २८॥
सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागप्पदेसबंधठाणाणि।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भाव संसारे॥ २९॥

ये गाथाएँ पूज्यपाद स्वामीने सर्वार्थसिद्धि द्वितीयाध्यायके 'संसारिणो मुक्ताश्च' इस सूत्रमें उद्धृत की हैं और उन्हींका अनुसरण जीवकाण्डकी संस्कृत टीकाकी भव्यमार्गणामें किया गया है।

णिच्चिदरधादु सत्त य तरुदसवियलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दसमणुए सदसहस्सा॥ ३५॥

यह गाथा भी सर्वार्थसिद्धिमें पूज्यपाद स्वामीने 'सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः इस सूत्रकी व्याख्यामें उद्धृत की है। यही गाथा जीवकाण्डकी ८९ वीं गाथा बन गई है।

इगतीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक्क छक्कचदुकप्पे।
तित्तियएक्केक्कें दियणामा उडुआदि तेसट्ठी॥ ४१॥

यह गाथा त्रिलोकसारकी ४६३वीं गाथा बन गई है तथा बृहद् द्रव्य संग्रहकी लोकभावनामें 'उक्तञ्च' कहकर उद्धृत की गई है।

तत्त्वार्थसूत्रकारने व्रत—अणुव्रत और महाव्रतोंका शुभास्रवमें वर्णन किया है परन्तु कुन्दकुन्द स्वामीने

पंचमहव्वयमणसा अविरमणणिरोहणं हवे णियमा।
कोहादि आसवाणं दाराणि कसायरहियपल्लगेहिं ॥ ६२ ॥

इस गाथा द्वारा कहा है कि अहिंसादि पाँच महाव्रतोंके परिणामसे हिंसादि पाँच प्रकारके अविरमणका निरोध नियमसे हो जाता है अर्थात् इसे संवरका कारण बतलाया है। इसी प्रकार जीवकाण्ड और बृहद् द्रव्य संग्रहमें भी व्रतको संवरमें परिगणित किया गया है। व्रतमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों रहती हैं। तत्त्वार्थसूत्रकारने प्रवृत्ति अंशको प्रधानता देकर उसका आस्रवमें वर्णन किया है और कुन्दकुन्द तथा नेमिचन्द्राचार्यने निवृत्ति अंशको प्रधानता देकर संवरमें सम्मिलित किया है।

शुभोपयोगकी प्रवृत्ति सर्वथा निःसार नहीं है, उससे अशुभोपयोगका निराकरण होता है और शुद्धोपयोगके द्वारा शुभोपयोगका विरोध होता है—यह भाव कुन्दकुन्द स्वामीने निम्न गाथामें प्रकट किया है—

सुहजोगस्स पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि ॥ ६३ ॥

निर्जरानुप्रेक्षाकी निम्नलिखित गाथा स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी १०४ वीं गाथा बन गई है—

सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा।
चदुगदियाणं पठमा वयजुत्ताणं हवे विदिया ॥ ६७ ॥

धर्मभावनाकी निम्नाङ्कित गाथा भी उत्तरवर्ती आचार्योंके द्वारा अपने ग्रन्थोंका अंग बनाई गई है—

दंसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्ते य।
बम्हारंभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठदेसविरदेदे ॥ ६९ ॥

यह गाथा वसुनन्दिश्रावकाचारमें चतुर्थ नम्बरकी गाथा बन गई है।

उत्तमक्षमादि दशधर्मोंके वर्णनमें कुन्दकुन्द स्वामीने सत्यधर्मका वर्णन पहले किया है और शौचधर्मका उसके बाद। परवर्ती ग्रन्थकारोंमें किसीने शौचका वर्णन पहिले किया है और किसीने सत्यका। जैसे—

परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं ॥ ७४ ॥
कंखाभावणिवित्ति किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सौच्चं ॥ ७५ ॥

इस 'बारसणुवेक्खा' के अन्तमें कुन्दकुन्द स्वामीने अपना नाम भी दिया है। जैसे

इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुंदकुंदमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं ॥ ९१ ॥

यह रचना अल्पकाय होनेपर भी आत्मकल्याणकी भावनासे परिपूर्ण होनेके कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

भत्तिसंगहो

सिद्धभक्तिकी संस्कृत टीकामें टीकाकार श्रीप्रभाचन्द्रने लिखा है कि 'संस्कृताः सर्वा भक्तयः पूज्यपाद-स्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः ।'

संस्कृत भाषाकी समस्त भक्तियाँ पूज्यपाद स्वामीकृत हैं और प्राकृतकी समस्त भक्तियाँ कुन्दकुन्दाचार्य कृत हैं। प्रभाचन्द्रजीके इस उल्लेखके आधारपर ही यहाँ प्राकृत भाषाकी निम्नलिखित भक्तियोंका संग्रह किया गया है—

१. सिद्धभक्ति २. श्रुतभक्ति ३. चारित्रभक्ति ४. योगिभक्ति ५. आचार्यभक्ति ६. निर्वाणभक्ति ७. पंचपरमेष्ठिभक्ति और ८. तीर्थंकरभक्ति।

ये भक्तियाँ प्राकृत पद्यात्मक हैं। इन सबके अन्तमें अंचलिका रूपसे 'इच्छामि भंते' आदि संक्षिप्त गद्य भी दिया गया है। नन्दीश्वरभक्ति और शान्तिभक्ति केवल गद्यमें हैं इन्हें सम्मिलित कर लेनेसे दश भक्तियाँ हो जाती हैं। समाजमें 'दशभक्ति संग्रह' नामसे इनके अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। ये भक्तियाँ मुनियोंके नित्यपाठमें सम्मिलित हैं। भक्तियोंका विषय उनके नामसे ही स्पष्ट है।

अभारप्रदर्शन

इस तरह हम देखते हैं कि कुन्दकुन्द स्वामीने अपने समस्त ग्रन्थोंमें जो तत्त्वका निरूपण किया है वह मुमुक्षु मानवके लिए अत्यन्त ग्राह्य है। कुन्दकुन्द स्वामीकी वाणी सितोपल–मिश्रीके समान सब ओरसे—शब्द, अर्थ और भावकी दृष्टिसे सुमधुर है। इनके ग्रन्थोंका स्वाध्याय विद्वत्समाजमें बड़ी श्रद्धासे होता है। कितने ही विद्वानोंमें इन ग्रंथोंके पुण्यपाठकी परम्परा प्रचलित है। पुण्यपाठके समय अर्थपर भी दृष्टि जा सके इस अभिप्रायसे प्रत्येक गाथाओंके नीचे उनका सरल भाषामें संक्षिप्त हिन्दी अर्थ दिया गया है। जहाँ आवश्यक प्रतीत हुआ वहाँ भावार्थ भी दिया गया है। प्रस्तावनामें कुन्दकुन्द स्वामीके जीवन पथका यथा-शक्य परिचय दिया गया है। साथ ही प्रत्येक ग्रन्थका संक्षिप्त सार भी दिया है। इसे मनोयोगसे पढ़नेपर ग्रन्थका पूर्ण भाव हृदय पर अङ्कित हो जाता है। प्रत्येक ग्रन्थका सार देनेसे यद्यपि प्रस्तावनाका कलेवर बढ़ गया है तो भी ऐतिहासिक गुत्थियोंके विस्तारकी अपेक्षा इसे देना मैंने सार्थक समझा, क्योंकि जनसाधारण इससे लाभ उठा सकता है। परिशिष्टमें प्रत्येक ग्रन्थोंकी पृथक्-पृथक् अनुक्रमणिकाएँ तथा प्रारम्भमें प्रत्येक ग्रन्थकी पृथक्-पृथक् विषय सूचियाँ भी दी गयी हैं इससे प्रत्येक अध्येताको इष्ट विषयके अन्वेषण में साहाय्य प्राप्त होगा।

प्रस्तावना लेखमें श्रीमान् स्व० आचार्य जुगल किशोरजी मुख्त्यारके पुरातन वाक्य सूची, श्री मान् पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीके कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह और श्रीमान् डा० ए० एन० उपाध्यायके प्रवचनसारकी प्रस्तावनासे ययेष्ट सामग्री ली गई है इसलिए इन सबका मैं अत्यन्त आभारी हूँ। इसका प्रकाशन श्री १०८ चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर दि० जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्थाकी ओरसे हो रहा है इसलिये उसके मंत्री श्री बालचन्द्र देवचन्द्रजी शहा तथा अन्य अधिकारियोंका आभार मानता हूँ। श्रीमान् पं० जिनदासजी शास्त्री सोलापुरने पाण्डुलिपिका सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन कर उक्त संस्थाको प्रकाशित करने की आज्ञा दी इसलिए उनका आभारी हूँ। श्री ब्रह्मचारिणी 'पद्मश्री' सुमति बाई शहा सोलापुरका भी आभारी हूँ जिनकी प्रेरणासे इस ग्रंथके प्रकाशनकी ओर संस्थाके मंत्री महोदयका ध्यान आकृष्ट हुआ। श्री पं० उदयचन्द्रजी सर्वदर्शनाचार्य एम० ए० प्राध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी और श्री पं० महादेव

जी चतुर्वेदीने प्रूफ देख कर इसके सुन्दर प्रकाशनमें जो सहयोग दिया है उसके लिए इनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ। जिनवाणीके संवर्धन, संरक्षण, संशोधन और प्रकाशनमें जो भाग लेते हैं उन सबके प्रति मेरे हृदय में अगाध श्रद्धाका भाव है।

मैं अल्पज्ञानी तो हूँ ही, साथमें मुझे अन्य अनेक कार्योंमें व्यस्त रहना पड़ता है इससे सम्पादन तथा अनुवादमें त्रुटि रह जाना संभव है इसके लिए मैं ज्ञानीजनोंसे क्षमाप्रार्थी हूँ। मेरे द्वारा जिनवाणीके अर्थमें विपर्यास न हो इसका हृदयमें सदा भय रहता है।

सागर
दीपावली
२४९७ वीर निर्वाण संवत्

विनीत
पन्नालाल जैन
साहित्याचार्य

विषय-सूची

पञ्चास्तिकाय

द्वितीय स्कन्ध

समयसार

प्रवचनसार

ज्ञेयतत्त्वाधिकार

नियमसार

परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार

निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार

परमालोचनाधिकार

शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार

परमसमाध्यधिकार

परमभक्त्यधिकार

निश्चयपरमावश्यकाधिकार

अष्टपाहुड

दंसणपाहुड (दर्शन प्राभृत)

सुत्तपाहुड (सूत्रप्राभृत)

भावपाहुड (भावप्राभृत)

मोक्खपाहुड (मोक्षप्राभृत)

लिंग पाहुड (लिङ्ग प्राभृत)

बारसणुपेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा)

भत्ति संगहो (भक्तिसंग्रह)

छूटी हुई गाथाएँ

(१)

पृष्ठ २२९ पर १७४ वीं गाथाके नियमसारकी निम्न गाथा प्रकाशित होनेसे रह गई है।—

ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो।
तम्हा ण होइ बंधो साकट्ठं मोहणीयस्स॥

केवलीके खड़े रहना, बैठना और विहार करना इच्छा पूर्वक नहीं होते हैं इसलिये उन्हें तन्निमित्तक बँध नहीं होता। बन्ध उसके होता है जो मोहके उदयसे इन्द्रियजन्य विषयोंके सहित होता है।

(२)

पृष्ठ २७३ पर भाव पाहुडकी १२० वीं गाथाके आगे निम्नलिखित गाथा प्रकाशित होनेसे रह गई है–

झायहि धम्मं सुक्कं अट्टरउद्दं च झाणमुत्तूण।
रुद्दट्टं झाइयाइं इमेण जीवेण चिरकालं॥

आर्त और रौद्र ध्यानको छोड़कर धर्म्य और शुक्ल इन दो ध्यानोंका ध्यान करो। आर्त्त और रौद्र ध्यान तो इस जीवने चिरकालसे ध्याये हैं॥ २७

●

पञ्चास्तिकाय

•

नमः सिद्धेभ्यः

पञ्चास्तिकायः

मङ्गलाचरण

इंदसदवंदियाणं तिहुअणहिदमधुरविशदवक्काणं ।
अंतातीदगुणाणं णमो जिणाणं जिदभवाणं ॥ १ ॥

सौ इन्द्र जिन्हें वन्दना करते हैं, जिनके वचन तीन लोकके जीवोंका हित करनेवाले मधुर एवं विशद हैं, जो अनन्त गुणोंके धारक हैं और जिन्होंने चतुर्गतिरूप संसारको जीत लिया है, मैं उन जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञा

समणमुहुग्गदमट्ठं चदुग्गदिनिवारणं सणिव्वाणं ।
एसो पणमिय सिरसा समयमिमं सुणह वोच्छामि ॥ २ ॥

जो सर्वज्ञ-वीतराग देवके मुखसे प्रकट हुआ है, चारों गतियोंका निवारण करनेवाला है और निर्वाणका कारण है, उस जीवादि पदार्थ समूहको अथवा अर्थ समयसारको शिरसे नमस्कार कर मैं इस पञ्चास्तिकाय रूप समयसारको कहूँगा । हे भव्यजन ! उसे तुम सुनो ॥ २ ॥

लोक और अलोकका स्वरूप

समवाओ पंचण्हं समउत्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं ।
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ खं ॥ ३ ॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँचोंका समुदाय समय है ऐसा श्रीजिनेन्द्र-देवने कहा है । उक्त पाँचोंका समुदाय ही लोक है और उसके आगे अपरिमित आकाश अलोक है ॥ ३ ॥

अस्तिकायोंकी गणना

जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आयासं ।
अत्थित्तम्हि य णियदा अणण्णमइया अणुमहंता ॥ ४ ॥

अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म और एक आकाश ये पाँचों अपने सामान्य विशेष अस्तित्वमें सदा नियत हैं, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा उस अस्तित्वगुणसे अभिन्नरूप हैं, तथा बहुप्रदेशी हैं । [अतः इन्हें अस्तिकाय कहते हैं] ॥ ४ ॥

---

१ अणवोऽत्र प्रदेशा मूर्तामूर्ताश्च निर्विभागांशास्तैर्महान्तोऽणुमहान्तः प्रदेशप्रचयात्मका इति सिद्धं तेषां कायत्वम् । अणुभ्यां महान्त इति व्युत्पत्या द्व्यणुकपुद्गलस्कन्धानामपि तथाविधत्वम् । अणवश्च महान्तश्च व्यक्तिशक्तिरूपाभ्यामिति परमाणूनामेकप्रदेशात्मकत्वेऽपि तत्सिद्धिः ।—त० प्र० वृ० ।

अस्तिकायका स्वरूप

जेसिं अत्थिसहाओ गुणेहिं सह पज्जएहिं विविहेहिं ।
ते होंति अत्थिकाया णिप्पण्णं जेहिं तइलुक्कं ॥ ५ ॥

जिनका अस्तित्व स्वभाव अनेक गुण और अनेक पर्यायोंके साथ सुनिश्चित है वे अस्तिकाय कहलाते हैं। यह त्रैलोक्य उन्हीं अस्तिकायोंसे बना हुआ है ॥ ५ ॥

द्रव्योंकी गणना

ते चेव अत्थिकाया तेकालियभावपरिणदा णिच्चा ।
गच्छंति दवियभावं परियट्टणलिंगसंजुत्ता ॥ ६ ॥

ऊपर कहे हुए जीवादि पाँच अस्तिकाय परिवर्तनलिङ्ग[1] अर्थात् कालके साथ मिलकर द्रव्य व्यवहारको प्राप्त हो जाते हैं—द्रव्य कहलाने लगते हैं। ये सभी पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा त्रिकालवर्ती पर्यायोंमें परिणमन करनेके कारण अनित्य हैं—उत्पाद व्ययरूप हैं और द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा स्वरूपमें विश्रान्त होनेके कारण नित्य हैं—ध्रौव्यरूप हैं ॥ ६ ॥

एकक्षेत्रावगाहरूप होकर भी द्रव्य अपना स्वभाव नहीं छोड़ते हैं

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स ।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति ॥ ७ ॥

उक्त छहों द्रव्य यद्यपि परस्पर एक दूसरेमें प्रवेश कर रहे हैं, एक दूसरेको अवकाश दे रहे हैं, और निरन्तर एक दूसरेसे मिल रहे हैं तथापि अपना स्वभाव नहीं छोड़ते ॥ ७ ॥

सत्ताका स्वरूप

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया ।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥ ८ ॥

सत्ता सम्पूर्ण पदार्थोंमें स्थित है, अनेकरूप है, अनन्त पर्यायोंसे सहित है, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है, एक है तथा प्रतिपक्षी धर्मोंसे युक्त है ॥ ८ ॥

द्रव्यका लक्षण

दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं ।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो ॥ ९ ॥

जो उन उन गुणपर्यायोंको प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं, यह द्रव्य सत्तासे अभिन्न रहता है। [2]सत्ता ही द्रव्य कहलाती है ॥ ९ ॥

---

१ परिवर्तनमेव जीवपुद्‌गलादिपरिणमनमेवाग्नेर्धूमवत् कार्यभूतं लिङ्गं चिह्नं गमकं ज्ञापकं सूचनं यस्य स भवति परिवर्तनलिङ्गः कालाणुद्रव्यकालस्तेन संयुक्ताः ।'—ता० वृ० ।

२ 'तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम् ।'—पञ्चाध्यायी ।

द्रव्यका दूसरा लक्षण

दव्वं[1] सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तम् ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥१०॥

जो सत्तारूप लक्षणसे सहित है, अथवा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है, अथवा गुण और पर्यायोंका आश्रय है उसे सर्वज्ञदेव द्रव्य कहते हैं ॥ १० ॥

पर्यायकी अपेक्षा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यकी सिद्धि

उप्पत्तीव विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो ।
विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जायाः ॥११॥

द्रव्यका न उत्पाद होता है और न विनाश। वह सदा अस्तित्व रूप रहता है। उसकी पर्याय ही उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य रूप परिणमन करती है। [द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा द्रव्य अपरिणामी है और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा परिणामी ॥ ११ ॥

द्रव्य और पर्यायका अभेद निरूपण

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि ।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥१२॥

न द्रव्य, पर्यायसे रहित होता है और न पर्याय ही द्रव्यसे रहित होते हैं। महामुनि दोनोंका अभेदस्वरूप वर्णन करते हैं ॥ १२ ॥

द्रव्य और गुणका अभेद

दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि ।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा ॥१३॥

द्रव्यके विना न गुण ठहर सकते हैं और न गुणोंके विना द्रव्य ही ठहर सकता है अतः द्रव्य और गुणोंके बीच अव्यतिरेकभाव होता है—दोनों अभिन्न रहते हैं ॥ १३ ॥

सात भङ्गोंका निरूपण

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेशवसेण संभवदि ॥१४॥

निश्चयसे द्रव्य, विवक्षाके वश निम्नलिखित सप्तभङ्गरूप होता है जैसे— १ स्यादस्ति—किसी प्रकार है, २ स्यान्नास्ति—किसी प्रकार नहीं है, ३ स्यादुभयम्—किसी प्रकार अस्ति-नास्ति दोनों रूप हैं, ४ स्यादवक्तव्यम्—किसी प्रकार अवक्तव्य है, ५ स्यादस्ति अवक्तव्यम्—किसी प्रकार अस्तिरूप होकर अवक्तव्य है, ६ स्यान्नास्ति अवक्तव्यम्—किसी प्रकार नास्तिरूप होकर अवक्तव्य है, और ७ स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यम्—किसी प्रकार अस्ति-नास्ति दोनों रूप होकर अवक्तव्य है ॥ १४ ॥

---

१ 'सद्द्रव्यम्', 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्', 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' ।—त० सू० ।

गुण और पर्यायोंमें उत्पाद तथा व्ययका वर्णन

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ।।१५।।

सत् पदार्थका नाश नहीं होता और न असत्का उत्पाद ही। पदार्थ गुण और पर्यायोंमें ही उत्पाद तथा व्यय करते हैं ।। १५ ।।

द्रव्योंके गुण और पर्यायोंका वर्णन

भावा जीवादीया जीवगुणा चेदणा य उवओगो।
सुरणरणारयतिरिया जीवस्स य पज्जया बहुगा ।।१६।।

जीव आदि छह पदार्थ भाव हैं, चेतना और उपयोग जीवके गुण हैं, देव मनुष्य नारकी और तिर्यञ्च ये जीवकी अनेक पर्याय हैं ।। १६ ।।

दृष्टान्त द्वारा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यकी सिद्धि

मणसत्तणेण णट्ठो देही देवो हवेदि इदरो वा।
उभयत्त जीवभावो ण णस्सदि ण जायदे अण्णो ।।१७।।

मनुष्यपर्यायसे नष्ट हुआ जीव देव अथवा अन्यपर्यायरूप हो जाता अवश्य है, परन्तु जीवत्वभावका सद्भाव दोनों ही पर्यायोंमें रहता है। पूर्व जीवका न तो नाश ही होता है और न अन्य जीवका उत्पाद ही ।। १७ ।।

सो चेव जादि मरणं जादि ण णट्ठो न चेव उप्पण्णो।
उप्पण्णो य विणट्ठो देवो मणुसोत्ति पज्जाओ ।।१८।।

वही जीव उपजता है जो कि मरणको प्राप्त होता है, स्वभावसे जीव न नष्ट होता है और न उपजता ही है। देव उत्पन्न हुआ और मनुष्य नष्ट हुआ, यहाँ पर्याय ही तो उत्पन्न हुआ और पर्याय ही नष्ट हुआ ।। १८ ।।

सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति नहीं होती

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो।
तावदिओ जीवाणं देवो मणुसोत्ति गदिणामो ।।१९।।

इस प्रकार सत् रूप जीवका न नाश होता है और न असत्रूप जीवका उत्पाद ही। जीवोंमें जो देव अथवा मनुष्यका व्यवहार होता है वह सब गति नामकर्मके उदयसे होनेवाला विकार है ।। १९ ।।

ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मोंके अभावसे सिद्ध पर्यायकी प्राप्ति होती है

णाणावरणादीया भावा जीवेण सुठ्ठु अणुबद्धा।
तेसिमभावं किच्चा अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो ।।२०।।

इस संसारी जीवने अनादिकालसे ज्ञानावरणादि कर्मपर्यायोंका अतिशय वन्ध कर रक्खा है अतः उनका अभाव—क्षय करके ही यह जीव अभूतपूर्व सिद्धपर्यायको प्राप्त हो सकता है ॥ २० ॥

भाव, अभाव, भावाभाव और अभावभावका उल्लेख

एवं भावमभावं भावाभावं अभावभावं च।
गुणपज्जयेहिं सहिदो संसरमाणो कुणदि जीवो ॥२१॥

इस प्रकार गुण और पर्यायोंके साथ पाँच परावर्तन रूप संसारमें भ्रमण करता हुआ यह जीव कभी भावको करता है—देवादि नवीन पर्यायको धारण करता है, कभी अभावको करता है—मनुष्यादि पूर्व पर्यायका नाश करता है, कभी भावका अभाव करता है—वर्तमान देवादि पर्यायका नाश करता है और कभी अभावका भाव करता है—मनुष्यादि अभावरूप पर्यायका उत्पाद करता है ॥ २१ ॥

अस्तिकायोंके नाम

जीवा पुग्गलकाया आयासं अत्थिकाइया सेसा।
अमया[१] अत्थित्तमया कारणभूदा हि लोगस्स ॥२२॥

जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच द्रव्य अस्तिस्वरूप तथा वहुप्रदेशी होनेके कारण अस्तिकाय कहलाते हैं। ये अकृत्रिम हैं, शाश्वत हैं और लोकके कारणभूत हैं ॥ २२ ॥

काल द्रव्यके अस्तित्वकी सिद्धि

सब्भावसभावाणं जीवाणं तह य पोग्गलाणं च।
परियट्टणसंभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो ॥२३॥

सत् अर्थात् उत्पाद, व्यय ध्रौव्यरूप स्वभावसे संयुक्त जीव और पुद्गलोंका जो परिणमन दृष्टिगोचर होता है उससे कालद्रव्यका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है ॥ २३ ॥

काल द्रव्यका लक्षण

ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्ठफासो य।
अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालोत्ति ॥२४॥

काल द्रव्य पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्शोंसे रहित है, षड्गुणी हानि वृद्धि रूप अगुरुलघुगुणसे युक्त है, अमूर्तिक है, और वर्तनालक्षणसे सहित है ॥ २४ ॥

व्यवहार कालका वर्णन

समओ णिमिसो कट्ठा कलाय णाली तदो दिवारत्ती।
मासोदुअयण संवच्छरोत्ति कालो परायत्तो ॥२५॥

समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाड़ी, दिनरात, मास, ऋतु, अयन और वर्ष यह सब व्यवहार

---

१ अमया अकृत्रिमा न केनापि पुरुषविशेषेण कृताः।—ता० वृ०।

काल है। चूँकि यह व्यवहार काल सूर्योदय सूर्यास्त आदि पर पदार्थोंके निमित्तसे अनुभवमें आता है अतः पराधीन है ।। २५ ।।

पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे व्यवहार कालकी उत्पत्तिका वर्णन

णत्थि चिरं वा खिप्पं मत्तारहिदं तु सा वि खलु मत्ता ।
पुग्गलदव्वेण विणा तम्हा कालो दु पडुच्चभवो ।।२६।।

कालकी मात्रा—मर्यादाके बिना विलम्ब और शीघ्रताका व्यवहार नहीं हो सकता अतः उसका वर्णन अवश्य करना चाहिये और चूँकि कालकी मात्रा पुद्गलद्रव्यके बिना प्रकट नहीं हो सकती इसलिये उसे पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न हुआ माना जाता है ।। २६ ।।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्ददेव द्वारा विरचित पञ्चास्तिकाय ग्रन्थमें षड्द्रव्य और पञ्चास्तिकायके सामान्यस्वरूपको कहनेवाला 'पीठबन्ध' समाप्त हुआ ।

●

जीवका स्वरूप

जीवोत्ति हवदि चेदा उपओगविसेसिदो पहू कत्ता ।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ।।२७।।

जो निश्चय नयकी अपेक्षा भावप्राणोंसे और व्यवहार नयकी अपेक्षा द्रव्य प्राणोंसे जीवित रहता है वह जीव कहलाता है। यह जीव निश्चय नयकी अपेक्षा चेतनामय है और व्यवहार नयकी अपेक्षा चेतनागुणसंयुक्त है। निश्चय नयकी अपेक्षा केवलज्ञान, केवलदर्शनरूप उपयोगसे और अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक उपयोगसे विशिष्ट है। निश्चयकी अपेक्षा मोक्ष और मोक्षके कारणरूप शुद्ध परिणामोंके परिणमनमें समर्थ होनेसे तथा अशुद्ध नयकी अपेक्षा संसार और उसके कारण स्वरूप अशुद्धपरिणामोंके परिणमनमें समर्थ होनेसे प्रभु है। शुद्ध निश्चय नयसे शुद्ध भावोंका, अशुद्धनिश्चयनयसे रागादि भावोंका और व्यवहार नयसे ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मोंका कर्ता होनेके कारण कर्ता है। शुद्धनिश्चय नयसे शुद्धात्मदशामें उत्पन्न होनेवाले वीतराग परमानन्दरूप सुखका, अशुद्धनिश्चय नयसे कर्मजनित सुख दुःखादिका और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे सुख दुःखके साधक इष्ट अनिष्ट विषयोंका भोगनेवाला होनेके कारण भोक्ता है, निश्चय नयसे लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशी होनेपर भी व्यवहारनयसे नामकर्मोदय जनित शरीरके बराबर रहनेसे स्वदेह मात्र हैं, मूर्तिसे रहित है, और कर्मसंयुक्त है। यह संसारी जीवका स्वरूप है ।। २७ ।।

मुक्त जीवका स्वरूप

कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता ।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदिय मणंतं ।।२८।।

जब यह जीव कर्ममलसे विप्रमुक्त होता है तब सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर ऊर्ध्वगति स्वभावके कारण लोकके अन्तिम भाग—सिद्धक्षेत्रमें जा पहुँचता है और वहाँ अनन्त अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करने लगता है ॥ २८ ॥

मुक्त जीवकी विशेषता

जादो सयं स चेदा सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य ।
पप्पोदि सुहमणंतं अव्वावाधं सगममुत्तं ॥२९॥

जो आत्मा पहले संसार अवस्थामें इन्द्रिय जनित बाधा सहित पराधीन और मूर्तिक सुखका अनुभव करता था अब वही चिदात्मा मुक्त अवस्थामें सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर अनन्त अव्याबाध स्वाधीन और अमूर्तिक सुखका अनुभव करता है ॥ २९ ॥

जीव शब्दकी निरुक्ति

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण वलमिंदियमाउ उस्सासो ॥३०॥

जो चार प्राणोंके द्वारा वर्तमानमें जीवित है, आगे जीवित होगा और पहले जीवित था वह जीव है। जीवके चार प्राण हैं—बल, इन्द्रिय, आयु और उच्छ्वास ॥ ३० ॥

जीवकी विशेषता

अगुरुलहुगा अणंता तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे ।
देसेहिं असंखादा सियलोगं सव्वमावण्णा ॥३१॥
केचित्तु अणावण्णा मिच्छादंसणकसायजोगजुदा ।
विजुदा य तेहिं बहुगा सिद्धा संसारिणो जीवा ॥३२॥ (जुम्मं)

अगुरुलघुगुण अनन्त हैं, समस्त जीव उन अनन्त अगुरुलघुगुणोंके कारण परिणमन करते रहते हैं, सभी जीव, प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात हैं—असंख्यात प्रदेशोंसे धारक हैं। उनमेंसे कितने ही जीव लोकपूर्ण समुद्घातके समय सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त होते हैं और कितने ही अपने शरीरके प्रमाण अवस्थित रहते हैं, कितने ही मिथ्यादर्शन कषाय और योगोंसे युक्त होनेके कारण संसारी हैं और कितने ही उनसे रहित होकर सिद्ध हुए हैं ॥ ३१–३२ ॥

जीव शरीरप्रमाण है

जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं ।
तह देही देहत्थो सदेहमत्तं पभासयदि ॥३३॥

जिस प्रकार दूधमें पड़ा हुआ पद्मरागमणि समस्त दूधको व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार शरीरमें स्थित आत्मा समस्त शरीरको व्याप्त कर लेता है। [यहाँ पद्मराग शब्दसे पद्मरागकी प्रभा ली जाती है न कि रत्न। जिस प्रकार दूधमें पड़े हुए पद्मराग रत्नकी प्रभाका समूह समस्त दूधको व्याप्त कर लेता है उसी प्रकार यह जीव भी जिस शरीरमें स्थित रहता है—उसे सब ओरसे व्याप्त

कर लेता है। अथवा जिस प्रकार विशिष्ट अग्निके संयोगसे दूधके बढ़नेपर पद्मरागरत्नकी प्रभाका समूह बढ़ने लगता है और घटनेपर घटने लगता है उसी प्रकार यह जीव भी पौष्टिक आहारादिके निमित्तसे शरीरके बढ़नेपर बढ़ने लगता है और दुर्बलता आदिके समय शरीरके घटनेपर घटने लगता है। अथवा जिस प्रकार वही रत्न उस दूधसे निकालकर जब किसी दूसरे छोटे बड़े वर्तनमें रखे हुए अल्प अथवा बहुत दूधमें डाल दिया जाता है तब वह उसे भी व्याप्त कर लेता है। इसी प्रकार यह जीव जब एक शरीरसे निकलकर नामकर्मोदयसे प्राप्त हुए दूसरे छोटे बड़े शरीरमें पहुँचता है—तब उसे भी व्याप्त कर लेता है।] ॥ ३३ ॥

द्रव्यकी अपेक्षा जीवद्रव्य अपने समस्त पर्यायोंमें रहता है

सव्वत्थ अत्थिजीवो ण य एक्को एक्काय एक्कट्ठो।
अज्झवसाणविसिट्ठो चिट्ठदि मलिणो रजमलेहिं ॥३४॥

यह जीव त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोंमें विद्यमान रहता है—नवीन पर्यायका उत्पाद होनेपर भी नवीन जीवका उत्पाद नहीं होता। यद्यपि यह जीव एक शरीरमें क्षीर नीरकी तरह परस्पर मिलकर रहता है तथापि उस शरीरसे एक रूप नहीं होता—अपना अस्तित्व पृथक् रखता है। यह जीव रागादि भावोंसे युक्त होनेके कारण द्रव्यकर्मरूपी मलसे मलिन हो जाता है और इसी कारण इसे एक शरीरसे दूसरे शरीरमें संचार करना पड़ता है ॥ ३४ ॥

सिद्ध जीवका स्वरूप

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तस्स।
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा ॥३५॥

जिनके कर्मजनित द्रव्यप्राणरूप जीव स्वभावका सद्भाव नहीं है और शुद्ध चैतन्यरूप भाव प्राणोंसे युक्त होनेके कारण सर्वथा उसका अभाव भी नहीं है, जो शरीरसे रहित हैं और जिनकी महिमा वचनके अगोचर है वे सिद्धजीव हैं॥ ३५ ॥

सिद्ध जीव कार्यकारण व्यवहारसे रहित हैं

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो सिद्धो।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि ॥३६॥

चूँकि सिद्ध जब किसी बाह्य कारणसे उत्पन्न नहीं हुए हैं अतः वे कार्य नहीं हैं और न किसी कार्यको वे उत्पन्न ही करते हैं अतः कारण भी नहीं हैं ॥ ३६ ॥

मोक्षमें जीवका असद्भाव नहीं है

सस्सधमध उच्छेदं भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च।
विण्णाणमविण्णाणं ण वि जुज्जदि असदि सब्भावे ॥३७॥

यदि मोक्षमें जीवका सद्भाव नहीं माना जाय तो उसमें निम्नलिखित आठ भाव संभव नहीं हो सकेंगे। १ शाश्वत, २ उच्छेद, ३ भव्य, ४ अभव्य, ५ शून्य, ६ अशून्य, ७ विज्ञान और ८ अविज्ञान। इनका विवरण इस प्रकार है—(१) द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा जीवद्रव्यका सदा

ध्रौव्य रहना शाश्वतभाव है। (२) पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अगुरुलघुगुणके द्वारा प्रतिसमय षड्गुणी हानि वृद्धिरूप परिणमन होना उच्छेदभाव है। (३) निर्विकार चिदानन्दरूप स्वभावसे परिणमन करना भव्यत्व भाव है। (४) मिथ्यात्व रागादि विभाव परिणामरूप नहीं होना अभव्यत्वभाव है। (५) स्वशुद्धात्मद्रव्यसे विलक्षण पर द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप चतुष्टयका अभाव होना शून्यभाव है। (६) स्व द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप चतुष्टयका सद्भाव रहना अशून्यभाव है। (७) समस्त द्रव्य गुण और पर्यायोंको एक साथ प्रकाशित करनेमें समर्थ निर्मल केवलज्ञानसे युक्त होना विज्ञानभाव है और (८) मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक ज्ञानोंसे रहित होना अविज्ञान भाव है। उक्त आठ भावोंका सद्भाव तभी सम्भव हो सकता है जब कि आत्माका सद्भाव माना जाय। सिद्ध जीवके शाश्वत आदि सभी भाव सम्भव हैं अतः सौगतोंने मोक्ष अवस्थामें जो जीवका अभाव माना है वह मिथ्या है॥ ३७॥

त्रिविध चेतनाकी अपेक्षा जीवके तीन भेद

कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को।
चेदयदि जीवरासी चेदगभावेण तिविहेण॥३८॥

कुछ जीव प्रच्छन्नसामर्थ्य होनेके कारण केवल कर्मफलका अनुभव करते हैं, कुछ सामर्थ्य प्रकट होनेके कारण इष्टानिष्ट विकल्परूप कर्मका अनुभव करते हैं और कुछ विशुद्ध ज्ञानका ही अनुभव करते हैं। इस प्रकार जीवराशि तीन प्रकारके चेतकभावसे पदार्थोका अनुभव करती है। चेतनाके तीन भेद हैं—१. कर्मफल चेतना, २. कर्मचेतना और ३. ज्ञान चेतना॥ ३८॥

कर्मफल, कर्म और ज्ञान चेतनाके स्वामी

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।
पाणित्त मदिक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा॥३९॥

सब स्थावर जीव कर्मफलका अनुभव करते हैं, त्रसजीव इष्टानिष्ट पदार्थोमें आदान हान रूप कर्म करते हुए कर्मका उपभोग करते हैं और प्राणीपनेके व्यवहारसे परे रहनेवाले अतीन्द्रिय ज्ञानी अरहन्तसिद्ध ज्ञानमात्रका वेदन करते हैं॥ ३९॥

उपयोगके दो भेद

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि॥४०॥

ज्ञान और दर्शनसे युक्त होनेके कारण उपयोग दो प्रकारका होता है, यह उपयोग सदा काल जीवसे अनन्यभूत-अभिन्न रहता है। आत्माके चैतन्यगुणके परिणमनको उपयोग कहते हैं, उसके दो भेद हैं १. ज्ञानोपयोग और २. दर्शनोपयोग॥ ४०॥

ज्ञानोपयोगके आठ भेद

आभिणिसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि।
कुमुदिसुदविभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते॥४१॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवलज्ञान ये पाँच सम्यग्ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और विभङ्गावधि ये तीन मिथ्याज्ञान सब मिलाकर ज्ञानोपयोगके आठ भेद हैं ॥ ४१ ॥

दर्शनोपयोगके चार भेद

दंसणमवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं ।
अणिधणमणंतविसयं केवलियं चावि पण्णत्तं ॥४२॥

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और अन्तरहित तथा अनन्त पदार्थोंको विषय करने वाला केवलदर्शन ये चार दर्शनोपयोगके भेद हैं ॥ ४२ ॥

जीव और ज्ञानमें अभिन्नता

ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि ।
तम्हा दु विस्सरूवं भणियं दवियत्ति णाणीहि ॥४३॥

चूँकि ज्ञानी ज्ञानगुणसे पृथक् नहीं है और ज्ञान मति आदिके भेदसे अनेक रूप है। इसलिये ज्ञानी-महर्षियोंने जीवद्रव्यको अनेक रूप कहा है ॥ ४३ ॥

गुण और गुणीमें अभेद

जदि हवदि दव्वमण्णं गुणदो य गुणा य दव्वदो अण्णे ।
दव्वाणंतियमधवा दव्वाभावं पकुव्वंति ॥४४॥

यदि द्रव्य, गुणसे पृथक् हो और गुण भी द्रव्यसे पृथक् हो तो या तो द्रव्यमें अनन्तता आ जावेगी या द्रव्यसे पृथक् रहनेवाले गुण द्रव्यका अभाव ही कर देंगे ॥ ४४ ॥

द्रव्य और गुणोंमें अभेद तथा भेदका निरूपण

अविभत्तमणण्णत्तं दव्वगुणाणं विभत्तमण्णत्तं ।
णिच्छंति णिच्चयण्हू तव्विवरीदं हि वा तेसिं ॥४५॥

द्रव्य और गुणोंमें जो अनन्यत्व—एकरूपता है वह प्रदेशभेदसे रहित है। निश्चयके जानने वाले महर्षि द्रव्य और गुणोंके बीच प्रदेश भेदरूप अन्यत्वको नहीं मानते हैं—द्रव्य और गुणोंमें प्रदेशभेद न होनेसे अभेद है और संज्ञा संख्या प्रयोजन आदिकी विभिन्नता होनेसे भेद है। निश्चयज्ञ पुरुष इनके भेद और अभेदको उक्त प्रकारसे विपरीत नहीं मानते हैं ॥ ४५ ॥

ववदेसा संठाणा संखा विसया य होंति ते बहुगा ।
ते तेसिमणण्णत्ते अण्णत्ते चावि विज्जंते ॥४६॥

उन द्रव्य और गुणोंके व्यपदेश—कथनके भेद, आकार, संख्या एवं विषय बहुत प्रकारके होते हैं और वे द्रव्य तथा गुणोंको अभेद और भेद दोनों प्रकारकी दशाओंमें विद्यमान रहते हैं ॥ ४६ ॥

पृथक्त्व और एकत्वका वर्णन

णाणं धणं च कुव्वदि धणिणं जह णाणिणं च दुविधेहिं ।
भण्णंति तह पुधत्तं एयत्तं चावि तच्चण्हू ॥४७॥

जैसे धन पुरुषको धनवान् करता है और ज्ञान ज्ञानी । यहाँ धन जुदा है और पुरुष जुदा है परन्तु धनके सम्बन्धसे पुरुष धनवान् नाम पाता है और ज्ञान तथा ज्ञानी दोनोंमें यद्यपि प्रदेशभेद नहीं है तथापि गुणगुणीके व्यवहारकी अपेक्षा ज्ञानगुणके द्वारा पुरुष ज्ञानी नाम पाता है। वैसे ही इन दो प्रकारके भेदाभेद कथनके द्वारा वस्तुस्वरूपको जाननेवाले पुरुष पृथक्त्व और एकत्वका निरूपण करते हैं। जहाँ प्रदेशभेद होता है वहाँ पृथक्त्व व्यवहार होता है और जहाँ उसका अभाव होता है वहाँ एकत्व व्यवहार होता है ॥ ४७ ॥

ज्ञान और ज्ञानीमें सर्वथा भेदका निषेध

णाणी णाणं च सदा अत्थंतरिदो दु अण्णमण्णस्स ।
दोण्हं अवेदणत्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ॥४८॥

ज्ञान और ज्ञानी दोनोंको सदा अर्थान्तर—सर्वथा विभिन्न माननेपर दोनोंमें जड़ताका प्रसङ्ग आता है और वह जड़ता यथार्थमें श्रीजिनेन्द्रदेवको अभिमत नही है। जिसप्रकार उष्णगुणवान् अग्निसे यदि उष्णगुणको सर्वथा जुदा माना जावे तो अग्नि शीतल होकर दाहक्रियाके प्रति असमर्थ हो जावे इसीप्रकार जीवसे यदि ज्ञानगुणको सर्वथा जुदा माना जावे तो जीव जड़ होकर पदार्थोंके जाननेमें असमर्थ हो जावे। पर ऐसा देखा नहीं जाता। यहाँ कोई यह कह सकता है कि जिसप्रकार देवदत्त अपने शरीरसे भिन्न रहनेवाले दात्र (हंसिया) के द्वारा तृणादिका छेदक हो जाता है उसीप्रकार जीव भी भिन्न रहनेवाले ज्ञानके द्वारा पदार्थोंका ज्ञायक हो सकता है। पर उसका ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि छेदनक्रियाके प्रति दात्र बाह्य उपकरण है और वीर्यान्तिराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई पुरुषकी शक्तिविशेष आभ्यन्तर उपकरण है। इस आभ्यन्तरण उपकरणके अभावमें दात्र तथा हस्तव्यापार आदि बाह्य उपकरणके रहनेपर भी जिसप्रकार छेदन क्रिया नहीं हो सकती उसीप्रकार प्रकाश आदि बाह्यउपकरणके रहनेपर भी ज्ञानरूप अभ्यन्तर उपकरणके अभावमें जीव पदार्थोंका ज्ञाता नहीं हो सकता। सार यह है कि बाह्य उपकरण यद्यपि कर्तासे भिन्न हैं तथापि आभ्यन्तर उपकरण उससे अभिन्न ही रहता है। यदि कोई यह कहे कि ज्ञान और ज्ञानी यद्यपि जुदे-जुदे हैं तथापि संयोगसे जीवमें चेतना आ जावेगी तो यह कहना ठीक नहीं मालूम होता क्योंकि ज्ञानगुणरूप विशेषतासे रहित जीव और जीवसे भिन्न रहनेवाला निराश्रय ज्ञान, दोनों ही शून्यरूप सिद्ध होते हैं—दोनोंका अस्तित्व नहीं है ॥ ४८ ॥

ज्ञानके समवायसे आत्मा ज्ञानी होता है इस मान्यताका निषेध

ण हि सो समवायादो अत्थंतरिदो दु णाणदो णाणी ।
अण्णाणीति य वयणं एगत्तप्पसाधगं होदि ॥४९॥

जब कि ज्ञानी—आत्मा ज्ञानसे सर्वथा विभिन्न है तब वह उसके समवायसे भी ज्ञानी नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञानके साथ समवाय होनेके पहले आत्मा

ज्ञानी था या अज्ञानी ? यदि ज्ञानी था तो ज्ञानका समवाय मानना किसलिये ? यदि अज्ञानी था तो अज्ञानी होनेका कारण क्या है ? क्या अज्ञानके साथ उसका समवाय है ? या एकत्व ? समवाय तो हो नहीं सकता क्योंकि अज्ञानीका अज्ञानके साथ समवाय मानना निष्फल है, अतः अगत्या 'आत्मा अज्ञानी है' ऐसा कथन अज्ञानके साथ उसका एकत्व सिद्ध कर देता है और इस प्रकार अज्ञानके साथ एकत्व सिद्ध होनेपर ज्ञानके साथ भी उसका एकत्व अवश्य सिद्ध हो जाता है ॥ ४९ ॥

द्रव्य और गुणोंमें अयुतसिद्धिका वर्णन

समवत्ती समवाओ अपुधब्भूदो य अजुद सिद्धो य ।
तम्हा दव्वगुणाणं अजुदा सिद्धित्ति णिद्दिट्ठा ॥५०॥

गुण और गुणीके बीच अनादिकालसे जो समवर्तित्व—तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाता है वही जैनमतमें समवाय कहलाता है । चूँकि समवाय ही अपृथग्भूतत्व और अयुतसिद्धत्व कहलाता है इसलिये द्रव्य और गुण अथवा गुण और गुणीमें अयुतसिद्धि होती है । उनमें पृथक् प्रदेशत्व नहीं होता । ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेवने निर्देश किया है ॥ ५० ॥

दृष्टान्तद्वारा ज्ञान-दर्शनगुण और जीवमें अभेद तथा भेदका कथन

वण्णरसगंधफासा परमाणुपरूविदा विसेसा हि ।
दव्वादो य अणण्णा अण्णत्तपगासगा होंति ॥५१॥
दंसणणाणाणि तहा जीवणिबद्धाणि णण्णभूदाणि ।
ववदेसदो पुधत्तं कुव्वंति हि णो सभावादो ॥५२॥ जुम्मं ।

जिसप्रकार परमाणुमें कहे गये वर्ण रस गन्ध स्पर्शरूप विशेष गुण परमाणुरूप पुद्‌गलद्रव्यसे अभिन्न और भिन्न दोनों रूप हैं—निश्चयकी अपेक्षा प्रदेशभेद न होनेसे एक हैं और व्यवहारकी अपेक्षा संज्ञा संख्या लक्षण आदिमें भेद होनेसे अनेक हैं—पृथक् हैं उसीप्रकार जीवके साथ समवाय सम्बन्धसे निबद्ध होकर रहनेवाले ज्ञान और दर्शन अभिन्न और भिन्न दोनों रूप हैं । निश्चयकी अपेक्षा प्रदेशभेद न होनेसे एक हैं और व्यवहारकी अपेक्षा संज्ञा संख्या लक्षण आदिमें भेद होनेसे अनेक हैं—पृथक् हैं ॥ ५१-५२ ॥

जीवकी अनादि निधनता तथा सादि सान्तता आदिका कथन

जीवा अणाइणिहणा संता णंता[1] य जीवभावादो[2] ।
सब्भावदो अणंता[3] पंचग्गगुणप्पधाणा य ॥५३॥

जीव, सहज चैतन्यलक्षण पारणामिकभावकी अपेक्षा अनादि निधन हैं । औदयिक, क्षायोपशमिक और औपशमिकभावकी अपेक्षा सादि सान्त हैं । क्षायिकभावकी अपेक्षा सादि अनंन्त हैं ।

---

१. साद्यनन्ताः, २. जीवभावतः क्षायिको भावस्तस्मात्, ३. अनंता विनाशरहिताः अथवा द्रव्यस्वभावगणनया पुनरनन्ताः । सान्तानन्तशब्दयोर्द्वितीयव्याख्यानं क्रियते—सहान्तेन संसारविनाशेन वर्तन्ते सान्ता भव्याः, न विद्यतेऽन्तः संसार विनाशो येषां ते पुनरनन्ता अभव्याः, ते चाभव्या अनन्तसंख्यास्तेभ्योऽपि भव्या अनन्तगुणसंख्यास्तेभ्योऽप्यभव्यसमानभव्या अनन्तगुणा इति । —ज० वृ०

सत्ता स्वरूपकी अपेक्षा अनन्त हैं, विनाशरहित हैं अथवा द्रव्यसंख्याकी अपेक्षा अनन्त हैं और व्यवहारकी अपेक्षा औदयिक औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक तथा पारिणामिक इन पाँच भावोंकी प्रधानता लिये हुए प्रवर्तमान हैं ॥ ५३ ॥

विवक्षावशसे सत्‌के विनाश और असत्‌के उत्पादका कथन

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स होइ उप्पादो ।
इदि जिणवरेहिं भणिदं अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धं ॥५४॥

इसप्रकार विवक्षावश विद्यमान जीवका विनाश होता है और अविद्यमान जीवका उत्पाद भी। जिनेन्द्रदेवका यह कथन परस्परमें विरुद्ध होनेपर भी नयविवक्षासे अविरुद्ध है।

'मनुष्य मरकर देव हुआ' यहाँ मनुष्यपर्यायसे उपलक्षित जीवद्रव्यका नाश हुआ और देव पर्यायसे अनुपलक्षित जीवद्रव्यका उत्पाद हुआ। द्रव्यार्थिक नयसे यह सिद्धान्त ठीक है कि 'नैवासतो जन्म सतो न नाशः' अर्थात् असत्‌का जन्म और सत्‌का नाश नहीं होता परन्तु पर्यायार्थिक नयसे विद्यमान पर्यायका नाश और अविद्यमान पर्यायका उत्पाद होता ही है क्योंकि क्रमवर्ती होनेसे एक कालमें दो पर्याय विद्यमान नहीं रह सकते। इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा जिनेन्द्रदेवका गाथोक्त कथन अविरुद्ध है ॥ ५४ ॥

सत्‌के विनाश और असत्‌के उत्पादका कारण

णेरइयतिरियमणुआ देवा इदि णामसंजुदा पयडी ।
कुव्वंति सदो णासं असदो भावस्स उप्पादं ॥५५॥

नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन नामोंसे युक्त कर्मप्रकृतियाँ विद्यमान पर्यायका नाश करती हैं और अविद्यमान पर्यायका उत्पाद करती हैं ॥ ५५ ॥

जीवके औपशमिक आदि भावोंका वर्णन

उदयेण उवसमेण य खयेण दुहिं मिस्सिदेहिं परिणामे ।
जुत्ता ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु विच्छिण्णा ॥५६॥

जीवके जो भाव कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे तथा आत्मीय निज परिणामोंसे युक्त हैं वे उसके क्रमशः औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक नामसे प्रसिद्ध पाँच सामान्य गुण हैं। ये पाँचों ही गुण—भाव उपाधिभेदसे अनेक अर्थोमें विस्तृत हैं—अनेक भेदयुक्त हैं अथवा '[1]बहुसुदअत्थेसु वित्थिण्णा' पाठमें बहुज्ञानियोंके शास्त्रोंमें विस्तारके साथ वर्णित हैं ॥ ५६ ॥

विवक्षावश औदयिकभावोंका कर्ता जीव है

कम्मं वेदयमाणो जीवो भावं करेदि जारिसयं ।
सो तेण तस्स कत्ता हवदित्ति य सासणे पढिदं ॥५७॥

---

१. बहुसुदअत्थेसु वित्थिण्णा—बहुश्रुतशास्त्रेषु तत्त्वार्थादिषु विस्तीर्णाः। —ज० वृ०

उदयागत द्रव्यकर्मका वेदन करनेवाला जीव जैसा भाव करता है वह उसका कर्ता होता है ऐसा जिनशासनमें कहा गया है ।। ५७ ।।

औदयिक आदि भाव द्रव्यकर्मकृत हैं

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्झदे उवसमं वा ।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं ।।५८।।

यतः द्रव्यकर्मके विना आत्माके रागादि विभावोंका उदय और उपशम नहीं हो सकता तथा क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव भी नहीं हो सकते अतः जीवके उल्लिखित चारों भाव द्रव्यकर्मके किये हुए हैं ।। ५८ ।।

प्रश्न

भावो जदि कम्मकदो अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता ।
ण कुणदि अत्ता किंचिवि मुत्ता अण्णं सगं भावं ।।५९।।

यदि औदयिक आदि भाव द्रव्यकर्मके द्वारा किये हुए हैं तो आत्मा द्रव्यकर्मका कर्ता कैसे हो सकता है ? क्योंकि वह निजभावको छोड़कर अन्य किसीका कर्ता नहीं है । यदि सर्वथा द्रव्यकर्मको औदयिक आदि भावोंका कर्ता माना जाय तो आत्मा अकर्ता हो जायगा और ऐसी दशामें संसारका अभाव हो जायगा । यदि यह कहा जाय कि आत्मा द्रव्यकर्मका कर्ता है अतः संसारका अभाव नहीं होगा तो द्रव्यकर्मको जो कि पुद्गलका परिणाम है आत्मा कैसे कर सकता है ? और उस हालतमें, जब कि आत्मा निज स्वभावको छोड़कर अन्य किसीका कर्ता नहीं है ।। ५९ ।।

उत्तर

भावो कम्मणिमित्तो कम्मं पुण भावकारणं हवदि ।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं ।।६०।।

व्यवहार नयसे जीवके औदयिक आदि भावोंका कर्ता द्रव्य कर्म है और द्रव्यकर्मका कर्ता भावकर्म है परन्तु निश्चय नयसे द्रव्यकर्म औदयिक आदि भावोंका कर्ता नहीं है और न औदयिक आदि भावकर्म द्रव्यकर्मका कर्ता है । इसके सिवाय वे दोनों—द्रव्यकर्म भावकर्म कर्ताके विना भी नहीं होते हैं ।

कारणके दो भेद हैं उपादान और निमित्त । भावकर्मका उपादान कारण आत्मा है और निमित्त कारण द्रव्यकर्म । इसी प्रकार द्रव्यकर्मका उपादान कारण पुद्गल द्रव्य है और निमित्त कारण औदयिक आदि भावकर्म ।। ६० ।।

आत्मा निजभावका कर्ता है परभावका नहीं

कुव्वं सगं सहावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स ।
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्वं ।।६१।।

'अपने निजभावको करता हुआ आत्मा निजभावका ही कर्ता है पुद्गलरूप द्रव्यकर्मोंका कर्ता नहीं है' ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌का वचन जानना चाहिये ।। ६१ ।।

कम्मं पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाणं।
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण ॥६२॥

जिस प्रकार कर्म स्वकीय स्वभाव द्वारा यथार्थमें अपने आपको करता है उसी प्रकार जीवद्रव्य भी स्वकीय अशुद्ध स्वभाव—रागादिपरिणाम द्वारा अपने आपको करता है। निश्चय नयसे कर्मका कर्ता कर्म है और जीवका कर्ता जीव है। जीव पुद्गल द्रव्यमें होनेवाले कर्मरूप परिणमनका कर्ता है और कर्म, जीवद्रव्यमें होनेवाले नर नारकादि परिणमनका कर्ता है' यह सब औपचारिक कथन है ॥ ६२ ॥

प्रश्न

कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं।
किध तस्स फलं भुंजदि अप्पा कम्मं च देदि फलं ॥६३॥

यदि कर्म, कर्मका कर्ता है और आत्मा, आत्माका कर्ता है तो आत्मा कर्मके फलको किस प्रकार भोगता है? और कर्म भी आत्माको किस प्रकार फल देता है?॥ ६३ ॥

उत्तर

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं वादरेहिं णंताणंतेहिं विविहेहिं ॥६४॥
अत्ता कुणदि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ॥६५॥
जह पुग्गलदव्वाणं वहुप्पयारेहिं खंधणिव्वत्ती।
अकदा परेहिं दिट्ठा तह कम्माणं वियाणाहि ॥६६॥
जीवा पुग्गलकाया अण्णोण्णागाढगहणपडिबुद्धा।
काले विजुज्जमाणा सुह दुक्खं दिंति भुंजंति ॥६७॥

यह लोक सब ओरसे सूक्ष्म और वादर भेदको लिये हुए, विविध प्रकारके अनन्तानन्त पुद्गलस्कन्धोंसे ठसाठस भरा हुआ है ॥ ६४ ॥ जब यह जीव अशुद्ध रागादि परिणामको करता है तब उस जीवके स्थानोंमें नीर क्षीरकी तरह एकावगाह होकर रहनेवाले कार्मणवर्गणारूप पुद्गल स्कन्ध स्वयं ही कर्मभावको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ६५ ॥ जिस प्रकार अन्य पुद्गलद्रव्यमें विविध प्रकारके स्कन्धोंकी रचना दूसरे द्रव्योंके द्वारा न की हुई स्वयमेव उत्पन्न देखी जाती है उसी प्रकार कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्यमें भी कर्मरूप रचना स्वयमेव हो जाती है ऐसा जानो ॥ ६६ ॥ जीव

'जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्रपुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ १३ ॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपायेऽमृतचन्द्रसूरेः

और कर्मरूप पुद्गल स्कन्ध परस्परमें एकक्षेत्रावगाहके द्वारा अत्यन्त सघन सम्बन्धको प्राप्त हो रहे हैं। जब वे उदयकालमें विछुड़ने लगते हैं—एक दूसरेसे जुदे होने लगते हैं तब जीवमें सुख दुःखादिका अनुभव होता है, बस, इसी निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धसे कहा जाता है कि कर्म सुख दुःखरूप फल देते हैं और जीव उन्हें भोगते हैं ॥ ६७ ॥

तम्हा कम्मं कत्ता भावेण हि संजुदोथ जीवस्स।
भोत्ता दु हवदि जीवो चेदगभावेण कम्मफलं ॥६८॥

इतने कथनसे यह बात सिद्ध हुई कि जीवके मिथ्यात्व रागादिभावोंसे युक्त द्रव्यकर्म, सुख दुःखादि रूप कर्मफलका कर्ता है परन्तु उसका भोक्ता चेतकभावके कारण जीव ही है।

पूर्वोक्त उद्देश्यसे यह बात फलित हुई कि निश्चय नयसे कर्म अपने आपका कर्ता है और व्यवहार नयसे जीवका। इसी प्रकार जीव भी निश्चयनयसे अपने आपका कर्ता है और व्यवहार नयसे कर्मका। यहाँ कर्म और कर्तृत्वका व्यवहार विवक्षा वश जिस प्रकार जीव और कर्म दोनों पर निर्भर ठहरता है उस प्रकार भोक्तृत्वका व्यवहार दोनों पर निर्भर नहीं ठहरता। क्योंकि भोक्ता वही हो सकता है जिसमें चेतनगुण पाया जाता हो। चूँकि चेतनगुणका सद्भाव जीवमें ही है अतः वही अशुद्धचेतकभावसे कर्मके फलका भोक्ता है ॥ ६८ ॥

संसारपरिभ्रमणका कारण

एवं कत्ता भोत्ता होज्झं अप्पा सगेहिं कम्मेहिं।
हिंडति पारमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥६९॥

इस प्रकार यह जीव अपने ही शुभाशुभ कर्मोंसे मोहके द्वारा आच्छन्न हो कर्ताभोक्ता होता हुआ [1]सान्त और अनन्त संसारमें परिभ्रमण करता रहता है ॥ ६९ ॥

मोक्षप्राप्तिका उपाय

उवसंतखीणमोहो मग्गं जिणभासिदेण समुपगदो।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो ॥७०॥

जब यह जीव जिनेन्द्र प्रणीत आगमके द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मार्गको प्राप्त हो स्वसंवेदनज्ञानरूप मार्गमें विचरण करता है और विविध उपसर्ग तथा परिषह सहन करनेमें धीर वीर हो मोहनीय कर्मका उपशम अथवा क्षय करता है तब मोक्ष नगरको प्राप्त करता है ॥ ७० ॥

जीवके अनेक भेद

एको चेव महप्पा सो दुवियप्पो त्तिलक्खणो होदि।
चदुचंकमणो भणिदो पंचग्गगुणप्पधाणो य ॥७१॥
छक्कापकमजुत्तो उवजुत्तो सत्तभंगसब्भावो।
अट्ठासओ णवत्थो जीवो दसट्ठाणगो भणिदो ॥७२॥ जुम्मं

---

१. भव्यापेक्षया सपारं (सान्तं) अभव्यापेक्षया त्वपारं (अनन्तं)। —ज० वृ०

अविनाशी चैतन्यगुणसे युक्त रहनेके कारण वह जीवरूप महात्मा सामान्यकी अपेक्षा एक प्रकारका है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके भेदसे दो प्रकारका है। कर्मचेतना कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतनासे युक्त अथवा उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्यसे युक्त होनेके कारण तीन प्रकारका है। चार गतियोंमें चङ्क्रमण करनेके कारण चार प्रकारका है। औपशमिक आदि पाँच भावोंका धारक होनेसे पाँच प्रकारका है। चार दिशा तथा ऊपर और नीचे इस प्रकार छह ओर अपक्रम करनेके कारण छह प्रकारका है। स्यादस्ति आदि सात भङ्गोंसे युक्त होनेके कारण सात प्रकारका है। आठ कर्म अथवा आठ गुणोंका आश्रय होनेसे आठ प्रकारका है। नवपदार्थ रूप प्रवृत्ति होनेसे नव प्रकारका है और पृथिवी, जल, तेज, वायु, साधारण वनस्पति, प्रत्येकवनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय इन दश भेदोंसे युक्त होनेके कारण दश प्रकारका है॥ ७१-७२॥

मुक्त जीवोंके ऊर्ध्वगमन स्वभावका वर्णन

पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेसबंधेहिं सव्वदो मुक्को।
उड्ढं गच्छदि सेसा विदिसा वज्जं गदिं जंति॥७३॥

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार प्रकारके बन्धोंसे सर्वथा निर्मुक्त हुआ जीव केवल ऊपरकी ओर जाता है—ऊर्ध्वगमन ही करता है और वाकीके जीव चार विदिशाओंको छोड़कर छह ओर गमन करते हैं॥ ७३॥

पुद्गलद्रव्यके चार भेद

खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू।
इदि ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा॥७४॥

स्कन्ध, एकस्कन्ध, स्कन्धप्रदेश और परमाणु इस प्रकार पुद्गलद्रव्यके चार भेद हैं॥ ७४॥

स्कन्ध आदिके लक्षण

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी॥७५॥

समस्त परमाणुओंसे मिलकर बना हुआ पिन्ड स्कन्ध, स्कन्धसे आधा स्कन्धदेश, स्कन्धदेशसे आधा स्कन्धप्रदेश और अविभागी अंशको परमाणु कहते हैं॥ ७५॥

स्कन्धोंके छहभेदोंका वर्णन

वादरसुहुमगदाणं खंधाणं पुग्गलोत्ति ववहारो।
ते होंति छप्पयारा तेलोक्कं जेहिं णिप्पण्णं॥७६॥

वादर और सूक्ष्म परिणमनको प्राप्त हुए स्कन्धोंका पुद्गल शब्दसे व्यवहार होता है। वे स्कन्ध १ वादरवादर, २ वादर, ३ वादरसूक्ष्म, ४ सूक्ष्मवादर, ५ सूक्ष्म और ६ सूक्ष्मसूक्ष्मके भेदसे छह प्रकारके हैं। इन्हीं छह स्कन्धोंसे तीन लोककी रचना हुई है।

जो पुद्गल पिण्ड दो खण्ड करनेपर अपने आप फिर न मिल सकें ऐसे काष्ठ पाषाण आदिको वादरवादर कहते हैं। जो पुद्गल स्कन्ध खण्ड खण्ड होनेपर फिर भी अपने आप मिल जावें ऐसे

जल घृत आदि पुद्गलोंको **बादर** कहते हैं। जो पुद्गलस्कन्ध देखनेमें स्थूल होनेपर भी ग्रहणमें न आवें ऐसे धूप छाया चाँदनी आदिको **बादरसूक्ष्म** कहते हैं। जो स्कन्ध नेत्र इन्द्रियसे ग्रहणमें न आनेके कारण सूक्ष्म हैं परन्तु अन्य इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणमें आनेसे स्थूल हैं ऐसे स्पर्श रस गन्धादिको **सूक्ष्मबादर** कहते हैं। जो स्कन्ध अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण किसी भी इन्द्रियके द्वारा ग्रहणमें नहीं आवें ऐसे कार्मण वर्गणाके द्रव्यको **सूक्ष्म** कहते हैं। और कार्मण वर्गणासे नीचे द्व्यणुकस्कन्ध पर्यन्तके पुद्गलद्रव्यको **सूक्ष्मसूक्ष्म** कहते हैं ॥ ७६ ॥

परमाणुका लक्षण

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो ॥७७॥

समस्त स्कन्धोंका जो अन्तिम भेद है उसे परमाणु जानना चाहिये। वह परमाणु नित्य है, शब्द रहित है, एक है अविभागी है मूर्तस्कन्धसे उत्पन्न हुआ है और मूर्तस्कन्धका कारण भी है ॥ ७७ ॥

परमाणुकी विशेषता

आदेशमत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु।
सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो ॥७८॥

जो गुणगुणीके संज्ञादि भेदोंसे मूर्त्तिक है, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुका समान कारण है, परिणमन शील है और स्वयं शब्द रहित है उसे परमाणु जानना चाहिये।

परमाणुको मूर्त सिद्ध करनेमें कारण स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण हैं। ये स्पर्शादि विवक्षा मात्रसे ही परमाणुसे भिन्न हैं, यथार्थमें प्रदेशभेद नहीं होनेसे अभिन्न हैं। परमाणुसे पृथिवी, जल, अग्नि और वायुकी उत्पत्ति समानरूपसे होती है। पृथिवी आदिके परमाणुओंकी जातियाँ पृथक्-पृथक् नहीं है। यह परमाणु परिणमन स्वभाववाला है इसलिये उसमें कालकृत परिणमन होनेसे पृथ्वी जल आदि रूप परिणमन स्वयं हो जाता है। इसके सिवाय स्कन्धमें जिस प्रकार शब्द होते हैं उस प्रकार परमाणुमें शब्द नहीं होते क्योंकि वह एकप्रदेशी होनेसे शब्दोत्पत्तिमें कारण नहीं है ॥ ७८ ॥

शब्दका कारण

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥७९॥

शब्द स्कन्धसे उत्पन्न होता है, स्कन्ध अनेक परमाणुओंके समुदायको कहते हैं। जब वे स्कन्ध परस्पर स्पर्शको प्राप्त होते हैं तभी शब्द उत्पन्न होता है। शब्दके उत्पादक-भाषावर्गणाके स्कन्ध निश्चित हैं अर्थात् शब्दकी उत्पत्ति भाषावर्गणाके स्कन्धोंसे ही होती है, आकाशसे नहीं। [1]अथवा उस शब्दके दो भेद है उत्पादित—पुरुषप्रयोगोत्पन्न और नियत—वैश्रसिक—मेघादिसे उत्पन्न होनेवाला शब्द।

---

१. अथवा 'उप्पादिगो' प्रायोगिकः पुरुषादिप्रयोगभवः 'णियदो' नियतो वैश्रसिको मेघादिप्रभवः। ज० वृ०

परमाणुकी अन्यविशेषताओंका वर्णन

णिच्चो णाणवकासो ण सावकासो पदेसदो भेत्ता ।
खंधाणं पि य कत्ता पविहत्ता कालखंधाणं ॥८०॥

वह परमाणु अपने एक प्रदेशरूप परिणमनसे कभी नष्ट नहीं होता इसलिये नित्य है, स्पर्शादि-गुणोंको अवकाश देनेके कारण सावकाश है, द्वितीयादि प्रदेशोंको अवकाश न देनेके कारण अनवकाश है, समुदायसे विछुड़ कर अलग हो जाता है इसलिये स्कन्धोंका भेदक है, समुदायमें मिल जाता है इसलिये स्कन्धोंका कर्ता है और चूँकि मन्दगतिके द्वारा आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश पर पहुँच कर समयका विभाग करता है इसलिये कालका तथा द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप चतुर्विध संख्याओंका विभाजक है ॥ ८० ॥

परमाणुमें रस गन्ध आदि गुणोंका वर्णन

एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं ।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणेहि ॥८१॥

जो द्रव्य एकरस, एकवर्ण, एकगन्ध, और स्पर्शोंसे सहित है, शब्दका कारण है, स्वयं शब्दसे रहित है और स्कन्धसे जुदा है अथवा स्कन्धके अन्तर्गत होनेपर भी स्वस्वभावकी अपेक्षा उससे पृथक् है उसे परमाणु जानो ॥ ८१ ॥

पुद्गलद्रव्यका विस्तार

उवभोज्जमिंदियेहिं य इंदिय काया मणो य कम्माणि ।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाणे ॥८२॥

पाँचों इन्द्रियोंके उपभोग्य विषय, पाँच इन्द्रियाँ, शरीर, मन, कर्म तथा अन्य जो कुछ मूर्तिक द्रव्य है वह सब पुद्गल द्रव्य जानना चाहिये ॥ ८२ ॥

धर्मास्तिकायका वर्णन

धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं ।
लोगोगाढं पुट्ठं पिहुलमसंखादियपदेसं ॥८३॥

धर्मास्तिकाय रस रहित है, वर्ण रहित है, गन्ध रहित है, शब्द रहित है, स्पर्श रहित है, समस्त लोकमें व्याप्त है, अखण्डप्रदेशी होनेसे स्पृष्ट है—परस्पर प्रदेशव्यवधान रहित होनेसे निरन्तर है, विस्तृत है और असंख्यात प्रदेशी है ॥ ८३ ॥

अगुरुलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं ।
गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ॥८४॥

वह धर्मास्तिकाय अपने अनन्त अगुरुलघुगुणोंके द्वारा निरन्तर परिणमन करता रहता है, स्वयं गति क्रियासे युक्त जीव और पुद्गलोंकी गति क्रियाका कारण है और स्वयं अकार्य रूप है ॥ ८४ ॥

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए।
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥८५॥

जिस प्रकार लोकमें जल मछलियोंके गमन करनेमें अनुग्रह करता है उसी प्रकार धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल द्रव्यके गमन करनेमें अनुग्रह करता है ॥ ८५ ॥

अधर्मास्तिकायका वर्णन

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ॥८६॥

जैसा धर्मास्तिकायका स्वरूप ऊपर कहा गया है वैसा ही अधर्मास्तिकायका स्वरूप जानना चाहिये। विशेषता इतनी ही है कि यह स्थितिक्रियासे युक्त जीव और पुद्गल द्रव्यके स्थिति करनेमें ठहरनेमें पृथिवीकी तरह कारण है ॥ ८६ ॥

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायकी विशेषताओंका वर्णन

जादो अलोगलोगो तेसिं सब्भावदो य गमणठिदी।
दो वि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ता य ॥८७॥

जिनके सद्भावसे लोक और आलोक हुआ है तथा गमन और स्थिति होती है वे धर्म और अधर्म दोनों ही अस्तिकाय परस्पर विभक्त हैं—जुदे-जुदे हैं, एक क्षेत्रावगाही होनेसे अविभक्त हैं और लोक प्रमाण हैं ॥ ८७ ॥

ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स।
हवदि गती सप्पसरो जीवाणं पुग्गलाणं च ॥८८॥

धर्मास्तिकाय न स्वयं गमन करता है और न प्रेरक होकर अन्य द्रव्यका गमन कराता है। वह केवल उदासीन रहकर ही जीवों और पुद्गलोंकी गतिका प्रवर्तक होता है ॥ ८८ ॥

विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
ते सगपरणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति ॥८९॥

जिन जीव और पुद्गलोंका चलना तथा स्थिर होना होता है उन्हींका फिर स्थिर होना तथा चलना होता है। इससे सिद्ध होता है कि वे अपने-अपने उपादान कारणोंसे ही गमन तथा स्थिति करते हैं। धर्म और अधर्म द्रव्य केवल सहायक कारण हैं। यदि इन्हें प्रेरक कारण माना जाय तो जो जीव या पुद्गल चलते वे चलते ही जाते और जो ठहरते वे ठहरते ही रहते क्योंकि विरुद्ध प्रवृत्तिसे दोनोंमें परस्पर मत्सर होना संभव है ॥ ८९ ॥

आकाशास्ति कायका लक्षण

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च।
जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं ॥९०॥

समस्त जीवों और पुद्गलोंको तथा धर्म, अधर्म और कालको जो सम्पूर्ण अवकाश देता है अर्थात् जिसके समस्त प्रदेशोंमें जीवादि द्रव्य व्याप्त हैं वह लोकके भीतरका आकाश है—लोकाकाश है ॥ ९० ॥

लोक और अलोकका विभाग

जीवा पुग्गलकाला धम्माधम्मा य लोगदोणण्णा ।
तत्तो अणण्णमण्णं आयासं अंतवदिरित्तं ॥९१॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पाँचों लोकसे जुदे नहीं है—इन पाँचोंका सद्भाव लोकमें ही पाया जाता है परन्तु आकाश लोकसे अपृथक् है और पृथक् भी है—आकाश लोक और आलोक दोनोंमें व्याप्त है, वह अनन्त है ॥ ९१ ॥

आकाश ही को गति और स्थितिका कारण माननेमें दोष

आगासं अवगासं गमणट्ठिदि कारणेहिं देदि जदि ।
उड्ढंगदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठंति किध तत्थ ॥९२॥

यदि ऐसा माना जाय कि आकाश ही अवकाश देता है और आकाश ही गमन तथा स्थितिका कारण है तो फिर ऊर्ध्वगतिमें जानेवाले सिद्ध परमेष्ठी लोकाग्र पर ही क्यों रुक जाते हैं ? लोकाग्रके आगे आकाशका अभाव तो है नहीं अत: उसके आगे भी उसका गमन होता रहना चाहिये परन्तु ऐसा होता नहीं है इससे सिद्ध होता है कि आकाशका काम अवकाश देना ही है और धर्म तथा अधर्मका काम चलने और ठहरनेमें सहायता देना ही ॥ ९२ ॥

जम्हा उवरिट्ठाणं सिद्धाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
तह्मा गमणट्ठाणं आयासे जाण णत्थित्ति ॥९३॥

यत: जिनेन्द्र भगवान्ने सिद्धोंका अवस्थान लोकके अग्रभागमें ही बतलाया है अतः आकाशमें गमन और स्थितिका हेतुत्व नहीं पाया जा सकता ऐसा जानना चाहिये ॥ ९३ ॥

जदि हवदि गमणहेदू आगासं ठाणकारणं तेसिं ।
पसजदि अलोगहाणी लोगस्स य अंतपरिवुड्ढी ॥९४॥

यदि आकाशको जीव और पुद्गलोंकी गति तथा स्थितिका कारण माना जायगा तो अलोककी हानि होगी और लोकके अन्तकी वृद्धि भी। अलोकका व्यवहार मिट जायगा और लोकको सीमा टूट जायगी ॥ ९४ ॥

तम्हा धम्माधम्मा गमणट्ठिदिकारणाणि णागासं ।
इदि जिणवरेहिं भणिदं लोगसहावं सुणंताणं ॥९५॥

'इसलिये धर्म और अधर्म द्रव्य ही गमन तथा स्थितिके कारण हैं, आकाश नहीं हैं' ऐसा जिनेन्द्रदेवने लोकका स्वभाव सुननेवालोंसे कहा है ॥ ९५ ॥

धर्म, अधर्म और आकाशकी एकरूपता तथा अनेकरूपताका वर्णन

धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समाणपरिमाणा ।
पुधगुवलद्धिविसेसा करंति एगत्तमण्णत्तं ॥९६॥

धर्म, अधर्म और लोकाकाश ये तीनों ही द्रव्य एक क्षेत्रावगाही होनेसे अपृथग्भूत हैं, समान-परिणामवाले हैं और अपने अपने विशेष स्वभावको लिये हुए हैं। ये तीनों व्यवहारनयकी अपेक्षा एक क्षेत्रावगाही होनेसे एक भावको और निश्चयनयकी अपेक्षा जुदी जुदी सत्ता के धारक होनेसे भेदभावको करते हैं ॥ ९६ ॥

द्रव्योंमें मूर्त और अमूर्तद्रव्यका विभाग

आगासकालजीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा ।
मुत्तं पुग्गलदव्वं जीवो खलु चेदणो तेसु ॥९७॥

आकाश, काल, जीव, धर्म और अधर्म ये पाँच द्रव्य मूर्ति—रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसे रहित हैं,केवल पुद्गल द्रव्य मूर्त्त है। उक्त छहों द्रव्योंमें जीवद्रव्य ही चेतन है अवशिष्ट पाँच द्रव्य अचेतन हैं ॥ ८७ ॥

जीव और पुद्गलद्रव्य ही क्रियावन्त हैं

जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा ।
पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु ॥९८॥

जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्य ही क्रिया सहित हैं, अवशिष्ट चार द्रव्य क्रियासहित नहीं हैं। जीवद्रव्य पुद्गलका निमित्त पाकर और पुद्गल स्कन्ध कालद्रव्यका निमित्त पाकर क्रियायुक्त होते हैं ॥ ९८ ॥

मूर्तिक और अमूर्तिकका लक्षण

जे खलु इन्द्रियगेज्झा विसया जीवेहिं हुंति ते मुत्ता ।
सेसं हवदि अमुत्तं चित्तं उभयं समादियदि ॥९९॥

जीव जिन पदार्थोंको इन्द्रियद्वारा ग्रहण करते हैं—जानते हैं वे मूर्तिक हैं और बाकीके अमूर्तिक हैं। मन मूर्तिक तथा अमूर्तिक दोनों प्रकारके पदार्थोंको जानता है ॥९९॥

कालद्रव्यका कथन

कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूदो ।
दोण्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो ॥१००॥

व्यवहारकाल जीव पुद्गलोंके परिणामसे उत्पन्न है तथा जीव पुद्गलोंका परिणाम निश्चय कालाणुरूप कालद्रव्यसे संभूत है। जीव और पुद्गलके परिणमनको देखकर व्यवहारकालका ज्ञान होता है और चूँकि विना निश्चयकालके जीव पुद्गलोंका परिणमन नहीं हो सकता इसलिये जीव

पुद्गलके परिणमनसे निश्चयकालका ज्ञान होता है। दोनों कालोंका यही स्वभाव है। व्यवहारकाल पर्याय प्रधान होनेसे क्षणभङ्गुर है और निश्चयकाल द्रव्यप्रधान होनेसे नित्य है ॥ १०० ॥

कालो त्ति य ववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई ॥१०१॥

'यह काल है' इसप्रकार जिसका व्यपदेश-उल्लेख होता है वह अपना सद्भाव बतलाता हुआ नित्यद्रव्य है। जिसप्रकार 'सिंह' यह शब्द सिंह शब्दवाच्य मृगेन्द्र अर्थका प्ररूपक है उसीप्रकार 'काल' यह शब्द, कालशब्दवाच्य निश्चयकालद्रव्यका प्ररूपक है। दूसरा व्यवहारकाल उत्पन्न होता है और नष्ट होता है तथा समयोंकी परम्पराकी अपेक्षा स्थायी भी है ॥ १०१ ॥

जीवादि द्रव्य अस्तिकाय है, काल अस्तिकाय नहीं है

एदे कालागासा धम्माधम्मा य पुग्गला जीवा।
लब्भंति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्तं ॥१०२॥

यही सब जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश द्रव्य व्यपदेशको प्राप्त हैं—द्रव्य कहलाते हैं परन्तु जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशमें बहुप्रदेशी होनेसे जिसप्रकार अस्तिकाय-पना है उस प्रकार कालद्रव्यमें नहीं है। कालद्रव्य एक प्रदेशात्मक होनेसे अस्तिकाय नहीं है ॥१०२॥

पञ्चास्तिकाय संग्रहके जाननेका फल

एवं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं वियाणित्ता।
जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं ॥१०३॥

इस प्रकार पञ्चास्तिकायके संग्रहस्वरूप द्वादशांगके सारको जानकर जो राग और द्वेष छोड़ता है वह संसारके दुःखोंसे छुटकारा पाता है ॥ १०३ ॥

मुणिऊण एतदट्ठं तदणुगमणुज्झदो णिहदमोहो।
पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरावरो जीवो ॥१०४॥

इस शास्त्रके रहस्यभूत शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्माको जानकर जो पुरुष तन्मय होनेका प्रयत्न करता है वह दर्शन मोहको नष्टकर राग द्वेषका प्रशमन करता हुआ संसार रहित हो जाता है। पूर्वापर बन्धसे रहित हो मुक्त हो जाता है ॥ १०४ ॥

इस प्रकार छह द्रव्य और पञ्चास्तिकायका वर्णन करनेवाला
प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

०

मोक्षमार्गके कथनकी प्रतिज्ञा

अभिवंदिऊण सिरसा अपुणब्भवकारणं महावीरं ।
तेसिं पयत्थभंगं मग्गं मोक्खस्स वोच्छामि ॥१०५॥

अब मैं मोक्षके कारणभूत श्री महावीरस्वामीको मस्तकद्वारा नमस्कारकर मोक्षके मार्गस्वरूप नव पदार्थोंको कहूँगा ॥ १०५ ॥

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता मोक्षका मार्ग है

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं ।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं ॥१०६॥

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त राग द्वेष रहित सम्यक् चारित्र मोक्षका मार्ग है। यह मोक्षका मार्ग स्वपरभेद विज्ञानी भव्यजीवोंको ही प्राप्त होता है ॥ १०६ ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका स्वरूप

सम्मत्तं सद्दहणं, भावाणं तेसिमधिगमो णाणं ।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं[1] ॥१०७॥

पूर्वोक्त जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उन्हींका ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और पञ्चेन्द्रियोंके इष्ट अनिष्ट विषयोंमें समताभाव धारण करना सम्यक्चारित्र है। यह मोक्षमार्गमें दृढ़ताके साथ प्रवृत्ति करनेवालोंके ही होता है ॥ १०७ ॥

नौ पदार्थोंके नाम

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं ।
संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ॥१०८॥

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ हैं ॥ १०८ ॥

जीवोंके भेद

जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा ।
उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा ॥१०९॥

जीव दो प्रकारके हैं संसारी और मुक्त। दोनों ही चैतन्यस्वरूप और उपयोग लक्षणसे युक्त हैं। संसारी जीव शरीरसे युक्त हैं और मुक्त जीव शरीरसे रहित हैं ॥ १०९ ॥

---

१. 'सम्यग्दर्शनज्ञानसन्निधानादमार्गेभ्यः समग्रेभ्यः परिच्युत्य स्वतत्त्वे विशेषेण रूढमार्गाणां सतामिन्द्रियानिन्द्रियविषयभूतेष्वर्थेषु' ता० वृ० 'पूर्वोक्तसम्यक्त्वज्ञानबलेन समस्तान्यमार्गेभ्यः प्रच्युत्य विशेषेण रूढमार्गाणां परिज्ञातमोक्षमार्गाणाम्' —ज० वृ०

स्थावरकायका वर्णन

पुढवी य उदगमगणी वाउवणप्फदिजीवसंसिदा काया।
देंति खलु मोहवहुलं फासं वहुगा वि ते तेसिं ॥११०॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पुद्गलके पर्याय जीवके साथ मिलकर काय कहलाने लगते हैं। यद्यपि ये अपने अवान्तर भेदोंकी अपेक्षा वहुत प्रकारके हैं तथापि स्पर्शनेन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे युक्त एकेन्द्रियजीवोंको मोह वहुल स्पर्श प्राप्त कराते हैं ॥ ११० ॥

स्थावर और त्रसका विभाग

ति त्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया ॥१११॥

उक्त पाँच प्रकारके जीवोंमें स्थावरशरीर प्राप्त होनेसे पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक ये तीन स्थावर कहलाते हैं और चलनात्मक शरीर प्राप्त होनेसे अग्निकायिक तथा वायुकायिक त्रस कहलाते हैं। ये सभी जीव मनसे रहित हैं और एकेन्द्रिय हैं[1] ॥ १११ ॥

पृथिवीकायिक आदि स्थावर एकेन्द्रिय ही हैं

एदे जीवणिकाया पंचविहा पुढविकाइयादीया।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एगेंदिया भणिया ॥११२॥

ये पृथिवीकायिक आदि पाँच प्रकारके जीव मन रहित हैं और एकेन्द्रियजाति नामकर्मका उदय होनेसे सभी एकेन्द्रिय कहे गये हैं ॥ ११२ ॥

एकेन्द्रियोंमें जीवके अस्तित्वका समर्थन

अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया ॥११३॥

जिस प्रकार अण्डोंमें बढ़नेवाले तिर्यञ्चों और गर्भमें स्थित तथा मूर्च्छित मनुष्योंमें बुद्धिपूर्वक बाह्य व्यापार न दिखनेपर भी जीवत्वका निश्चय किया जाता है उसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवोंके भी बाह्य-व्यापार न दिखने पर भी जीवत्वका निश्चय किया जाता है ॥ ११३ ॥

द्वीन्द्रिय जीवोंका वर्णन

संवुक्कमादुवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी।
जाणंति रसं फासं जे ते वे इंदिया जीवा ॥११४॥

जो शंबूक, मातृवाह, शङ्ख तथा पादरहित कृमि-लट आदि जीव केवल स्पर्श और रसको जानते हैं वे दो इन्द्रिय जीव हैं ॥ ११४ ॥

---

१. यहाँ अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंको जो त्रस कहा है वह केवल उनके शरीरकी चलनात्मक क्रिया देखकर ही कहा है। यथार्थमें इन सवके त्रस नामकर्मका उदय न होकर स्थावर नामकर्मका उदय रहता है अतः वे सभी स्थावर ही हैं।

त्रीन्द्रिय जीवोंका वर्णन

जूगागुंभीमक्कणपिपीलिया विच्छियादिया कीडा।
जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा ॥११५॥

यतः जूँ, कुम्भी, खटमल, चींटी तथा बिच्छू आदि कीड़े स्पर्श, रस और गन्धको जानते हैं अतः वे तीन इन्द्रिय जीव हैं ॥ ११५ ॥

चतुरिन्द्रिय जीवोंका वर्णन

उद्दंसमसयमक्खियमधुकरभमरा पतंगमादीया।
रूपं रसं च गंधं फासं पुण ते वि जाणंति ॥११६॥

डांस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भ्रमर और पतङ्ग आदि जीव स्पर्श, रस, गन्ध और रूपको जानते हैं अतः वे चार इन्द्रिय जीव हैं ॥ ११६ ॥

पञ्चेन्द्रिय जीवोंका वर्णन

सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फास गंधसद्दण्हू।
जलचर थलचर खचरा वलिया पंचेंदिया जीवा ॥११७॥

देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यञ्च वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दको जानते हैं, अतः पाँच इन्द्रिय हैं। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च जलचर, स्थलचर और नभश्चरके भेदसे तीन प्रकारके हैं। सभी पञ्चेन्द्रिय कायबल, वचनबल और यथासंभव मनोबलसे युक्त होते हैं ॥ ११७ ॥

देवा चउण्णिकाया मणुया पुण कम्मभोगभूमीया।
तिरिया बहुप्पयारा णेरइया पुढविभेयगदा ॥११८॥

देव भवनवासी, व्यन्तर, ज्यौतिष और वैमानिकके भेदसे चार प्रकारके हैं, मनुष्य, कर्म-भूमि और भोगभूमिके भेदसे दो प्रकारके हैं, तिर्यञ्च अनेक प्रकारके हैं और नारकी रत्नप्रभा आदि पृथिवियोंके भेदसे सात प्रकारके हैं ॥ ११८ ॥

जीवोंका अन्य पर्यायोंमें गमन

खीणे पुव्वणिवद्धे गदिणामे आउसे च ते वि खलु।
पापुण्णंति य अण्णं गदिमाउस्सं सलेस्सवसा ॥११९॥

पूर्वनिवद्ध गतिनामकर्म तथा आयुकर्मके क्षीण हो जानेपर वे जीव निश्चयसे अपनी-अपनी लेश्याओंके अनुसार अन्य गति और अन्य आयुको प्राप्त होते हैं ॥ ११९ ॥

संसारी, मुक्त, भव्य तथा अभव्योंका वर्णन

एदे जीवणिकाया देहप्पविचारमस्सिदा भणिदा।
देहविहूणा सिद्धा भव्वा संसारिणो अभव्वा य ॥१२०॥

ऊपर कहे हुए ये समस्त जीव शरीरके परिवर्तनको प्राप्त हैं—एकके वाद एक शरीरको

बदलते रहते हैं। सिद्धजीव शरीरसे रहित हैं और संसारी जीव भव्य-अभव्यके भेदसे दो प्रकारके हैं ॥ १२० ॥

इन्द्रियादिक जीव नहीं हैं

ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता ।
जं हवदि तेसु णाणं जीवो त्ति य तं परूवंति ॥१२१॥

न स्पर्शनादि इन्द्रियाँ जीव हैं, न उल्लिखित पृथिवीकायादि छह प्रकारके काय जीव हैं किन्तु उनमें जो ज्ञान है—चैतन्य है वही जीव है ऐसा महापुरुष कहते हैं ॥ १२१ ॥

जीवकी विशेषता

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं विभेदि दुक्खादो ।
कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं ॥१२२॥

जीव सबको जानता है, सबको देखता है, सुखको चाहता है, दुःखसे डरता है, शुभ कार्य करता है, अशुभ कार्य करता है और उनके फल भी भोगता है ॥ १२२ ॥

एवमभिगम्म जीवं अण्णेहिं वि पज्जएहिं वहुगेहिं ।
अभिगच्छदु अज्जीवं णाणंतरिदेहिं लिंगेहिं ॥१२३॥

इस प्रकर और भी अनेक पर्यायोंके द्वारा जीवको जानकर ज्ञानसे भिन्न स्पर्श आदि चिह्नोंसे अजीवको जानो ॥ १२३ ॥

द्रव्योंमें चेतन और अचेतनका वर्णन

आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा ।
तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा ॥१२४॥

आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्ममें जीवके गुण नहीं हैं, उनमें अचेनता कही गई है। चेतनता केवल जीवका ही गुण है ॥ १२४ ॥

अजीवका लक्षण

सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं ।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा विंति अज्जीवं ॥१२५॥

जिसमें सुख-दुःखका ज्ञान, हितकी प्रवृत्ति और अहितका भय नहीं है, गणधरादि मुनि उसे अजीव कहते हैं ॥ १२५ ॥

शरीररूप पुद्गल और जीवमें पृथक्त्वपनका वर्णन

संठाणा संघादा वण्णरसप्फासगंधसद्दा य ।
पोग्गलदव्वप्पभवा होंति गुणा पज्जया य वहू ॥१२६॥

अरसमरूवमगंधमव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।१२७।।

समचतुरस्र आदि संस्थान, औदारिकादि शरीरसम्बन्धी संघात, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द आदि जो अनेक गुण तथा पर्याय दिखती हैं वे सब पुद्गल द्रव्यसे समुत्पन्न हैं। परन्तु जीव रसरहित है, रूपरहित है, गन्धरहित है, अव्यक्त है, चेतनागुणसे युक्त है, शब्दरहित है, बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा अग्राह्य है और संस्थान—आकार रहित है, ऐसा जानो ।। १२६-१२७ ।।

जीवके संसारभ्रमणका कारण

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ।।१२८।।
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्द्रियाणि जायंते ।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ।।१२९।।
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ।।१३०।।

जो यह संसारी जीव है उसके राग द्वेष आदि अशुद्धभाव होते हैं, उनसे ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका बन्ध होता है, कर्मोंसे एक गतिसे दूसरी गति प्राप्त होती है, गतिको प्राप्त हुए जीव के औदारिकादि शरीर होता है, शरीरसे इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं, इन्द्रियोंसे विषय ग्रहण होता है और उससे राग तथा द्वेष उत्पन्न होते हैं, संसाररूपी चक्रमें भ्रमण करनेवाले जीवके ऐसे अशुद्ध भाव अभव्यकी अपेक्षा अनादि अनन्त और भव्यकी अपेक्षा अनादि-सान्त होते हैं, ऐसा श्रीजिनेन्द्र देवने कहा है ।। १२८–१३० ।।

जीवके शुभ अशुभभावोंका वर्णन

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि ।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ।।१३१।।

जिस जीवके हृदयमें मोह, राग, द्वेष और चित्तकी प्रसन्नता रहती है उसके शुभ अथवा अशुभ परिणाम अवश्य होते हैं अर्थात् जिसके हृदयमें प्रशस्त राग और चित्तकी प्रसन्नता होगी उसके शुभ परिणाम होंगे और जिसके हृदयमें मोह, द्वेष, अप्रशस्त राग तथा चित्तका अनुत्साह होगा उसके अशुभ परिणाम होंगे ।। १३१ ।।

पुण्य और पापका लक्षण

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावंति हवदि जीवस्स ।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो ।।१३२।।

जीवका शुभ परिणाम पुण्य कहलाता है और अशुभ परिणाम पाप। इन दोनों ही परिणामों से कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य कर्म अवस्थाको प्राप्त होता है ।। १३२ ।।

कर्म मूर्तिक हैं

जह्मा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं ।
जीवेण सुहं दुक्खं तह्मा कम्माणि मुत्ताणि ॥१३३॥

चूँकि कर्मोंके फलभूत सुख दुःखादिके कारणरूप विषयोंका उपभोग स्पर्शनादि मूर्त्त इन्द्रियोंके द्वारा होता है अतः कर्म मूर्त हैं ॥ १३३ ॥

पूर्व मूर्त कर्मोंके साथ नवीन मूर्त कर्मोंका बंध होता है

मुत्तो फासदि मुत्तं मुत्तो मुत्तेण बंधमणुहवदि ।
जीवो मुत्तिविरहिदो गाहदि ते तेहिं उग्गहदि ॥१३४॥

इस संसारी जीवके अनादि परम्परासे आये हुए मूर्त कर्म विद्यमान हैं। वे मूर्त कर्म ही आगामी मूर्तकर्मका स्पर्श करते हैं। अतः मूर्तद्रव्य ही मूर्तद्रव्यके साथ वन्धको प्राप्त होता है। जीव मूर्तिरहित है—अमूर्त है अतः यथार्थमें उसका कर्मोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु मूर्त कर्मोंके साथ सम्बन्ध होनेके कारण व्यवहारनयसे जीव मूर्तिक कहा जाता है। अतः वह रागादि परिणामोंसे स्निग्ध होनेके कारण मूर्त कर्मोंके साथ सम्वन्धको प्राप्त होता है और कर्म जीवके साथ सम्वन्वको प्राप्त होते हैं ॥ १३४ ॥

पुण्यकर्मका आस्रव किसके होता है ?

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।
चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥१३५॥

जिस जीवका राग प्रशस्त है, परिणाम दयासे युक्त है और हृदय कलुपतासे रहित है उसके पुण्यकर्मका आस्रव होता है ॥ १३५ ॥

प्रशस्त रागका लक्षण

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा ।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ॥१३६॥

अरहन्त सिद्ध साधुओंमें भक्ति होना, शुभरागरूप धर्ममें प्रवृत्ति होना तथा गुरुओंके अनुकूल चलना यह सब प्रशस्त राग है, ऐसा पूर्व महर्षि कहते हैं ॥ १३६ ॥

अनुकम्पाका लक्षण

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥१३७॥

जो भूखे प्यासे अथवा अन्य प्रकारसे दुःखी प्राणीको देखकर स्वयं दुःखित हृदय होता हुआ दयापूर्वक उसे अपनाता है—उसका दुःख दूर करनेका प्रयत्न करता है उसके अनुकम्पा होती है ॥ १३७ ॥

कालुष्यका लक्षण

कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज ।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा वेंति ॥१३८॥

क्रोध, मान, माया और लोभ चित्तको प्राप्त कर आत्मामें जो क्षोभ उत्पन्न करते हैं पण्डित जन उसे कालुष्य कहते हैं ॥ १३८ ॥

पापास्रवके कारण

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु ।
परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ॥१३९॥

प्रमादसे भरी हुई प्रवृत्ति, कलुषता, विषयोंकी लोलुपता, दूसरेको संताप देना और उसका अपवाद करना यह सब पापास्रवके कारण हैं ॥ १३९ ॥

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि[1] ।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ॥१४०॥

आहार आदि चार संज्ञाएँ, कृष्ण आदि तीन लेश्यायें, पञ्चेन्द्रियोंकी पराधीनता, आर्त्त-रौद्रध्यान, असत्कार्यमें प्रयुक्त ज्ञान और मोह ये सब पापास्रव करनेवाले हैं ॥ १४० ॥

पापास्रवको रोकनेवाले जीवोंका वर्णन

इंदियकसायसण्णा णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठुमग्गम्मि ।
जावत्तावत्तेहिं पिहियं पापासवं छिद्दं ॥१४१॥

जो इन्द्रिय, कषाय और संज्ञाओंको जितने अंशोंमें अथवा जितने समय तक समीचीन मार्गमें नियन्त्रित कर लेते हैं उनके उतने ही अंशोंमें अथवा उतने ही समय तक पापास्रवका छिद्र वन्द रहता है—पापास्रवका संवर रहता है ॥ १४१ ॥

शुद्धोपयोगी जीवोंका वर्णन

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥१४२॥

जिसके सब द्रव्योंमें न राग है, न द्वेष है, न मोह है, सुख दुःखमें मध्यस्थ रहनेवाले उस भिक्षुके शुभ और अशुभ—दोनों प्रकारका आस्रव नहीं होता ॥ १४२ ॥

जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पावं च णत्थि विरदस्स ।
संवरणं तस्स तदा सुहासुहकदस्स कम्मस्स ॥१४३॥

समस्त परद्रव्योंका त्याग करनेवाले व्रती पुरुषके जब पुण्य और पाप दोनों प्रकारके योगोंका

---

१. 'अट्टरुद्दाणि' इत्यपि पाठः ।

अभाव हो जाता है तब उसके पुण्य और पाप योगके द्वारा होनेवाले कर्मोका संवर हो जाता है ।। १४३ ।।

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं ।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ।।१४४।।

जो संवर और शुद्धोपयोगसे युक्त होता हुआ अनेक प्रकारके तपोंमें प्रवृत्ति करता है वह निश्चय ही बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा करता है ।। १४४ ।।

जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं ।
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं ।।१४५।।

आत्माके प्रयोजनको सिद्ध करनेवाला जो पुरुष संवरसे युक्त होता हुआ आत्माको ज्ञानस्वरूप जानकर उसका ध्यान करता है वह निश्चित ही कर्मरूप धूलिको उड़ा देता है—नष्टकर देता है ।। १४५ ।।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी ।।१४६।।

जिसके न राग है, न द्वेष है, न मोह है और न ही योगोंका परिणमन है उसके शुभ अशुभ कर्मोंको जलानेवाली ध्यानरूपी अग्नि उत्पन्न होती है ।। १४६ ।।

कर्मबन्धका कारण

जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा ।
सो तेण हवदि बंधो पोग्गलकम्मेण विविहेण ।।१४७।।

जब यह आत्मा पूर्व कर्मोदयसे होनेवाले शुभ-अशुभ परिणामोंको करता है तब अनेक पौद्गलिक कर्मोंके साथ बन्धको प्राप्त होता है ।। १४७ ।।

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो ।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ।।१४८।।

कर्मोका ग्रहण योगोंके निमित्तसे होता है, योग मन वचन कायके व्यापारसे होते हैं, बन्ध भावोंके निमित्तसे होता है और भाव रति राग द्वेष तथा मोहसे युक्त होते हैं। [मन वचन और कायके व्यापारसे आत्माके प्रदेशोंमें जो परिष्पन्द पैदा होता है उसे योग कहते हैं, इस योगके निमित्तसे ही कर्मोका ग्रहण—आस्रव होता है। रति राग द्वेष मोहसे युक्त आत्माके परिणामको भाव कहते हैं, कर्मोका बन्ध इसी भावके निमित्तसे होता है।] ।। १४८ ।।

कर्मबन्धके चार प्रत्यय-कारण

हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ।।१४९।।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार प्रकारके प्रत्यय ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मोंके कारण कहे गये हैं। उन मिथ्यात्व आदिका कारण रागादि विभाव हैं। जब इनका भी अभाव हो जाता है तब कर्मोंका बन्ध रुक जाता है ॥ १४९ ॥

आस्रवनिरोध—संवरका वर्णन

हेदुमभावे[1] णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो ॥१५०॥
कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य।
पावदि इंदियरहिदं अव्वाबाहं सुहमणंतं ॥१५१॥ जुम्मं

रागादि हेतुओंका अभाव होनेपर ज्ञानी जीवके नियमसे आस्रवका निरोध हो जाता है, आस्रवके न होनेसे कर्मोंका निरोध हो जाता है, और कर्मोंका निरोध होनेसे यह जीव सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी बनकर अतीन्द्रिय, अव्याबाध और अनन्त सुखको प्राप्त हो जाता है ॥ १५०-१५१ ॥

ध्यान, निर्जराका कारण है

दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स ॥१५२॥

ज्ञान और दर्शनसे सम्पन्न तथा अन्य द्रव्योंके संयोगसे रहित ध्यान स्वभावसहित साधुके निर्जराका कारण होता है ॥ १५२ ॥

मोक्षका कारण

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध[2] सव्वकम्माणि।
ववगदवेदाउस्सो मुंयदि[3] भवं तेण सो मोक्खो ॥१५३॥

जो जीव संवरसे युक्त होता हुआ समस्त कर्मोंकी निर्जरा करता है और वेदनीय तथा आयु-कर्मको नष्टकर नामगोत्र रूप संसार अथवा वर्तमान पर्यायका भी परित्याग करता है उसके मोक्ष होता है ॥ १५३ ॥

इस प्रकार मोक्षमार्गके अवयवभूत सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विषयभूत नौ पदार्थोंका व्याख्यान करनेवाला द्वितीय महाधिकार समाप्त हुआ।

●

---

१. 'हेदु अभावे' इति ज० वृ० संमतः पाठः।
२. 'णिज्जरमाणो य' ३. 'मुअदि' इति ज० वृ० संमतः पाठः।

ज्ञान, दर्शन और चारित्रका स्वरूप

जीवसहावं णाणं अप्पडिहददंसणं अणण्णमयं ।
चरियं च तेसु णियदं अत्थित्तमणिंदियं भणियं ॥१५४॥

ज्ञान और अखण्डित दर्शन ये दोनों जीवके अपृथग्भूत स्वभाव हैं । इन दोनोंका जो निश्चल और निर्मल अस्तित्व है वही चारित्र कहलाता है ॥ १५४ ॥

जीवके स्वसमय और परसमयकी अपेक्षा भेद

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओध[1] परसमओ ।
जदि कुणदि सगं समयं पब्भस्सदि कम्मबंधादो ॥१५५॥

यद्यपि यह जीव निश्चयनयसे स्वभावमें नियत है तथापि परद्रव्योंके गुण पर्यायोंमें रत होनेके कारण परसमयरूप हो रहा है । जब यह जीव स्वसमयको करता है—पर द्रव्यसे हटकर स्वस्वरूपमें रत होता है तब कर्मबन्धनसे रहित होता है ॥ १५५ ॥

परसमयका लक्षण

जो परदव्वम्मि सुहं असुहं रागेण कुणदि जदि भावं ।
सो सगचरित्तभट्ठो परचरियचरो हवदि जीवो ॥१५६॥

जो जीव रागसे परद्रव्यमें शुभ अथवा अशुभ भाव करता है वह स्वचरितसे भ्रष्ट होकर परचरित—परसमयका आचरण करनेवाला होता है ॥ १५६ ॥

आसवदि जेण पुण्णं पावं वा अप्पणोध भावेण ।
सो तेण परचरित्तो हवदित्ति जिणा परूवंति ॥१५७॥

आत्माके जिस भावसे पुण्य और पाप कर्मका आस्रव होता है, उस भावसे यह जीव परचरित—परसमयका आचरण करनेवाला होता है ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेव कहते हैं ॥ १५७ ॥

स्वसमयका लक्षण

जो सव्वसंगमुक्को णण्णमणो अप्पणं सहावेण ।
जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो ॥१५८॥

जो समस्त परिग्रहसे मुक्त हो परद्रव्यसे चित्त हटाता हुआ शुद्धस्वभावसे आत्माको जानता और देखता है वही जीव स्वचरित—स्वसमयका आचरण करता है ॥ १५८ ॥

स्वसमयका आचरण कौन करता है ?

चरियं चरदि सगं सो जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा ।
दंसणणाणवियप्पं अवियप्पं चरदि अप्पादो ॥१५९॥

---

१. 'पज्जलो य' ज० वृ० ।

जो परद्रव्यमें आत्मभावनासे रहित होकर आत्माके ज्ञानदर्शनरूप विकल्पको भी निर्विकल्प—अभेदरूपसे अनुभव करता है वह स्वचरित—स्वसमयका आचरण करता है ॥ १५९ ॥

व्यवहार मोक्षमार्गका वर्णन

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं ।
चिट्ठा तवं हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६०॥

धर्म आदि द्रव्योंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, अङ्ग और पूर्वमें प्रवृत्त होनेवाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और तप धारण करना सम्यक्चारित्र है। इन तीनोंका एक साथ मिलना व्यवहार मोक्षमार्ग है ॥ १६० ॥

निश्चय मोक्षमार्गका वर्णन

णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा ।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६१॥

निश्चय नयसे जो आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे तन्मय हो अन्य परद्रव्यको न करता है, न छोड़ता है वही मोक्षमार्ग है, ऐसा कहा गया है ॥ १६१ ॥

अभेदरत्नत्रयका वर्णन

जो चरदि णादि पिच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं ।
सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्चिदो होदि ॥१६२॥

अब तकके कथनसे यह निश्चित होता है कि जो जीव परपदार्थसे भिन्न आत्मस्वरूपमें चरण करता है उसे ही जानता और देखता है वही सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है ॥ १६२ ॥

जेण विजाणदि सव्वं पेच्छदि सो तेण सोक्खमणुहवदि ।
इदि तं जाणदि भविओ अभव्वसत्तो ण सद्दहदि ॥१६३॥

'चूँकि वह पुरुष—आत्मा समस्त वस्तुओंको जानता और देखता है इसलिये अनाकुलतारूप अनन्त सुखका अनुभव करता है' ऐसा भव्य जीव जानता है—श्रद्धान करता है परन्तु अभव्य जीव ऐसा श्रद्धान नहीं करता ॥ १६३ ॥

सम्यग्दर्शनादि ही मोक्षके मार्ग हैं

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गोत्ति सेविदव्वाणि ।
साधूहि इदं भणिदं तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ॥१६४॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग हैं इसलिये सेवन करने योग्य हैं—धारण करने योग्य हैं ऐसा साधु पुरुषोंने कहा है। और यह भी कहा है कि उक्त तीनों यदि पराश्रित होंगे तो उनसे बन्ध होगा और स्वाश्रित होंगे तो मोक्ष होगा ॥ १६४ ॥

पुण्य मोक्षका साक्षात् कारण नहीं है

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो ।
हवदित्ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो ॥१६५॥

यदि कोई ज्ञानी पुरुष अज्ञानवश ऐसा माने कि शुद्धसंप्रयोग—अर्हद्भक्ति आदिके द्वारा दुःखोंसे मोक्ष होता है तो वह परसमयरत है ॥ १६५ ॥

अरहंतसिद्धचेदियपवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो ।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण दु सो कम्मक्खयं कुणदि ॥१६६॥

अरहन्त, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन, मुनिसमूह और भेद विज्ञान आदिकी भक्तिसे युक्त हुआ जीव बहुतवा पुण्यबन्ध करता है परन्तु कर्मोका क्षय नहीं करता है ॥ १६६ ॥

अणुमात्र भी राग स्वसमयका बाधक है

जस्स हिदयेणुमत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो ।
सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरो वि ॥१६७॥

जिसके हृदयमें परद्रव्यसम्बन्धी थोड़ा भी राग विद्यमान है वह समस्त शास्त्रोंका पारगामी होनेपर भी स्वकीय समयको नहीं जानता है ॥ १६७ ॥

शुद्धात्मस्वरूपके सिवाय अन्यत्र विषयोंमें चित्तका भ्रमण संवरका बाधक है

धरिदुं जस्स ण सक्कं चित्तुब्भामं विणा दु अप्पाणं ।
रोधो तस्स ण विज्जदि सुहासुहकदस्स कम्मस्स ॥१६८॥

शुद्ध आत्मस्वरूपके सिवाय अन्य विषयोंमें होनेवाला जिसका चित्तसंचार नहीं रोका जा सकता हो उसके शुभअशुभभावोंसे किये हुए कर्मोका संवर नहीं हो सकता है ॥ १६८ ॥

तह्मा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य हविय पुणो ।
सिद्धेसु कुणदि भत्तिं णिव्वाणं तेण पप्पोदि ॥१६९॥

इसलिये मोक्षाभिलाषी पुरुष निष्परिग्रह और निर्ममत्व होकर परमात्म स्वरूपमें भक्ति करता है और उससे मोक्षको भी प्राप्त होता है ॥ १६९ ॥

भक्तिरूप शुभराग मोक्षप्राप्तिका साक्षात् कारण नहीं है

सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स ।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपओत्तस्स ॥१७०॥

जीव अजीव आदि नव पदार्थों तथा तीर्थंकर आदि पूज्य पुरुषोंमें जिसकी भक्तिरूप बुद्धि लग रही है उसको मोक्ष बहुत दूर है, भले ही वह आगमका श्रद्धानी और संयम तथा तपश्चरणसे युक्त क्यों न हो ॥ १७० ॥

अरहंतसिद्धचेदियपवयणभत्तो परेण णियमेण ।
जो कुणदि तवो कम्मं सो सुरलोगं समादियदि ॥१७१॥

जो अरहन्त, सिद्ध, जिनप्रतिमा और जिनशास्त्रोंका भक्त होता हुआ उत्कृष्ट संयमके साथ तपश्चरण करता है वह नियमसे देवगति ही प्राप्त करता है ।। १७१ ।।

वीतराग आत्मा ही संसारसागरसे पार होता है

तह्मा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदि मा किंचि ।
सो तेण वीदरागो भवियो भवसायरं तरदि ॥१७२॥

इसलिये मोक्षका इच्छुक भव्य किसी भी वाह्य पदार्थमें कुछ भी राग नहीं करे क्योंकि ऐसा करनेसे ही वह वीतराग होता हुआ संसार समुद्रसे तर सकता है ।। १७२ ।।

समारोप वाक्य

मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया ।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं ॥१७३॥

जिसमें समस्त द्वादशाङ्गका रहस्य निहित है ऐसा यह पञ्चास्तिकायोंका संग्रह करनेवाला संक्षिप्त शास्त्र मैंने जिनवाणीकी भक्तिसे प्रेरित होकर केवल मोक्षमार्गकी प्रभावनाके लिये ही कहा है ।। १७३ ।।

इस प्रकार पञ्चास्तिकाय ग्रन्थमें नव पदार्थ तथा मोक्षमार्गके विस्तारका
वर्णन करनेवाला द्वितीय श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ ।

समयसार

समयसारः

श्री कुन्द-कुन्द स्वामी समयसार ग्रन्थके प्रारम्भमें मंगलाचरण करते हुए ग्रन्थ कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

वंदित्तु सव्वसिद्धे ध्रुवमचलमणोवमं गइं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥ १ ॥

मैं ध्रुव, अचल अथवा निर्मल और अनुपम गतिको प्राप्त हुए समस्त सिद्धोंको नमस्कार कर हे भव्यजीवो ! श्रुतकेवलियोंके द्वारा कहे हुए इस समयप्राभृत नामक ग्रन्थको कहूँगा ॥ १ ॥

आगे समयके स्वसमय और परसमयके भेदसे दो भेद बतलाते हैं—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण ।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

जो जीव दर्शन ज्ञान और चारित्रमें स्थित है निश्चयसे उसे स्वसमय जानो और जो पुद्गल कर्मके प्रदेशोंमें स्थित है उसे पर समय जानो ॥ २ ॥

आगे अपनेगुणोंके साथ एकत्वके निश्चयको प्राप्त हुआ शुद्ध आत्मा ही उपादेय है और कर्मबन्धके साथ एकत्वको प्राप्त हुआ आत्मा हेय है अथवा स्वस्थान ही शुद्धात्माका स्वरूप है पर समय नहीं''यह अभिप्राय मनमें रखकर कहते हैं—

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए ।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥ ३ ॥

स्वकीय शुद्धगुणपर्यायरूप परिणत अथवा अभेदरत्नत्रयरूप परिणमन करनेवाला एकत्व-निश्चयको प्राप्त हुआ समय ही—आत्मा ही समस्त लोकमें सुन्दर है—समीचीन है । अतः एकत्वके प्रतिष्ठित होनेपर उस आत्मपदार्थके साथ बन्धकी कथा विसंवाद पूर्ण है—मिथ्या है ।

जब कि संसारके समस्त पदार्थ स्वस्वरूपमें निमग्न होकर पर पदार्थसे विभिन्न हैं तब जीवद्रव्य कर्मरूप पुद्गलद्रव्यके साथ सम्बन्धको कैसे प्राप्त हो सकता है ॥ ३ ॥

आगे आत्मद्रव्यका एकत्वपना सुलभ नहीं है यह प्रकट करते हैं—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥ ४ ॥

---

१. अमलं, अथवा 'अचलं' इतिपाठान्तरे ज० वृ० । २. गदिं ज० वृ० । ३. ओ अहो भव्याः ज० वृ० । ४. सुदकेवलीभणिदं ज० वृ० । ५. ....णाणट्ठिद ज० वृ० । ६. ....कम्मुवदेसट्ठिदं (पुद्गलकर्मोपदेशस्थितं) ज० वृ० । ७. ....गदो ज० वृ० । ८. होदि ज० वृ० । ९. विभत्तस्स ज० वृ० ।

कामभोग और बन्धकी कथा सभी जीवोंके श्रुत है, परिचित है और अनुभूत है परन्तु पर पदार्थोंसे पृथक् एकत्वकी प्राप्ति सुलभ नहीं है।

यह जीव काम, भोग और बन्धसम्बन्धी चर्चा अनादिकालसे सुनता चला आ रहा है अनादिसे उसका परिचय प्राप्त कर रहा है और अनादिसे ही उसका अनुभव करता चला आ रहा है, इसलिये उसकी सहसा प्रतीति हो जाती है। परन्तु यह जीव संसारके समस्तपदार्थोंसे जुदा है और अपने गुणपर्यायोंके साथ एकताको प्राप्त हो रहा है....यह कथा इसने आजतक नहीं सुनी, न उसका परिचय प्राप्त किया और न अनुभव ही। इसलिये वह दुर्लभ वस्तु वनी हुई है॥ ४॥

आगे आचार्य उस एकत्व विभक्त आत्माका निर्देश करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए अपनी लघुता प्रकट करते हैं—

तं एयत्तविहत्तं[1] दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण [2]घेतव्वं॥ ५॥

मैं अपने निज विभवसे उस एकत्व विभक्त आत्माका दर्शन कराता हूँ। यदि दर्शन करा सकूँ—उसका उल्लेख कर सकूँ तो प्रमाण मानना और कहीं चूक जाऊँ तो मेरा छल नहीं ग्रहण करना॥ ५॥

आगे वह शुद्धात्मा कौन है ? यह कहते हैं—

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति [3]सुद्धं [4]णाओ जो सो उ सो चेव॥ ६॥

जो ज्ञायक भाव है अर्थात् ज्ञानस्वरूप शुद्ध जीवद्रव्य है वह न अप्रमत्त है और न प्रमत्त ही है। इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं वह तो जैसा जाना गया है उसी रूप है।

जो जीव पर पदार्थके सम्बन्धसे अशुद्ध हो रहा है उसीमें प्रमत्त और अप्रमत्तका विकल्प सिद्ध होता है परन्तु जो पर पदार्थके सम्बन्धसे विविक्त है वह केवल ज्ञायक ही है—ज्ञाता दृष्टा ही है॥ ६॥

आगे जिस प्रकार प्रमत्त अप्रमत्तके विकल्पसे जीवमें अशुद्धपना आता है उसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्माके हैं इस कथनसे भी आत्मामें अशुद्धपना सिद्ध होता है इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

ववहारेणुवदिस्सइ[5] णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥ ७॥

ज्ञानी जीवके चारित्र है, दर्शन है, ज्ञान है यह व्यवहार नयसे कहा जाता है। निश्चयनयसे न ज्ञान है न चारित्र है और न दर्शन है। वह तो एक ज्ञायक ही है इसलिए शुद्ध कहा गया है॥७॥

---

१. ....विभत्तं ज० वृ०। २ घित्तव्वं ज० वृ०। ३. सुद्धाः, ज० वृ०। ४. णादा ज० वृ०। ५. दिस्सदि ज० वृ०।

आगे यदि व्यवहार नयसे पदार्थका वास्तविक स्वरूप नहीं कहा जाता तो उसे छोड़कर केवल निश्चय नयसे ही कथन करना चाहिए इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं[1] ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं[2] ॥ ८ ॥

जिस प्रकार म्लेच्छजन म्लेच्छ भाषाके विना वस्तुका स्वरूप ग्रहण करानेके लिये शक्य नहीं है। उसी प्रकार व्यवहारके विना परमार्थका उपदेश शक्य नहीं है ॥ ८ ॥

आगे व्यवहार नय परमार्थका प्रतिपादक किस प्रकार है ? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

जो हि [3]सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं [4]सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा ॥ ९ ॥
जो [5]सुयणाणं सव्वं जाणइ [6]सुयकेवलिं तमाहु जिणा ।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा [7]सुयकेवली तह्मा[8] ॥१०॥

जो निश्चय कर श्रुतज्ञानसे इस अनुभव गोचर केवल एक शुद्ध आत्माको जानता है उसे लोकको प्रकाशित करनेवाले ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते हैं। [यह निश्चय नयसे श्रुतकेवलीका लक्षण है। अब व्यवहार नयसे श्रुतकेवलीका लक्षण कहते हैं] जो समस्त श्रुतज्ञानको जानता है जिनेन्द्रदेव उसे श्रुतकेवली कहते हैं। यतः सब ज्ञान आत्मा है अतः आत्माको ही जाननेसे श्रुत-केवली कहा जा सकता है ॥ ९–१० ॥

आगे व्यवहारनयका अनुसरण क्यों नहीं करना चाहिये ? इसका समाधान कहते हैं—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

व्यवहार नय अभूतार्थ है—असत्यार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ-सत्यार्थ कहा गया है। जो जीव भूतार्थ नयका आश्रय करता है वह निश्चयसे सम्यग्दृष्टि होता है ॥ ११ ॥

आगे किन्हीं जीवोंके किसी समय व्यवहार भी प्रयोजनवान् है ऐसा कहते हैं—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परभावदरिसीहिं[10] ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१२॥

---

१. गाहेदुं ज० वृ० । २. देसण ” ज० वृ० । ३. सुदेण । ४. सुद— । ५. सुद— । ६. सुद । ७. सुद—ज० वृ० । ८. जयसेन वृत्तिमें १० वीं गाथाके आगे निम्नाङ्कित २ गाथाएँ अधिक व्याख्यात हैं—

णाणह्मि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य ।
ते पुण तिण्णि वि आदा तह्मा कुण भावणं आदे ॥
जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

९. णादव्वो''''ज० वृ० । १०. दरसीहिं''''ज० वृ० ।

जो परमभाव अर्थात् उत्कृष्ट दशामें स्थित हैं उनके द्वारा शुद्ध तत्त्वका उपदेश करनेवाला शुद्ध-निश्चय नय जानने योग्य है और जो अपरमभावमें स्थित हैं अर्थात् अनुत्कृष्ट दशामें विद्यमान हैं वे व्यवहार नयसे उपदेश करने योग्य हैं ।। १२ ।।

आगे शुद्ध निश्चय नयसे जाने हुए जीवाजीवादि पदार्थ ही सम्यक्त्व है ऐसा कहते हैं—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ।।१३।।

निश्चय नयसे जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, और मोक्ष ही सम्यक्त्व हैं। यहाँ विषय-विषयीमें अभेदकी विवक्षाकर जीवाजीवादि पदार्थोंको ही सम्यक्त्व कह दिया है ।। १३ ।।

आगे शुद्धनयका स्वरूप कहते हैं—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ।।१४।।

जो नय आत्माको बन्धरहित, परके स्पर्श रहित, अन्यपने रहित, चञ्चलता रहित, विशेष रहित और अन्य पदार्थके संयोग रहित अवलोकन करता है—जानता है उसे शुद्ध नय जानो ।। १४ ।।

आगे जो उक्त प्रकारकी आत्माको जानता है वही जिनशासनको जानता है ऐसा कहते हैं—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेससुत्तमज्झं[1] पस्सदि जिणसासणं सव्वं[2] ।।१५।।

जो पुरुष आत्माको अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष तथा उपलक्षणसे नियत और असंयुक्त देखता है वह द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप समस्त जिन शासनको देखता है—जानता है ।। १५ ।।

आगे दर्शन ज्ञान और चारित्र निरन्तर सेवन करने योग्य हैं यह कहते हैं—

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णि[3]वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ।।१६।।

साधु पुरुषके द्वारा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निरन्तर सेवन करने योग्य हैं और उन तीनोंको निश्चयसे आत्मा ही जानो। यहाँ अभेद नयसे गुण गुणीमें अभेद विवक्षाकर सम्यग्दर्शनादिको तथा आत्माको एक रूप कहा है ।। १६ ।।

---

१. अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेश शब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत्, सूत्रपरिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति, तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भण्यते इति । ज० वृ० ।

२. पन्द्रहवीं गाथाके आगे ज० वृत्तिमें निम्नांकित गाथा अधिक व्यख्यात है ।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणं चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे अदा मे संवरे जोगे ।।

३. तिण्णवि ज० वृ० ।

आगे इसी बातको दृष्टान्त और दार्ष्टान्तके द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥१८॥ जुम्मं

जिस प्रकार धनका चाहनेवाला कोई पुरुष पहले राजाको जानकर उसका श्रद्धान करता है और उसके वाद प्रयत्नपूर्वक उसीकी सेवा करता है । इसी प्रकार मोक्षको चाहनेवाले पुरुषके द्वारा जीवरूपी राजा जानने योग्य है, श्रद्धान करने योग्य है और फिर सेवा करने योग्य है ।

भावार्थ—जिस प्रकार राजाके ज्ञान, श्रद्धान और अनुचरण-सेवाके विना धन सुलभ नहीं है उसी प्रकार आत्माके ज्ञान, श्रद्धान और अनुचरणके विना मोक्ष सुलभ नहीं है ॥ १७–१८ ॥

आगे यह आत्मा कितने समय तक अप्रतिबुद्ध—अज्ञानी रहता है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव[1] ॥१९॥

जब तक इस जीवके कर्म और नोकर्ममें 'मैं कर्म नोकर्म रूप हूँ और ये कर्म नोकर्म मेरे हैं' निश्चयसे ऐसी बुद्धि रहती है तब तक वह अप्रतिबुद्ध—अज्ञानी रहता है ॥ १९ ॥

आगे अप्रतिबुद्ध और प्रतिबुद्ध जीवका लक्षण कहते हैं—

अहमेदं एदमहं हं अहमेदस्सेव होमि मम एदं ।
अण्णं जं परदव्वं सचित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२०॥
आसि मम पुव्वमेदं अहमेदं चावि पुव्वकालह्मि ।
होहिदि पुणोवि मज्झं अहमेदं चावि होस्सामि ॥२१॥
एयत्तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो ।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥२२॥

'चेतन, अचेतन अथवा मिश्ररूप जो कुछ भी परपदार्थ हैं मैं उन रूप हूँ, वे मुझरूप हैं, मैं उनका हूँ, वे मेरे हैं, पूर्व समयमें वे मेरे थे, मैं उनका था, भविष्यत्में वे फिर मेरे होंगे और मैं

---

१. उन्नीसवीं गाथाके आगे ज० वृ० में निम्न गाथाएँ अधिक व्याख्यात हैं—

जीवेव अजीवे वा संपदि समयम्हि जत्थ उवजुत्तो ।
तत्थेव बंधमोक्खो होदि समासेण णिद्दिट्ठो ॥
जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ॥

उनका होऊँगा' जो पुरुष इस प्रकार मिथ्या आत्मविकल्प करता है वह मूढ है—अप्रतिबुद्ध है—अज्ञानी है और जो परमार्थ वस्तु स्वरूपको जानता हुआ उस मिथ्या आत्मविकल्पको नहीं करता है वह अमूढ है—प्रतिवुद्ध है—ज्ञानी है।

भावार्थ—जो आत्माको अन्यरूप अथवा अन्यका स्वामी मानता है वह अज्ञानी है और जो आत्माको आत्मरूप तथा परको पररूप जानता है वह ज्ञानी है॥ २०–२२॥

आगे अप्रतिबुद्धको समझानेके लिये उपाय कहते हैं—

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो[1] बहुभावसंजुत्तो[2]॥२३॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
किह सो पुग्गलदव्वी-भूदो जं भणसि मज्झमिणं॥२४॥
जदि सो पुग्गलदव्वी-भूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो संत्तो[3] वॅत्तुं[4] जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं॥२५॥

जिसकी बुद्धि अज्ञानसे मोहित हो रही है ऐसा पुरुष कहता है कि यह शरीरादि बद्ध तथा धनधान्यादि अबद्ध पुद्गलद्रव्य मेरा है और यह जीव अनेक भावोंसे संयुक्त है। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि सर्वज्ञके ज्ञानके द्वारा देखा हुआ तथा निरन्तर उपयोगलक्षणवाला जीव पुद्गलद्रव्यरूप किस प्रकार हो सकता है? जिससे कि तूँ कहता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है। यदि जीव पुद्गलद्रव्यरूप होता है तो पुद्गल भी जीवपनेको प्राप्त हो जावेगा और तभी यह कहा जा सकेगा कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है। पर ऐसा है नहीं॥ २३–२५॥

आगे अज्ञानी जीव कहता है—

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो॥२६॥

यदि जीव शरीर नहीं है तो तीर्थंकर तथा आचार्योंकी जो स्तुति है वह सभी मिथ्या होती है। इसलिये हम समझते हैं कि आत्मा शरीर ही है॥ २६॥

आगे आचार्य समझाते हैं—

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो॥२७॥

व्यवहार नय कहता है कि जीव और शरीर एक हैं परन्तु निश्चयनयका कहना है कि जीव और शरीर एक पदार्थ कभी नहीं हो सकते हैं॥ २७॥

---

१. जीवे ज० वृ०। २. बहुभावसंजुत्ते ज० वृ०। ३. सक्का। ४. वुत्तुं ज० वृ०।

आगे व्यवहारनयसे शरीरका स्तवन और शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन होता है यह कहते हैं—

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥२८॥

जीवसे भिन्न पुद्गलमय शरीरकी स्तुतिकर मुनि यथार्थमें ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवान्‌की स्तुति की और वन्दना की ॥ २८ ॥

आगे शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन मानना निश्चयकी दृष्टिमें ठीक नहीं है—

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो ।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥२९॥

उक्त स्तवन निश्चयकी दृष्टिमें ठीक नहीं है क्योंकि शरीरके गुण केवलीके गुण नहीं है। जो केवलीके गुणोंकी स्तुति करता है वही यथार्थमें केवलीकी स्तुति करता है ॥ २९ ॥

आगे प्रश्न है कि जब आत्मा शरीरका अधिष्ठाता है तब शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन निश्चयनयकी दृष्टिमें ठीक क्यों नहीं है ? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि—

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥३०॥

जिस प्रकार नगरका वर्णन करनेपर राजाका वर्णन किया हुआ नहीं होता उसी प्रकार शरीरके गुणोंका स्तवन होनेपर केवलीके गुण स्तुत नहीं होते !

जिस प्रकार नगर जुदा है, राजा जुदा है, उसी प्रकार शरीर जुदा है और उसमें रहनेवाला केवली जुदा है अतः शरीरके स्तवनसे केवलीका स्तवन निश्चयनय ठीक नहीं मानता है ॥ ३० ॥

आगे निश्चयनयसे किस प्रकार स्तुति होती है यह कहते हैं—

जो इंदिये जिणत्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥३१॥

जो इन्द्रियोंको जीतकर ज्ञानस्वभावसे अधिक आत्माको जानता है उसे नियमसे, जो निश्चय नयमें स्थित साधु हैं वे जितेन्द्रिय कहते हैं ॥ ३१ ॥

यही बात फिर कहते हैं—

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥३२॥

जो मोहको जीतकर ज्ञानस्वभावसे अधिक आत्माको जानता है उस साधुको परमार्थके जाननेवाले मुनि जितमोह कहते हैं ॥ ३२ ॥

यही बात फिर कहते हैं—

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥३३॥

मोहको जीतनेवाले साधुका मोह जिस समय क्षीण हो जाता है—नष्ट हो जाता है उस समय निश्चयके जाननेवाले मुनियोंके द्वारा वह क्षीणमोह कहा जाता है ।। ३३ ।।

आगे ज्ञान ही प्रत्याख्यान है यह कहते हैं—

सव्वे भावा जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं[1] ।
तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं[2] ।।३४।।

चूँकि ज्ञानी जीव अपने सिवाय समस्त भावोंको पर है ऐसा जानकर छोड़ता है इसलिये ज्ञानको ही नियमसे प्रत्याख्यान जानना चाहिये ।। ३४ ।।

आगे इस विषयको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं—

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि ।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी ।।३५।।

जिस प्रकार कोई पुरुष 'यह परद्रव्य है' ऐसा जानकर उसे छोड़ देता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव समस्त परभावोंको ये पर हैं ऐसा जानकर छोड़ देता हैं ।। ३५ ।।

आगे परपदार्थोंसे भिन्नपना किस प्रकार प्राप्त होता है यह कहते हैं—

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ।।३६।।

जो ऐसा जाना जाता है कि मोह मेरा कोई भी नहीं है, मैं तो एक उपयोग रूप ही हूँ उसे आगमके जाननेवाले मोहसे निर्ममत्त्वपना कहते हैं ।। ३६ ।।

आगे इसी बातको फिरसे कहते हैं—

णत्थि मम धम्मआदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ।।३७।।

जो ऐसा जाना जाता है कि धर्म आदि द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं तो एक उपयोग रूप हूँ उसे आगमके जाननेवाले धर्मादि द्रव्योंसे निर्ममत्वपना कहते हैं ।। ३७ ।।

आगे रत्नत्रयरूप परिणत आत्माका चिन्तन किस प्रकार होता है यह कहते हैं—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदा रूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि ।।३८।।

निश्चयसे मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, परमाणुमात्र भी अन्य द्रव्य मेरा कुछ नहीं है ।। ३८ ।।

इस प्रकार जीवाजीवाधिकारमें पूर्वरङ्ग समाप्त हुआ ।

●

---

१. णादूण ज० वृ० । २. मुणेदव्वं ज० वृ० ।

आगे मिथ्यादृष्टि दुर्बुद्धि जीव आत्माको नहीं जानते यह कहते हैं—

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥३९॥
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभावगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति ॥४०॥
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभायमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४१॥
जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केवि जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४२॥
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवाइहि णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा ॥४३॥

आत्माको न जाननेवाले और परको आत्मा कहनेवाले कितने ही पुरुष अध्यवसानको तथा कर्मको जीव कहते हैं। अन्य कितने ही पुरुष अध्यवसान भावोंमें तीव्र अथवा मन्द अनुभागगतको जीव कहते हैं। अन्यलोग नोकर्मको जीव मानते हैं। कोई कर्मके उदयको जीव मानते हैं। कोई ऐसी इच्छा करते हैं कि कर्मोंका जो अनुभाग तीव्र अथवा मन्द भावसे युक्त है वह जीव है। कोई जीव तथा कर्म दोनों मिले हुएको ही जीव मानते हैं। और अन्य कोई कर्मोंके संयोगसे ही जीव इष्ट करते हैं—मानते हैं। इस प्रकार बहुतसे दुर्बुद्धिजन परको आत्मा कहते हैं परन्तु वे निश्चयवादियोंके द्वारा परमार्थवादी नहीं कहे गये हैं ॥ ३९-४३ ॥

ऐसा कहनेवाले सत्यार्थवादी क्यों नहीं है ? इसका उत्तर कहते हैं—

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति[1] ॥४४॥

ये सभी भाव पुद्गल द्रव्यके परिणमनसे उत्पन्न हुए हैं ऐसा केवली जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहा गया है। फिर वे जीव हैं यह किस प्रकार कहा जा सकता है ? ॥ ४४ ॥

जब कि रागादिभाव चैतन्यसे सम्बन्ध रखते हैं तब उन्हें पुद्गलके किस प्रकार कहा जाता है ? इसका उत्तर कहते हैं—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चइ[2] दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥४५॥

पक कर उदयमें आनेवाले जिस कर्मका प्रसिद्ध फल दुःख कहा जाता है वह आठों प्रकारका कर्म सबका सब पुद्गलमय है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

---

१. उच्चंति ज० वृ०। २. वुच्चदि ज० वृ०।

भावार्थ—यह आत्मा कर्मका उदय होनेपर दु:खरूप परिणमता है और जो दु:खरूपभाव है वह अध्यवसान है। इसलिए दु:खरूप भावमें चेतनपनेका भ्रम उपजता है। वास्तवमें दु:खरूप-भाव चेतन नहीं है, कर्मजन्य है अत: जड़ ही है ।। ४५ ।।

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि यदि अध्यवसानादि भाव पुद्गल स्वभाव हैं तो उन्हें दूसरे ग्रन्थोंमें जीवरूप क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर कहते हैं—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ।।४६।।

ये सब अध्यवसानादिक भाव जीव हैं ऐसा जो जिनेन्द्र भगवान्‌ने वर्णन किया है वह व्यवहार नयका मत है ।। ४६ ।।

आगे यह व्यवहार किस दृष्टांतमें प्रवृत्त हुआ यह कहते हैं—

राया हु णिग्गदो त्तिय एसो वलसमुदयस्स आदेसो ।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ।।४७।।
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं ।
जीवोत्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ।।४८।।

जैसे कोई राजा सेना सहित निकला। यहाँ सेनाके समूहको यह कहना कि 'यह राजा निकला है' व्यवहार नयसे कहा जाता है। यथार्थमें उनमें राजा तो एक ही निकला है। इसी प्रकार अध्यवसानादि भावोंको 'यह जीव है' ऐसा जो आगममें कहा गया है वह व्यवहार नयसे कहा गया है, निश्चयसे तो उनमें जीव एक-ही है ।। ४७-४८ ।।

तो फिर जीवका वास्तविक स्वरूप क्या है ? इसका उत्तर कहते हैं—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।४९।।

जो रसरहित है, रूपरहित है, गन्धरहित है, अव्यक्त है, चेतनागुणसे सहित है, शब्दरहित है, जिसका किसी चिह्न अथवा इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं होता और जिसका आकार कहनेमें नहीं आता उसे जीव जानो ।। ४९ ।।

आगे जीवके रसादि नहीं हैं यह कहते हैं—

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो ।
णवि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ।।५०।।
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ।।५१।।
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ।।५२।।

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥५३॥
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥५४॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥५५॥

जीवके न वर्ण है, न गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है, न [1]रूप है, न शरीर है, न संस्थान है, न संहनन है, न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न [2]प्रत्यय हैं, न कर्म हैं, न वर्ग है, न वर्गणा है, न कोई स्पर्धक हैं, न अध्यवसाय स्थान हैं, न अनुभाग स्थान हैं, न कोई योगस्थान हैं, न वन्ध-स्थान हैं, न उदयस्थान हैं, न मार्गणास्थान है, न स्थितिवन्धस्थान हैं, न संक्लेशस्थान हैं, न संयमलब्धिस्थान हैं, न जीवसमास हैं और न गुणस्थान हैं, क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं ॥ ५०-५५ ॥

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि यदि ये वर्णादि भाव जीवके नहीं हैं तो अन्य ग्रन्थोंमें उन्हें जीवका क्यों कहा है? इसका समाधान करते हैं—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंताभावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥५६॥

ये वर्णको आदि लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव व्यवहारनयसे जीवके होते हैं परन्तु निश्चय नयसे कोई भी भाव जीवके नहीं हैं ॥ ५६ ॥

आगे निश्चयनयसे वर्णादि जीवके क्यों नहीं हैं? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

एएहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥५७॥

इन वर्णादि भावोंके साथ जीवका सम्बन्ध दूध और पानीके समान जानना चाहिये अर्थात् जिस प्रकार दूध और पानी पृथक् पृथक् होनेपर भी एक क्षेत्रावगाह होनेसे एकरूप मालूम होते हैं उसी प्रकार जीव और वर्णादि भाव पृथक् पृथक् होनेपर भी एक क्षेत्रावगाह होनेसे एकरूप जान पड़ते हैं। वास्तवमें वे उसके नहीं हैं क्योंकि जीव उपयोगगुणसे अधिक है अर्थात् वर्णादिकी अपेक्षा जीवके उपयोगगुण अधिक रहता है जो कि जीवको वर्णादिसे पृथक् सिद्ध करता है ॥ ५७ ॥

आगे दृष्टान्तके द्वारा व्यवहार और निश्चयनयका अविरोध प्रकट करते हैं—

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥५८॥

---

१. यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं तन्नास्ति जीवस्य—अमृताख्याति।

२. मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्ययाः अ०।

तहजीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो ॥५९॥
[1]गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥६०॥

जैसे मार्गमें लुटते हुए पुरुषको देखकर व्यवहारी लोग कहने लगते हैं कि यह मार्ग लुटता है। यथार्थमें विचार किया जाय तो कोई मार्ग नहीं लुटता। उसमें जानेवाले पुरुष ही लुटते हैं। वैसे ही जीवमें कर्मों और नोकर्मोंका वर्ण देखकर 'जीवका यह वर्ण है' ऐसा व्यवहार नयसे जिनदेवने कहा है। इसीप्रकार गन्ध, रस, स्पर्श रूप, शरीर, संस्थान आदि जो कुछ हैं वे सब व्यवहार नयसे जीवके हैं ऐसा निश्चयके देखनेवाले कहते हैं ॥ ५८–६० ॥

आगे वर्णादिके साथ जीवका तादात्म्य क्यों नहीं है ? इसका उत्तर कहते हैं—

तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी ।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु[2] वण्णादओ केई ॥६१॥

वर्णादिक संसारमें स्थित जीवोंके उस संसारी दशामें होते हैं। संसारसे छूटे हुए जीवोंके निश्चयसे वर्णादि कुछ भी नहीं हैं।

भावार्थ—यदि वर्णादिके साथ जीवका तादात्म्य सम्बन्ध रहता तो मुक्त अवस्थामें भी उसका सद्भाव पाया जाना चाहिये परन्तु पाया नहीं जाता ! इससे सिद्ध है कि जीवके साथ वर्णादिका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हैं किन्तु संयोग सम्बन्ध है जो कि पृथक् सिद्ध दो वस्तुमें होता है ॥ ६१ ॥

आगे वर्णादिके साथ जीवका तादात्म्य सम्बन्ध माननेमें अन्य दोष प्रकट करते हैं—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावात्ति मण्णसे जदि हि ।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥६२॥

यदि तूँ ऐसा मानता है कि ये वर्णादिक भाव सभी जीव हैं तो तेरे मतमें जीव और अजीवका कुछ भेद नहीं रहेगा ॥ ६२ ॥

आगे संसार अवस्थामें ही जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य है ऐसा अभिप्राय होनेपर भी यही दोष आता है यह कहते हैं—

जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी ।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥६३॥
एवं पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी ।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ॥६४॥

---

१. एवं रसगंधफासा संठाणादीय जे समुद्दिट्ठा जं० वृ०। २. दु जं० वृ०।

यदि संसारमें स्थित जीवोंके तेरे मतमें वर्णादिक तादात्म्यरूपसे होते हैं तो इस कारण संसारस्थित जीव रूपीपनेको प्राप्त हो गये और ऐसा होनेपर पुद्गल द्रव्य जीव सिद्ध हुआ। तथा हे ! दुर्बुद्धे ! लक्षणकी समानतासे निर्वाणको प्राप्त हुआ पुद्गल ही जीवपनेको प्राप्त हो जावेगा।

भावार्थ—जिसका ऐसा अभिप्राय है कि संसार अवस्थामें जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है उसके मतमें जीव संसारी दशामें रूपी हो जावेंगे और चूँकि रूपीपना पुद्गल द्रव्यका असाधारण लक्षण है इसलिये पुद्गल द्रव्य जीवपनेको प्राप्त हो जायगा। इतना ही नहीं, ऐसा होनेपर मोक्ष अवस्थामें भी पुद्गल द्रव्य ही स्वयं जीव हो जायगा क्योंकि द्रव्य सभी अवस्थाओंमें अपने अविनश्वर स्वभावसे उपलक्षित रहता है। इस प्रकार पुद्गलसे भिन्न जीवद्रव्यका अभाव होनेसे जीवका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। अतः निश्चित हुआ कि वर्णादिकभाव पुद्गल द्रव्यके हैं। जीवका उनके साथ तादात्म्यसम्बन्ध न मुक्त दशामें सिद्ध होता और न संसारी दशामें ॥ ६३-६४ ॥

आगे इसी बातको स्पष्ट करते हैं—

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंचइंदिया जीवा।
वादर पज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥६५॥
एदेहिं य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पुग्गलमइंहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ॥६६॥

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय जीव, तथा वादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त ये सभी नामकर्मकी प्रकृतियाँ हैं। करणस्वरूप इन प्रकृतियोंके द्वारा ही जीव समास रचे गये हैं। अतः उन पुद्गलरूप प्रकृतियोंके द्वारा रचे हुएको जीव कैसे कहा जा सकता है ? ॥ ६५-६६ ॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानघन आत्माको छोड़कर अन्यको जीव कहना सो सब व्यवहार है—

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा वादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥६७॥

जो पर्याप्त और अपर्याप्त तथा सूक्ष्म और वादर आदि जितनी शरीरकी जीव संज्ञाएँ हैं वे सभी आगममें व्यवहार नयसे कही गई हैं ॥ ६७ ॥

आगे यह भी निश्चित ही है कि रागादि भाव जीव नहीं हैं यह कहते हैं—

मोहण कम्मस्सुदया दु वण्णिया[1] जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे[2] णिच्चमचेदणा उत्ता ॥६८॥

जो ये गुणस्थान हैं वे मोहकर्मके उदयसे होते हैं इस प्रकार वर्णन किये गये हैं। जो निरन्तर अचेतन कहे गये हैं वे जीव कैसे हो सकते हैं ?॥ ६८ ॥

इस प्रकार जीवाजीवाधिकार पूर्ण हुआ।

---

१. वण्णिदा ज० वृ०। २. ते ज० वृ०।

आगे कहते हैं कि जब तक यह जीव, आत्मा और आस्रवकी विशेषताको नहीं जानता है तब तक अज्ञानी हुआ आस्रवमें लीन रहता हुआ कर्मबन्ध करता है—

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णंपि ।
अण्णाणी तावदु सो कोधादिसु वट्टदे जीवो ।।६९।।
कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ।।७०।।

यह जीव जब तक आत्मा और आस्रव इन दोनोंमें विशेष अन्तर नहीं जानता है तब तक वह अज्ञानी हुआ क्रोधादि आस्रवोंमें प्रवृत्त रहता है और क्रोधादि आस्रवोंमें प्रवृत्त रहनेवाले जीवके कर्मोंका संचय होता है। इस प्रकार जीवके कर्मोंका बन्ध सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेवने निश्चयसे कहा है।। ६९–७० ।।

आगे, इस कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अभाव कब होता है ? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ।।७१।।

जिस समय इस जीवको आत्मा तथा कर्मोंका विशेष अन्तर ज्ञात हो जाता है उसी समय उसके बन्ध नहीं होता है।। ७१ ।।

आगे पूछते हैं कि ज्ञानभावसे ही बन्धका अभाव किस प्रकार हो जाता है ? इसका उत्तर कहते हैं—

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च ।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ।।७२।।

आस्रवोंका अशुचिपना और विपरीतपना तथा ये दुःखके कारण है ऐसा जानकर यह जीव उनसे निवृत्ति करता है।। ७२ ।।

आगे यह जीव आस्रवोंसे किस विधिसे निवृत्त होता है यह कहते हैं—

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसण-समग्गो ।
तह्मि ठिओ[1] तच्चित्तो सव्वे एए[2] खयं णेमि ।।७३।।

ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि मैं निश्चयसे एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममतारहित हूँ और ज्ञान दर्शनसे परिपूर्ण हूँ। उसी ज्ञानदर्शन स्वभावमें स्थित होता हुआ तथा उसीमें चित्त लगाता हुआ मैं इन सब क्रोधादि आस्रवोंको क्षय प्राप्त करता हूँ अर्थात् इसका नाश करता हूँ।। ७३ ।।

---

१ किदो ज० वृ० । २ एदे ज० वृ० ।

आगे भेदज्ञान और आस्रवकी निवृत्ति एक ही समय होती है यह कहते हैं—

जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य ।
दुक्खा दुक्खफला त्ति य णादूण णिवत्तए तेहिं ।।७४।।[1]

जीवके साथ बँधे हुए ये आस्रव अध्रुव हैं, अनित्य हैं, शरणरहित हैं, दुःख हैं, और दुःखके फलस्वरूप हैं। ऐसा जानकर ज्ञानी जीव उनसे निवृत्ति करता है ।। ७४ ।।

आगे ज्ञानी आत्माकी पहिचान बतलाते हैं—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।७५।।[2]

जो आत्मा कर्मके परिणामको और नोकर्मके परिणामको नहीं करता है, केवल जानता है, वह ज्ञानी है।

मोह तथा रागद्वेष आदि अन्तर्विकार कर्मके परिणाम हैं और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, नोकर्मके परिणाम हैं। ज्ञानी जीव अपने आपको इनका करनेवाला कभी नहीं मानता है, वह सिर्फ उदासीन भावसे इसको जानता मात्र है। ज्ञानी जीव कर्म तथा नोकर्मके परिणामको जानता ही है, उनमें राग द्वेप आदि की कल्पना नहीं करता है। यही उसकी पहिचान है ।। ७५ ।।

आगे पौद्गलिक कर्मको जानने वाले जीवका पुद्गलके साथ कर्तृ कर्मभाव है कि नहीं ? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

णवि परिणमइ ण गिह्णइ उपज्जइ ण परदव्वपज्जाये ।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ।।७६।।

ज्ञानी जीव अनेक प्रकारके पौद्गलिक कर्मोंको जानता हुआ भी निश्चयसे परद्रव्य तथा परपर्यायस्वरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न ही होता है ।। ७६ ।।

आगे अपने परिणामको जाननेवाले जीवका पुद्गलके साथ कर्तृ-कर्मभाव है अथवा नहीं ? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये ।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ।।७७।।

ज्ञानी जीव अनेक प्रकारके अपने परिणामोंको जानता हुआ भी परद्रव्य तथा पर पर्यायरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न ही होता है ।। ७७ ।।

---

१. णिवदत्ते तेसु ज० वृ० । २. ७५ वीं गाथाके बाद ज० वृ० में निम्न गाथा अधिक मिलती है।

कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण ।
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।

आगे पुद्गलकर्मके फलको जाननेवाले जीवका पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभाव है अथवा नहीं ? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गल कम्मफलमणंतं ।।७८।।

ज्ञानी जीव अनन्त पुद्गलकर्मके फलको जानता हुआ भी पर द्रव्य और पर पर्यायस्वरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न ही होता है ।। ७८ ।।

आगे जीवके परिणामको, अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको नहीं जानने वाले पुद्गलद्रव्यका जीवके साथ कर्तृकर्मभाव है अथवा नहीं ? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उपज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ।।७९।।

पुद्गल द्रव्य भी परद्रव्य तथा परपर्यायरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है, और न उनमें उत्पन्न होता है। वह जीवके ही समान अपने भावोंसे परिणमन करता है ।। ७९ ।।

आगे कहते हैं कि यद्यपि जीव और पुद्गलके परिणाममें परस्पर निमित्तमात्रपना है तथापि उन दोनोंमें कर्तृकर्मभाव नहीं है—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ।।८०।।
णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्णंपि ।।८१।।
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ।।८२।।

जिस प्रकार पुद्गलद्रव्य, जिसमें जीवके रागादि परिणाम निमित्त हैं ऐसे कर्मपने रूप परिणमन करते हैं उसीप्रकार जीव भी, जिनमें पुद्गलात्मक दर्शनमोह तथा चारित्रमोह आदि कर्म निमित्त हैं ऐसे रागादिभावरूप परिणमन करते हैं। फिर भी जीव कर्मके गुणोंको नहीं करता है और कर्म जीवके गुणोंको नहीं करता है। दोनोंका परिणमन परस्परके निमित्तसे होता है, ऐसा जानो। इस कारणसे आत्मा अपने भावोंका कर्ता है, पुद्गल कर्मके द्वारा किये हुए समस्त भावोंका कर्ता नहीं है ।। ८०-८२ ।।

आगे निश्चय नयसे आत्माके कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्यभावका वर्णन करते हैं—

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ।।८३।।

निश्चयनयका ऐसा मत है कि आत्मा अपनेको ही करता है और अपनेको ही भोगता है ऐसा जानो ।। ८३ ।।

आगे व्यवहार नयसे आत्माके कर्तृकर्मभाव और भोक्तृकर्मभावका उल्लेख करते हैं—

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं ।
तं चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥८४॥

व्यवहारनयका यह मत है कि आत्मा अनेक प्रकारके पुद्‌गल कर्मको करता है और अनेक प्रकारके उसी पुद्‌गल कर्मको भोगता है ॥ ८४ ॥

आगे व्यवहार नयके मतको दूषित ठहराते हैं—

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा ।
दोकिरियावादित्तं[1] पसजदि सम्मं जिणावमदं ॥८५॥

यदि जीव इस पुद्‌गलकर्मको करता है और उसीको भोगता है तो द्विक्रियावादित्वका प्रसङ्ग आता है और वह प्रसङ्ग जिनेन्द्रदेवको संमत नहीं ।

भावार्थ—दो द्रव्योंकी क्रियाएँ भिन्न ही होती हैं। जडकी क्रिया चेतन नहीं करता और चेतन जड़की क्रियाएँ नहीं करता। जो पुरुष एक द्रव्यको दो क्रियाओंका कर्ता मानता है वह मिथ्या दृष्टि है क्योंकि दो द्रव्योंकी क्रिया एक द्रव्यके मानना यह जिनका मत नहीं है ॥ ८५ ॥

आगे दो क्रियाओंका अनुभव करनेवाला पुरुष मिथ्यादृष्टि क्यों है ? इसका समाधान करते हैं—

जह्मा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ॥८६॥

जिस कारण आत्मभाव और पुद्‌गलभाव दोनोंको आत्मा करता है ऐसा कहते हैं इसलिये द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि हैं ।

भावार्थ—जो ऐसा मानते हैं कि आत्मा- आत्मपरिणाम और पुद्‌गल परिणाम दोनोंका ही कर्ता है वे एकके दो क्रियाओंके कहनेवाले हैं। ऐसा नियम है कि उपादानरूपसे एक द्रव्य एक द्रव्यका ही कर्ता हो सकता है अनेक द्रव्योंका नहीं। जो एक द्रव्यको अनेक द्रव्योंका कर्ता मानते हैं वे वस्तुमर्यादाके लोपी होनेसे मिथ्यादृष्टि हैं ॥ ८६ ॥[2]

आगे मिथ्यात्व आदिके जीव अजीवके भेदसे दो भेद हैं ऐसा वर्णन करते हैं—

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं ।
अविरदि जोगो मोहो कोधादीया इमे भावा ॥८७॥

और वह मिथ्यात्व दो प्रकारका है एक जीव मिथ्यात्व और दूसरा अजीव मिथ्यात्व। इसी प्रकार अज्ञान, अविरति, मोह तथा क्रोधादि कषाय ये सभी भाव जीव अजीवके भेदसे दो प्रकारके हैं।

---

१. दो किरिया ।

२. ८६ वीं गाथाके आगे ज० वृ० में निम्नांकित गाथा अधिक व्याख्यात है ।

पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं ॥

भावार्थ—द्रव्यकर्मके उदयसे जीवमें जो मिथ्यात्व आदिका विभावभावरूप परिणमन होता है वह जीव चेतनका विकार होनेसे जीवरूप है तथा उस विभावभावका कारण जो द्रव्यकर्म है वह पुद्‌लात्मक होनेसे अजीवरूप है ।। ८७ ।।

आगे जो मिथ्यात्वादिक जीव अजीव कहे गये हैं वे कौन हैं ? उनका पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं—

पुग्गल कम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं ।
उवओगो अण्णाणां अविरइ मिच्छं च जीवो दु ।।८८।।

जो मिथ्यात्व, योग, अविरति तथा अज्ञान अजीव हैं वे पुद्‌गल कर्म हैं और जो अज्ञान, अविरति तथा मिथ्यात्व जीव हैं वे उपयोगरूप हैं ।। ८८ ।।

मिथ्यात्व आदिभाव चैतन्य परिणामके विकार क्यों हैं ? इसका उत्तर कहते हैं—

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ।।८९।।

मोहसे युक्त उपयोगके तीन परिणाम अनादि कालीन हैं । वे मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति भाव जानना चाहिए ।। ८९ ।।

आगे आत्मा इन तीन प्रकारके परिणामरूप विकारोंका कर्ता है यह कहते हैं—

एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो ।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ।।९०।।

मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति इन तीनोंका अनादि निमित्त होनेपर आत्माका उपयोग निश्चय नयसे शुद्ध निरंजन तथा एक होकर मिथ्यात्व आदि तीन भावरूप परिणमन करता है। वह आत्मा इन तीनोंमेंसे जिस भावको करता है वह उसीका कर्ता होता है ।। ९० ।।

आगे कहते हैं कि जब आत्मा मिथ्यात्व आदि तीन विकाररूप परिणमन करता हैं तब पुद्‌गल द्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणमन हो जाता है—

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं ।।९१।।

आत्मा जिस भावको करता है वह उस भावका कर्ता होता है और आत्माके कर्ता होनेपर पुद्‌गल द्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणत हो जाता है ।। ९१ ।।

आगे अज्ञान ही कर्मोंका करनेवाला है यह कहते हैं—

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो ।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ।।९२।।

परको अपना और अपनेको परका करता हुआ अज्ञानी जीव ही कर्मोंका कर्ता होता है ।। ९२ ।।

आगे ज्ञानसे कर्म नहीं उत्पन्न होता यह कहते हैं—

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि ॥९३॥

जो जीव परको अपना नहीं करता है और अपनेको पर नहीं करता है वह ज्ञानमय है। ऐसा जीव कर्मोंका कर्ता नहीं होता है ॥ ९३ ॥

आगे अज्ञानसे कर्म क्यों उत्पन्न होते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं[1] करेइ कोहो हं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥९४॥

यह तीन प्रकारका उपयोग अपनेमें विकल्प करता है कि मैं क्रोध रूप हूँ[2] उस अपने उपयोग भावका वह कर्ता होता है ॥ ९४ ॥

आगे इसी प्रकार और भी विकल्प करता है यह कहते हैं—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं[3] करेदि धम्माई।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥९५॥

यह तीन प्रकारका उपयोग धर्मादि द्रव्यरूप आत्म विकल्प करता है। अर्थात् उन्हें अपना मानता है उस अपने उपयोगभावका वह कर्ता होता है ॥ ९५ ॥

आगे यह सब अज्ञानकी महिमा है यह कहते हैं—

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण ॥९६॥

इस प्रकार अज्ञानी जीव अज्ञानभावसे परद्रव्योंको अपनी करता है और आत्मद्रव्यको पररूप करता है ॥ ९६ ॥

आगे इस कारण यह निश्चित हुआ कि ज्ञानसे जीवका कर्तापन नष्ट होता है, यह कहते है—

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥९७॥

निश्चयके जाननेवालोंने कहा है कि इस अज्ञानभावसे ही जीव कर्ता होता है। इसे जो जानता वह यथार्थमें सब प्रकारका कर्तृत्व छोड़ देता है ॥ ९७ ॥

व्यवहारी लोग जो ऐसा कहते हैं कि—

ववहारेण दु एवं[1] करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥९८॥

---

१. अस्स वियप्पं ज० वृ०। २. एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेनमानमायालोभमोहरागद्वेषकर्म नोकर्म-मनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणिरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि ज० वृ०। ३. अस्सवियप्पं–असद्विकल्पं ज० वृ०। १. अत्र 'आदा' इत्यपि पाठः।

आत्मा व्यवहारसे घट पट रथ इन वस्तुओंको, चक्षुरादि इन्द्रियोंको, ज्ञानावरणादि कर्मोंको और इस लोकमें स्थित अनेक प्रकारके नोकर्मोंको—शरीरोंको करता है ।। ९८ ।।

वह ठीक नहीं है—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज ।
जह्मा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ।।९९।।

यदि वह आत्मा पर द्रव्योंको करे तो नियम पूर्वक तन्मय हो जाय परन्तु चूँकि तन्मय नहीं होता इसलिये वह उनका कर्ता नहीं है ।

भावार्थ—जिसका जिसके साथ व्याप्य व्यापकभाव होता है वही उसका कर्ता होता है । आत्माका घट पटादि परवस्तुओंके साथ व्याप्यव्यापकभाव त्रिकालमें भी नहीं होता अतः वह उनका कर्ता व्यवहारसे भी कैसे हो सकता है ? ।। ९९ ।।

आगे कहते हैं कि निमित्त नैमित्तिकभावसे भी आत्मा घटादि पर द्रव्योंका कर्ता नहीं है—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य [1]तेसिं हवदि कत्ता ।।१००।।

जीव न घटको करता है न पटको करता है और न शेष-अन्य द्रव्योंको करता है । जीवके योग और उपयोग ही घट पटादिके कर्ता हैं—उनके उत्पादनमें निमित्त हैं । यह जीव उन्हीं योग और उपयोगका कर्ता है ।। १०० ।।

आगे ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है यह कहते हैं—

जे पुग्गल दव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा ।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।१०१।।

जो ज्ञानावरणादिक पुद्गल द्रव्योंके परिणाम हैं उन्हें आत्मा नहीं करता है । जो उन्हें केवल जानता है वह ज्ञानी है ।। १०१ ।।

आगे अज्ञानी भी परभावका कर्ता नहीं है यह कहते हैं—

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता ।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ।।१०२।।

आत्मा जिस शुभ अशुभ भावको करता है निश्चयसे वह उसका कर्ता होता है । वह भाव उस आत्माका कर्म होता है और वह आत्मा उस भावरूप कर्मका भोक्ता होता है ।। १०२ ।।

आगे कहते हैं कि परभाव किसीके द्वारा नहीं किया जा सकता—

जे जम्हि [2]गुणो दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ।।१०३।।

---

१. सो तेसिं ज० वृ० । २. गुणे इत्यात्मख्यातिसंमतः पाठः ।

जो गुण जिस द्रव्यमें रहता है वह अन्य द्रव्यमें संक्रान्त नहीं होता—बदलकर अन्य द्रव्यमें नहीं जाता। फिर अन्य द्रव्यमें संक्रान्त नहीं होनेवाला गुण अन्य द्रव्यको कैसे परिणमा सकता है ? ॥ १०३ ॥

इस कारण यह सिद्ध हुआ कि आत्मा पुद्गल कर्मोका अकर्ता है यह कहते हैं—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि ।
तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता ॥१०४॥

आत्मा पुद्गलमय कर्ममें द्रव्य तथा गुणको नहीं करता है फिर उसमें उन दोनोंको नहीं करता हुआ वह आत्मा उस पुद्गलमय कर्मका कर्ता कैसे हो सकता है ? ॥ १०४ ॥

आगे, आत्मा द्रव्यकर्म करता है यह जो कहा जाता है वह केवल उपचार है ऐसा कहते हैं—

जीवह्मि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं ।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥१०५॥

जीवके निमित्त रहते हुए कर्मबन्धका परिणाम देखकर उपचारमात्रसे ऐसा कहा जाता है कि जीवने कर्म किये हैं ॥ १०५ ॥

आगे इस उपचारको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं—

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो ।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

जिस प्रकारसे योद्धाओंके द्वारा युद्ध किये जानेपर लोग ऐसा कहते हैं कि युद्ध राजाने किया है, इसी प्रकार व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि जीवने ज्ञानावरणादि कर्म किये हैं ॥ १०६ ॥

इससे यह बात सिद्ध हुई कि—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य ।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥१०७॥

आत्मा पुद्गल द्रव्यको उत्पन्न करता है, बांधता है, परिणमाता है तथा ग्रहण करता है यह सब व्यवहार नय कहता है ॥ १०७ ॥

आगे इसी बातको दृष्टान्तके द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो ।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥१०८॥

जिस प्रकार राजा दोष और गुणका उत्पादक है ऐसा व्यवहारसे कहा गया है उसी प्रकार जीव, द्रव्य और गुणका उत्पादक है ऐसा व्यवहारसे कहा कहा गया है।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रजामें दोष और गुण स्वयं उत्पन्न होते हैं परन्तु व्यवहार ऐसा होता है कि ये दोष और गुण राजाने उत्पन्न किये हैं उसी प्रकार पुद्गल द्रव्यमें ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन स्वयं होता है परन्तु व्यवहार ऐसा होता है कि ये ज्ञानावरणादि कर्म जीवने किये हैं ॥१०८॥

आगे कोई प्रश्न करता है कि यदि पुद्गल कर्मको जीव नहीं करता है तो दूसरा कौन करता है ? इसका उत्तर कहते हैं—

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥१०९॥
तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरस वियप्पो ।
मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११०॥
एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा ।
ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगो आदा ॥१११॥
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा ।
तह्मा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥११२॥

यथार्थमें चार सामान्य प्रत्यय बन्धके करनेवाले कहे जाते हैं। वे चार मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जानना चाहिये। फिर उन प्रत्ययोंका यह भेद तेरह भेदरूप कहा गया है जो कि मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर सयोगकेवली पर्यन्त है। ये सब भेद चूँकि पुद्गलकर्मके उदयसे होते हैं इसलिये यथार्थमें अचेतन हैं। यदि ये कर्म करते हैं तो आत्मा उनका भोक्ता नहीं होता। ये प्रत्यय गुणसंज्ञावाले हैं क्योंकि कर्म करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव कर्मोंका अकर्ता है और गुण ही कर्म करते हैं॥ १०९-११२॥

आगे कहते हैं कि जीव और प्रत्ययोंमें एकपना नहीं है—

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो ।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥११३॥
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो ।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥११४॥
अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा ।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥११५॥

जिस प्रकार उपयोग जीव से अनन्य है—अभिन्न है—एकरूप है उसी प्रकार यदि क्रोध भी अनन्य माना जावे तो ऐसा माननेसे जीव तथा अजीवमें एकताकी आपत्ति आती है और इस आपत्तिसे इस लोकमें जो जीव है वही नियमसे अजीव हो जावेगा। क्रोधके साथ जीवकी एकता माननेमें जो दोष आता है वही दोष मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय, नोकर्म तथा कर्मोंके साथ एकता माननेमें भी आता है। इस दोषसे बचनेके लिये यदि तुम्हारा यह मत हो कि क्रोध अन्य है और उपयोगात्मक आत्मा अन्य है तो जिस प्रकार क्रोधको अन्य मानते हो उसी प्रकार प्रत्यय, कर्म तथा नोकर्मको भी अन्य मानो॥ ११३-११५॥

आगे सांख्यमतानुयायी शिष्यके प्रति पुद्गलद्रव्यका परिणामस्वभाव सिद्ध करते हैं—

जीवेण सयं वद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥११६॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥११७॥
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते कहं तु परिणामयदि चेदा[1] ॥११८॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥११९॥
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चि य होदि पुग्गलं दव्वं।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥१२०॥

पुद्गलद्रव्य जीवमें न तो स्वयं वँधा है और न कर्मभावसे स्वयं परिणमन करता है यदि ऐसा माना जाय तो वह अपरिणामी हो जायगा और कार्मण वर्गणाएँ जव कर्मरूप परिणमन नहीं करेंगी तो संसारका अभाव हो जायगा अथवा सांख्यमतका प्रसङ्ग आजायगा। इससे वचनेके लिये यदि मह मानो कि जीव, पुद्गल द्रव्यको कर्मरूप परिणमन कराता है तो जो पुद्गल द्रव्य स्वयं परिणमन नहीं करता है उसे आत्मा कैसे परिणमन करा सकता है? यदि यह कहो कि पुद्गल द्रव्य कर्मरूप स्वयं परिणमन करता है तो यह कहना मिथ्या हो जायगा कि जीव कर्मको कर्मत्व रूपसें परिणमन कराता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य कर्मरूप परिणत हुआ नियमसे कर्मरूप होता है। ऐसा होनेपर ज्ञानावरणादिरूप परिणत पुद्गलद्रव्यको ही कर्म जानो॥ ११६-१२०॥

आगे सांख्यमतानुयायी शिष्यके प्रति जीवका परिणामीपना सिद्ध करते हैं—

ण सयं वद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदी ॥१२१॥
अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२२॥
पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥१२३॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥१२४॥

---

१. णाणी इत्यपि पाठः।

कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१२५॥[1]

यदि तेरा ऐसा मत है कि यह जीव कर्मोंमें न स्वयं बँधा है और न क्रोधादिरूप स्वयं परिणमन करता है तो अपरिणामी हो जायगा और जब जीव क्रोधादिभावरूप स्वयं परिणम नहीं करेगा तो संसारका अभाव हो जायगा अथवा सांख्यमतका प्रसङ्ग आजायगा। इससे बचनेके लिये यदि यह कहेगा कि पुद्गलकर्मरूप क्रोध, जीवको क्रोधरूप परिणमाता है तो उसके उत्तरमें कहना यह है कि जब जीव स्वयं परिणमन नहीं करता है तब उसे क्रोध कैसे परिणमावेगा। अथवा तुम्हारा यह अभिप्राय हो कि आत्मा स्वयं क्रोधभावसे परिणमन करता है तो क्रोध नामक द्रव्यकर्म, जीवको क्रोधरूप परिणमाता है यह कहना मिथ्या सिद्ध होगा। इस कथनसे यह बात सिद्ध हुई कि जब आत्मा क्रोधसे उपयुक्त होता है तब क्रोध ही है, जिस समय मानसे उपयुक्त होता है उस समय मान ही है, जब मायासे उपयुक्त होता है तब माया ही है और जब लोभसे उपयुक्त होता है तब लोभ ही है॥ १२१-१२५॥

आगे कहते हैं कि आत्मा जिस समय जो भाव करता है उस समय वह उसका कर्ता होता है—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स[2]।
णाणिस्स दु णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१२६॥

आत्मा जिस भावको करता है उस भावरूप कर्मका कर्ता होता है। वह भाव ज्ञानी जीवके ज्ञानमय होता है और अज्ञानी जीवके अज्ञानमय होता है॥ १२६॥

आगे ज्ञानमय भावसे क्या होता है और अज्ञानमय भावसे क्या होता है? इसका उत्तर कहते हैं—

अण्णाणमओ भावो अण्णाणिओ कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि ॥१२७॥

अज्ञानी जीवके अज्ञानमय भाव होता है इसलिये वह कर्मोंको करता है और ज्ञानी जीवके ज्ञानमय भाव होता है इसलिये कर्मोंको नहीं करता है॥ १२७॥

---

१. १२५ वीं गाथाके आगे ज० वृ० में निम्नलिखित ३ गाथाओंकी व्याख्या अधिक की गई है—

जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं णिसंगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति॥
जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति॥
जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति॥

२. भावस्स ज० वृ०।

आगे ज्ञानी जीवके ज्ञानमय ही भाव होता है अन्य नहीं। इसी प्रकार अज्ञानीजीवके अज्ञानमय ही भाव होता है अन्य नहीं। ऐसा नियम क्यों है ? इसका उत्तर कहते हैं—

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥१२८॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥१२९॥

चूँकि ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है इसलिये ज्ञानी जीवके सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं और अज्ञानमय भावसे अज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होता है इसलिये अज्ञानी जीवके सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं ॥ १२८-१२९ ॥

आगे यही बात दृष्टान्तसे सिद्ध करते हैं—

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा।
अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी ॥१३०॥
अण्णाणमयाभावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३१॥

जिस प्रकार सुवर्णमय भावसे सुवर्णमय कुण्डलादि भाव होते हैं और लोहमय भावसे लोहमय कटकादि भाव होते हैं उसी प्रकार अज्ञानीके अज्ञानमय भावसे अनेक प्रकारके अज्ञानमय भाव होते हैं और ज्ञानीके ज्ञानमय भावसे सभी ज्ञानमय भाव होते हैं ॥ १३०-१३१ ॥

आगे अज्ञान आदिका स्वरूप बतलाते हुए उक्त बातको स्पष्ट करते हैं—

अण्णाणस्स स उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥१३२॥
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥१३३॥
तं जाण जोगउदअं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१३४॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥१३५॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥१३६॥

जीवोंके जो अतत्त्वोपलब्धि है—तत्त्वोंका मिथ्या जानना है वह अज्ञानका उदय है और जीवके

जो तत्त्वका अश्रद्धानपना है वह मिथ्यात्वका उदय है। जीवोंके जो विरतिका अभाव है—अत्यागभाव है वह असंयमका उदय है। जीवोंके जो मलिन उपयोग है वह कषायका उदय है और जीवोंके जो शुभ अशुभ कार्यरूप अथवा उनकी निवृत्तिरूप चेष्टाका उत्साह है उसे योग का उदय जानो। हेतुभूत इन प्रत्ययोंके रहनेपर कार्मण वर्गणारूपसे आया हुआ जो द्रव्य है वह ज्ञानावरणादि भावोंसे आठ प्रकार परिणमन करता है। कार्मण वर्गणामें आया हुआ द्रव्य जिस समय निश्चयसे जीवके साथ बंधता होता है उस समय उन अज्ञानादिभावोंका कारण जीव होता है ॥ १३६ ॥

आगे कहते हैं कि जीवका परिणाम पुद्गलद्रव्यसे जुदा है—

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा ॥१३७॥
एकस्स दु परिणामा जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ॥१३८॥

यदि ऐसा माना जाय कि जीवके जो रागादि परिणाम हैं वे कर्मके साथ ही होते हैं तो ऐसा माननेसे जीव तथा कर्म दोनों ही रागादि भावको प्राप्त होजावेंगे और ऐसा होनेपर पुद्गलमें भी चेतनपना प्राप्त हो जायगा जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है। यदि इस दोषसे वचनेके लिये ऐसा माना जाय कि ये रागादि रूप परिणाम एक जीवके ही होते हैं तो कर्मोदयरूप हेतुके विना जीवके परिणाम हो जावेंगे और उस दशामें मुक्त जीवके भी उनका सद्भाव अनिवार्य हो जावेगा।

इन गाथाओंका द्वितीय व्याख्यान इस प्रकार है—

यदि ऐसा माना जाय कि जीवके रागादि परिणाम कर्मोंके साथ ही होते हैं तो ऐसा माननेसे जीव तथा कर्म दोनों ही रागादिभावको प्राप्त होते हैं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि रागादिरूप परिणाम एक जीवके ही उत्पन्न होता है। वह कर्मका उदयरूप निमित्त कारणसे पृथक् एक जीवका ही परिणाम है॥ १३७–१३८ ॥

आगे कहते हैं कि पुद्गलद्रव्यका कर्मरूप परिणमन जीवसे जुदा है—

जइ जीवेण सहच्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पुग्गलजीवा हु दोवि कम्मत्त मावण्णा ॥१३९॥
एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥१४०॥

यदि ऐसा माना जाय कि पुद्गलद्रव्यका जो कर्मरूप परिणाम है वह जीवके साथ ही होता है तो ऐसा माननेपर पुद्गल और जीव दोनों ही कर्मभावको प्राप्त हो जावेंगे इसलिये यह सिद्ध हुआ कि कर्मरूपसे परिणाम एक पुद्गलद्रव्यके ही होता है और वह परिणाम जीवभावरूप निमित्त कारणसे पृथक् पुद्गलकर्मका ही है॥ १३९–१४० ॥

आगे पूछते हैं कि कर्म आत्मामें वद्ध स्पृष्ट है या अवद्ध स्पृष्ट है ? इसका उत्तर नयविभागसे कहते हैं—

जीवे कम्मं वद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अवद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१॥

जीवमें कर्म वद्ध है तथा स्पृष्ट है यह व्यवहारनयका कहना है और कर्म जीवमें अवद्ध स्पृष्ट है यह शुद्धनय—निश्चय नयका वचन है ॥ १४१ ॥

आगे कहते हैं कि ये दोनों नयपक्ष हैं। समयसार इन नय पक्षोंसे परे है—

कम्मं वद्धमवद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

जीवमें कर्म वँधे हुए हैं अथवा नहीं वँधे हुए ऐसा तो नयपक्ष जानो और जो इस पक्षसे अतिक्रान्त—दूरवर्ती कहा जाता है वह समयसार है ॥ १४२ ॥

आगे पक्षातिक्रान्तका क्या स्वरूप है ? यह कहते हैं—

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिवद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

जो पुरुप अपने शुद्ध आत्मासे प्रतिवद्ध हो दोनों ही नयोंके कथनको केवल जानता है किन्तु किसी भी नय पक्षको ग्रहण नहीं करता वह नय पक्षसे परिहीन है—पक्षातिक्रान्त है ॥ १४३ ॥

आगे पक्षातिक्रान्त ही समयसार है यह कहते हैं—

सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥१४४॥

जो सव नयपक्षोंसे रहित है वही समयसार कहा गया है। यह समयसार ही केवल सम्यग्दर्शन ज्ञान इस नामको प्राप्त होता है ॥ १४४ ॥

इस प्रकार कर्तृकर्म नामका द्वितीय अधिकार पूर्ण हुआ।

पुण्यपापाधिकारः

आगे शुभाशुभ कर्मके स्वभावका वर्णन करते हैं—

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५॥

अशुभकर्मको कुशील और शुभकर्मको सुशील जानो परन्तु जो जीवको संसारमें प्रवेश कराता है वह सुशील कैसे हो सकता है ॥ १४५ ॥

आगे दोनों ही कर्म सामान्यरूपसे बन्धके कारण हैं यह सिद्ध करते हैं—

सौवण्णियह्मि णियलं बंधदि कालायसं च जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१४६॥

जिस प्रकार लोहेकी बेड़ी पुरुषको बाँधती है और सुवर्णकी भी बाँधती इसी प्रकार किया हुआ शुभ अथवा अशुभ कर्म जीवको बाँधता ही है ॥ १४६ ॥

आगे दोनों ही कर्मोंका निषेध करते हैं—

तह्मा दु कुसीलेहिय रायं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साधीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ॥१४७॥

इसलिये हे मुनिजन हो ! उन दोनों कुशीलोंसे राग मत करो अथवा संसर्ग भी मत करो क्योंकि कुशीलके संसर्ग और रागसे स्वाधीनताका विनाश होता है ॥ १४७ ॥

आगे इसी बातको दृष्टान्तद्वारा सिद्ध करते हैं—

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च ॥१४८॥
एमेव कम्मपयडी सील सहावं हि कुच्छिदं णाउं ।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया ॥१४९॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य निन्दित स्वभाववाले किसी मनुष्यको जानकर उसके साथ संगति और राग करना छोड़ देता है उसी प्रकार स्वभावमें रत रहनेवाले मनुष्य कर्मप्रकृतियोंके शील-स्वभावको निन्दनीय जानकर उसके साथ राग छोड़ देते हैं और उसकी संगतिका भी परिहारकर देते हैं ॥ १४८–१४९ ॥

आगे राग ही बन्धका कारण है यह कहते हैं—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो[1] ।
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

---

१. संपण्णो ।

रागी जीव कर्मको बाँधता है और वैराग्यको प्राप्त हुआ कर्मसे छूटता है यह जिनेन्द्र भगवान्‌का उपदेश है इसलिये कर्मोंमें राग मत करो ॥ १५० ॥

आगे ज्ञान ही मोक्षका हेतु है यह सिद्ध करते हैं—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तह्मि ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥१५१॥

निश्चयसे परमार्थरूप जीवका स्वरूप यह है कि जो शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है ये जिसके नाम हैं उस स्वभावमें स्थित हुए मुनि निर्वाणको प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—मोक्षका उपादान कारण आत्मा है और आत्मा परमार्थसे ज्ञानस्वभाववाला है इसलिये ज्ञान ही मोक्षका हेतु है ॥ १५१ ॥

आगे परमार्थमें स्थित नहीं रहनेवाले पुरुषोंका तपश्चरणादिक बालतप तथा बालव्रत है ऐसा कहते हैं—

परमट्ठह्मि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥१५२॥

जो मुनि ज्ञानस्वरूप आत्मामें स्थित न होकर तप करते हैं और व्रत धारण करते हैं उस सब तप और व्रतको सर्वज्ञ देव बालतप और बालव्रत कहते हैं ॥ १५२ ॥

आगे ज्ञान मोक्षका और अज्ञान बन्धका कारण है यह नियम करते हैं—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे[1] णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥१५३॥

जो मनुष्य परमार्थसे बाह्य हैं वे व्रत और नियमोंको धारण करते हुए तथा शील और तप को करते हुए भी मोक्षको नहीं पाते हैं ॥ १५३ ॥

आगे फिर भी पुण्यकर्मका पक्षपात करनेवालोंको समझानेके लिये कहते हैं—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता ॥१५४॥

जो मनुष्य परमार्थसे बाह्य हैं अर्थात् परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्माके अनुभवसे दूर हैं वे अज्ञानसे पुण्यकी इच्छा करते हैं । यद्यपि वह पुण्य संसारगमनका कारण है तो भी उसकी इच्छा करते हैं । ऐसे जीव मोक्षका हेतु जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है उसे नहीं जानते हैं ॥ १५४ ॥

आगे ऐसे जीवोंको परमार्थभूत मोक्षका कारण दिखलाते हैं—

जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रायादिपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१५५॥

---

१. जेण तेण ते होंति अण्णाणी ज० वृ० ।

जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है उनका ठीक-ठीक जानना ज्ञान है और रागादिका त्याग करना चारित्र है। यह सम्यक्त्व ज्ञान तथा चारित्र ही मोक्षका मार्ग है ॥ १५५॥

आगे व्यवहार मार्गसे कर्मोंका क्षय नहीं होता यह कहते हैं—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ[1] विहिओ ॥१५६॥

विद्वान् निश्चयनयके विषयको छोड़कर व्यवहारसे प्रवृत्ति करते हैं परन्तु कर्मोंका क्षय परमार्थका आश्रय करनेवाले यतीश्वरोंके ही कहा गया है॥ १५६॥

आगे, कर्म मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुणोंका आच्छादन करते हैं यह दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं—

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं ॥१५७॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं ॥१५८॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं ॥१५९॥

जिस प्रकार वस्त्रका श्वेतपना मलके मिलनेसे लिप्त हुआ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन मिथ्यादर्शन रूपी मलसे आच्छादित हो नष्ट हो जाता है यह निश्चयसे जानना चाहिये। जिस प्रकार वस्त्रका श्वेतपना मलके मिलनेसे आसक्त हुआ नष्ट हो जाता हैं उसी प्रकार अज्ञानरूपी मलसे आच्छादित हुआ जीवका ज्ञान नष्ट हो जाता है ऐसा जानना चाहिये। तथा जिस प्रकार वस्त्रका श्वेतपना मलके मिलनेसे आसक्त हुआ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार कषायरूपी मलसे आच्छादित चारित्र गुण हो रहा है यह भी जानना चाहिये ॥ १५७–१५९॥

आगे कर्मका स्वयमेव बन्धपना सिद्ध करते हैं—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेण वच्छण्णो।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६०॥

वह सबको जानने देखनेवाला आत्मा अपने कर्मरूपी रजसे आच्छादित हुआ संसार दशाको प्राप्त हो रहा है और सब तरहसे सब वस्तुओंको नहीं जानता है॥ १६०॥

आगे कर्म सम्यग्दर्शनादि मोक्षके कारणोंको घातते हैं ऐसा निरूपण करते हैं—

सम्मत्तपडिणिवद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ॥१६१॥

---

१. होदि ज० वृ०।

णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥

सम्यक्त्वको रोकनेवाला मिथ्यात्वकर्म है ऐसा जिनेन्द्रभगवान्‌ने कहा है उसके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है ऐसा जानना चाहिये। ज्ञानको रोकनेवाला अज्ञान है ऐसा जिनेन्द्रभगवान्‌ने कहा है उसके उदयसे जीव अज्ञानी होता है ऐसा जानना चाहिये। चरित्रको रोकनेवाला कपाय है ऐसा जिनेन्द्रभगवान्‌ने कहा है उसके उदयसे जीव अचारित्र अर्थात् चारित्रसे रहित हो जाता है ऐसा जानना चाहिये ॥ १६१-१६३ ॥

इस प्रकार पुण्यपापका प्ररूपण करनेवाला तीसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

•

आस्रवाधिकारः

आगे आस्रवका स्वरूप कहते हैं—

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१६४॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिंपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१६५॥

मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योग ये चेतन अचेतनके भेदसे दो प्रकारके हैं। उनमें जो चेतनरूप हैं वे जीवमें बहुत भेदोंको लिये हुए हैं तथा जीवके अभिन्न परिणामस्वरूप है। और जो अचेतनरूप हैं वे ज्ञानावरणादि कर्मोंके कारण होते हैं। तथा उन मिथ्यात्वादि अचेतन भावोंका कारण रागद्वेपादि भावोंका करनेवाल जीव है ॥ १६४-१६५ ॥

आगे ज्ञानी जीवके उन आस्रवोंका अभाव होता है ऐसा कहते हैं—

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ॥१६६॥

सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रव बन्ध नहीं है किन्तु आस्रवका निरोध है वह सत्तामें स्थित पहलेके बँधे हुए कर्मोंको केवल जानता है नवीन बन्ध नहीं कहीं करता है ॥ १६६ ॥

आगे राग द्वेष मोह ही आस्रव हैं ऐसा नियम करते हैं—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो ।
रायादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरिं ॥१६७॥

जीवके द्वारा किया हुआ जो भाव रागादिसे सहित है वह बंधका करनेवाला कहा गया है और जो रागादिसे रहित है वह वन्धका नहीं करनेवाला है किन्तु जाननेवाला है ॥ १६७ ॥

आगे रागादि रहित शुद्धभाव असंभव नहीं हैं यह दिखलाते हैं—

पक्के फलह्मि पडिए जह ण फलं वज्झए पुणो विंटे ।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई[1] ॥१६८॥

जिस प्रकार किसी वृक्षादिका फल पककर जब नीचे गिर जाता है तब वह फिर बोंड़ीके साथ सम्बन्धको प्राप्त नहीं होता इसी प्रकार जीवका कर्मभाव जब पककर गिर जाता है—निजीर्ण हो चुकता है तब फिर उदयको प्राप्त नहीं होता ॥ १६८ ॥

आगे ज्ञानी जीवके द्रव्यास्रवका अभाव दिखलाते हैं—

पुणवीपिंडसमाणा पुव्वणिवद्धा दु पच्चया तस्स ।
कम्मसरीरेण दु ते वद्धा सव्वेपि णाणिस्स ॥१६९॥

उस पूर्वोक्त ज्ञानी जीवके अज्ञान अवस्थासे बँधे हुए द्रव्यास्रवरूप सभी प्रत्यय पृथिवीके पिण्डके समान हैं और कार्मण शरीरके साथ बँधे हुए हैं ॥ १६९ ॥

आगे ज्ञानी जीव निरास्रव क्यों हैं ? यह कहते हैं—

चहुविह अणेयभेयं वंधंते[2] णाणदंसणगुणेहिं ।
समये समये जह्मा तेण अबंधोत्ति[3] णाणी दु ॥१७०॥

जिस कारण पहले कहे हुए मिथ्यात्व आदि चार प्रत्यय ज्ञान दर्शनादि गुणोंसे अनेक भेद लिये हुए कर्मोंको प्रत्येक समय बाँधते हैं इसलिये ज्ञानी अवंधरूप ही है ॥ १७० ॥

आगे ज्ञानगुणका परिणाम बन्धका कारण कैसे है ? इसका उत्तर कहते हैं—

जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो वंधगो भणिदो ॥१७१॥

जिस कारण ज्ञानगुण फिर भी जघन्य ज्ञानगुणसे अन्यपनेरूप परिणमता है इस कारण वह ज्ञान गुण कर्मबन्धका करनेवाला कहा गया है ।

भावार्थ—क्षायोपशमिक ज्ञान एक ज्ञेयके ऊपर अन्तर्मुहूर्त ही ठहरता है पीछे अवश्य ही किसी अन्य ज्ञेयका अवलम्बन करता है इस कारण स्वरूपमें भी वह अन्तर्मुहूर्त ही ठहर सकता है । इसलिते ऐसा अनुमान है कि यथाख्यात चारित्र अवस्थाके नीचे रागपरिणामका सद्भाव अवश्य

---

१. मुवेहि ज० वृ० । २. अणाणदंसणगुणेहिं इति पाठान्तरं केचन पठन्ति ज० वृ० । ३. अवंधुत्ति ।

रहता है। उस रागके सद्भावसे बंध भी होता है। अतः इस गाथामें ज्ञानगुणका जघन्यभाव बंधका कारण कहा गया है ॥ १७१ ॥

आगे ऐसा होनेपर ज्ञानी निरास्रव क्यों होता है ? इसका उत्तर कहते हैं—

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥१७२॥

जिस कारण दर्शन ज्ञान चारित्र जघन्यभावसे परिणमन करते हैं उस कारण ज्ञानी अनेक प्रकारके पुद्गल कर्मोंसे बँधता है।

भावार्थ—ज्ञानीको निरास्रव कहनेका कारण यह है कि जब तक इसके क्षयोपशम ज्ञान है तब तक बुद्धिपूर्वक अज्ञानमय रागद्वेष मोहका अभाव है इसलिये निरास्रव है और क्षायोपशमिक ज्ञानके समय दर्शनज्ञानचरित्र जघन्यभावसे परिणमन करते हैं इसलिये अपूर्ण ज्ञानका देखना जानना आचरण करना सम्भव नहीं होता। दर्शन ज्ञान चारित्रका जो जघन्यभाव कर परिणमन होता है उससे ऐसा जान पड़ता है कि इसके अबुद्धि पूर्वक कर्मकलंक विद्यमान है और उससे बंध भी होता है परन्तु वह चारित्र मोहके उदयजन्य बन्ध है अज्ञानमयभावजन्य नहीं है। केवल ज्ञान होनेपर यह जीव साक्षात् निरास्रव होता है। यद्यपि केवल ज्ञान होनेपर भी सयोग केवली अवस्थामें योगनिमित्तक सातावेदनीयका आस्रव आगममें कहा है परन्तु स्थितिबंधादिसे शून्य होनेके कारण उसकी विवक्षा नहीं की गई है ॥ १७२ ॥

आगे द्रव्य प्रत्ययके रहते हुए भी ज्ञानी निरास्रव किस प्रकार है ? इसका उत्तर कहते हैं—

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥१७३॥
संती दु णिरुवभोज्जा बाला इच्छी जहेव पुरुसस्स।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इच्छी जह णरस्स ॥१७४॥
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥१७५॥
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥१७६॥

यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीवके पूर्वमें बांधे हुए सभी मिथ्यात्व आदि प्रत्यय विद्यमान हैं तथापि विपाकावस्था द्वारा उपभोगमें आनेपर ही वे रागादि भावोंसे नवीन कर्मोंको बांधते हैं। जिस प्रकार बाला स्त्री जब तक निरुपभोग्य रहती है तब तक वह पुरुषको स्नेह पाशसे नहीं बांधती, परन्तु वही स्त्री तरुणी होकर जब उपभोगके योग्य हो जाती है तब पुरुषको स्नेहपाशसे बांध लेती है। इसी प्रकार मिथ्यात्वादि प्रत्यय जबतक निरुपभोग रहते हैं अर्थात् विपाकावस्थाको प्राप्त नहीं होते हैं तब तक वे बन्ध नहीं करते, परन्तु जब विपाकावस्थामें आनेसे उपभोग्य हो जाते हैं तब वे रागादि भावोंके द्वारा सात या आठ प्रकारके ज्ञानावरणादि कर्मोंको बांधने लगते हैं अर्थात् जब

आयु कर्मके वंधका अवसर होता है तव आठ कर्मोंको और उसके अनवसरमें सात कर्मोंको वांधने लगते हैं। इसी कारणसे सम्यग्दृष्टि जीव अबन्धक होता है क्योंकि रागादि रूप आस्रवभावके अभावमें प्रत्यय बन्धक नहीं कहे गये हैं ।। १७३-१७६ ।।

आगे इसीका समर्थन करते हैं—

> रागो दोषो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
> तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ।।१७७।।
> हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
> तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण वज्झंति ।।१७८।।

राग, द्वेष और मोह ये आस्रव सम्यग्दृष्टिके नहीं हैं इसलिये आस्रवभावके विना द्रव्य प्रत्यय कर्मवन्धके कारण नहीं हैं। मिथ्यात्वादि चार प्रकारका हेतु आठ प्रकारके कर्मवन्धका कारण कहा गया है और उन चार प्रकारके हेतुओंके कारण रागादि भाव हैं। सम्यग्दृष्टिके चूँकि रागादिका अभाव है अतः उसके कर्मवन्ध नहीं होता है ।। १७७-१७८ ।।

आगे इसी बातको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते है—

> जह पुरिसेणाहारो गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं ।
> मंसवसासहिरादी भावे उयरग्गिसंजुत्तो ।।१७९।।
> तह णाणिस्स दु पुव्वं जे वद्धा पच्चया वहुवियप्पं ।
> वज्झंते कम्मं ते णय परिहीणा उ ते जीवा ।।१८०।।

जिस प्रकार पुरुषके द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार उदराग्निसे संयुक्त होकर अनेक प्रकार मांस चर्वी रुधिर आदि भावोंरूप परिणमन करता है उसी प्रकार ज्ञानीके पहले वँधे हुए जो प्रत्यय-द्रव्यास्रव हैं वे वहुत भेदोंवाले कर्मोंको बाँधते हैं। वे जीव शुद्ध नयसे छूटे हुए हैं ।। १७९-१८० ।।

इस प्रकार आस्रव का प्ररूपण करने वाला चतुर्थ अंक पूर्ण हुआ ।

•

संवराधिकारः

आगे संवराधिकारमें सर्वप्रथम समस्त कर्मोंके संवरका श्रेष्ठ उपाय जो भेदविज्ञान है उसकी प्रशंसा करते हैं—

उवओए उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो ।
कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१८१॥
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।
उवओगह्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥१८२॥
एयं तु अविवरीदं णाणं जइआ उ होदि जीवस्स ।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥१८३॥

उपयोगमें उपयोग है, क्रोधादिकमें कोई उपयोग नहीं है। क्रोधमें क्रोध ही है, निश्चयसे उपयोगमें क्रोध नहीं है। आठ प्रकारके कर्ममें और नोकर्ममें उपयोग नहीं है तथा उपयोगमें कर्म और नोकर्म नहीं हैं। जिस समय जीवके यह अविपरीत ज्ञान होता है उस समय वह उपयोगसे शुद्धात्मा होता हुआ उपयोगके विना अन्य कुछ भी भाव नहीं करता है॥ १८१-१८३ ॥

आगे भेदविज्ञानसे ही शुद्धात्माकी उपलब्धि किस प्रकार होती है? इसका उत्तर कहते हैं—

जह कणयमग्गितवियंपि कणयहावं ण तं परिच्चइ ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी उ णाणित्तं ॥१८४॥
एवं जाणइ णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं ।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ॥१८५॥

जिस प्रकार सुवर्ण अग्निसे तपाये जानेपर भी सुवर्णपनेको नहीं छोड़ता है उसी प्रकार कर्मोदयसे तप्त हुआ ज्ञानी ज्ञानीपनेको नहीं छोड़ता है। ज्ञानी इस प्रकार जानता है परन्तु अज्ञानी चूँकि अज्ञानरूपी अन्धकारसे आच्छादित है अतः आत्मस्वभावको नहीं जानता हुआ रागको ही आत्मा मानता है॥ १८४-१८५ ॥

आगे शुद्धात्माकी उपलब्धिसे ही संवर क्यों होता है? इसका उत्तर कहते हैं—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥१८६॥

शुद्ध आत्माको जानता हुआ जीव शुद्ध ही आत्माको पाता है और अशुद्ध आत्माको जानता हुआ जीव अशुद्ध ही आत्माको पाता है॥ १८६ ॥

आगे संवर किस प्रकार होता है? इसका उत्तर कहते हैं—

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो पुण्णपावजोएसु ।
दंसणणाणह्मि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णह्मि ॥१८७॥

जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ॥१८८॥
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥१८९॥

जो जीव अपने आत्माको अपने आपके द्वारा शुभअशुभ रूप दोनों योगोंसे रोककर दर्शन ज्ञानमें स्थित हुआ अन्य पदार्थोंमें इच्छा रहित है तथा समस्त परिग्रहसे रहित होता हुआ आत्माके द्वारा आत्माका ही ध्यान करता है । कर्म और नोकर्मका ध्यान नहीं करता किन्तु चेतनारूप होकर एकत्व[1] भावका चिन्तन करता है वह आत्माका ध्यान करनेवाला, दर्शनज्ञानमय तथा अन्यवस्तु-रूप नहीं होनेवाला जीव शीघ्र ही कर्मोंसे रहित आत्माको ही प्राप्त करता है ॥ १८७-१८९ ॥※

आगे किस क्रमसे संवर होता है यह कहते हैं—

तेसिं हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥१९०॥
हेउ अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो ॥१९१॥
कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होइ ॥१९२॥

पूर्वमें कहे हुए उन राग द्वेषादि आस्रवोंके हेतु सर्वज्ञदेवने मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरतभाव और योग ये चार अध्यवसानभाव कहे हैं । ज्ञानी जीवके इन हेतुओंका अभाव होनेके कारण नियम-से आस्रवका निरोध होता है, आस्रवभावके विना कर्मोंका भी निरोध हो जाता है, कर्मोंका अभाव होनेसे नोकर्मोंका भी निरोध हो जाता है और नोकर्मोंका निरोध होनेसे संसारका निरोध हो जाता है ॥ १९०-१९२ ॥

इस प्रकार पाँचवाँ संवर अधिकार पूर्ण हुआ ।

●

---

१. एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथाः ॥ ज० वृ० ।

१८९ गाथा के आगे ज० वृ० में निम्नांकित दो गाथाओं की व्याख्या अधिक की गई है—

※ उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि ।
भण्णदि तहेवधिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य ॥
कोविदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं ।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं ॥ ज० वृ०

२. हेदू ज० वृ० ।

निर्जराधिकारः

आगे निर्जराका स्वरूप कहते हैं—

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणं चेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥१९३॥

सम्यग्दृष्टि जीव जो इन्द्रियोंके द्वारा चेतन और अचेतन द्रव्योंका उपभोग करता है वह सब ही निर्जराका निमित्त है ॥ १९३ ॥

आगे भाव निर्जराका स्वरूप वतलाते हैं—

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं वा ।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अहणिज्जरं जादि ॥१९४॥

जव जीव उदयागत द्रव्यकर्मका उपभोग करता है तव नियमसे सुख दुःख उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न हुए उस सुख दुःखका सिर्फ वेदन करता है किन्तु तन्मय नहीं होता है इसलिये वह निर्जराको प्राप्त होता है ॥ १९४ ॥

आगे ज्ञानकी सामर्थ्य दिखाते हैं—

जस विसमुव भुञ्जंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि ।
पोग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव वज्झए णाणी ॥१९५॥

जिस प्रकार वैद्य विषका उपभोग करता हुआ भी मरणको प्राप्त नहीं होता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव यद्यपि पुद्गल कर्मके उदयका उपभोग करता है तो भी वन्धको प्राप्त नहीं होता ॥ १९५ ॥

आगे वैराग्यकी सामर्थ्य दिखाते हैं—

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी विण वज्झदि तहेव ॥१९६॥

जिस प्रकार अरतिभावसे प्रीतिके विना ही मदिराको पीनेवाला पुरुष मत्त नहीं होता है उसी प्रकार द्रव्यकर्मके उपभोगमें रत नहीं होनेवाला ज्ञानी पुरुष वन्धको प्राप्त नहीं होता है ॥ १९६ ॥

आगे यही वात दिखलाते हैं—

सेवंतोवि ण सेवइ असेवमाणोवि सेवगो कोई ।
पगरणचेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होई[1] ॥१९७॥

---

१. होदि ज. वृ. ।

कोई पुरुष विषयोंका सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता है और कोई सेवन न करता हुआ भी सेवन करनेवाला है। जैसे किसी मनुष्यके कार्य करनेकी चेष्टा तो है अर्थात् प्रकरण सम्बन्धी समस्त कार्य करता है परन्तु वह प्रकरणका स्वामी है ऐसा नहीं होता॥ १९७॥

आगे सम्यग्दृष्टि जीव सामान्यरूपसे निज और परको इसप्रकार जानता है यह कहते हैं—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को॥१९८॥

कर्मोंके जो विविध प्रकारके उदयरस जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहे हैं वे मेरे स्वभाव नहीं हैं, मैं तो एक ज्ञायकभाव रूप हूँ॥ १९८॥

आगे सम्यग्दृष्टि जीव विशेषरूपसे निज और परके उदयको इस प्रकार जानता है यह कहते हैं—

पुग्गलकम्मं [1]रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को॥१९९॥

राग नामका पुद्गल कर्म है यह रागभाग उसीके विपाकका उदय है। यह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो एक ज्ञायकभाव रूप हूँ॥ १९९॥

आगे इसका फलितार्थ कहते हैं—

एवं [3]सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणयसहावं।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो॥२००॥

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपको ज्ञायक स्वभाव जानता है और तत्त्वको—वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानता हुआ उदयागत रागादिभावको कर्मका विपाक जानकर छोड़ता है॥ २००॥

आगे सम्यग्दृष्टि रागी क्यों नहीं होता है? इसका उत्तर कहते हैं—

परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि॥२०१॥

---

१. कोहो ज. वृ.।
एवमेव च रागपदपरिवर्तनेनद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्र चक्षुर्घ्राण रसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि अ. वृ.।

ज. वृ. में १९९ के आगे निम्न गाथा अधिक उपलब्ध है—
कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो।
परदव्वाणुवओगो ण दु देहो हवदि अण्णाणी॥

३. सम्माइट्ठं ज. वृ.।

अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥२०२॥—जुग्मं

निश्चयसे जिस जीवके रागादिका परमाणुमात्र भी—लेशमात्र भी विद्यमान है वह सर्वागम-का धारी होकर भी आत्माको नहीं जानता है। और जो आत्माको नहीं जानता है वह आत्मासे भिन्न परपदार्थको भी नहीं जानता है। इसप्रकार जो जीव अजीव दोनोंको नहीं जानता है वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ? ॥ २०१-२०२ ॥

आगे वह पद क्या है ? इसका उत्तर कहते हैं—

आदह्मि दव्वभावे [1]अपदे मोत्तूण गिण्ह [2]तह णियदं ।
थिरमेगमिमं भावं उवलंभंतं सहावेण ॥२०३॥

आत्मामें पर निमित्तसे हुए अपदरूप द्रव्यभावरूप सभी भावोंको छोड़कर निश्चित स्थिर एक तथा स्वभाव द्वारा उपलभ्यमान इस चैतन्यमात्र भावको तू ग्रहण कर ॥ २०३ ॥

आगे कहते हैं कि ज्ञान सामान्यरूपसे एक प्रकारका ही है उसमें जो भेद हैं वे क्षयोपशम-निमित्तसे हैं—

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥२०४॥

मतिज्ञान श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये जो ज्ञानके भेद हैं वे वास्तवमें एकही पद हैं—एक ही सामान्यज्ञानस्वरूप हैं। और यही परमार्थ है जिसे पाकर जीव निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ २०४ ॥

आगे इसी अर्थका उपदेश करते हैं—

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं बहूवि ण लहंति ।
तं गिण्ह [3]णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥२०५॥

यदि तू कर्मसे सर्वथा छुटकारा चाहता है तो इस निश्चित ज्ञानको ग्रहण कर क्योंकि ज्ञान गुणसे रहित बहुत पुरुष इस पदको नहीं पाते हैं ॥ २०५ ॥

आगे फिर इसी बातको पुष्ट करते हैं—

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि ।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥२०६॥

हे भव्य ! तू निरन्तर इस ज्ञानमें रत हो, इसीमें निरन्तर संतुष्ट रह, इसीसे तृप्त हो क्योंकि ऐसा करनेसे ही तुझे उत्तम सुख होगा ॥ २०६ ॥

---

१. अथिरे ज. वृ. । २. तव ज. वृ. । ३. सुदमेदं ज. वृ. ।

आगे ज्ञानी पर द्रव्यको क्यों नहीं ग्रहण करता ? इसका उत्तर कहते हैं—

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम[1] इमं हवदि दव्वं ।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो ।।२०७।।

नियमसे आत्माको ही अपना परिग्रह माननेवाला कौन विद्वान् ऐसा कहेगा कि यह पर द्रव्य मेरा द्रव्य है ।। २०७ ।।

आगे युक्ति के द्वारा इसका समर्थन करते हैं—

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ ।।२०८।।

यदि पर द्रव्य मेरा परिग्रह हो तो मैं अजीवपनेको प्राप्त हो जाऊँ पर चूँकि मैं ज्ञाता ही हूँ अतः पर द्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है ।। २०८ ।।

आगे शरीरादि पर द्रव्य मेरा परिग्रह किसी भी प्रकार नहीं हो सकता यह कहते हैं—

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।
जह्मा तह्मा गच्छदु लहवि हु ण परिग्गहो मज्झ ।।२०९।।

ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि शारीरादि पर द्रव्य छिदजावे, भिद जावे, कोई इसे ले जावे, अथवा विनाशको प्राप्त हो जावे अथवा जिस तिस तरह चली जावे तो भी मेरा परिग्रह नहीं है ।। २०९ ।।

आगे इस अपरिग्रह भावको दृढ़ करने के लिये पृथक् पृथक् वर्णन करते हैं—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं ।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होई ।।२१०।।

ज्ञानी परिग्रह रहित है इसलिये इच्छासे रहित कहा गया है। वह चूंकि इच्छा रहित है अतः धर्मकी इच्छा नहीं करता। इसीलिये उसके धर्मका परिग्रह नहीं है, वह केवल धर्मका ज्ञायक है ।। २१० ।।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं ।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ।।२११।।

ज्ञानी परिग्रह हीन तथा इच्छा रहित कहा गया है इसलिये वह अधर्मकी इच्छा नहीं करता। उसके अधर्मका परिग्रह नहीं है वह तो सिर्फ अधर्मका ज्ञायक है ।। २११ ।।[2]

---

१. ममभिदं ज० वृ० ।

२. २११ वीं गाथाके आगे ज० वृ० में निम्नांकित गाथा अधिक है।
धम्मच्छि अधम्मच्छी आयासं सुत्तमंगपुव्वेसु ।
संगं च तहा णेयं देवमणुअत्तिरिय णेरइयं ।।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे असणं ।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१२॥

ज्ञाही परिग्रहहीन तथा इच्छारहित कहा गया है इसलिये वह भोजनको इच्छा नहीं करता । उसके भोजनका परिग्रह नहीं है वह तो सिर्फ भोजनका ज्ञायक है ॥ २१२ ॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं ।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१३॥

ज्ञानी अपरिग्रह तथा इच्छा रहित कहा गया है इसलिये वह पानको इच्छा नहीं करता । उसके पानका परिग्रह नहीं है वह तो सिर्फ पानका ज्ञायक है ॥ २१३ ॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानो जीव इसीप्रकार अन्य परजन्यभावों को इच्छा नहीं करता है—

एमादिए[2] दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी ।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ ॥२१४॥

इनको आदि लेकर विविध प्रकारके समस्त भावोंको ज्ञानी जीव नहीं चाहता है । वह नियमसे ज्ञायकभाव है और अन्य सब वस्तुओंमें आलम्बन रहित है ॥ २१४ ॥

उप्पण्णोदयभोगो[3] विओगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं ।
कंखामणागयस्स य उदयस्स ण कुव्वए णाणी ॥२१५॥

ज्ञानी जीवके वर्तमानकालीन उदयका भोग निरन्तर वियोग बुद्धिसे उपलक्षित रहता है अर्थात् वर्तमान भोगको नश्वर समझकर वह उसमें परिग्रह बुद्धि नहीं करता और अनागत— भविष्यत्कालीन भोगकी वह आकांक्षा नहीं करता ।

भावार्थ—भोग तीन प्रकारका है १. अतीत २. वर्तमान और ३. अनागत । उनमें जो अतीत हो चुका है उसमें परिग्रह बुद्धि होना शक्य नहीं है । वर्तमान भोगको ज्ञानी जीव वियुक्त हो जानेवाला मानता है इसलिये उसमें परिग्रहभाव धारण नहीं करता तथा अनागत भोगमें आकांक्षा रहित होता है इसलिये तत्सवन्धी परिग्रह भी उसके संभव नहीं है इस प्रकार स्वसंवेदन ज्ञानी जीव निष्परिग्रह है यह वात सिद्ध होती है ॥ २१५ ॥

आगे ज्ञानी जीव अनागत भोगकी आकांक्षा क्यों नहीं करता ? इसका उत्तर देते हैं —

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं ।
तं जाणगो दु णाणी उभयंपि ण कंखइ कयावि ॥२१६॥

जो वेदन करता है और जिसका वेदन किया जाता है वे दोनों भाव समय समयमें नष्ट होते रहते हैं अर्थात् वेद्य वेदक भाव क्रमसे होते हैं अतः एक समयसे अधिक देर तक अवस्थित नहीं रहते । ज्ञानी जीव उन दोनों भावोंको जाननेवाला ही है वह उनकी कभी भी आकांक्षा नहीं करता है ॥ २१६ ॥

---

१. भणिदो असणं तु णिच्छदे णाणी ज० वृ० ।   २. एमादु एदु ज० वृ० ।
३. उप्पण्णोदयभोगे ज० वृ० ।

आगे इस प्रकारके सभी उपभोगोंसे ज्ञानी विरक्त रहता है यह कहते हैं—

वंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स ।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥२१७॥

वंध और उपभोग के निमित्तभूत, संसार और शरीर विषयक अध्यवसान के जो उदय हैं उनमें ज्ञानी जीवके राग उत्पन्न नहीं ही होता है ॥ २१७ ॥

आगे ज्ञानी कर्मबन्धसे रहित होता है यह कहते हैं—

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ॥२१८॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ॥२१९[1]॥

ज्ञानी सब द्रव्योंमें रागका छोड़नेवाला है इसलिये कर्मोंके मध्यगत होनेपर भी कर्मरूपी रजसे उस प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार कि कीचड़के बीचमें पड़ा हुआ सोना । परन्तु अज्ञानी सब द्रव्योंमें रागी है अतः कर्मोंके मध्यगत होता हुआ कर्मरूपी रजसे उस प्रकार लिपा होता है जिस प्रकार कि कीचड़के बीचमें पड़ा हुआ लोहा ॥ २१८-२१९ ॥

आगे इसी बातको शंखके दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—

भुंजंतस्सवि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे ।
संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्णगो काउं ॥२२०॥
तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे ।
भुंजंतस्सवि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं ॥२२१॥
जइया स एव संखो सेद सहावं तयं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२२२[2]॥

---

१. २१९ वीं गाथाके आगे ज० वृ० में निम्नलिखित श्लोकोंकी व्याख्या अधिक उपलब्ध है—
णागफलीए मूलं णाइणितोएण गब्भणागेण ।
णागं होइ सुवण्णं धम्मंतं भच्छवाएण ॥
कम्मं हवेइ किट्टं रागादि कालिया अह विभाओ ।
सम्मत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि ॥
झाणं हवेइ अग्गी तवमरणं भत्तली समक्खादो ।
जीवो हवेइ लोहं धमियव्वो परम जोईहिं ॥

२. २२२ और २२३ के मध्य ज० वृ० निम्नगाथा अधिक उपलब्ध है —
जह संखो पोग्गलदो जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥

तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिऊण।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥२२३॥

जिस प्रकार यद्यपि शङ्ख विविध प्रकारके सचित्त अचित्त और मिश्र द्रव्योंका भक्षण करता है तो भी उसका श्वेतपना काला नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार यद्यपि ज्ञानी विविध प्रकारके सचित्त अचित्त और मिश्र द्रव्योंका उपभोग करता है तो भी उसका ज्ञान अज्ञानताको प्राप्त नहीं कराया जा सकता। और जिस समय वही शंख उस श्वेत स्वभावको छोड़कर कृष्ण भावको प्राप्त हो जाता है उस समय वह जिस प्रकार श्वेतपनेको छोड़ देता है उसी प्रकार ज्ञानी जिस समय उस ज्ञान स्वभावको छोड़कर अज्ञान स्वभावसे परिणत होता है उस समय अज्ञानभावको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—ज्ञानीके परकृत बन्ध नहीं है वह आपही जब अज्ञानरूप परिणमन करता है तब स्वयं निजके अपराधसे बन्ध दशाको प्राप्त होता है ॥ २२०-२२३ ॥

आगे सराग परिणामोंसे बन्ध और वीतराग परिणामोंसे मोक्ष होता है यह दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तके द्वारा स्पष्ट करते हैं—

पुरिसो जह कोवि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवए रायं।
तो सोवि देदि राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२४॥
एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।
तो सोवि देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२५॥
जह पुण सो चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२६॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं।
तो सो ण देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२७॥

जिस प्रकार इस लोकमें कोई पुरुष आजीविकाके निमित्त राजाकी सेवा करता है तो राजा भी उसके लिये सुख उपजाने वाले विविध प्रकारके भोग देता है। इसी प्रकार जीव नामा पुरुष सुखके निमित्त कर्मरूपी रजकी सेवा करता है तो वह कर्मरूपी रज भी उसके लिये सुख उपजाने वाले विविध प्रकारके भोग देता है। जिस प्रकार वही पुरुष वृत्ति के निमित्त राजा की सेवा नहीं करता है तो राजा उसके लिये सुख उपजाने वाले विविध प्रकारके भोग नहीं देता है इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव विषयों के लिये कर्मरूपी रजकी सेवा नहीं करता है तो वह कर्मरूपी रज भी उसके लिये सुख उपजाने वाले विविध प्रकारके भोग नहीं देता है ॥ २२४-२२७ ॥

आगे सम्यग्दृष्टि जीव निःशङ्क तथा निर्भय है यह कहते हैं—

सम्मदिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ॥२२८॥

सम्यग्दृष्टि जीव चूँकि शङ्का रहित होते हैं इसलिये निर्भय हैं और चूँकि सप्तभयसे रहित हैं इसलिये शङ्का रहित हैं।

भावार्थ—निर्भयता और निःशङ्कपनमें परस्पर कार्यकारण भाव है ॥ २२८ ॥

आगे निःशङ्कित अङ्गका स्वरूप कहते हैं—

जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते [1]कम्मबंधमोहकरे।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२२९॥

जो आत्मा कर्मबन्धके कारण मोहके करने वाले उन मिथ्यात्व आदि पापोंको काटता है उसे निःशङ्क सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ॥ २२९ ॥

आगे निःकांक्षित अङ्गका स्वरूप कहते हैं—

[2]जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३०॥

जो आत्मा कर्मोंके फलोंमें तथा वस्तुके स्वभावभूत समस्त धर्मोंमें बांछा नहीं करता है उसे निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ॥ २३० ॥

आगे निर्विचिकित्सित अङ्गका स्वरूप कहते हैं—

जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसि मेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो[3] सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३१॥

जो जीव वस्तुके सभी धर्मों में ग्लानि नहीं करता उसे निश्चयसे निर्विचिकित्सित सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ॥ २३१ ॥

आगे अमूढदृष्टि अङ्गका स्वरूप कहते है—

[4]जो हवइ असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३२॥

जो जीव सब भावोंमें मूढ नहीं होता हुआ यथार्थ दृष्टिवाला होता है उसे निश्चयसे अमूढ दृष्टि-सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ॥ २३२ ॥

आगे उपगूहन अङ्गका लक्षण कहते हैं—

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो [5]उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी [6]मुणेयव्वो ॥२३३॥

---

१. मोहवाध करे ज० वृ०। २. जोण करेदि दु कंखं ज० वृ०। ३. गिंछो ज० वृ०।
४. जो हवदि असंमूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु ज० वृ०। ५. उपगूहणगारी ज० वृ०।
६. मुणेदव्वो ज० वृ०।

जो सिद्ध भक्तिसे युक्त हो समस्त धर्मोका उपगूहन करनेवाला हो उसे उपगूहन अङ्गका धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ॥ २३३ ॥

आगे स्थितिकरण अङ्गका लक्षण कहते हैं—

उम्मंगं गच्छंतं सगंपि[1] मग्गे ठवेदि जो चेदा ।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३४॥

जो जीव न केवल परको किन्तु उन्मार्गमें जानेवाले अपने आत्माको भी समीचीन मार्गमें स्थापित करता है उसे स्थितिकरण अङ्गसे युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ॥ २३४ ॥

आगे वात्सल्य अङ्गका स्वरूप कहते हैं—

जो कुणदि वच्छलत्तं तियेह[2] साहूण मोक्खमग्गम्मि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३५॥

जो जीव, आचार्य उपाध्याय तथा साधुरूप मुनियोंके त्रिकमें और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप मोक्षमार्गमें वत्सलता करता है उसे वात्सल्यभावसे युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ॥ २३५ ॥

आगे प्रभावना अङ्गका स्वरूप कहते हैं—

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु[3] भमइ जो चेदा ।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३६॥

जो जीव विद्यारूपी रथ पर आरूढ होकर मनरूपी रथके मार्गमें भ्रमण करता है उसे जिनेन्द्रदेवके ज्ञानकी प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ॥ २३६ ॥

इस प्रकार निर्जराधिकार पूर्ण हुआ ।

०

१. शिवमग्गे ज० वृ० । २ तिण्हे ज० वृ० । ३ मणोरहरहेसु हणदि जो चेदा' ज० वृ० ।

बन्धाधिकारः

आगे बन्धका कारण कहते हैं—

जह णाम कोवि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि ।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहिं वायामं ॥२३७॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥२३८॥
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किं पच्चयगो दु रयवंधो ॥२३९॥
जो सो दु णेह भावो तह्मि णरे तेण तस्स रयवंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२४०॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो वहुविहासु चिट्ठासु ।
रायाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण ॥२४१॥

यह प्रकट है कि जिस प्रकार शरीरमें तेल लगाये हुए कोई पुरुष वहुत धूलीवाले स्थानमें स्थित होकर शस्त्रों द्वारा व्यायाम करता है तथा ताल तमाल केला वांस अशोक आदि वृक्षोंको छेदता है भेदता है, सचित्त अचित्त पदार्थोंका उपघात करता है। इसप्रकार नाना प्रकारके करणोंसे उपघात करने वाले उस पुरुषके निश्चयसे विचारो कि रजका वन्ध किंनिमित्तक है ? उस मनुष्यमें जो स्नेह भाव है अर्थात् तेलके सम्बन्धसे जो चिकनाई है उसीसे उसके रजका वन्ध होता है यह निश्चयसे जानना चाहिये, शरीरकी अन्य चेष्टाओंसे रजका वन्ध नहीं होता है। इसी प्रकार मिथ्या-दृष्टि जीव जो कि वहुत प्रकारकी चेष्टाओंमें वर्तमान है तथा अपने उपयोगमें रागादिभावोंको कर रहा है कर्मरूपी रजसे लिप्त होता है ॥ २३७-२४१ ॥

आगे उपयोगमें रागादिभाव न होनेसे सम्यग्दृष्टिके कर्मवन्ध नहीं होता है यह उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वह्मि अवणिये संते ।
रेणु वहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं ॥२४२॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥२४३॥

उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु किंपच्चयगो ण रयबंधो ॥२४४॥
जो सो दुणेहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२४५॥
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु ।
अकरंतो उवओगे रागाइ ण लिप्पइ रयेण ॥२४६॥

जिस प्रकार फिर वही पुरुष समस्त चिकनाईके दूर किये जाने पर बहुत धूलिवाले स्थानमें शस्त्रों द्वारा व्यायाम करता है तथा ताल तमाल केला बांस अशोक आदि वृक्षोंको छेदता है भेदता है सचित्त अचित्त पदार्थोंका उपघात करता है यहाँ नाना प्रकारके करणोंसे उपघात करनेवाले उस पुरुषके निश्चयसे विचारो कि रजका बन्ध नहीं होरहा है सो किंनिमित्तक है ? उस मनुष्यमें जो चिकनाई थी उसीसे रजका बन्ध होता था शरीरकी अन्य चेष्टाओंसे नहीं । यह निश्चयसे जानना चाहिये । अब चूँकि उसके चिकनाईका अभाव हो गया है अतः रजका बन्ध भी दूर हो गया है । इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जो कि यद्यपि बहुत प्रकारके योगोंमें—मन वचन कायके व्यापारोंमें प्रवर्तमान है तथापि उपयोगमें रागादि भाव नहीं करता है इसलिये कर्मरूपी रजसे लिप्त नहीं होता है ॥ २४२-२४६ ॥

आगे अज्ञानी और ज्ञानी जीवकी विचारधारा प्रकट करते हैं—

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥

जो पुरुष ऐसा मानता है कि मैं पर जीवको मारता हूँ और पर जीवोंके द्वारा मैं मारा जाता हूँ वह मूढ है अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है वह ज्ञानी है ॥ २४७ ॥

आगे उक्त विचार अज्ञान क्यों हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं ॥२४८॥
[1]आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं न हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं ॥२४९॥

जीवोंका मरण आयुके क्षयसे होता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है, तुम किसी जीवकी आयु-का हरण नहीं करते हो फिर तुमने उनका मरण कैसे किया ? आयुके क्षयसे जीवोंका मरण होता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है पर जीव तुम्हारी आयुका हरण नहीं कर सकते, तब फिर उनके द्वारा तुम्हारा मरण किस तरह किया जा सकता है ? ॥ २४८-२४९ ॥

---

१. यह गाथा ज० वृ० में नहीं है ।

आगे मरणसे विपरीत जीवित रहनेका जो अध्यवसाय है वह भी अज्ञान है ऐसा कहते हैं—

[1]जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विपरीदो ।।२५०।।

जो ऐसा मानना है कि मैं पर जीवोंको जीवित करता हूँ और पर जीवोंके द्वारा मैं जीवित होता हूँ वह मूढ है अज्ञानी है और इससे जो विपरीत है वह ज्ञानी है ।

आगे उक्त विचार अज्ञान क्यों हैं ? इसका उत्तर कहते हैं—

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कयं तेसिं ।।२५१।।
[2]आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं ।।२५२।।

जीव आयुके उदयसे जीवित रहता है ऐसा सर्वज्ञ देव कहते हैं। तुम किसीको आयु नहीं देते फिर तुमने उनका जीवन कैसे किया ? आयुके उदयसे जीव जीवित रहता है ऐसा सर्वज्ञ देव कहते हैं तुम्हें कोई आयु नहीं देता फिर उनके द्वारा तुम्हारा जीवन कैसे किया गया ? ।। २५१-२५२ ।।

आगे किसीको दुःखी सुखी करनेका जो विचार है उसकी भी यही गति है यह कहते हैं—

जो अप्पणा दु मण्णदि दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी सत्तो दु विवरीदो ।।२५३।।

जो ऐसा मानता है कि मैं अपने द्वारा दूसरे जीवोंको दुःखी सुखी करता हूँ वह मूढ है, अज्ञानी है, और इससे जो विपरीत है वह ज्ञानी है ।। २५३ ।।

आगे उक्त विचार अज्ञान क्यों है ? इसका उत्तर देते हैं—

[3]कम्मोदएण जीवा दुक्खिद सुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कहं कया ते ।।२५४।।
कम्मोदएण जीवा दुक्खिद सुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं ।।२५५।।
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं ।।२५६।।

सब जीव कर्मके उदयसे यदि दुःखी सुखी होते हैं तो तूँ उन्हें कर्म तो देता नहीं है फिर तेरे

---

१. यह गाथा ज० वृ० में नहीं है ।
२. यह गाथा भी ज० वृ० में नहीं है ।
३. 'कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिवा हवंति जदि सत्ता' ज० वृ० ।

द्वारा वे दुःखी सुखी कैसे किये गये ? यदि कर्मके उदयसे सब जीव दुःखी सुखी होते हैं तो अन्य जीव तुझे कर्म तो देते नहीं हैं फिर उनके द्वारा तूँ दुःखी कैसे किया गया ? यदि समस्त जीव कर्मके उदयसे दुःखी सुखी होते हैं तो अन्य जीव तुझे कर्म तो देते नहीं फिर तू उनके द्वारा सुखी कैसे किया गया ? ॥ २५४-२५६ ॥

आगे इसी अर्थको फिर कहते हैं—

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो ।
तह्मा दु मारिदो दे दुहोविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५७॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो [1]सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु ।
तह्मा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥

जो मरता है और जो दुखी होता है वह सब अपने कर्मोदयसे होता है इसलिये अमुक व्यक्ति तेरे द्वारा मारा गया तथा अमुक व्यक्ति दुखी किया गया यह अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है ? मिथ्या ही है। जो नहीं मरता है और नहीं दुखी होता है वह सब यथार्थमें अपने कर्मोदयसे होता है इसलिये अमुक व्यक्ति तेरे द्वारा नहीं मारा गया, नहीं दुःखो किया गया यह अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है ? मिथ्या ही है ॥ २५७-२५८॥

आगे उक्त विचार ही बन्धके कारण हैं यह कहते हैं—

एसा दु जा मई दे दुःखित सुहिदे करेमि सत्तेति ।
एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्मं ॥२५९॥

मैं जीवोंको दुःखी और सुखी करता हूं यह जो बुद्धि है सो मूढ़ बुद्धि है। यह मूढ बुद्धि ही शुभ अशुभ कर्मोंको बांधती है ॥२५९॥

आगे मिथ्याध्यवसाय बन्धका कारण है यह कहते हैं—

दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६०॥
मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६१॥

मैं जीवोंको दुखी सुखी करता हूँ यह जो तेरा अध्यवसाय है सो वह ही पापका बंध करनेवाला अथवा पुण्यका बन्ध करनेवाला होता है। मैं सब जीवोंको मारता हूँ अथवा जीवित करता हूँ ऐसा जो तेरा अध्यवसाय है वही पापका बन्ध करनेवाला अथवा पुण्यका बन्ध करनेवाला होता है ॥ २६०-२६१ ॥

आगे हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है यह कहते हैं—

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ[2] मा व [3]मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥२६२॥

---

१. सो वि य कम्मोदयेण खलु जीवो ज० वृ० ।

२. मारेहि ज० वृ० ३. मारेहि ज० वृ० ।

अध्यवसायसे बन्ध होता है, जीवोंको मारो अथवा मत मारो यह निश्चय नयकी अपेक्षा जीवों के बन्ध का संक्षेप है ।। २६२ ।।

आगे हिंसाके अध्यवसायके समान असत्य वचन आदिका अध्यवसाय भी बन्धका कारण है यह कहते हैं—

एवमलिये अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव ।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पावं ।।२६३।।
तहवि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव ।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्णं ।।२६४।।

इसी प्रकार असत्य चौर्य अब्रह्म और परिग्रहके विषयमें जो अध्यवसाय किया जाता है उससे पापका बन्ध होता है तथा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहपनेके विषयमें जो अध्यवसाय किया जाता है उससे पुण्य का बन्ध होता है ।। २६३-२६४ ।।

आगे कहते हैं कि बाह्य वस्तु बन्धका कारण नहीं है—

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं ।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ।।२६५।।

जीवोंके जो अध्यवसान है वह वस्तुके अवलम्बनसे होता है । वस्तुसे बन्ध नहीं होता है । किन्तु अध्यवसानसे ही बन्ध होता है ।। २६५ ।।

आगे जीव जैसा अध्यवसाय करता है वसी कार्यकी परिणति नहीं होती यह कहते हैं—

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि ।
जा एसा मूढमई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ।।२६६।।

मैं जीवोंको दुखी सुखी करता हूँ बंधाता हूँ अथवा छुड़ाता हूँ यह जो तेरी मूढबुद्धि है वह निरर्थक है इसलिये निश्चयसे मिथ्या है ।। २६६ ।।

आगे अध्यवसान स्वार्थक्रियाकारी किस प्रकार नहीं है यह कहते हैं—

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि ।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करोसि तुमं ।।२६७।।

यदि जीव अध्यवसानके कारण कर्मसे बँधते हैं और मोक्षमार्गमें स्थित हुए कर्मसे छूटते हैं तो इसमें तू क्या करता है ?

भावार्थ—यह जो बाँधने छोड़नेका अध्यवसान है उसने परमें कुछ भी नहीं किया । क्योंकि इसके न होने पर जीव अपने सराग वीतराग परिणामोंसे ही बन्ध मोक्षको प्राप्त होता है और इसके होने पर भी जीव अपने सराग वीतराग परिणामोंके अभावमें बन्ध मोक्षको प्राप्त नहीं होता । इसलिये अध्यवसान परमें अकिंचित्कर होनेसे स्वार्थक्रियाकारी नहीं है ।। २६७ ।।[1]

---

१. २६७ की गाथाके आगे ज० वृ० में निम्नाङ्कित गाथा अधिक पाये जाते हैं ।

आगे रागादिके अध्यवसानसे मोहित हुआ जीव समस्त परद्रव्यों को अपना समझता है यह कहते हैं—

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए।
देवमणुये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ॥२६८॥
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोयलोयं च।
सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥२६९॥

जीव अध्यवसानके द्वारा समस्त तिर्यञ्च नारकी देव मनुष्य सभी पर्यायोंको अपना करता है, अनेक प्रकारके पुण्य पापको अपना करता है तथा धर्म अधर्म जीव अजीव अलोक और लोक सभीको अपना करता है ॥ २६८–२६९ ॥

आगे कहते हैं कि जिन मुनियोंके उक्त अध्यवसान नहीं हैं वे कर्मबन्धसे लिप्त नहीं हैं—

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणी।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति[1] ॥२७०॥

ये तथा इसप्रकारके अन्य अध्यवसान जिन मुनियोंके नहीं हैं वे मुनि अशुभ अथवा शुभ कर्मसे लिप्त नहीं होते हैं ॥ २७० ॥

आगे अध्यवसानकी नामावली कहते हैं—

बुद्धी ववसाओवि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥२७१॥

बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब एकार्थ ही हैं—इनमें अर्थभेद नहीं है ॥ २७१ ॥

कायेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
वाचाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
मणसाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
सच्छेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
कायेण च वाया वा मणेण सुहिदे करेमि सत्तेति।
एवंपि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
ज० वृ०

१. इसके आगे ज० वृ० में निम्न गाथा अधिक है—
जा संकप्पवियप्पो ता कम्मं कुणदि असुहसुहजणयं।
अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिप्फुरइ ॥
ज० वृ०

आगे व्यवहारनय निश्चयनयके द्वारा प्रतिषिद्ध है-यह कहते हैं—

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।
[1]णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ।।२७२।।

इस प्रकार व्यवहारनय निश्चयनयके द्वारा प्रतिषिद्ध है ऐसा जानो। जो मुनि निश्चय नयके आश्रित हैं वे मोक्षको पाते हैं ।। २७२ ।।

आगे अभव्यके द्वारा व्यवहार नयका आश्रय क्यों किया जाता है? इसका उत्तर कहते हैं—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं ।
कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ।।२७३।।

अभव्य जीव, जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए व्रत, समिति, गुप्ति, शील तथा तपको करता हुआ भी अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही रहता है ।। २७३ ।।

आगे कोई पूछता है कि अभव्यके तो ग्यारह अङ्ग तकका ज्ञान होता है उसे अज्ञानी क्यों कहते हो? इसका उत्तर देते हैं—

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहं तस्स णाणं तु ।।२७४।।

मोक्ष तत्त्वकी श्रद्धा न करनेवाला अभव्य जो अध्ययन करता है उसका वह अध्ययन उसका कुछ भी गुण-लाभ नहीं करता है क्योंकि उसके ज्ञानकी श्रद्धा नहीं है ।। २७४ ।।

आगे फिर कोई पूछता है कि उसके धर्मका श्रद्धान तो है उसका निषेध कैसे करते हो? इसका उत्तर देते हैं—

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह [2]पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं ण [3]दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ।।२७५।।

वह अभव्य जीव धर्मका श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, रुचि करता है और अनुष्ठान-रूपसे स्पर्श करता है परन्तु भोगमें निमित्तभूत धर्मका श्रद्धान आदि करता है कर्मक्षयमें निमित्त भूत धर्मका श्रद्धानादि नहीं करता।

भावार्थ—अभव्य जीव शुभोपयोगरूप धर्मका श्रद्धानादि करता है जो कि सांसारिक भोगोंका कारण है। शुद्धोपयोगरूप धर्मका श्रद्धानादि नहीं करता जो कि कर्म क्षयका कारण है ।। २७५ ।।

---

१. णिच्छयणयसल्लीण । ज० वृ० ।
२. पुणोवि ज० वृ० ।
३. हु ज० वृ० ।

आगे व्यवहारको प्रतिषेध्य और निश्चयको प्रतिषेधक कहा सो इनका क्या स्वरूप है ? यह कहते हैं—

आयारादि णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं ।
[1]छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो ॥२७६॥
आदा खु मज्झ णाणं[2] आदा मे दंसणं[3] चरित्तं[4] च ।
आदा पच्चक्खाणं[5] आदा मे संवरो[6] जोगो[7] ॥२७७॥

आचाराङ्ग आदि शास्त्र ज्ञान है, जीवादि तत्त्वोंको दर्शन जानना चाहिये, यह निकायके जीव चारित्र हैं ऐसा व्यवहार नय कहता है । और निश्चयसे मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन और चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है तथा मेरा आत्मा ही संवर और योग है ऐसा निश्चय नय कहता है ॥ २७६-२७७ ॥

आगे रागादिके होनेमें कारण क्या है ? इसका उत्तर देते हैं—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥२७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥

जैसे स्फटिकमणि स्वयं शुद्ध है वह राग—लालिमा आदि रूप स्वयं परिणमन नहीं करता किन्तु अन्य लाल आदि द्रव्योंसे लाल आदि रङ्ग रूप हो जाता है । इसी प्रकार ज्ञानी स्वयं शुद्ध है, वह राग—प्रीति आदि रूप स्वयं परिणमन नहीं करता किन्तु अन्य रागादि दोषोंसे रागादि रूप हो जाता है ॥ २७८-२७९ ॥

आगे ज्ञानी रागादिका कर्त्ता क्यों नहीं है ? इसका उत्तर देते हैं—

ण य रायदोस मोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं ॥२८०॥

ज्ञानी स्वयं राग द्वेष मोह तथा कषायभावको नहीं करता है इसलिये वह उन भावोंका कर्ता नहीं है ॥ २८० ॥

आगे अज्ञानी रागादिका कर्ता है यह कहते हैं—

रायह्मि य दोसह्मि य कसायकम्मेसु चेव[8] जे भावा ।
[9]तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदि पुणोवि ॥२८१॥

राग द्वेष और कषाय कर्मके होने पर जो भाव होते हैं उनसे परिणमता हुआ अज्ञानी जीव रागादिको वार वार बांधता है ॥ २८१ ॥

---

१. छज्जीवाणं रक्खा ज० वृ० । २. णाणे । ३. दंसणे । ४. चरित्ते । ५. पच्चक्खाणे । ६. संवरे । ७. जोगे ज० वृ० । ८. पवि ज० वृ० । ९. ते सम तु ज० वृ० ।

आगे उक्त कथनसे जो बात सिद्ध हुई उसे कहते हैं—

रायह्मि य दोसह्मि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
[1]तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदे चेदा ॥२८२॥

राग द्वेष और कषाय कर्मके रहते हुए जो भाव होते हैं उनसे परिणमता आत्मा रागादिको बाँधता है ॥ २८२ ॥

आगे कोई प्रश्न करता है कि जब अज्ञानीके रागादिक फिर कर्मबन्धके कारण हैं तब ऐसा क्यों कहा जाता है कि आत्मा रागादिकका अकर्ता ही है ? इसका समाधान करते हैं—

अपडिक्कमणं दुविहं अपच्चखाणं तहेव विण्णेयं।
[2]एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥२८३॥
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपच्चक्खाणं।
[3]एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥२८४॥
[4]जावं अपडिक्कमणं अपच्चखाणं च दव्वभावाणं।
[5]कुव्वइ आदा तावं कत्ता सो होइ णायव्वो ॥२८५॥

जिस प्रकार अप्रतिक्रमण दो प्रकारका है उसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकारका जानना चाहिये। इस उपदेशसे आत्मा अकारक कहा है। अप्रतिक्रमण दो प्रकार है एक द्रव्यमें दूसरा भावमें। इसीप्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है एक द्रव्यमें दूसरा भावमें। इस उपदेश-से आत्मा अकारक है। जब तक आत्मा द्रव्य और भाव में अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है तब तक वह आत्मा कर्ता होता रहता है यह जानना चाहिये ॥ २८३-२८५ ॥

आगे द्रव्य और भावमें जो निमित्त नैमित्तिकपना है उसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—

[6]आधाकम्माईया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वइ णाणी परदव्वगुणा उ जे णिच्चं ॥२८६॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पुग्गलसयं इमं दव्वं।
कह तं मम होइ कयं जं णिच्चमचेयणं उत्तं ॥२८७॥

---

१. ते मम दु। ज० वृ०।
२. एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा। ज० वृ०।
३. ” ” ” ज० वृ०।
४. जाव ण पच्चक्खाणं अपडिक्कमणं तु दव्वभावाणं। ज० वृ०।
५. कुव्वदि आदा तावदु कत्ता सो होदि णादव्वो। ज० वृ०।
६. आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कहमणुमण्णदि अण्णेण कीरमाणा परस्स गुणा॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गल मयं इमं दव्वं।
कह तं मम कारविदं जं णिच्च मचेदणं वुत्तं॥ ज० वृ०।

अधःकर्मको आदि लेकर पुद्गल द्रव्यके जो दोप है उन्हें ज्ञानी कैसे कर सकता है क्योंकि ये निरन्तर पर द्रव्यके गुण हैं। और यह जो अधःकर्म तथा उद्देश्यसे उत्पन्न हुआ पुद्गल द्रव्य है वह मेरा कैसे हो सकता है वह तो निरन्तर अचेतन कहा गया है।

भावार्थ—जो आहार पाप कर्मके द्वारा उत्पन्न हो उसे अधःकर्मनिष्पन्न कहते हैं और जो आहार किसीके निमित्त वना हो उसे औद्देशिक कहते हैं। मुनिधर्ममें उक्त दोनों प्रकारके आहार दोपपूर्ण माने गये हैं। ऐसे आहार को जो सेवन करता है उसके वैसे ही भाव होते हैं क्योंकि लोकमें प्रसिद्ध है कि जो जैसा अन्न खाता है उसकी बुद्धि वैसी ही होती है। इस प्रकार द्रव्य और भावका निमित्त नैमित्तिकपना जानना चाहिये। द्रव्य कर्म निमित्त हैं और उसके उदयमें होनेवाले रागादि भाव नैमित्तिक हैं। अज्ञानी जीव परद्रव्यको ग्रहण करता है—उसे अपना मानता है इसलिये उसके रागादिभाव होते हैं उनका वह कर्ता भी होता है और उसके फलस्वरूप कर्मका वन्ध भी करता है परन्तु ज्ञानी जीव किसी पर द्रव्यको ग्रहण नहीं करता—अपना नहीं मानता इसलिये उसके तद्विषयक रागादिभाव उत्पन्न नहीं होते। उनका यह कर्ता नहीं होता और फलस्वरूप नूतन कर्मका वन्ध नहीं करता ॥ २८६-२८७ ॥

इस प्रकार वन्धाधिकार पूर्ण हुआ।

मोक्षाधिकारः

आगे जो पुरुष बन्धका स्वरूप जानकर ही संतुष्ट हो जाते हैं उसके नष्ट करनेका प्रयास नहीं करते उनके मोक्ष नहीं होता यह कहते हैं—

जह णाम कोवि पुरिसो बंधणयह्मि चिरकालपडिवद्धो ।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स ॥२८८॥
जइ णवि कुणइ च्छेदं ण मुच्चए तेण बंधणवसो सं ।
कालेण उ वहुएणवि ण सो णरो पावइ विमोक्खं ॥२८९॥
इय कम्मबंधणाणं पएस[1]ठिइपयडिमेवमणुभागं ।
जाणंतोवि ण मुच्चइ [2]मुंच्चइ सो चेव जइ सुद्धो ॥२९०॥

जिस प्रकार कोई पुरुष बन्धनमें बहुत कालका बँधा हुआ उस बन्धनके तीव्र मन्द स्वभाव तथा समयको जानता है परन्तु यदि उसका छेदन नहीं करता है तो वह पुरुष बन्धनका वशीभूत हुआ बहुत कालमें भी उससे मोक्ष-छुटकारा नहीं पाता है उसी प्रकार जो पुरुप कर्मबन्धके प्रदेश स्थिति प्रकृति तथा अनुभाग रूप भेदोंको जानता हुआ भी उनका छेदन नहीं करता वह कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं होता है। यदि वह शुद्ध होता है—रागादि भावोंको दूरकर अपनी परिणतिको निर्मल बनाता है तो मुक्त होता है ॥ २८८-२९० ॥

आगे बन्ध की चिन्ता करनेपर भी बन्ध नहीं कटता है यह कहते हैं—

जह बंधे चिंतंतो बंधणवद्धो ण [3]पावइ विमोक्खं ।
तह बंधे चिंतंतो जीवोवि ण [4]पावइ विमोक्खं ॥२९१॥

जैसे वन्धनसे बँधा पुरुष बंधनकी चिन्ता करता हुआ भी उससे मोक्ष—छुटकारा नहीं पाता है उसी प्रकार कर्मबन्धकी चिन्ता करता हुआ जीव भी उससे मोक्षको नहीं पाता है ॥२९१॥

आगे तो फिर मोक्षका का कारण क्या है ? इसका उत्तर देते हैं—

जह बंधे [5]छित्तूण य बंधणवद्धो उ पावइ[6] विमोक्खं ।
तह बंधे [7]चित्तूण य जीवो संपावइ[8] विमोक्खं ॥२९२॥

जिस प्रकार बन्धनसे बँधा पुरुष बंधनोंको छेदकर मोक्षको पाता है उसी प्रकार जीव कर्म-बन्धनोंको छेदकर मोक्षको पाता है ॥ २९२ ॥

---

१. पदेशपयडिट्ठिदीय । ज० वृ०
२. मुञ्चदि सव्वे जदि विसुद्धो । ज० वृ० । (मुञ्चदि सव्वे जदि स वंधे) पाठान्तरम् ज० वृ० ।
३-४. पावदि । ज० वृ०
५. मुत्तूण य । ६. पावदि । ७. मुत्तूण य । ८. संपावदि ज० वृ० ।

आगे क्या यही मोक्षका हेतु है या अन्य कुछ भी ? इसका उत्तर कहते हैं--

वंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च ।
वंधेसु जो[1] विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणई[2] ॥२९३॥

जो वन्धोंका स्वभाव और आत्माका स्वभाव जानकर वन्धोंमें विरक्त होता है वह कर्मोंका मोक्ष करता है ॥ २९३ ॥

आगे पूछते हैं कि आत्मा और वन्ध पृथक् पृथक् किससे किये जाते हैं—

जीवो वंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
पण्णाछेदणएण उ[3] छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥२९४॥

जीव और वन्ध ये दोनों अपने-अपने नियम लक्षणों से बुद्धिरूपी छैनीके द्वारा इस प्रकार छेदे जाते हैं कि वे नानापनको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २९४ ॥

आगे कोई पूछता है कि आत्मा और वन्धको द्विधा करके क्या करना चाहिये ? इसका उत्तर कहते हैं--

जीवो वंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
वंधो छेएवव्वो[4] सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो ॥२९५॥

अपने अपने निश्चित लक्षणोंके द्वारा जीव और वन्धको उस तरह भिन्न करना चाहिये जिस तरह कि वन्ध छिद जावे और शुद्ध आत्माका ग्रहण हो जावे ॥ २९५ ॥

आगे कहते हैं कि आत्मा और वन्धको द्विधा करनेका यही प्रयोजन है कि वन्धको छोड़कर शुद्ध आत्माका ग्रहण हो जावे--

कह सो घिप्पइ[5] अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए[6] अप्पा ।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णाएव घित्तव्वो ॥२९६॥

शिष्य पूछता है कि उस आत्माका ग्रहण किस प्रकार होता है ? आचार्य उत्तर देते हैं कि प्रज्ञाके द्वारा उस आत्माका ग्रहण होता है। जिस प्रकार प्रज्ञासे उसे पहले भिन्न किया था उसी प्रकार प्रज्ञासे ही उसे ग्रहण करना चाहिये ॥ २९६ ॥

आगे पूछते हैं कि प्रज्ञाके द्वारा आत्माका ग्रहण किस प्रकार करना चाहिये ?—

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९७॥

जो चेतन स्वरूप आत्मा है वह निश्चयसे मैं हूं इस प्रकार प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करना चाहिये और वाकी जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ २९७ ॥

---

१. जो ण रज्जदि ज० वृ० । २. कुणदि ज० वृ० । ३. दु ज० वृ० । ४. छेदव्वो ज० वृ० ।
५. घिप्पदि ज० वृ० । ६. घिप्पदे ज० वृ० ।

आगे मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ ऐसा प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करना चाहिये—

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा अहं तु णिच्छयओ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९८॥

पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥२९९॥

प्रज्ञाके द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये कि जो द्रष्टा है--देखने वाला है वह निश्चयसे मैं हूँ और अवशिष्ट जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिये। प्रज्ञाके द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये कि जो ज्ञाता है निश्चयसे मैं हूँ बाकी जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ २९८-२९९ ॥

आगे इसी ..तका समर्थन करते हैं--

को णाम भणिज्ज बुहो [1]णाउं सव्वे पराइए भावे।
मज्झमिणंति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥३००॥

शुद्ध आत्माको जानता हुआ कौन ज्ञानी समस्त परभावोंको जानकर ऐसे वचन कहेगा कि ये भाव मेरे हैं ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ३०० ॥

आगे अपराध बन्धका कारण है यह दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं—

[2]थेयाई अवराहे कुव्वदि जो सो उ[3] संकिदो भमई।
मा वज्झेज्जं[4] केणवि चोरोत्ति जणम्मि[5] वियरंतो ॥३०१॥
जो ण कुणइ[6] अवराहे सो णिस्संको दु जणवए भमदि।
णवि तस्स वज्झिदुं[7] जे चिंता उप्पज्जदि कयाई[8] ॥३०२॥
एवं हि सावराहो वज्झामि अहं तु संकिदो चेया[9]।
जइ[10] पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण वज्झामि ॥३०३॥

जो पुरुष चोरी आदि अपराधोंको करता है वह इस प्रकार शङ्कित होकर घूमता है कि मैं मनुष्योंमें विचरण करता हुआ 'चोर है' यह समझकर बाँधा न जाऊँ ? इसके विपरीत जो अपराध नहीं करता है वह निःशङ्क होकर देशमें घूमता है उसे बँधनेकी चिन्ता कभी भी उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार यदि मैं अपराध सहित हूँ तो बँधूगा इस शङ्कासे युक्त आत्मा रहता है। और यदि मैं निरपराध हूँ तो निःशङ्क हूँ और कर्मोंसे बन्धको प्राप्त नहीं होऊँगा ॥ ३०१-३०३ ॥

---

१. णादुं सव्वे परोदये भावे ज० वृ०। २. तेयादी। ३. ससंकिदो। ४. वज्झेहं। ५. जणसि ६. कुणदि। ७. वज्झिद। ८. कयावि। ९. चेदा। १०. जो ज० वृ०।

आगे यह अपराध क्या है ? इसका उत्तर देते हैं—

संसिद्धिराधसिद्धं [1]साधियमाराधियं च एयट्ठं ।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥३०४॥
[2]जो पुण णिरवराधो चेया णिस्संकिओ उ सो होइ ।
आराहणए णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो ॥३०५॥

संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित ये सब एकार्थ हैं। इसलिये जो आत्मा राधसे रहित हो वह अपराध है। और जो आत्मा निरपराध है—अपराधसे रहित है वह निःशङ्कित है तथा 'मैं हूँ' इस प्रकार जानता हुआ निरन्तर आराधनासे युक्त रहता है।

भावार्थ—शुद्ध आत्माकी सिद्धि अथवा साधनको राध कहते हैं। जिसके यह नहीं है वह आत्मा सापराध है और जिसके यह हो वह निरपराध है। सापराध पुरुषके बन्धकी शंका संभव है इसलिये वह अनाराधक है और निरपराध पुरुष निःशंक हुआ अपने उपयोगमें लीन होता है। उस समय बन्धकी शंका नहीं होती। वह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तथा तपका एकभावरूप जो निश्चय आराधना है उसका आराधक होता है ॥ ३०४-३०५ ॥

आगे कोई प्रश्न करता है कि शुद्ध आत्माकी उपासनासे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि प्रतिक्रमणादिके द्वारा ही सापराध आत्मा शुद्ध हो जाती है। अप्रतिक्रमण आदिसे अपराध दूर नहीं होता इसलिये उन्हें अन्यत्र विषकुम्भ कहा है और प्रतिक्रमण आदिसे अपराध दूर हो जाता है इसलिये अमृतकुम्भ कहा है'[3]। इसका उत्तर कहते हैं—

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभो ॥३०६॥
अपडिकमणं अप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्तीय अणिंदा गरहा सोही अमयकुंभो ॥३०७॥

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि इस तरह आठ प्रकारका विषकुम्भ होता है और अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा और अशुद्धि इस तरह आठ प्रकारका अमृतकुम्भ होता है।

---

१. ······'साधिदमाराधिदं च एयट्ठो। अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराधो' ज० वृ०।
२. यह गाथा ज० वृ० में नहीं है।
३. उक्तं च व्यवहार सूत्रे आ० वृ०, तथा चोक्तं निरन्तरप्रवर्तित...— ज० वृ०

भावार्थ—यद्यपि द्रव्य प्रतिक्रमणादि दोष के मेंटने वाले हैं परन्तु शुद्ध आत्मा का स्वरूप प्रतिक्रमणादि रहित है। शुद्ध आत्मा के आलम्बन के विना द्रव्य प्रतिक्रमणादि दोषस्वरूप ही है। मोक्ष मार्ग में उसी व्यवहार नय का आलम्वन ग्राह्य माना गया है जो निश्चय की अपेक्षा से सहित होता है। अज्ञानी जीव के प्रतिक्रमणादि विषकुम्भ तो हैं ही परन्तु ज्ञानी जीव के भी व्यवहार चारित्र में जो प्रतिक्रमणादि कहे हैं वे भी निश्चय कर विषकुम्भ ही हैं, यथार्थ में आत्मा प्रतिक्रमणादि रहित शुद्धअप्रतिक्रमणादि स्वरूप है ऐसा जानना चाहिये ॥ ३०६-३०७॥

इस प्रकार मोक्षाधिकार समाप्त हुआ

अपडिक्कमणं अपरिसरणं अप्पडिहारो अघारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदा अगरुहा सोहीय विसकुंभो ॥ १ ॥
पडिकमणं पडिसरणं परिहरणं धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥ २ ॥

४. परिहरणं धारणा णियत्ती य ज० वृ०।

निमित्त कारणको दो भागोंमें विभाजित किया है-एक साक्षात् निमित्त और दूसरा परम्परा निमित्त। कुम्भकार अपने योग और उपयोगका कर्ता है, यह साक्षात् निमित्तकी अपेक्षा कथन है क्योंकि इनके साथ कुम्भकारका साक्षात् सम्बन्ध है और कुम्भकारके योग तथा उपयोगसे दण्ड तथा चक्रादिमें जो व्यापार होता है तथा उससे जो घटादिककी उत्पत्ति होती है वह परम्परा निमित्तकी अपेक्षा कथन है। जब परम्परा निमित्तसे होने वाले निमित्त नैमित्तिक भावको गौणकर कथन किया जाता है तब यह बात कही जाती है कि जीव घट पटादिका कर्ता नहीं है परन्तु जब परम्परा निमित्तसे होनेवाले निमित्त नैमित्तिक भावको प्रमुखता देकर कथन किया जाता है तब जीव घटपटादिका कर्ता होता है। तात्पर्यवृत्तिकी निम्न पंक्तियोंसे यही भाव प्रकट होता है—

'इति परम्परया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात्। यदि पुनः मुख्यवृत्त्या निमित्तकर्तृत्वं भवति तर्हि जीवस्य नित्यत्वात् सर्वदैव कर्मकर्तृत्वप्रसंगात् मोक्षाभावः।' गाथा १००

इस प्रकार परम्परा निमित्त रूपसे जीव घटादिकका कर्ता होता है, यदि मुख्य वृत्तिसे जीवको निमित्त कर्त्ता माना जावे तो जीवके नित्य होनेसे सदा ही कर्मकर्तृत्वका प्रसंग आ जायगा और उस प्रसंगसे मोक्षका अभाव हो जावेगा।

'घटका कर्ता कुम्हार नहीं है, पटका कर्ता कुविन्द नहीं है, और रथका कर्ता बढ़ई नहीं है, यह कथन लोकविरुद्ध अवश्य प्रतीत होता है पर यथार्थमें जब विचार किया जाता है तब कुम्हार, कुविन्द और बढ़ई अपने-अपने उपयोग और योगके ही कर्ता होते हैं। लोकमें जो उनका कर्तृत्व प्रसिद्ध है वह परम्परा निमित्तकी अपेक्षा ही संगत होता है।

मूल प्रश्न यह था कि कर्मका कर्ता कौन है? तथा रागादिकका कर्ता कौन है? इस प्रश्नके उत्तरमें जब व्याप्यव्यापकभाव या उपादानोपादेयभावकी अपेक्षा विचार होता है तब यह बात आती है कि चूँकि कर्मरूप परिणमन पुद्गलरूप उपादानमें हुआ है इसलिए इसका कर्ता पुद्गल ही है जीव नहीं है। परन्तु जब परम्परा निमित्तनैमित्तिक भावकी अपेक्षा विचार होता है तब जीवके रागादिक भावोंका निमित्त पाकर पुद्गलमें कर्मरूप परिणमन हुआ है इसलिए उनका कर्ता जीव है। उपादनोपादेयभावकी अपेक्षा रागादिकका कर्ता जीव है और परम्परा निमित्तनैमित्तिकभावकी अपेक्षा उदयावस्थाको प्राप्त रागादिक द्रव्य कर्म।

जीवादिक नौ पदार्थोंके विवेचनके बीचमें कर्तृकर्मभावकी चर्चा छेड़नेमें कुन्दकुन्द स्वामीका इतना ही अभिप्राय ध्वनित होता है कि यह जीव अपने आपको किसी पदार्थका कर्ता, धर्ता तथा हर्ता मानकर व्यर्थ ही रागद्वेषके प्रपञ्चमें पड़ता है। अपने आपको परका कर्ता माननेसे अहंकार उत्पन्न होता है और परकी इष्ट अनिष्ट परिणतिमें हर्ष विषादका अनुभव होता है। जब तक परपदार्थों और तन्निमित्तक वैभाविकभावोंमें हर्ष विषादका अनुभव होता रहता है तब तक यह जीव अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभावमें सुस्थिर नहीं होता। वह मोह की धारामें वह कर स्वरूपसे च्युत रहता है। मोक्षाभिलाषी जीवको अपनी यह भूल सबसे पहले सुधार लेनी चाहिए। इसी उद्देश्यसे आस्रवादि तत्त्वोंकी चर्चा करनेके पूर्व कुन्दकुन्द महाराजने सचेत किया है कि हे मुमुक्ष प्राणी! तू कर्तृत्वके अहंकारसे बच, अन्यथा रागद्वेषकी दल-दलमें फँस जावेगा।

'आत्मा कर्मोंका कर्ता और भोक्ता नहीं है' निश्चय नयके इस कथनका विपरीत फलितार्थ निकाल कर जीवोंको स्वच्छन्द नहीं होना चाहिए। क्योंकि अशुद्ध निश्चयनयके जीव रागादिक भावोंका और व्यवहार नयसे कर्मोंका कर्ता तथा भोक्ता स्वीकृत किया गया है। परस्पर विरोधी नयोंका सामञ्जस्य पात्र भेदके विचार से ही सम्पन्न होता है।

दोनों आत्मा और प्रकृति के परस्पर निमित्त से बन्ध होता है और उस बन्ध से संसार उत्पन्न होता है ॥ ३१२-३१३॥

आगे कहते हैं कि जब तक आत्मा प्रकृति के निमित्त से उपजना विनशना नहीं छोड़ता है तब तक अज्ञानी मिथ्यादृष्टि और असंयत रहता है—

जा एसो पयडीयट्ठं चेया णेव विमुंचए ।
अयाणओ हवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजओ ॥३१४॥
जया विमुंचए चेया कम्मप्फलमणंतयं ।
तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ॥३१५॥

यह आत्मा जब तक प्रकृति के निमित्त से उपजना विनशना नहीं छोड़ता तब तक अज्ञानी मिथ्यादृष्टि और असंयमी होता है तथा जब आत्मा अनन्त कर्मफल को छोड़ देता है तब बन्ध से रहित हुआ ज्ञाता द्रष्टा एवं मुनि-संयमी होता है ॥ ३१४-३१५ ॥

आगे अज्ञानी ही कर्मफल का वेदन करता है ज्ञानी नहीं यह कहते हैं—

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिओ दु वेदेइ[1] ।
णाणी पुण कम्मफलं जाणइ[2] उदियं ण वेदेइ ॥३१६॥

प्रकृतिके स्वभावमें स्थित हुआ अज्ञानी जीव कर्मके फलको भोगता है और ज्ञानी जीव उदयागत कर्मफलको जानता है भोगता नहीं है ॥ ३१६ ॥[3]

आगे अज्ञानी भोक्ता ही है ऐसा नियम करते हैं—

ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइऊण सत्थाणि ।
गुडदुद्धंपि पिवंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति ॥३१७॥

अभव्य अच्छी तरह शास्त्रोंको पढ़कर भी प्रकृतिको नहीं छोड़ता है क्योंकि साँप गुड़ और दूध पीकर भी निर्विष नहीं होते ॥ ३१७ ॥

आगे ज्ञानी अभोक्ता ही है यह नियम करते हैं—

णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेइ[4] ।
महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ[5] तेण सो होई ॥३१८॥

वैराग्य को प्राप्त हुआ ज्ञानी जीव अनेक प्रकारके [6]मधुर-शुभ और कटुक[7]—अशुभ कर्मोंके

---

१. वेदेदि ज० वृ० । २. जाणदि उदिदं ण वेदेदि ज० वृ० ।

३. इसके आगे ज० वृ० में निम्न गाथा अधिक है—

जो पुण णिरावराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि ।
आहणाए णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो ॥

४. वियाणादि ज० वृ० । ५. मवेदको तेण पण्णत्तो ज० वृ० ।

६. शुभकर्मफलं बहुविधं गुडखण्डशर्करामृतरूपेण मधुरं जानाति ।

७. अशुभकर्मफलं निम्बकांजीरविषहालाहलरूपेण कटुकं जानाति । ज० वृ०

है किन्तु पुण्याचरणको मोक्षका साक्षात् मार्ग माननेका निषेध किया है। ज्ञानी जीव अपने पदके अनुरूप पुण्याचरण करता है और उसके फल स्वरूप प्राप्त हुए इन्द्र, चक्रवर्ती आदिके वैभवका उपभोग भी करता है परन्तु श्रद्धामें यही भाव रखता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्षका साक्षात् कारण नहीं है तथा उसके फल स्वरूप जो वैभव प्राप्त होता है वह मेरा स्वपद नहीं है। यहाँ इतनी बात ध्यानमें रखनेके योग्य है कि जिस प्रकार पापाचरण बुद्धि पूर्वक छोड़ा जाता है उस प्रकार बुद्धि पूर्वक पुण्याचरण नहीं छोड़ा जाता, वह तो शुद्धोपयोगकी भूमिकामें प्रविष्ट होनेपर स्वयं छूट जाता है।

जिनागमका कथन नयसापेक्ष होता है अतः शुद्धोपयोगकी अपेक्षा शुभोपयोगरूप पुण्यको त्याज्य कहा गया है परन्तु अशुभोपयोगरूप पापकी अपेक्षा उसे उपादेय बताया गया है। शुभोपयोगमें यथार्थमार्ग जल्दी मिल सकता है परन्तु अशुभोपयोगमें उसकी संभावना ही नहीं है। जैसे प्रातःकाल सम्बन्धी सूर्यलालिमाका फल सूर्योदय है और सायंकाल सम्बन्धी सूर्यलालिमाका फल सूर्यास्त है। इसी आपेक्षिक कथनको अंगीकृत करते हुए श्रीकुन्दकुन्दस्वामीने मोक्ष पाहुडमें कहा है—

वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरय इयरेहि।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं॥ २५॥

और इसी अभिप्रायसे पूज्यपाद स्वामीने भी इष्टोपदेशमें शुभोपयोगरूप व्रताचरणसे होनेवाले देवपदको कुछ अच्छा कहा है और अशुभोपयोगरूप पापाचरणसे होनेवाले नारकपदको बुरा कहा है—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम्।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्॥ ३॥

अर्थात् व्रतोंसे देवपद पाना कुछ अच्छा है परन्तु अव्रतोंसे नारकपद पाना अच्छा नहीं है। क्योंकि छाया और धूपमें बैठकर प्रतीक्षा करनेवालोंमें महान् अन्तर है।

अशुभोपयोग सर्वथा त्याज्य ही है और शुद्धोपयोग उपादेय ही है। परन्तु शुभोपयोग पात्रभेद की अपेक्षा हेय और उपादेय दोनों रूप है। [1]किन्हीं-किन्हीं आचार्योंने सम्यग्दृष्टिके पुण्यको मोक्षका कारण बताया है। और मिथ्या दृष्टिके पुण्यको बन्धका कारण। उनका यह कथन भी नयविवक्षासे संगत होता है। वस्तुतत्त्वका यथार्थ विश्लेषण करनेपर यह बात अनुभव में आती है कि सम्यग्दृष्टि जीवकी, मोहका आंशिक अभाव हो जानेसे जो आंशिक निर्मोह अवस्था हुई है वही उसकी निर्जराका कारण है और जो शुभ रागरूप अवस्था है वह बन्धका ही कारण है। बन्धके कारणोंकी चर्चा करते हुए कुन्दकुन्द स्वामीने तो एक ही बात कही है—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥ १५०॥

रागी जीव कर्मोंको बांधता है और विरागको प्राप्त हुआ जीव कर्मोंको छोड़ता है। यह भी जिनेश्वरका उपदेश है, इससे कर्मोंमें राग मत करो।

यहाँ आचार्यने शुभ अशुभ दोनों प्रकारके रागको ही बन्धका कारण कहा है। यह बात जुदी है कि शुभरागसे शुभ कर्मका बन्ध होता है और अशुभ रागसे अशुभ कर्मका। शुभ रागके समय शुभ कर्मोंमें स्थिति-

---

१. सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइवि णिदाणं ण सो कुणई॥ ४०४॥ भावसंग्रहे देवसेनस्य

लौकिक जन ईश्वरको कर्ता मानते हैं और मुनि जन आत्माको कर्ता मानते हैं। इस प्रकार दोनोंको ही मोक्षका अभाव प्राप्त होता है ।। ३२१-३२३ ।।

आगे निश्चयनयसे आत्माका पुद्गलद्रव्यके साथ कर्तृकर्म सम्बन्ध नहीं है तब वह उनका कर्ता कैसे होगा ? यह कहते हैं—

ववहारभासिएण[1] उ[2] परदव्वं मम भणंति [3]अविदियत्था।
जाणंति णिच्चयेण उ[4] ण य मह परमाणुमिच्च[5]मवि किंचि ।।३२४।।
जह कोवि णरो जंपइ[6] अम्हं[7] गामविसयणयररट्ठं[8] ।
ण य होंति[9] ताणि तस्स उ[10] भणइ[11] य मोहेण सो अप्पा ।।३२५।।
एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवइ एसो ।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणइ ।।३२६।।
तह्मा ण मेत्ति णिच्चा[12] [13]दोण्हंवि एयाण कत्तविवसायं ।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं[14] ।।३२७।।

पदार्थके यथार्थ स्वरूपको न जाननेवाले पुरुष व्यवहारनयके वचनसे कहते हैं कि परद्रव्य मेरा है और जो निश्चय नयसे पदार्थोंको जानते हैं वे कहते हैं कि परमाणु मात्र भी कोई परद्रव्य मेरा नहीं है। तहाँ व्यवहारनयका कहना ऐसा है कि जैसे कोई पुरुष कहता है कि हमारा ग्राम है, देश है, नगर है और राष्ट्र है, वास्तवमें विचार किया जाय तो ग्रामादिक उसके नहीं हैं वह आत्मा मोहसे ही मेरा मेरा कहता है। इस प्रकार जो परद्रव्यको मेरा है ऐसा जानता हुआ उसे आत्ममय करता है वह ज्ञानी निःसन्देह मिथ्यादृष्टि है। इसलिये ज्ञानी, 'परद्रव्य मेरा नहीं है' ऐसा जानकर परद्रव्यमें इन लोक साधारण तथा मुनियों—दोनोंके ही कर्तृव्यवसायको जानता हुआ जानता है कि ये सम्यग्दर्शनसे रहित हैं ।। ३२४-३२७ ।।

आगे जीवके मिथ्यात्वभाव है उसका कर्ता कौन है ? यह युक्तिसे सिद्ध करते हैं—

मिच्छत्तं जइ पयडी मिच्छाइट्ठी करेइ अप्पाणं ।
तह्मा अचेदणा दे पयडी णाणु कारगोपत्तो[15] ।।३२८।।
अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छत्तं ।
तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छाइट्ठी ण पुण जीवो ।।३२९।।

---

१. ····भासिदेण। २. दु। ३. विदिदच्छा। ४. दु। ५. मित्त मम। ज० वृ०।
६. जंपदि। ७. अह्माणं। ८. ····पुररट्ठं। ९. हुंति। १०. दु। ११. भणदि। १२. णच्चा।
१३. दुह्णं एदाण कत्तिववसाओ। १४. दिट्ठिरहिदाणं। ज० वृ०
१५. इसके आगे ज० वृ० में निम्न गाथा अधिक है—

सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं ।
तह्मा अचेदणा दे पयडी णाणु कारगोपत्तो ।।

अह जीवो पयडी तह पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं ।
तह्मा दोहिय कदं तं दोण्णिवि भुंजंति तस्स फलं ॥३३०॥
अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं ।
तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ॥३३१॥

यदि मिथ्यात्व नामा प्रकृति आत्माको मिथ्यादृष्टि करती है ऐसा माना जाय तो अचेतन प्रकृति तुम्हारे मतमें जीवके मिथ्याभावको करनेवाली ठहरी ऐसा वनता नहीं है अथवा ऐसा माना जाय कि यह जीव ही पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वको करता है तो ऐसा माननेसे पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध हुआ न कि जीव, ऐसा भी नहीं वनता। अथवा ऐसा माना जाय कि जीव और प्रकृति ये दोनों पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्व करते हैं तो दोनोंके द्वारा किये हुए उसके फलको दोनों ही भोगें ऐसा ठहरा सो यह भी नहीं वनता। अथवा ऐसा माना जाय कि पुद्गल नामा मिथ्यात्वको न तो प्रकृति करती है और न जीव ही, तो भी पुद्गलद्रव्य ही मिथ्यात्व हुआ सो ऐसा मानना क्या यथार्थमें मिथ्या नहीं है? अर्थात् मिथ्या ही है।

भावार्थ—मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे आत्मामें जो अतत्त्वश्रद्धानरूप भाव उत्पन्न होता है उसका कर्ता अज्ञानी जीव है परन्तु इसके निमित्तसे पुद्गलद्रव्यमें मिथ्यात्वकर्मकी शक्ति उत्पन्न होती है॥ ३२८-३३१॥

आगे इसी वातको विस्तारसे कहते हैं—

कम्मेहि दु अण्णाणी किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहिं सुवाविज्जइ जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ॥३३२॥
कम्मेहि सुहाविज्जइ दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहि य मिच्छत्तं णिज्जइ णिज्जइ असंजमं चेव ॥३३३॥
कम्मेहि भमाडिज्जइ उड्ढमहो चावि तिरियलोयं य ।
कम्मेहि चेव किज्जइ सुहासुहं जित्तियं किंचि ॥३३४॥
जह्मा कम्मं कुव्वइ कम्मं देई हरत्ति जं किंचि ।
तह्मा उ सव्वे जीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥३३५॥
पुरुसिच्छियाहिलासी इच्छीकम्मं च पुरिसमहिलसइ ।
एसा आयरियपरंपरागया एरिसि दु सुई ॥३३६॥
तह्मा ण कोवि जीवो अवंभचारी उ अह्म उवएसे ।
जह्मा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसइ इदि भणियं ॥३३७॥
जह्मा घाएइ परं परेण घाइज्जए य सा पयडी ।
एएणच्छेण किर भण्णइ परघायणामित्ति ॥३३८॥

तह्मा ण कोवि जीवो वघायओ अत्थि अह्म उवदेसे।
जह्मा कम्मं चेव हि कम्मं घाएदि इदि भणियं ॥३३९॥
एवं संखुवएसं जे उ परूविंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे ॥३४०॥
अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणई।
एसो मिच्छसहावो तुह्मं एयं मुणंतस्स ॥३४१॥
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयह्मि।
णवि सो सक्कइ तत्तो हीणो अहिओ य काउं जे ॥३४२॥
जीवस्स जीवरूवं विच्छरदो जाण लोगमित्तं हि।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कहं कुणइ दव्वं ॥३४३॥
अह जाणओ उ भावो णाणसहावेण अत्थि इत्ति मयं।
तह्मा णवि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणइ ॥३४४॥

जीव कर्मोंके द्वारा अज्ञानी किया जाता है उसी तरह कर्मोंके द्वारा ज्ञानी होता है। कर्मोंके द्वारा सुलाया जाता है उसी प्रकार कर्मोंके द्वारा जगाया जाता है। कर्मोंके द्वारा सुखी किया जाता है उसी प्रकार कर्मोंके द्वारा दुखी किया जाता है। कर्मोंके द्वारा मिथ्यात्वको प्राप्त कराया जाता है, कर्मोंके द्वारा असंयमको प्राप्त कराया जाता है। कर्मोंके द्वारा ऊर्ध्वलोक अधोलोक और तिर्यग्लोकमें घुमाया जाता है। और जो कुछ भी शुभाशुभ कार्य है वह सब कर्मोंके द्वारा किया जाता है। क्योंकि कर्म ही करता है कर्म ही देता है तथा जो कुछ हरा जाता है वह कर्म ही हरता है इसलिये सभी जीव अकारक प्राप्त हुए अर्थात् जीव कर्ता न होकर कर्म ही कर्ताको प्राप्त हुआ। यह आचार्य परम्परासे आई हुई ऐसी श्रुति है कि पुरुषवेद कर्म स्त्रीकी इच्छा करता है और स्त्रीवेद नामा कर्म पुरुषकी चाह करता है अतः कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं है। हमारे उपदेशमें तो ऐसा है कि धर्म ही कर्मको चाहता है ऐसा कहा गया है। जिस कारण जीव दूसरेको मारता है और दूसरेके द्वारा मारा जाता है वह भी प्रकृति ही है। इस अर्थसे यह बात कही जाती है कि यह परघात नामक प्रकृति है अतः हमारे उपदेशमें कोई भी जीव उपघात करनेवाला नहीं है क्योंकि कर्म ही कर्मको घातता है ऐसा कहा गया है। इस प्रकार जो कोई मुनि ऐसे सांख्य मतका प्ररूपण करते हैं उनके प्रकृति ही करती है और सब आत्मा अकारक—अकर्ता है। अथवा तू ऐसा मानेगा कि मेरा आत्मा मेरे आत्माको करता है तो ऐसा जाननेवाले तुम्हारा यह मिथ्यास्वभाव है क्योंकि आत्मा नित्य असंख्यातप्रदेशी आगममें कहा गया है। उन असंख्यात प्रदेशोंसे वह हीनाधिक नहीं किया जा सकता। जीवका जीवरूप विस्तारकी अपेक्षा निश्चयसे लोक प्रमाण जानो। वह जीवद्रव्य उस परिमाणसे क्या हीन तथा अधिक कैसे कर सकता है। अथवा ऐसा मानिये कि ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभावकर स्थित है तो उस मान्यतासे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा अपने स्वभाव कर स्थिर रहता है और उसी हेतुसे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा आपने आपको स्वयमेव नहीं करता है ॥ ३३२-३४४ ॥

आगे क्षणिकवादको स्पष्ट कर उसका निषेध करते हैं—

केहिचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिचि दु जीवो ।
जह्मा तह्मा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥३४५॥
केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो ।
जह्मा तह्मा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥३४६॥
जो चेव कुणइ सो चिय ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४७॥
अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४८॥

यतः जीव नामा पदार्थ कितनी ही पर्यायोंसे विनष्ट होता है और कितनी ही पर्यायोंसे विनष्ट नहीं होता इसलिये वही करता है अथवा अन्य करता है ऐसा एकान्त नहीं है। यतः जीव कितनी ही पर्यायोंसे विनष्ट होता है और कितनी ही पर्यायोंसे विनष्ट नहीं होता इसलिये वही जीव भोगता है अथवा अन्य भोगता है ऐसा एकान्त नहीं है। इसके विपरीत जिसका ऐसा सिद्धान्त है कि जो करता है वह नहीं भोगता है वह जीव मिथ्यादृष्टि है तथा अर्हन्त मतसे बाह्य है ऐसा जानना चाहिये। इसी प्रकार जिसका ऐसा सिद्धान्त है कि अन्य करता है और दूसरा कोई भोगता है वह जीव भी मिथ्यादृष्टि तथा अर्हन्त मतसे बाह्य जानना चाहिये ॥ ३४५-३४८ ॥

आगे इसी बातको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—

जह सिप्पिओ उ कम्मं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होइ ॥३४९॥
जह सिप्पिओ उ करणेहिं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ॥३५०॥
जह सिप्पिओ उ करणाणि गिह्णइ ण सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो करणाणि उ गिह्णइ ण य तम्मओ होइ ॥३५१॥
जह सिप्पिउ कम्मफलं भुंजदि ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य तम्मओ होइ ॥३५२॥
एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दरिसणं समासेण ।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होई ॥३५३॥
जह सिप्पिओ उ चिट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णो से ॥३५४॥

जह चिट्ठं कुव्वंतो उ सिप्पिओ णिच्च दुक्खिओ होई।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो ॥३५५॥

जिस प्रकार सुनार आदि शिल्पी आभूषण आदि कर्मको करता है परन्तु वह आभूषणादिसे तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी पुद्गलात्मक कर्मको करता है परन्तु उससे तन्मय नहीं होता। जिस प्रकार शिल्पी हथौड़ा आदि करणोंसे कर्म करता है परन्तु वह उनसे तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी योग आदि करणोंसे कर्म करता है परन्तु तन्मय नहीं होता। जिस प्रकार शिल्पी करणोंको ग्रहण करता है परन्तु तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव करणोंको ग्रहण करता है परन्तु तन्मय नहीं होता। जिस प्रकार शिल्पी आभूषणादि कर्मोंके फलको भोगता है परन्तु तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी कर्मके फलको भोगता है परन्तु तन्मय नहीं होता। इस प्रकार व्यवहारका दर्शन-मत संक्षेपसे कहने योग्य है। अब निश्चयके वचन सुनो जो कि अपने परिणामोंसे किये हुए होते हैं। जिस प्रकार शिल्पी चेष्टा करता है परन्तु वह उस चेष्टासे अनन्य—अभिन्न—तद्रूप रहता है उसी प्रकार जीव भी कर्म करता है परन्तु वह उन कर्मोंसे—रागादिरूप परिणामोंसे अनन्य—अभिन्न रहता है। तथा जिस प्रकार शिल्पी चेष्टा करता हुआ निरन्तर दुखी होता है और उस दुःखसे अभिन्न रहता है उसी प्रकार चेष्टा करता हुआ जीव भी निरन्तर दुखी होता है और उस दुःखसे कथंचित् अनन्य—अभिन्न रहता है ॥३४९-३५५॥

आगे निश्चय व्यवहारके इस कथनको दृष्टान्त द्वारा दश गाथाओंमें स्पष्ट करते हैं—

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ॥३५६॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु ॥३५७॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होइ।
तह संजओ दु ण परस्स संजओ संजओ सो दु ॥३५८॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होदि।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥३५९॥

एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥३६०॥

जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणइ णाया वि सयेण भावेण ॥३६१॥

जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सइ जीवोवि सयेण भावेण ॥३६२॥

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं विजहइ णायावि सयेण भावेण ॥३६३॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं सद्दहइ सम्मदिट्ठी सहावेण ॥३६४॥
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते ।
भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो ॥३६५॥

जिस प्रकार खड़िया दीवाल आदि परपदार्थोको सफ़ेद करनेवाली है इसलिये खड़िया नहीं है वह स्वयं ही खड़िया रूप है। उसी प्रकार जीव परका ज्ञायक होनेसे ज्ञायक नहीं है किन्तु स्वयं ही ज्ञायकरूप है। जिस प्रकार खड़िया परपदार्थोंको सफ़ेद करनेवाली होनेसे खड़िया नहीं है किन्तु स्वयं खड़िया है उसी प्रकार जीव परका दर्शक—देखनेवाला होनेसे दर्शक नहीं है किन्तु स्वयं दर्शक है। जिस प्रकार खड़िया परपदार्थोंको सफ़ेद करनेवाली होनेसे परकी नहीं हैं उसी प्रकार जीव परको त्यागनेसे संयत नहीं है किन्तु स्वयं संयतरूप है। जिस प्रकार खड़िया परकी होनेसे खड़िया नहीं है किन्तु स्वयं खडियारूप है उसी प्रकार जीव परका श्रद्धानी होनेसे श्रद्धान रूप नहीं है किन्तु स्वयं श्रद्धान रूप है। ऐसा ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रके विषयमें निश्चयनयका कथन है। अब व्यवहार-का जो वचन है उसे संक्षेपसे सुनो। जिस प्रकार खड़िया अपने स्वभावकर दीवाल आदि परपदार्थों-को सफेद करती है उसी प्रकार ज्ञाता आत्मा परपदार्थोको अपने स्वभावके द्वारा जानता है। जिस प्रकार खड़िया परपदार्थको सफेद करनेसे खड़िया नहीं है वह स्वयं खड़िया है उसी प्रकार आत्मा स्वयं परद्रव्यको देखता है इसलिये द्रष्टा नहीं है किन्तु स्वयं स्वस्वभावसे दर्शक होनेसे दर्शक है। जिस प्रकार खड़िया अपने स्वभावसे परपदार्थको सफेद करती है उसीप्रकार ज्ञाता आत्मा भी अपने स्वभावसे परपदार्थको त्यागता है। जिस प्रकार खड़िया अपने स्वभावसे पर द्रव्यको सफेद करती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि स्वभावसे परद्रव्यका श्रद्धान करता है। इस प्रकार ज्ञान-दर्शन चारित्रके विषयमें व्यवहारका निश्चय कहा। इसी तरह अन्य पर्यायोंके विषयमें भी जानना चाहिये ॥ ३५६-३६५ ॥

आगे अज्ञानसे आत्मा अपना ही घात करता है यह कहते हैं—

दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे विसये ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ॥३६६॥
दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे कम्मे ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कम्मेसु ॥३६७॥
दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे काये ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ॥३६८॥

णाणस्स दंसणस्स य भणिओ[1] घाओ[2] तहा चरित्तस्स ।
[3]णवि तहिं पुग्गलदव्वस्स कोवि घाओ उ णिद्दिट्ठो ॥३६९॥

जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु ।
तह्मा सम्मा[4]इट्ठिस्स णत्थि रागो उ विसएसु ॥३७०॥

रागो दोसो मोहो जीवस्सेव[5] य अणण्णपरिणामा ।
एएण[6] कारणेण उ[7] सद्दादिसु णत्थि रागादि ॥३७१॥

दर्शन ज्ञान चारित्र, अचेतन विषयोंमें कुछ भी नहीं हैं इसलिये उन विषयोंमें आत्मा क्या घात करे ? दर्शन ज्ञान चारित्र अचेतन कर्ममें कुछ भी नहीं हैं इसलिये आत्मा उन कर्मोंमें क्या घात करे ? दर्शन ज्ञान चारित्र, अचेतन कायमें कुछ भी नहीं हैं इसलिये आत्मा उन कायोंमें क्या घात करे ? घात, ज्ञान दर्शन तथा चारित्रका कहा गया है वहाँ पुद्गल द्रव्यका तो कुछ भी घात नहीं कहा। जो कुछ जीवके गुण हैं वे निश्चयकर परद्रव्योंमें नहीं हैं। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टिके विषयोंमें राग ही नहीं है। राग द्वेष मोह ये सब जीवके ही अभिन्न परिणाम हैं इसलिये रागादिक शब्दादि विषयोंमें नहीं हैं ॥ ३६६-३७१ ॥

आगे कहते हैं कि सभी द्रव्य स्वभावसे ही उपजते हैं—

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरए[8] गुणुप्पाओ ।
तह्मा उ[9] सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यका गुणोत्पाद नहीं किया जाता इसलिये यह सिद्धान्त है कि सभी द्रव्य अपने स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं ॥ ३७२ ॥

आगे इस बातको प्रकट करते हैं कि जो स्पर्शादि विषय हैं वे पुद्गल रूप परिणमन करते हैं। आत्मासे 'तुम मुझे ग्रहण करो या न करो' ऐसा कुछ भी नहीं कहते। आत्मा स्वयं ही अज्ञानी तथा मोही हुआ उन्हें ग्रहण करता है—

[10]णिंदियसंथुयवयणाणि पोग्गला परिणमंति [11]वहुयाणि ।
ताणि सुणिऊण रूसदि तूसदि य अहं पुणो भणिदो ॥३७३॥

पोग्गलदव्वं [12]सद्दत्तपरिणयं तस्स जइ[13]गुणो अण्णो ।
तह्मा ण तुमं भणिओ किंचिवि किं [14]रूससि [15]अवुद्धो ॥३७४॥

---

१. भणिदो । २. घादो । ३. णवि तह्मि कोवि पुग्गलदव्वे घादो दु णिद्दिट्ठो । ४. सम्मादिट्ठिस्स । ५. जीवस्स दु जे अणण्णपरिणामा । ६. एदेण । ७. दु ज० वृ० । ८. कीरदे गुणविघादो ज० वृ० । ९. दु ज० वृ० । १०. णिंदिदसंथुद । ११. वहुगाणि । १२. सद्दत्तहपरिणदं । १३. जदि । १४. रूससे । १५. अवुहो ज० वृ० ।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके लक्षण तथा उनकी उत्पत्तिके कारण—

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं ॥५१॥
चलमलिणमगाढत्तविवज्जिय सद्दहणमेव सम्मत्तं।
अधिगमभावो णाणं हेयोपादेयतच्चाणं ॥५२॥
सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अन्तरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥
सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं।
ववहारणिच्छएण दु तम्हा चरणं पवक्खामि ॥५४॥
ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्स होदि तवचरणं।
णिच्छयणयचारित्ते तवचरणं होदि णिच्छयदो ॥५५॥

विपरीत अभिप्रायसे रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है तथा संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है ॥ ५१ ॥

(अथवा) चल, मलिन और अगाढत्व दोषसे रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है और हेयोपादेय तत्त्वोंका ज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है ॥ ५२ ॥

सम्यक्त्वका बाह्य निमित्त जिनसूत्र—जिनागम और उसके ज्ञायक पुरुष हैं तथा अन्तरंग निमित्त दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय आदि कहा गया है।

भावार्थ—निमित्त कारणके दो भेद हैं एक बहिरङ्ग निमित्त और दूसरा अन्तरङ्ग निमित्त। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका बहिरङ्ग निमित्त जिनागम और उसके ज्ञाता पुरुष हैं तथा अन्तरङ्ग निमित्त दर्शन मोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व प्रकृति एवं अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन प्रकृतियोंका उपशम, क्षय और क्षयोपशमका होना है। बहिरङ्ग निमित्तके मिलने पर कार्यकी सिद्धि होती भी है और नहीं भी होती परन्तु अन्तरङ्ग निमित्तके मिलने पर कार्यकी सिद्धि नियमसे होती है ॥ ५३ ॥

सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान तो मोक्षके लिये हैं ही, सुन, सम्यक् चारित्र भी मोक्षके लिये है इसलिये मैं व्यवहार और निश्चय नयसे सम्यक्चारित्रको कहूँगा।

भावार्थ—मोक्ष प्राप्तिके लिये जिस प्रकार सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान आवश्यक कहे गये हैं उसी प्रकार सम्यक् चारित्रको आवश्यक कहा गया है इसलिये यहाँ व्यवहार और निश्चय दोनों नयोंके आलम्बनसे सम्यक्चारित्रको कहूँगा ॥ ५४ ॥

व्यवहार नयके चारित्रमें व्यवहार नयका तपश्चरण होता है और निश्चयनयके चारित्रमें निश्चय नयका तपश्चरण होता है।

ही आता है। अशुभ अथवा शुभ द्रव्य तुझसे नहीं कहता कि तू मुझे जानो और न बुद्धिके विषयको प्राप्त हुए द्रव्यको ग्रहण करनेके लिये आत्मा ही आता है। अज्ञानी जीव यह जानकर भी उपशम भावको प्राप्त नहीं होता और परपदार्थके ग्रहण करनेका मन करता है सो ठीक ही है क्योंकि स्वयं कल्याणरूप बुद्धिको प्राप्त नहीं हुआ है ।। ३७३-३८२ ।।

आगे प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचना और चारित्र का स्वरूप बतलाते हैं।

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ।।३८३।।
कम्मं जं सुहमसुहं जह्मि य भावह्मि वज्झइ भविस्सं।
तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया ।।३८४।।
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया[1] ।।३८५।।
[2]णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं य पडिक्कमदि जो।
[3]णिच्चं आलोचेयइ सो हु चरित्तं हवइ चेया[4] ।।३८६।।

पूर्व कालमें किये हुए शुभाशुभ अनेक विस्तार विशेषको लिये हुए जो ज्ञानावरणादि कर्म हैं उनसे जो जीव अपने आत्माको छुड़ाता है वह प्रतिक्रमण है। जिस भावके होनेपर जो शुभाशुभ कर्म भविष्यमें बँधनेवाले हैं उनसे जो ज्ञानी निवृत्त होता है वह प्रत्याख्यान है। अनेक विस्तार विशेषको लिये जो शुभाशुभ कर्म वर्तमानमें उदयको प्राप्त है दोष स्वरूप उस कर्मको जो ज्ञानी अनुभवता है—उससे स्वामित्वभावको छोड़ता है वह निश्चयसे आलोचना है। तथा इस प्रकार जो आत्मा नित्य प्रतिक्रमण करता है, नित्य प्रत्याख्यान करता है और नित्य आलोचना करता है वह निश्चयसे चारित्र है ।। ३८३-३८६ ।।

आगे जो कर्मफलको अपना तथा अपना किया हुआ मानता है वह अष्टविध कर्मोंका बन्ध करता है यह कहते हैं—

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणइ जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ।।३८७।।
वेदंतो कम्मफलं मए कयं मुणइ जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ।।३८८।।

---

१. चेदा। २. णिच्चं पच्चक्खीणं कुंव्वदि णिच्चंपि जो पडिक्कभदि। ३. णिच्चं आलोचेदिय।
४. चेदा ज० वृ०।

वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८९॥

जो जीव कर्मफलका वेदन करता हुआ कर्मफलको आपरूप करता है—अपना मानता है वह दुःखके बीज स्वरूप आठ प्रकारके कर्मको फिर भी बांधता है। कर्मफलका वेदन करता हुआ जो जीव कर्मफलको अपना किया हुआ मानता है वह दुःखके बीजस्वरूप आठ प्रकारके कर्मको फिर भी बांधता है। जो जीव कर्मफलका वेदन करता हुआ सुखी दुखी होता है वह दुःखके बीज स्वरूप आठ प्रकारके कर्मको फिर भी बांधता है ॥ ३८७-३८९ ॥

आगे ज्ञान ज्ञेयसे पृथक् है यह कहते हैं—

सत्थं णाणं ण हवइ जह्मा सत्थं ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥३९०॥
सद्दो णाणं ण हवइ जह्मा सद्दो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ॥३९१॥
रूवं णाणं ण हवई जह्मा रूवं ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ॥३९२॥
वण्णो णाणं ण हवइ जह्मा वण्णो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥३९३॥
गंधो णाणं ण हवइ जह्मा गंधो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ॥३९४॥
ण रसो दु हवदि णाणं जह्मा दु रसो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं रसं य अण्णं जिणा विंति ॥३९५॥
फासो ण हवइ णाणं जह्मा फासो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ॥३९६॥
कम्मं णाणं ण हवइ जह्मा कम्मं ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥३९७॥
धम्मो णाणं ण हवइ जह्मा धम्मो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥३९८॥

णाणमधम्मो ण हवइ जह्मा धम्मो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ।।३९९।।
कालो णाणं ण हवइ जह्मा कालो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा विंति ।।४००।।
आयासंपि ण णाणं जह्मायासं ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं यासं अण्णं णाणं जिणा विंति ।।४०१।।
णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जह्मा ।
तह्मा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ।।४०२।।
जह्मा जाणइ णिच्चं तह्मा जीवो दु जाणओ णाणी ।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ।।४०३।।
णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं ।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा ।।४०४।।

शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है ऐसा जिनेन्द्र देव जानते हैं। शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं। रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और रूप अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं। वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं। गन्ध ज्ञान नहीं है क्योंकि गन्ध कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और गन्ध अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं। रस ज्ञान नहीं है क्योंकि रस कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और रस अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं। स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ जानता नहीं हैं इसलिये ज्ञान अन्य है और स्पर्श अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं। कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और कर्म अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। धर्मास्तिकाय ज्ञान नहीं है क्यों धर्मास्तिकाय कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और धर्मास्तिकाय जुदा है ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं। अधर्मास्तिकाय ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्मास्ति-काय कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और अधर्मास्तिकाय अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं। कालद्रव्य ज्ञान नहीं है क्योंकि काल द्रव्य कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और कालद्रव्य अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं। आकाश भी ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और आकाश अन्य है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् जानते हैं। अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान अचेतन है जड़ है इसलिये ज्ञानी अन्य है और अध्यव-सान अन्य है। चूँकि जीव निरन्तर जानता है इसलिये ज्ञायक है तथा ज्ञान है और ज्ञान ज्ञायकसे अव्यतिरिक्त—अभिन्न है ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, संयम है, अङ्ग-पूर्वगत सूत्र है, धर्म अधर्म है तथा दीक्षा है ऐसा बुधजन अंगीकार करते हैं।। ३९०–४०४ ।।

अर्हत् परमेश्वरका स्वरूप

घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइ परमगुणसहिया ।
चोत्तिसअदिसअजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ॥७१॥

घन—अत्यन्त अहितकारी घातिया कर्मोंसे रहित, केवलज्ञानादि परमगुणोंसे सहित और चौंतीस अतिशयोंसे सहित ऐसे अरहंत होते हैं ॥ ७१ ॥

सिद्ध परमेष्ठीका स्वरूप

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ॥७२॥

जिन्होंने अष्ट कर्मों का बन्ध नष्ट कर दिया है, जो आठ महागुणोंसे सहित हैं, उत्कृष्ट हैं, लोकके अग्रभागमें स्थित हैं, तथा नित्य हैं वे ऐसे सिद्ध परमेष्ठी होते हैं ॥ ७२ ॥

आचार्य परमेष्ठीका स्वरूप

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा ।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति ॥७३॥

जो पाँच प्रकारके (दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य) आचारोंसे परिपूर्ण हैं, पाँच इन्द्रिय रूपी हस्तियोंके गर्वको चूर करनेवाले हैं, धीर हैं तथा गुणोंसे गंभीर हैं ऐसे आचार्य होते हैं ॥ ७३ ॥

उपाध्याय परमेष्ठीका स्वरूप

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा ।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति ॥७४॥

जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) से संयुक्त हैं, जो जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए पदार्थोंका उपदेश करनेवाले हैं, शूरवीर हैं, परिषह आदिके सहनेमें समर्थ हैं, तथा निष्काङ्क्षभावसे सहित हैं अर्थात् जो उपदेशके बदले किसी पदार्थकी इच्छा नहीं रखते हैं ऐसे उपाध्याय होते हैं ॥ ७४ ॥

साधु परमेष्ठीका स्वरूप

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता ।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति ॥७५॥

जो व्यापारसे सर्वथा रहित हैं, चार प्रकारकी (दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप) आराधनाओंमें सदा लीन रहते हैं, परिग्रह रहित हैं तथा निर्मोह हैं ऐसे साधु होते हैं ॥ ७५ ॥

इसलिये गृहस्थों और मुनियोंके द्वारा गृहीत लिगोंको छोड़कर दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप मोक्षमार्गमें आत्माको लगाओ ॥ ४११ ॥

आगे इसी मोक्षमार्गमें निरन्तर रत रहो यह उपदेश देते हैं—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं[1] चेव झाहि तं चेव ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४१२॥

हे भव्य ! तू पूर्वोक्त मोक्षमार्गमें आत्माको लगा, उसीका ध्यान कर, उसीका चिन्तन कर, उसीमें निरन्तर विहार कर, अन्य द्रव्योंमें विहार मत कर ॥४१२॥

आगे कहते हैं कि जो बाह्यलिंगों में ममता बुद्धि रखते हैं वे समयसारको नहीं जानते हैं--

[2]पाखंडीलिंगेसु व गिहलिंगेसु व वहुप्पयारेसु ।
कुव्वंति जे ममत्तं तेहिं ण णायं[3] समयसारं ॥४१३॥

जो बहुत प्रकारके पाखण्डि लिङ्गों और गृहस्थ लिङ्गोंमें ममता करते हैं उन्होंने समयसारको नहीं जाना है ॥४१३॥

आगे कहते हैं कि व्यवहार नय दोनों लिङ्गोंको मोक्षमार्ग बतलाता है परन्तु निश्चय नय किसी लिङ्गको मोक्षमार्ग नहीं कहता—

ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे ।
णिच्छयणओ ण[4] इच्छइ मोक्खपहे[5] सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

व्यवहार नय तो मुनि और श्रावकके भेद से दोनों ही प्रकारके लिङ्गोंको मोक्षमार्ग कहता है परन्तु निश्चय नय सभी लिङ्गोंको मोक्षमार्गमें इष्ट नहीं करता ॥४१४॥

आगे श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव समयप्राभृत ग्रन्थको पूर्ण करते हुए उसके फलको सूचना करते हैं--

जो समयपाहुडमिणं पडिहूणं[6] अत्थतच्चदो णाउं[7] ।
अत्थे ठाही[8] चेया[9] सो [10]होही उत्तमं सोक्खं ॥४१५॥

जो भव्यपुरुष, इस समयप्राभृतको पढ़ कर तथा अर्थ और तत्त्वको जानकर इसके अर्थमें स्थित रहेगा वह उत्तम सुख स्वरूप होगा ॥४१५॥

इस प्रकार सर्वविशुद्ध ज्ञान का प्ररूपक नवम अङ्क पूर्ण हुआ ।

---

१. चेदयहि झायहि तं चेव ज० वृ० । २. पाखंडिय—ज० वृ० । ३. णादं ज० वृ० । ४. णेच्छदि ज० वृ० । ५. मुक्ख पहे. ज० वृ० । ६. पठिदूणय ज० वृ० । ७. णादु ज० वृ० । ८. ठाहिदि ज० वृ० । ९. चेदा ज० वृ० । १०. पावदि ज० वृ० ।

प्रवचनसार

•

वीतराग और सरागके भेदसे चारित्र दो प्रकारका है उनमेंसे वीतराग चारित्रसे निर्वाणको प्राप्ति होती है और सराग चारित्रसे देवेन्द्र आदिका वैभव प्राप्त होता है ।। ६ ।।

आगे चारित्रका स्वरूप कहते हैं—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ।। ७ ।।

निश्चयसे चारित्र धर्मको कहते हैं, शम अथवा साम्यभावको धर्म कहा है और मोह—मिथ्यादर्शन तथा क्षोभ—राग द्वेषसे रहित आत्माका परिणाम शम अथवा साम्यभाव कहलाता है ।। ७ ।।

आगे चारित्र और आत्माकी एकता सिद्ध करते हैं—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं[1] तम्मयत्ति पण्णत्तं ।
तह्मा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो[2] ।। ८ ।।

द्रव्य जिस कालमें जिस रूप परिणमन करता है उस कालमें वह उसी रूप हो जाता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है इसलिये धर्मरूप परिणत आत्मा धर्म हो जाता है—चारित्र हो जाता है ऐसा जानना चाहिए ।। ८ ।।

अब जीवकी शुभ अशुभ और अशुद्ध दशाका निरूपण करते हैं—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ।। ९ ।।

जीव जिस समय शुभ अथवा अशुभ रूप परिणमन करता है, उस समय शुभ अथवा अशुभ हो जाता है और जिस समय शुद्ध रूप परिणमन करता है उस समय उसके शुद्ध रूप परिणाम का सद्भाव होता है ।।९।।

आगे परिणाम वस्तुका स्वभाव है ऐसा निश्चय करते हैं—

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ।। १० ।।

पर्यायके विना अर्थ नहीं होता और अर्थके विना पर्याय नहीं रहता। द्रव्य गुण और पर्यायमें स्थित रहनेवाला अर्थ ही अस्तित्वगुणसे युक्त होता है। जिस प्रकार कटक कुण्डलादि पर्यायोंके विना सुवर्ण नहीं रह सकता और सुवर्णके विना कटक कुण्डलादि पर्याय नहीं रह सकते उसी प्रकार पर्यायोंके विना कोई भी पदार्थ नहीं रह सकता और पदार्थके विना कोई भी पर्याय नहीं रह सकते। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ द्रव्य गुण और पर्यायमें स्थित रहता है—सामान्य विशेषात्मक होता है उसीका सद्भाव होता है। सामान्य और विशेष—द्रव्य और पर्याय परस्पर निरपेक्ष होकर नहीं रह सकते ।। १० ।।

---

१. तक्काले ज० वृ० । २. मुणेदव्वो ज० वृ० ।

६

निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार

मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स ॥ ९५ ॥

जो समस्त वचन जालको छोड़कर तथा आगामी शुभ-अशुभका निवारणकर आत्माका ध्यान करता है उसके प्रत्याख्यान होता है ॥ ९५ ॥

आत्माका ध्यान किस प्रकार किया जाता है ?

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहाव सुहमइओ ।
केवलसत्तिसहावो सोहं इदि चिंतए णाणी ॥ ९६ ॥

ज्ञानी जीवको इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये कि मैं केवलज्ञान स्वभाव हूँ, केवलदर्शन-स्वभाव हूँ, सुखमय हूँ और केवलशक्ति स्वभाव हूँ ।

भावार्थ—ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य ही मेरे स्वभाव हैं अन्य भाव विभाव हैं इस प्रकार ज्ञानी जीव आत्माका ध्यान करते हैं ॥ ९६ ॥

णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केइं ।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी ॥ ९७ ॥

जो निजभावको नहीं छोड़ता है, परभावको कुछ भी ग्रहण नहीं करता है, मात्र सबको जानता देखता है वह मैं हूँ, इस प्रकार ज्ञानी जीवको चिन्तन करना चाहिये ॥ ९७ ॥

पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेसबंधेहि वज्जिदो अप्पा ।
सोहं इदि चिंतिज्जो तत्थेव य कुणदि थिरभावं ॥ ९८ ॥

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धोंसे रहित जो आत्मा है वही मैं हूँ इस प्रकार चिन्तन करता हुआ ज्ञानी जीव उसी आत्मामें स्थिरभावको करता है ॥ ९८ ॥

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंवणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे ॥ ९९ ॥

मैं ममत्वको छोड़ता हूं, और निर्ममत्वमें स्थित होता हूं, मेरा आलम्बन आत्मा है और शेष सबका परित्याग करता हूं ॥ ९९ ॥

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥ १०० ॥

निश्चयसे मेरा आत्मा ही ज्ञानमें है, मेरा आत्मा ही दर्शन और चारित्रमें है, आत्मा ही प्रत्याख्यानमें है और आत्मा ही संवर तथा योग—शुद्धोपयोगमें है ।

आगे शुद्धात्मस्वरूप जीव सर्वथा स्वाधीन है ऐसा निरूपण करते हैं—

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभुत्ति णिदिट्ठो ॥ १६ ॥

इस प्रकार शुद्धोपयोगके द्वारा जिसे आत्मस्वभाव प्राप्त हुआ है ऐसा जीव स्वयं ही सर्वज्ञ तथा समस्त लोकके अधिपतियों द्वारा पूजित होता हुआ स्वयंभू हो जाता है ऐसा कहा गया है ॥ १६ ॥

आगे शुद्ध आत्मस्वभावकी नित्यता तथा कथंचिद् उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना दिखलाते हैं—

भंगविहीणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो ॥ १७ ॥

जो जीव स्वयंभू पदको प्राप्त हुआ है उसीका उत्पाद विनाश रहित है और विनाश उत्पाद रहित है अर्थात् उसकी जो शुद्ध दशा प्रकट हुई है उसका कभी नाश नहीं होगा और जो अज्ञान दशाका नाश हुआ है उसका कभी उत्पाद नहीं होगा। इतना होनेपर भी उसके स्थिति उत्पाद और नाशका समवाय रहता है क्योंकि वस्तु प्रत्येक क्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक रहती है ॥ १७ ॥

आगे उत्पादादि तीनों शुद्ध आत्मामें भी होते हैं ऐसा कथन करते हैं—

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अत्थजादस्स।
पज्जाएण दु केणवि अत्थो[1] खलु होदि सब्भूदो[2] ॥ १८ ॥

निश्चयसे समस्त पदार्थसमूहका किसी पर्यायकी अपेक्षा उत्पाद होता है किसी पर्यायकी अपेक्षा विनाश होता है और किसी पर्यायको अपेक्षा वह पदार्थसमूह सद्भूत अर्थात् ध्रौव्य रूप होता है। जिस प्रकार सुवर्ण द्रव्यका केयूर आदि पर्यायकी उपेक्षा उत्पाद होता है, अँगूठी आदि पर्यायकी अपेक्षा विनाश होता है और पीतता आदि पर्यायकी अपेक्षा वह ध्रौव्य रूप रहता है इसी प्रकार समस्त द्रव्योंमें समझना चाहिये ॥ १८ ॥[3]

आगे इन्द्रियोंके विना ज्ञान और आनन्द किस प्रकार होते हैं ? ऐसा सन्देह दूर करते हैं—

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अधिकतेजो।
जादो अदिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि ॥ १९ ॥

शुद्धोपयोगकी सामर्थ्यसे जिसके घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं, क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शनसे असंपृक्त होनेके कारण जो अतीन्द्रिय हुआ है, समस्त अन्तरायका क्षय हो जानेसे जिसके

१. अट्ठो। २. संभूदो ज० वृ०।

३. घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥६०॥ —आप्तमीमांसायां समन्तभद्रस्य।

७

परमालोचनाधिकार

आलोचना किसके होती है?

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि ॥१०७॥

जो नोकर्म और कर्मसे रहित तथा विभावगुण पर्यायोंसे भिन्न आत्माका ध्यान करता है उस साधुके आलोचना होती है ॥ १०७ ॥

आलोचनाके चार रूप

आलोयणमालुञ्छणवियडीकरणं च भावसुद्धी य।
चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खणं समए ॥१०८॥

आलोचन, आलुञ्छन, अविकृतीकरण और भावशुद्धि इस तरह आगममें आलोचनाका लक्षण चार प्रकारका कहा गया है ॥ १०८ ॥

आलोचनका स्वरूप

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं।
आलोयणमिदि जाणह परमजिणंदस्स उपएसं ॥१०९॥

जो जीव अपने परिणामको समभावमें स्थापितकर अपने आत्माको देखता है—उसके वीतरागस्वभावका चिन्तन करता है वह आलोचन है ऐसा परम जिनेन्द्रका उपदेश जानो ॥ १०९ ॥

आलुञ्छनका स्वरूप

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीय परिणामो।
साहीणो समभावो आलुञ्छणमिदि समुद्दिट्ठं ॥११०॥

कर्मरूप वृक्षका मूलच्छेद करनेमें समर्थ, स्वाधीन, समभावरूप जो अपना परिणाम है वह आलुञ्छन इस नामसे कहा गया है ॥ ११० ॥

अविकृतीकरणका स्वरूप

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं।
मज्झत्थभावणाए वियडीकरणं त्ति विण्णेयं ॥१११॥

जो मध्यस्थभावनामें कर्मसे भिन्न तथा निर्मलगुणोंके निवासस्वरूप आत्माकी भावना करता है उसकी वह भावना अविकृतीकरण है ऐसा जानना चाहिये ॥ १११ ॥

'प्रत्येक द्रव्य अपने गुण और पर्यायोंके बराबर होता है' ऐसा आगमका वचन होनेसे आत्मा अपने ज्ञानगुणके बराबर ही है न उससे हीन है और न अधिक। ज्ञानगुण ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य पदार्थके बराबर होता है और ज्ञेय लोक तथा अलोकके समस्त पदार्थ हैं। अर्थात् ज्ञान उन्हें जानता है इसलिये विषयकी अपेक्षा सर्वगत है—सर्व व्यापक है ॥ २३ ॥

आगे आत्माको ज्ञान प्रमाण न मानने पर दो पक्ष उपस्थित कर उन्हें दूषित करते हैं।

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अधिगो वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥ २४ ॥
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि।
अधिगो वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥२५॥ जुगलं ॥

इस लोकमें जिसके मतमें आत्मा ज्ञानप्रमाण नहीं होता है उसके मतमें वह आत्मा निश्चय ही ज्ञानसे हीन अथवा अधिक होगा। यदि आत्मा ज्ञानसे हीन है तो वह ज्ञान चेतनके साथ समवाय न होनेसे अचेतन हो जावेगा और उस दशामें पदार्थको नहीं जान सकेगा। इसके विरुद्ध यदि आत्मा ज्ञानसे अधिक है तो वह ज्ञानातिरिक्त आत्मा ज्ञानके विना पदार्थको किस प्रकार जान सकेगा ? जब कि ज्ञान ही जाननेका साधन है ॥ २४-२५ ॥

आगे ज्ञानकी भाँति आत्मा भी सर्वव्यापक है ऐसा सिद्ध करते हैं—

सव्वगदो जिणवसहो सव्वेवि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा ॥ २६ ॥

ज्ञानमय होनेसे जिनश्रेष्ठ सर्वज्ञ भगवान् सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक हैं और उन भगवान्के विषय होनेसे जगत्के सभी पदार्थ तद्गत अर्थात् उन भगवान्में प्राप्त हैं। जब कि ज्ञान सर्वव्यापक है तब उससे तन्मय रहनेवाला सर्वज्ञ भी सर्वव्यापक है यह सिद्ध हुआ ॥ २६ ॥

आगे आत्मा और ज्ञानमें एकता तथा अन्यताका विचार करते हैं—

णाणं अप्पत्ति मदं वट्टदि[1] णाणं विणा ण अप्पाणं।
तह्मा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥ २७ ॥

ज्ञान आत्मा है ऐसा माना गया है, चूंकि ज्ञान आत्माके विना नहीं होता इसलिये ज्ञान आत्मा है और आत्माके सिवाय अन्य गुणोंका भी आश्रय है अतः ज्ञानरूप भी है और अन्यरूप भी है।

आत्मा अनन्तगुणोंका पिण्ड है ज्ञान उन अनन्त गुणोंमें एक प्रधान गुण है और आत्माके सिवाय अन्यत्र नहीं पाया जाता इसलिये गुणगुणीमें अभेद विवक्षाकर ज्ञानको आत्मा कह दिया है। परन्तु आत्मा जिस प्रकार ज्ञानगुणका आधार है उसी प्रकार अन्यगुणोंका भी आधार है

---

१. वट्टइ ज० वृ०।

इसलिये ज्ञानगुणके आधारकी अपेक्षा आत्मा ज्ञानरूप है तथा अन्य गुणोंके आधारकी अपेक्षा ज्ञान-रूप नहीं भी है ॥ २७ ॥

आगे ज्ञान न तो ज्ञेयमें जाता है और न ज्ञेय ज्ञानमें जाता है ऐसा प्ररूपण करते हैं—

णाणी णाणसहावो अत्था णेयापगा हि णाणिस्स ।
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति ॥ २८॥

निश्चयसे आत्मा ज्ञान स्वभाववाला है और पदार्थ उस ज्ञानी—आत्माके ज्ञेयस्वरूप हैं। जिसप्रकार रूपी पदार्थ चक्षुओंमें प्रविष्ट नहीं होते और चक्षु रूपी पदार्थोंमें प्रविष्ट नहीं होते उसी प्रकार ज्ञानी आत्मामें प्रविष्ट नहीं है और ज्ञानी ज्ञेय-पदार्थोंमें प्रविष्ट नहीं है। पृथक् रहकर ही इन दोनोंमें ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है ॥ २८ ॥

आगे यद्यपि निश्चयसे ज्ञानी ज्ञेयोंमें—पदार्थोंमें प्रविष्ट नहीं होता है तो व्यवहारसे प्रविष्टके समान जान पड़ता है ऐसा कथन करते हैं—

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू ।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥ २९ ॥

इन्द्रियातीत अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञान सहित आत्मा जानने योग्य पदार्थोंमें प्रविष्ट नहीं होता और प्रविष्ट नहीं होता सर्वथा ऐसा भी नहीं है व्यवहारकी अपेक्षा प्रविष्ट होता भी है। वह रूपी पदार्थको नेत्रकी तरह समस्त संसारको निश्चित रूपसे जानता है।

जिस प्रकार चक्षु रूपी पदार्थमें प्रविष्ट नहीं होता फिर भी वह उसे देखता है इसी प्रकार आत्मा जानने योग्य पदार्थमें प्रविष्ट नहीं होता फिर भी वह उसे जानता है परन्तु दृश्य दर्शक सम्बन्ध होनेकी अपेक्षा व्यवहारसे जिस प्रकार चक्षु रूपी पदार्थमें प्रविष्ट हुआ कहलाता है उसी प्रकार ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध होनेकी अपेक्षा व्यवहारसे आत्मा पदार्थोंमें प्रविष्ट हुआ कहलाता है ॥ २९ ॥

आगे व्यवहारसे ज्ञान पदार्थोंमें प्रवर्तता है ऐसा उदाहरणपूर्वक दर्शाते हैं—

रदणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए ।
अभिभूय तंपि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥ ३० ॥

इस लोकमें जिसप्रकार दूधमें डुबाया हुआ इन्द्रनील नामक मणि अपनी कान्तिसे उस दूधको अभिभूत करके—नीला बनाकर रहता है उसी प्रकार ज्ञान भी पदार्थोंको अभिभूत कर—ज्ञानरूप बनाकर उनमें रहता है।

यथार्थमें इन्द्रनीलमणि अपने आपमें ही रहता है दूधमें जो नीलाकार परिणमन हो रहा है वह दूधका ही है परन्तु इन्द्रनील मणिके सम्बन्धसे होनेके कारण उपचारसे इन्द्रनीलमणिका कहलाता है इसी प्रकार ज्ञान सदा ज्ञानरूप ही रहता है परन्तु वह अपनी स्वच्छताके कारण दर्पणकी तरह घटपटादि पदार्थ रूप हो जाता है। ज्ञानमें जो घटपटादि पदार्थोंका आकार प्रति-फलित होता है वह यथार्थमें ज्ञानका ही है परन्तु पदार्थोंके निमित्तसे होता है इसलिये पदार्थोंका कहलाता है। पदार्थ ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होते हैं इसी अपेक्षासे 'ज्ञान पदार्थमें व्याप्त रहता है' ऐसा व्यवहार होता है ॥ ३० ॥

आगे व्यवहारसे पदार्थ ज्ञानमें रहते है यह बतलाते हैं—

जदि ते ण संति अत्था णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अत्था[1] ॥ ३१ ॥

यदि वे पदार्थ ज्ञानमें नहीं रहते हैं ऐसा माना जाय तो ज्ञान सर्वगत नहीं हो सकता और यदि ज्ञान सर्वगत है ऐसा माना जाता है तो पदार्थ ज्ञानमें स्थित क्यों न माने जावें? अवश्य माने जावें ॥ ३१ ॥

आगे यद्यपि ज्ञानका पदार्थोंके साथ ग्राहक ग्राह्य सम्बन्ध है तथापि निश्चयसे दोनों पृथक् हैं ऐसा बतलाते हैं—

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥ ३२ ॥

केवली भगवान् परपदार्थोंको न ग्रहण करते हैं न छोड़ते हैं और न उन रूप परिणमन ही करते हैं फिर भी वे समस्त पदार्थोंको सम्पूर्ण रूपसे सर्वाङ्ग ही देखते और जानते हैं।

यद्यपि निश्चयनयसे केवली भगवान् किन्हीं परपदार्थोंका ग्रहण तथा त्याग आदि नहीं करते तथापि व्यवहारनयसे वे समस्त पदार्थोंके ज्ञाता द्रष्टा कहे जाते हैं ॥ ३२ ॥

आगे केवलज्ञानी और श्रुतकेवलीमें समानता बतलाते हैं—

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंदि लोगप्पदीवयरा ॥ ३३ ॥

निश्चयसे जो पुरुष श्रुतज्ञानके द्वारा स्वभावसे ही जाननेवाले अपने आत्माको जानता है उसे लोकको प्रकाशित करनेवाले ऋषि श्रुतकेवली कहते हैं।

जिस प्रकार केवलज्ञानी एक साथ परिणत समस्त चैतन्य विशेषसे शोभायमान केवलज्ञानके द्वारा अनादि निधन, कारणरहित, असाधारण और स्वसंवेदन ज्ञानकी महिमा सहित केवल आत्माको अपने आपमें वेदन करता है—अनुभव करता है उसी प्रकार श्रुतकेवली भी क्रमशः परिणमन करनेवाली कुछ चैतन्य शक्तियोंसे सुशोभित श्रुतज्ञानसे पूर्वोक्त विशेषण विशिष्ट आत्माको अपने आपमें वेदन करता है इसलिये इन दोनोंमें वस्तुस्वरूप जाननेकी अपेक्षा समानता है सिर्फ प्रत्यक्ष परोक्ष और ज्ञायक शक्तियोंके तारतम्यकी अपेक्षा ही विशेषता है ॥ ३३ ॥

आगे श्रुतके निमित्तसे ज्ञानमें जो भेद होता है उसे दूर करते हैं—

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
[2]तज्जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥ ३४ ॥

पुद्गलद्रव्य स्वरूप वचनोंके द्वारा जिनेन्द्र भगवान्ने जो उपदेश दिया है वह द्रव्यश्रुत है निश्चयसे उसका जानना भावश्रुत ज्ञान है और व्यवहारसे कारणमें कार्यका उपचारकर उस द्रव्यश्रुतको भी ज्ञान कहा है। इस उल्लेखसे यह सिद्ध हुआ कि सूत्रका ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है

---

१. अट्ठा ज० वृ०। २. तं जाणणा ज० वृ०।

यदि कारणभूत श्रुतकी उपेक्षा कर दी जावे तो ज्ञान ही अवशिष्ट रहता है। वह ज्ञान केवली और श्रुतकेवलीके आत्मसंवेदनके विषयमें तुल्य ही रहता है अतः उनके ज्ञानमें श्रुतनिमित्तक विशेषता नहीं होती है ॥ ३४ ॥

आगे आत्मा और ज्ञानमें कर्ता और करणकृत भेदको दूर करते हैं—

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥ ३५ ॥

जो जानता है वह ज्ञान है, आत्मा ज्ञानके द्वारा ज्ञायक नहीं है किन्तु वह स्वयं ही ज्ञानरूप परिणमन करता है और सब पदार्थ ज्ञानमें स्वयं स्थित रहते हैं।

आत्मा ज्ञप्तिक्रियाका कर्ता है और ज्ञान उसका करण है। आत्मा गुणी है ज्ञान गुण है। गुण गुणीमें प्रदेश भेद नहीं है इसलिये आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है। जिस प्रकार अग्नि और उष्णतामें अभेद है उसी प्रकार आत्मा और ज्ञानमें अभेद है ॥ ३५ ॥

आगे ज्ञान क्या है? और ज्ञेय क्या है? इसका विवेक करते हैं—

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिधा समक्खादं।
दव्वंति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं ॥ ३६ ॥

चूँकि जीव और ज्ञानमें अभेद है अतः जीव ज्ञानस्वरूप है और अतीत अनागत वर्तमान अथवा उत्पाद व्यय ध्रौव्यके भेदसे तीन प्रकार परिणमन करनेवाला द्रव्य ज्ञेय है—ज्ञानका विषय है। फिर जीव तथा पुद्गल आदि पाँच अजीव पदार्थ परिणमनसे सम्बद्ध होनेके कारण द्रव्य इस व्यवहारको प्राप्त होते हैं।

ज्ञान आत्मस्वरूप है परन्तु ज्ञेय आत्मा और अनात्माके भेदसे दो प्रकारका है ॥ ३६ ॥

आगे अतीत अनागत पर्यायें वर्तमानकी तरह ज्ञानमें प्रतिभासित होती हैं ऐसा कथन करते हैं—

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥ ३७ ॥

उन प्रसिद्ध जीव पुद्गलादिक द्रव्यजातियोंके वे समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्याय निश्चयसे ज्ञानमें अपनी-अपनी विशेषता लिये हुए वर्तमान काल सम्बन्धी पर्यायोंकी तरह विद्यमान रहते हैं।

ज्ञान चित्रपटके समान है जिस प्रकार चित्रपटमें भूत भविष्यत् और वर्तमान काल सम्बन्धी वस्तुओंके चित्र युगपत् प्रतिभासित रहते हैं उसी प्रकार ज्ञानमें भी भूत भविष्यत् और वर्तमान-काल सम्बन्धी द्रव्य पर्याय प्रतिभासित रहते हैं ॥ ३७ ॥

आगे अविद्यमान पर्याय किसी अपेक्षासे विद्यमान है ऐसा बतलाते हैं—

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूया पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥ ३८ ॥

निश्चयसे जो पर्याय उत्पन्न नहीं हुए हैं और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गये हैं वे अतीत और अनागत काल सम्बन्धी समस्त पर्याय यद्यपि असद्भूत पर्याय हैं—वर्तमानमें अविद्यमान रूप हैं तथापि ज्ञानमें प्रत्यक्ष होनेसे कथञ्चित् सद्भूत हैं ॥ ३८ ॥

आगे असद्भूत पर्यायें ज्ञानमें प्रत्यक्ष हैं इसीको पुष्ट करते हैं—

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वंत्ति हि के परूविंति ॥ ३९ ॥

यदि अजात-अनुत्पन्न और प्रलयित—विनष्ट पर्याय केवलज्ञानके प्रत्यक्ष नहीं होते हैं तो उसे 'यह दिव्य ज्ञान है—सबसे उत्कृष्ट ज्ञान है' ऐसा कौन प्ररूपण करते हैं। केवलज्ञानकी उत्कृष्टता इसीमें है कि वह अतीत-अनागत पर्यायोंको भी प्रत्यक्षवत् स्पष्ट जानता है ॥ ३९ ॥

आगे इन्द्रियजन्य ज्ञान अतीत अनागत पर्यायोंके जाननेमें असमर्थ है ऐसा कहते हैं—

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति ।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कंति पण्णत्तं ॥ ४० ॥

जो जीव इन्द्रिय गोचर पदार्थको ईहा-अवाय-धारणा पूर्वक जानते हैं उन्हें परोक्ष पदार्थ—असद्भूत पर्यायका जानना अशक्य है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है ॥ ३० ॥

आगे अतीन्द्रिय ज्ञान सब कुछ जानता है ऐसा कहते हैं—

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं ।
पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥ ४१ ॥

जो ज्ञान प्रदेश रहित कालाणु अथवा परमाणुको, प्रदेश सहित पञ्चास्तिकायोंको, मूर्त्त अर्थात् पुद्गलको अमूर्त अर्थात् मूर्ति रहित शुद्ध जीवादिद्रव्योंको अनुत्पन्न और विनष्ट पर्यायोंको जानता है वह अतीन्द्रिय ज्ञान कहा गया है ॥ ४१ ॥

आगे अतीन्द्रिय ज्ञानमें पदार्थाकार परिणमन रूप क्रिया नहीं होती है ऐसा कहते हैं—

परिणमदि णेयमट्ठं[1] णादा जदि णेव खाइगं तस्स ।
णाणंति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता ॥ ४२ ॥

यदि ज्ञाता आत्मा ज्ञेय पदार्थके प्रति सङ्कल्प विकल्प रूप परिणमन करता है तो उसके क्षायिक ज्ञान नहीं है इसके विपरीत जिनेन्द्र भगवान्ने उस आत्माको कर्मका अनुभव करने वाला अर्थात् संसारी ही कहा है ॥ ४२ ॥

आगे ज्ञान बन्धका कारण नहीं है किन्तु ज्ञेयमें जो राग द्वेष रूप आत्माकी परिणति है वह बन्धका कारण है ऐसा कहते हैं—

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया ।
तेसु हि मुहिदो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुहवदि ॥ ४३ ॥

---

१. अट्ठं ज० वृ० ।

जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है कि संसारी जीवके नियम पूर्वक कर्मोंके अंश प्रति समय उदयमें आते रहते हैं जो जीव उन उदयागत कर्मांशोंमें मोही रागी अथवा द्वेषी होता है वह बन्धका अनुभव करता है ॥ ४३ ॥

आगे रागादिका अभाव होनेसे केवली भगवान्‌की धर्मोपदेश आदि क्रियायें बन्धका कारण नहीं हैं ऐसा कहते हैं—

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं ।
अरहंताणं काले मायाचारोव्व इच्छीणं ॥ ४४ ॥

जिस प्रकार स्त्रियोंके मायाचार रूप प्रवृत्ति स्वभाव से ही होती है उसी प्रकार अरहन्त भगवान्‌के अरहन्त अवस्थाके कालमें स्थान—विहार करते-करते रुक जाना, निषद्या—समवसरणमें आसीन होना, विहार—आर्यक्षेत्रोंमें विहार करना और धर्मोपदेश देना ये कार्य स्वभावसे ही होते हैं ।

चूँकि अरहन्त भगवान्‌के मोहका उदय नहीं होता इसलिये उनकी समस्त क्रियाएँ इच्छाके अभावमें होती हैं और इसीलिये वे उनके बन्धका कारण नहीं होतीं ॥ ४४ ॥

आगे अरहन्त भगवान्‌के पुण्यकर्मका उदय बन्धका कारण नहीं है यह कहते हैं—

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदयिगा[१] ।
मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइगत्ति मदा ॥ ४५ ॥

अरहन्त भगवान् तीर्थंकर नामक पुण्यप्रकृतिके फल हैं अर्थात् अरहन्त पद तीर्थंकर नामक पुण्यप्रकृतिके उदयसे होता है और उनकी शारीरिक तथा वाचनिक क्रिया निश्चयसे कर्मोदयजन्य है तथापि वह क्रिया मोह राग द्वेषादि भावोंसे रहित है इसलिये क्षायिक मानी गई है ।

यद्यपि औदयिकभाव बन्धके कारण होते हैं तथापि मोहका उदय साथ न होने से अरहन्त भगवान्‌के औदयिकभाव बन्धके प्रति अकिञ्चित्कर रहते हैं ॥ ४५ ॥

आगे केवलियोंकी तरह सभी जीवोंके स्वभावका कभी विघात नहीं होता ऐसा कहते हैं—

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण ।
संसारोवि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं ॥ ४६ ॥

यदि वह आत्मस्वभावसे स्वयं ही शुभ अथवा अशुभ रूप नहीं होवे तो समस्त जीवोंके संसार ही नहीं होवे । जिस प्रकार स्फटिकमणि जपा तथा तापिच्छ आदि फूलोंके संसर्गसे लाल तथा नीला परिणमन करने लगता है उसी प्रकार यह आत्मा परिणामी होनेके कारण शुभ अशुभ कर्मोदयका निमित्त मिलनेसे शुभ अशुभ रूप परिणमन करने लगता है । केवली भगवान्‌के शुभ अशुभ कर्मोंका उदय छूट जाता है इसलिये उन्हें शुभ अशुभ रूप परिणमनसे रहित कहा है परन्तु संसारी जीवोंके वह निमित्त विद्यमान रहता है इसलिये उन्हें शुभ अशुभ परिणमनमें सहित माना गया है । यदि केवली भगवान्‌की तरह संसारके प्रत्येक प्राणीको शुभ अशुभ परिणमनसे रहित मान लिया जावे तो उनके संसारका ही अभाव हो जावे—वे नित्यमुक्त कहलाने लगें परन्तु ऐसा मानना

---

१. ओदइया ज० वृ० ।

प्रत्यक्ष विरुद्ध है अतः केवलीके सिवाय अन्य संसारी जीवोंके शुभ अशुभ परिणमन माना जाता है ।। ४६।

आगे पहले कहा गया अतीन्द्रिय ज्ञान ही सब पदार्थोंको जानता है ऐसा कहते हैं—

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं ।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ।। ४७ ।।

जो ज्ञान सर्वाङ्गसे वर्तमान एवं भूत भविष्यत् काल सम्बन्धी पर्यायोंसे सहित, विविध तथा मूर्तिक अमूर्तिकके भेदसे विषमताको लिये हुए समस्त पदार्थोंको एक साथ जानता है उसे क्षायिक ज्ञान कहा है ।। ४७ ।।

आगे जो सबको नहीं जानता वह एकको भी नहीं जानता इस विचार को निश्चित करते हैं—

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तेकालिके[1] तिहुवणत्थे ।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेकं वा ।। ४८ ।।

जो पुरुष तीन लोकमें स्थित तीन काल सम्बन्धी-समस्त पदार्थोंको एक साथ नहीं जानता है उसके अनन्त पर्यायोंसे सहित एक द्रव्यको भी जानने की शक्ति नहीं है ।

जिस प्रकार दाह्य–ईन्धनको जलाने वाली अग्नि स्वयं दाह्यके आकार परिणत हो जाती है उसी प्रकार ज्ञेयोंको जानने वाला आत्मा स्वयं ज्ञेयाकार परिणत हो जाता है । केवलज्ञानी अनन्त ज्ञेयोंको जानते हैं इसलिये उनके आत्मा में अनन्त ज्ञेयोंके आकार दर्पणमें घटपटादिके समान प्रतिविम्बित रहते हैं अतः जो केवलज्ञानके द्वारा प्रकाश्य अनन्त पदार्थोंको नहीं जानता है वह उनके प्रतिविम्बाधार आत्माको भी नहीं जानता है ।। ४८ ।।

आगे जो एकको नहीं जानता वह सबको नहीं जानता ऐसा निश्चय करते हैं—

दव्वं अणंतपज्जयमेक्कमणंताणि दव्वजादाणि ।
ण विजाणदि जदि जुगवं कध सो सव्वाणि जाणादि ।। ४९ ।।

जो अनन्त पर्यायों वाले एक–आत्म द्रव्यको नहीं जानता है वह अन्त रहित सम्पूर्ण द्रव्योंके समूहको कैसे जान सकता है ? जिस आत्मामें अनन्त ज्ञेयोंके आकार प्रतिफलित हो रहे हैं वही समस्त द्रव्योंको जान सकता है । तात्पर्य यह हुआ कि जो एकको जानता है वह सबको जानता है और जो सबको जानता है वह एकको जानता है । यहाँ एक से तात्पर्य केवलज्ञान विशिष्ट आत्मा से है[2] ।। ४९ ।।

आगे क्रमपूर्वक जाननेसे ज्ञानमें सर्वगतपना सिद्ध नहीं हो सकता ऐसा सिद्ध करते है—

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अत्थे[3] पडुच्च णाणिस्स ।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं[4] णेव सव्वगदं[5] ।। ५० ।।

यदि ज्ञानी—आत्माका ज्ञान क्रमसे पदार्थोंका अवलम्बन कर उत्पन्न होता है तो वह न नित्य है, न क्षायिक है और न सर्वगत—समस्त पदार्थोंको जानने वाला ही है । उत्तरपदार्थका

१. तिक्कालिगे ज० वृ० । २. 'एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः । एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः ।।'

३. अट्ठे ज० वृ० । ४. खाइयं ज० वृ० । ५. सव्वगयं ज० वृ० ।

आलम्बन मिलने पर पूर्व पदार्थके आलम्बनसे होने वाला ज्ञान नष्ट हो जाता है इसलिये वह नित्य नहीं हो सकता। ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे प्रकट होने वाला क्षायिक ज्ञान सदा उपयोगात्मक रहता है उसमें क्रमवर्तित्व सम्भव नहीं है। यह क्रमवर्तित्व क्षायोपशिक ज्ञानमें ही सम्भव है। इसी प्रकार जो ज्ञान क्रमवर्ती होता है वह समीप होता है वह एक कालमें संसारके समस्त पदार्थोंको नहीं जान सकता ॥ ५० ॥

आगे एक साथ प्रवृत्ति होनेसे ही ज्ञानमें सर्वगतपना सिद्ध होता है ऐसा निरूपण करते हैं—

तेकालणिच्चविसमं सकलं सव्वत्थ संभवं चित्तं[1]।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं ॥५१॥

जिनेन्द्र भगवान्‌का ज्ञान अतीतादि तीन कालोंसे सदा विपम, लोक अलोकमें सर्वत्र विद्यमान, नानाजातिके समस्त पदार्थोंको एक साथ जानता है। निश्चयसे क्षायिकज्ञानका विचित्र माहात्म्य है ॥ ५१ ॥

आगे केवलीके ज्ञान क्रिया होनेपर भी बन्ध नहीं होता है यह निरूपण करते हैं—

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अत्थेसु[2]।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥५२॥

केवलज्ञानी शुद्धात्मा चूँकि उन पदार्थोंको जानता हुआ भी उन रूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न ही होता है इसलिये वह अवन्धक—वन्ध रहित कहा गया है[3] ॥ ५२ ॥

इति ज्ञानाधिकारः

आगे ज्ञानसे अभिन्नरूप सुखका वर्णन करते हुए आचार्य महाराज ज्ञान और सुखमें कौनसा ज्ञान तथा सुख छोड़ने योग्य है और कौनसा ज्ञान तथा सुख ग्रहण करने योग्य है ? इसका विचार करते हैं—

अत्थि[4] अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।
णाणं च तथा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥५३॥

पदार्थोंके विपयमें जो ज्ञान अतीन्द्रिय होता है वह अमृतिक है और जो इन्द्रियजन्य होता है वह मूर्तिक कहलाता है। इसी प्रकार अतीन्द्रिय और इन्द्रियजन्य सुख भी क्रमशः अमूर्तिक तथा मूर्तिक होता है। इन दोनोंमें जो उत्कृष्ट है वही उपादेय है।

---

१. तिक्काल ज० वृ०। २. अट्ठेसु ज० वृ०।

३. 'जावन्नप्येप विश्वं युगपदपि भवद्भावि भूतं समस्तं, मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा। तेनास्ते युक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीतज्ञेयाकारं त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ॥'ज०वृ०।

४. 'तस्स णमाइं लोगो देवासुरमणुअरायसंबंधो।
णाणं च तथा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥' ज० वृत्तावधिकः पाठः।

मूर्तिक ज्ञान और सुख क्षायोपशमिक उपयोग शक्तियों तथा क्षायोपशमिक इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है अतः पराधीन होनेसे कादाचित्क है, क्रमसे प्रवृत्त होता है, प्रतिपक्षीसे सहित है, हानि-वृद्धिसे युक्त है इसलिये हेय है और अमूर्तिक ज्ञान तथा सुख इससे विपरीत होनेके कारण उपादेय है॥ ५३ ॥

आगे अतीन्द्रिय सुखका कारण अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है यह कहते हैं—

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सकलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ॥५४॥

देखनेवालेका जो ज्ञान अमूर्तिक द्रव्योंको तथा मूर्तिक द्रव्योंमें अतीन्द्रिय अर्थात् परमाणु आदिको एवं क्षेत्रान्तरित कालान्तरित आदि प्रच्छन्न पदार्थोंको इस प्रकार समस्त स्व और पर ज्ञेयको जानता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

अनन्त सुखका अनुभावक होनेसे यह प्रत्यक्ष ज्ञान ही उपादेय है॥ ५४ ॥

आगे इन्द्रिय सुखका कारण इन्द्रिय ज्ञान हेय है इस प्रकार उसकी निन्दा करते हैं—

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगिण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तण्ण जाणादि ॥५५॥

जीव निश्चयनयसे स्वयं अमूर्तिक है परन्तु व्यवहारसे मूर्ति अर्थात् शरीरमें स्थित हो रहा है। यह जीव द्रव्य तथा भाव इन्द्रियोंके आधारभूत मूर्त शरीरके द्वारा ग्रहण करने योग्य मूर्त पदार्थको अवग्रह ईहा आदि क्रमसे जानता है और क्षयोपशमकी मन्दता तथा उपयोगके अभावसे नहीं भी जानता है।

इन्द्रिय ज्ञान यद्यपि व्यवहारसे प्रत्यक्ष कहा जाता है तथापि निश्चयनयसे केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष ही है। परोक्षज्ञान जितने अंशमें सूक्ष्म पदार्थको नहीं जानता है उतने अंशमें चित्तके खेदका कारण होता है और खेद ही दुःख है अतः दुःखका जनक होनेसे इन्द्रियज्ञान हेय है—छोड़ने योग्य है॥ ५५ ॥

आगे इन्द्रियोंकी अपने विषयमें भी प्रवृत्ति होना एक साथ सम्भव नहीं है इसलिये इन्द्रिय-ज्ञान हेय है यह कहते हैं—

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ॥५६॥

स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द ये पुद्गल ही इन्द्रियोंके विषय हैं सो उन्हें भी ये इन्द्रियाँ एक साथ ग्रहण नहीं करती हैं।

जिस प्रकार सब तरहसे उपादेय भूत अनन्त सुखका कारणभूत केवलज्ञान एक साथ समस्त पदार्थोंको जानता हुआ सुखका कारण होता है उस प्रकार यह इन्द्रियज्ञान अपने योग्य विषयोंका भी युगपत् ज्ञान न होनेसे सुखका कारण नहीं है॥ ५६ ॥

आगे इन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है ऐसा निश्चय करते हैं—

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावोत्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्धं तेहि कहं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥५७॥

वे इन्द्रियां चूँकि आत्माका स्वभाव नहीं हैं इसलिये पर द्रव्य कही गई हैं फिर उन इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किया हुआ पदार्थ आत्माके प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? ॥ ५७ ॥

आगे परोक्ष और प्रत्यक्षका लक्षण प्रकट करते हैं—

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु ।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥ ५८ ॥

पदार्थ विषयक जो ज्ञान परकी सहायतासे होता है वह परोक्ष कहलाता है और जो ज्ञान केवल आत्माके द्वारा जाना जाता है वह प्रत्यक्ष कहा जाता है ॥ ५८ ॥

आगे यही अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान निश्चय सुख है ऐसा अभेद दिखलाते हैं—

जादं सयं समत्तं णाणमणंतत्थवित्थिदं[1] विमलं ।
रहिदं तु उग्गहादिहि[2] सुहत्ति एयंतियं[3] भणिदं[4] ॥ ५९ ॥

जो स्वयं उत्पन्न हुआ है, परिपूर्ण है, अनन्त पदार्थोंमें विस्तृत है, निर्मल है और अवग्रह आदि क्रमसे रहित है ऐसा ज्ञान ही निश्चय सुख है ऐसा कहा गया है ॥ ५९ ॥

आगे अनन्त पदार्थोंको जाननेके कारण केवलज्ञानीको खेद होता होगा इस पूर्व प्रश्नका निराकरण करते हैं—

जं केवलत्ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव ।
खेदो तस्स ण भणिदो[5] जम्हा घादी[6] खयं जादा ॥ ६० ॥

जो केवल इस नाम वाला ज्ञान है वह सुख है और वही सुख सबके जानने रूप परिणाम है। उस केवलज्ञानके खेद नहीं कहा गया है। क्योंकि घातिया कर्म क्षयको प्राप्त हुए हैं।

खेदके स्थान ज्ञानावरणादि घातिया कर्म हैं। चूँकि केवलज्ञानीके इनका क्षय हो चुकता है अतः उनका केवलज्ञान आकुलता रूप खेदसे सर्वथा रहित होता है ॥ ६० ॥

आगे फिर भी केवलज्ञानको सुख रूप दिखलाते हैं—

णाणं अत्थंतगदं लोगालोगेसु[7] वित्थडा दिट्ठी ।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु[8] तं लद्धं ॥ ६१ ॥

केवलज्ञानीका ज्ञान पदार्थोंके अन्तको प्राप्त है अर्थात् अनन्त पदार्थोंका जानने वाला है, उनकी दृष्टि अर्थात् केवलदर्शन लोक-अलोकमें विस्तृत है, समस्त अनिष्ट नष्ट हो चुकते हैं और जो इष्ट होता है वह उन्हें प्राप्त हो चुकता है। इस प्रकार केवलज्ञान ही सुख रूप होता है ॥ ६१ ॥

आगे केवलज्ञानियों के ही पारमार्थिक सुख है ऐसी श्रद्धा करते हैं—

ण हि सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमंति विगदघादीणं ।
सुणिऊण[9] ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥ ६२ ॥

---

१. वियडं, ज० वृ० । २. ओग्गहादिहिं, ज० वृ० । ३. एगंतियं ज० वृ० । ४ भणियं ज० वृ० । ५. भणिओ, ज० वृ० । ६. घादिक्खयं ज० वृ० । ७. लोयालोयेसु ज० वृ० । ८. हि ज० वृ० । ९. सुणिदूण ज० वृ० ।

जिनके घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं ऐसे केवली भगवान्का सुख सब सुखोंमें उत्कृष्ट है ऐसा सुनकर जो श्रद्धान नहीं करते हैं वे अभव्य हैं और जो श्रद्धान करते हैं वे भव्य हैं[1] ॥ ६२ ॥

आगे परोक्ष ज्ञानियोंके जो इन्द्रिय जन्य सुख होता है वह अपारमार्थिक है ऐसा कहते हैं—

मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुआ[2] इंदिएहिं सहजेहिं ।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥ ६३ ॥

सहजोत्पन्न इन्द्रियोंसे पीड़ित मनुष्य धरणेन्द्र और देवोंके इन्द्र–स्वामी उस इन्द्रिय जन्य दुःखको न सहते हुए रमणीक विषयोंमें क्रीड़ा करते हैं ॥ ६३ ॥

आगे जितनी इन्द्रियां हैं वे स्वभावसे ही दुःख रूप हैं ऐसा विचार करते हैं—

जेसिं वियियेसु रदी[3] तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं ।
जदि[4] तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥ ६४ ॥

जिन जीवोंकी विषयोंमें प्रीति है उनके दुःख स्वभावसे ही जानो क्योंकि यदि वह दुःख उनके स्वभावसे उत्पन्न हुआ नहीं होता तो विषयोंके लिये उनका व्यापार नहीं होता ।

जिस प्रकार व्याधिसे पीड़ित मनुष्योंका औषधिके लिये व्यापार होता है उसी प्रकार इन्द्रियोंसे पीड़ित मनुष्योंका विषयोंके लिये व्यापार होता है । मनुष्य अनुकूल विषय पानेके लिये निरन्तर व्याकुल रहते हैं इससे विदित होता है कि वे इन्द्रियजन्य दुःखको सहन नहीं कर सकते हैं ॥ ६४ ॥

आगे मुक्तात्माओंको शरीरके विना भी सुख है इसलिये शरीर सुखका साधन नहीं है यह कहते हैं—

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण ।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ॥ ६५ ॥

स्पर्शनादि इन्द्रियोंके द्वारा इष्ट विषयोंको पाकर अशुद्ध ज्ञानदर्शन रूप स्वभावसे परिणमन करनेवाला आत्मा ही स्वयं सुख रूप होता है शरीर नहीं ।

सुख चेतनका गुण है इसलिये वह उसीमें व्यक्त होता है शरीर जड़ पदार्थ है इसलिये उसमें नहीं पाया जाता है ॥ ६५ ॥

आगे इसीका समर्थन करते हैं—

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणइ सग्गे वा ।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥ ६६ ॥

यह निश्चय है कि शरीर आत्माको स्वर्गमें भी सुख रूप नहीं करता किन्तु यह आत्मा ही विषयोंके वश स्वयं सुख अथवा दुःख रूप हो जाता है ॥ ६६ ॥

---

१. समसुखशीलितमनसां च्यवनमपि द्वेषमेति किमु कामाः ।
स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः ॥ ज० वृ० ।

२. अहिद्दुदा ज० वृ० । ३. रई ज० वृ० । ४. जइ ज० वृ० ।

आगे आत्मा स्वयं ही सुखस्वरूप है इसलिये जिस प्रकार देह सुखका कारण नहीं है उसी प्रकार पञ्चेन्द्रियोंके विषय भी सुखके कारण नहीं हैं ऐसा कहते हैं—

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कादव्वं[1]।
तध सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥ ६७ ॥

यदि किसी मनुष्यकी दृष्टि अन्धकारको नष्ट करनेवाली है तो जिस प्रकार उसे दीपकसे कुछ कार्य नहीं होता है उसी प्रकार आत्मा यदि स्वयं सुख रूप होती है तो उसमें पञ्चेन्द्रियोंके विषय क्या करते हैं अर्थात् कुछ नहीं ॥ ६७ ॥

आगे ज्ञान और सुख आत्माका स्वभाव है यह दृष्टान्तसे सिद्ध करते हैं—

सयमेव जधादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि।
सिद्धोवि तधा णाणं सुहं च लोगे तधा देवो ॥ ६८ ॥

जिस प्रकार आकाशमें सूर्य स्वयं तेजरूप है, उष्ण है और देवगति नामकर्मका उदय होनेसे देव है उसी प्रकार सिद्ध भगवान् भी इस जगत्‌में ज्ञानरूप हैं, सुखरूप हैं और देव स्वरूप हैं ॥ ६८ ॥

इत्यानन्दाधिकारः

आगे इन्द्रियजन्य सुखके स्वरूपका विचार प्रारम्भ करते हुए आचार्य महाराज सर्वप्रथम उसके साधनभूत शुभोपयोगका वर्णन करते हैं—

[2]देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥ ६९ ॥

जो आत्मा देव यति गुरुकी पूजामें, दानमें, गुणव्रत महाव्रत रूप उत्तम शीलोंमें और उपवासादि शुभ कार्योंमें लीन रहता है वह शुभोपयोगी कहलाता है ॥ ६९ ॥

आगे इन्द्रियजन्य सुख शुभोपयोगके द्वारा साध्य है ऐसा कहते हैं—

जुत्तो सुहेण आदा तिरियो वा माणुसो व देवो वा।
भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इंदियं विविहं ॥ ७० ॥

जो आत्मा शुभोपयोगसे सहित है वह तिर्यञ्च, मनुष्य अथवा देव होकर उतने समय तक इन्द्रियजन्य विविध सुखोंको पाता है ॥ ७० ॥

---

१. कायव्वं ज० वृ०।

२. ६८ वीं गाथा के आगे जयसेन वृत्तिमें निम्नलिखित दो गाथाएँ अधिक व्याख्यात हैं—
'तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।
तिहुवणपहाणदइयं महप्पं जस्स सो अरिहो' ॥ १ ॥
'तं गुणदो अधिगदरं अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं।
अपुणब्भावणिवद्धं पणमामि पुणो पुणो सिद्धं' ॥ २ ॥

आगे इन्द्रियजन्य सुख यथार्थमें दुःख ही है ऐसा कहते हैं—

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे ।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु ।। ७१ ।।

अन्यकी बात जाने दो, देवोंके भी स्वभावजन्य सुख नहीं है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌के उपदेशमें युक्तियोंसे सिद्ध है। वास्तवमें वे शरीरकी वेदनासे पीड़ित होकर रमणीय विषयोंमें रमण करते हैं ।। ७१ ।।

आगे शुभोपयोग और अशुभोपयोगमें समानता सिद्ध करते हैं—

णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं ।
किध सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ।। ७२ ।।

जब कि मनुष्य नारकी तिर्यञ्च और देव—चारों ही गतिके जीव शरीरसे उत्पन्न होने वाला दुःख भोगते हैं तब जीवोंका वह उपयोग शुभ अथवा अशुभ कैसे हो सकता है।

इन्द्रियजन्य दुःखोंका कारण होनेसे शुभोपयोग और अशुभोपयोग समान ही हैं निश्चयसे इनमें कुछ अन्तर नहीं है ।। ७२ ।।

आगे शुभोपयोगसे उत्पन्न हुए फलवान् पुण्यको विशेष रूपसे दोषाधायक मानकर उसका निषेध करते हैं—

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं ।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ।। ७३ ।।

इन्द्र तथा चक्रवर्ती सुखियोंके समान लीन हुए शुभोपयोगात्मक भोगोंसे शरीर आदिकी ही वृद्धि करते हैं।

शुभोपयोगका उत्तमफल देवोंमें इन्द्रको और मनुष्योंमें चक्रवर्तीको ही प्राप्त होता है परन्तु उस फलसे वे अपने शरीरको ही पुष्ट करते हैं न कि आत्माको भी। वे वास्तवमें दुःखी रहते हैं परन्तु बाह्यमें सुखियोंके समान मालूम होते हैं ।। ७३ ।।

आगे शुभोपयोग जन्य पुण्य भी दुःखका कारण है यह प्रकट करते हैं—

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि ।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ।। ७४ ।।

यह ठीक है कि शुभोपयोग रूप परिणामोंसे उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकारके पुण्य विद्यमान रहते हैं परन्तु वे देवों तक समस्त जीवोंकी विषयतृष्णा ही उत्पन्न करते हैं।

शुभोपयोगके फलस्वरूप अनेक भोगोपभोगोंकी सामग्री उपलब्ध होती है उससे समस्त जीवों की विषयतृष्णा ही बढ़ती है इसलिये शुभोपयोगको अच्छा कैसे कहा जा सकता है ? ।। ७४ ।।

आगे पुण्यको दुःखका बीज प्रकट करते हैं—

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहि विसयसोक्खाणि ।
इच्छंति अणुहवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ।। ७५ ।।

फिर, जिन्हें तृष्णा उत्पन्न हुई है ऐसे समस्त संसारी जीव तृष्णाओंसे दुःखी और दुःखोंसे संतप्त होते हुए विषयजन्य सुखोंकी इच्छा करते हैं और मरण पर्यन्त उन्हींका अनुभव करते रहते हैं।

विषय जन्य सुखोंसे तृष्णा बढ़ती है और तृष्णा ही दुःखका प्रमुख कारण है अतः शुभोपयोग के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले विषय सुख हेय हैं—छोड़ने योग्य हैं ॥ ७५ ॥

आगे फिर भी पुण्य जनित सुखको बहुत प्रकारसे दुःख रूप वर्णन करते हैं—

सपरं बाधासहिदं[1] विच्छिण्णं बंधकारणं विसयं।
जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा[2] ॥ ७६ ॥

जो सुख पांच इन्द्रियोंसे प्राप्त होता है वह पराधीन है, बाधा सहित है। बीचमें नष्ट हो जाने वाला है, बन्धका कारण है और विषम है—हानिवृद्धिरूप है इसलिये दुःख ही है।

शुभोपयोगसे पुण्य होता है और पुण्यसे इन्द्रियजन्य सुख मिलता है परन्तु यथार्थमें विचार करने पर वह इन्द्रियजन्य सुख दुःख रूप ही मालूम होता है ॥ ७६ ॥

आगे पुण्य और पापमें समानता है यह निश्चय करते हुए इस कथनका उपसंहार करते हैं—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसोत्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥ ७७ ॥

'पुण्य और पापमें विशेषता नहीं है' ऐसा जो नहीं मानता है वह मोहसे आच्छादित होता हुआ भयानक और अन्त रहित संसारमें भटकता रहता है ॥ ७७ ॥

आगे जो पुरुष शुभोपयोग और अशुभोपयोगको समान मानता हुआ समस्त रागद्वेषको छोड़ता है वही शुद्धोपयोगको प्राप्त होता है ऐसा कथन करते हैं—

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥ ७८ ॥

इस प्रकार पदार्थके यथार्थ स्वरूपको जानने वाला जो पुरुष पर द्रव्योंमें राग और द्वेष भावको प्राप्त नहीं होता है वह उपयोगसे विशुद्ध होता हुआ शरीरजन्य दुःखको नष्ट करता है।

सांसारिक सुख दुःखका अनुभव राग द्वेषसे होता है और चूँकि शुद्धोपयोगी जीवके वह अत्यन्त मन्द अथवा विनष्ट हो चुकते हैं इसलिये उसके शरीरजन्य दुःखका अनुभव नहीं होता है ॥ ७८ ॥

---

१. सहियं ज० वृ०। २. तहा ज० वृ०।

आगे मोहादिका उन्मूलन किये बिना शुद्धताका लाभ कैसे हो सकता है ? यह कहते हैं—

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि[1] ।
ण जहदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं[2] ॥७९॥

पापारम्भको छोड़कर शुभ आचरणमें प्रवृत्त हुआ पुरुष यदि मोह आदिको नहीं छोड़ता है तो वह शुद्ध आत्माको नहीं पाता है।

अशुभोपयोगको छोड़ कर शुभोपयोगमें प्रवृत्त हुआ पुरुष जब मोह राग द्वेष आदिका त्याग करता है अर्थात् शुद्धोपयोगको प्राप्त होता है तभी कर्ममल कलङ्कसे रहित शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है। अन्यथा नहीं ॥ ७९ ॥

आगे मोहके नाशका उपाय प्रकट करते हैं—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु [3]जादि तस्स लयं ॥८०॥

जो पुरुष द्रव्य गुण और पर्यायोंके द्वारा अरहन्त भगवान्को जानता है वही आत्माको जानता है और निश्चयसे उसीका मोह विनाशको प्राप्त होता है।

अरहन्त भगवान्का जैसा स्वरूप है निश्चय नयसे आत्माका भी वैसा स्वरूप है अतः अरहन्त के ज्ञानसे आत्माका ज्ञान स्वभाव सिद्ध है। जिस पुरुषको सौ टंचके सुवर्णके समान शुद्ध आत्म स्वरूपका बोध हो गया है उसका मोह कर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ ८० ॥

आगे यद्यपि मैंने स्वरूप चिन्तामणि पाया है तो भी प्रमादरूपी चोर विद्यमान है इसलिये जागता हूँ यह कहते हैं—

जीवो ववगदमोहो उवलंद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥८१॥

जिसका दर्शन मोह नष्ट हो गया है ऐसा जीव आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानने लगता है— उसका अनुभव करने लगता है और वही जीव यदि राग द्वेषको छोड़ देता है तो शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

मिथ्यादर्शनके नष्ट होनेसे आत्माके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान और बोध हो जाता है तथा राग द्वेषके छोड़नेसे शुद्ध आत्म तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। जिसका मिथ्यादर्शन नष्ट हो गया है ऐसे

---

१. चरियम्हि ज० वृ०।

२. ७९ वीं गाथाके आगे जयसेन वृत्तिमें निम्नाङ्कित २ गाथाएँ अधिक उपलब्ध हैं—
'तवसंजमप्पसिद्धो सुद्धो सग्गापवग्गमग्गकरो ।
अमरासुरिंदमहिदो देवो सो लोयसिहरत्थो' ॥
'तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्य ।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति' ॥ ज० वृ०।

३. जाइ ज० वृ०।

जीवको राग द्वेषका नाश करनेके लिये सदा जागरूक रहना चाहिए क्योंकि ये चोरों की भाँति शुद्धात्मतत्त्व रूपी चिन्तामणिको चुरानेमें सदा प्रयत्नशील रहते हैं ॥ ८१ ॥

आगे भगवान् अरहन्त देवने स्वयं अनुभव कर यही मोक्षका वास्तविक मार्ग बतलाया है ऐसा निरूपण करते हैं—

[1]सव्वेपि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥ ८२ ॥

सभी अरहन्त भगवान् उस पूर्वोक्त विधिसे ही कर्मोंके अंशोंका क्षय कर तथा उसी प्रकारका उपदेश देकर निर्वाणको प्राप्त हुए हैं । मेरा उन सबके लिये नमस्कार है[2] ॥ ८२ ॥

आगे शुद्धात्मलाभके विरोधी मोहका स्वभाव और उसकी भूमिका का वर्णन करते हैं—

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहोत्ति ।
खुब्भदि तेणोच्छण्णो[3] पप्पा रागं व दोसं वा ॥ ८३ ॥

द्रव्य गुण और पर्यायमें विपरीताभिनिवेशको प्राप्त हुआ जीवका जो भाव है वह मोह कहलाता है उस मोहसे आच्छादित हुआ जीव राग और द्वेषको पाकर क्षुभित होने लगता है ।

मोह राग और द्वेप यह तीन प्रकारका मोह ही शुद्धात्मलाभका परिपन्थी है—विरोधी है ॥ ८३ ॥

आगे बन्धके कारण होनेसे मोह राग और द्वेष नष्ट करने योग्य हैं ऐसा कहते हैं—

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स ।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥ ८४ ॥

मोह राग और द्वेपसे परिणत जीवके विविध प्रकारका बन्ध होता है इसलिये वे सम्यक्प्रकार-से क्षय करनेके योग्य हैं ।

बन्धका कारण त्रिविध मोह ही है अतः मोक्षाभिलाषी जीवको उसका क्षय करना चाहिये ॥ ८४ ॥

आगे मोहके लिङ्ग (चिह्न) बतलाते हैं इन्हें जानकर उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना चाहिए ऐसा कहते हैं—

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु ।
विसएसु अप्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥ ८५ ॥

---

१. सव्वेवि ज० वृ० ।

२. ८२ वीं गाथाके आगे ज० वृ० में निम्न गाथा अधिक व्याख्यात है ।
दंसणसुद्धा पुरिसा णाणपहाणा समग्गचरियत्था ।
पूजासक्काररिहा दाणस्स य हि णमो तेसिं' ॥ ज० वृ० ।

३. तेणुच्छण्णो ज० वृ० ।

पदार्थोंका अन्यथा ज्ञान, तिर्यञ्च और मनुष्योंपर करुणाभाव तथा इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति ये मोहके चिह्न हैं।

इन प्रवृत्तियोंसे मोहके अस्तित्वका ज्ञान होता है ॥ ८५ ॥

आगे मोहका क्षय करनेके लिये अन्य उपायका विचार करते हैं—

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं[1] ॥ ८६ ॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा जिनेन्द्र प्रणीत शास्त्रसे पदार्थोंको जाननेवाले पुरुषका मोहका समूह नियमसे नष्ट हो जाता है इसलिये शास्त्रका अध्ययन करना चाहिये ॥ ८६ ॥

आगे जिनेन्द्रभगवान्के द्वारा कहे हुए शब्द ब्रह्ममें पदार्थोंकी व्यवस्था किस प्रकार है ? इसका निरूपण करते हैं—

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्वत्ति उवदेसो ॥ ८७ ॥

द्रव्य गुण और उनके पर्याय अर्थ नामसे कहे गये हैं इन तीनोंमें गुण और पर्यायोंका जो स्वभाव है वही द्रव्य कहलाता है ऐसा उपदेश है।

गुण और पर्याय द्रव्यसे अपृथग्भूत हैं इसलिये इनका स्वभाव ही द्रव्य है ऐसा अभेद विवक्षासे कहा गया है ॥ ८७ ॥

आगे मोहक्षयमें कारणभूत जिनेन्द्रका उपदेश मिलनेपर भी पुरुषार्थ कार्यकारी है इसलिये उसकी प्रेरणा करते हैं—

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलद्ध जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ ८८ ॥

जो पुरुष जिनेन्द्र भगवान्का उपदेश पाकर मोह राग और द्वेषको नष्ट करता है वह थोड़े ही समयमें समस्त दुःखोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ८८ ॥

आगे स्वपरका भेद विज्ञान होनेसे ही मोहका क्षय होता है इसलिये स्वपरका भेदविज्ञान प्राप्त करनेके लिये यत्न करते हैं—

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥ ८९ ॥

---

१. समहिदव्वं ज० वृ०।

जो पुरुष निश्चयसे ज्ञानमय आत्माको स्वकीय द्रव्यत्वसे और शरीरादि पर पदार्थको परकीय द्रव्यत्वसे अभिसंबद्ध जानता है वह मोहका क्षय करता है।

मोहका क्षय स्वपर भेदविज्ञानसे ही होता है ॥ ८९ ॥

आगे स्व पर भेदकी सिद्धि आगमसे करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं—

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु ।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥ ९० ॥

इसलिये यदि यह जीव अपने आपके मोहाभावकी इच्छा करता है तो उसे चाहिये कि वह जिनमार्गसे अर्थात् जिनेन्द्रप्रणीत आगमसे विशेष गुणोंके द्वारा समस्त द्रव्योंमें निज और परको पहिचाने।

गुण दो प्रकारके हैं सामान्य और विशेष। जो समस्त द्रव्योंमें समानरूपसे पाये जावें वे सामान्य गुण हैं जैसे अस्तित्व वस्तुत्व आदि और जो खास द्रव्योंमें पाये जावें वे विशेष गुण हैं जैसे ज्ञान दर्शन तथा रूप रस गन्ध स्पर्श आदि। इनमेंसे सामान्य गुणोंके द्वारा किसी द्रव्यका पार्थक्य सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वे समान रूपसे सबमें पाये जाते हैं। पार्थक्य ज्ञान दर्शनादि विशेष गुणोंसे ही सिद्ध हो सकता है इसलिये जो जीव यह चाहता है कि हमारा आत्मा मोहसे रहित हो उसे विशेष गुणोंके द्वारा सर्वप्रथम निज और परका भेद विज्ञान प्राप्त करना चाहिये क्योंकि जब तक परसे भिन्न स्वद्रव्यके वास्तविक स्वरूपका बोध नहीं होगा तब तक उसकी प्राप्ति असंभव बनी रहती है ॥ ९० ॥

आगे जिनेन्द्र प्रणीत पदार्थोंकी श्रद्धाके विना धर्मका लाभ नहीं हो सकता यह कहते हैं—

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे ।
सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो णेव संभवदि ॥ ९१ ॥

जो पुरुष श्रमण अवस्थामें स्थित होता हुआ सत्तासे सम्बद्ध अर्थात् सामान्य गुणोंसे युक्त और अपने अपने विशेष गुणोंसे सहित इन जीव पुद्गलादि द्रव्योंका श्रद्धान नहीं करता है वह श्रमण नहीं है—साधु नहीं है और उस पुरुषसे शुद्धोपयोग रूप धर्म का होना संभव नहीं है ॥ ९१ ॥

आगे मोहादिको नष्ट करनेवाला श्रमण ही धर्म है ऐसा निरूपण करते हैं—

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्मि ।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मोत्ति विसेसिदो समणो ॥ ९२ ॥

जिसने दर्शन मोहका नाश कर दिया है, जो आगममें कुशल है, वीतराग चारित्रमें सावधान है और जिसका आत्मा रत्नत्रयके सद्भावसे महान् है ऐसा श्रमण—साधु धर्म है ऐसा कहा गया है।

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको धर्म कहा है यहाँ उनके आधार भूत श्रमणक आधार आधेयमें अभेद विवक्षासे धर्म कह दिया गया है ।। ९२ ।।[1]

इति भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृते प्रवचनसारपरमागमे ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनो नाम
प्रथमः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ।

---

१. इसके आगे जयसेन वृत्तिमें निम्नाङ्कित २ गाथाएँ अधिक व्याख्यात हैं—

'जो तं दिट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेंदि सक्कारं ।
वंदणनमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि ।।'

'तेण णरा तिरिच्छा देविं वामाणुसिं गदिं पप्या ।
विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति ।।'

ज्ञेयतत्त्वाधिकारः

अब ज्ञेय तत्त्वका कथन करते हुए यह दिखलाते हैं कि ज्ञेय अर्थात् ज्ञानका विषयभूत पदार्थ द्रव्य गुण और पर्याय स्वरूप है—

[1]अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि ।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥ १ ॥

निश्चयसे पदार्थ द्रव्य रूप है; द्रव्य, गुण स्वरूप कहे गये हैं, उन द्रव्य और गुणोंसे पर्याय उत्पन्न होते हैं और जो जीव उन पर्यायोंमें ही मूढ हैं अर्थात् उन्हें ही द्रव्य मानते हैं वे परसमय हैं–मिथ्यादृष्टि हैं ॥ १ ॥

आगे स्वसमय और परसमयकी व्यवस्था दिखलाते हैं—

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिगत्ति[2] णिद्दिट्ठा ।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥ २ ॥

जो जीव मनुष्यादि पर्यायोंमें निरत हैं अर्थात् उन्हें ही आत्मद्रव्य मानते हैं वे परसमय कहे गये हैं और जो आत्मस्वरूपमें स्थित हैं अर्थात् शुद्ध ज्ञानदर्शनस्वरूप आत्माको अपना मानते हैं उन्हें स्वसमय मानना चाहिये ॥ २ ॥

अब द्रव्यका लक्षण कहते हैं—

[3]अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं ।
गुणवं च सपज्जायं [4]जंत्तं दव्वत्ति वुच्चंति ॥ ३ ॥

जो अपने स्वभावको न छोड़ता हुआ उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे सम्बद्ध रहता है, गुणवान् है और पर्यायों सहित है उसे द्रव्य कहते हैं ॥ ३ ॥

स्वभावका अर्थ अस्तित्व है, वह अस्तित्व स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्वके भेदसे दो प्रकारका है । उनमेंसे स्वरूपास्तित्वका कथन करते हैं—

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं [5]सगपज्जएहिं चित्तेहिं ।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥ ४ ॥

---

१. इस गाथाके पूर्व जयसेन वृत्तिमें निम्नांकित गाथाका भी व्याख्यान किया गया है—
तम्हा तस्स णमाइं किच्चा णिच्चंपि तं मणो होज्ज ।
वोच्छामि संगहादो परमट्ठविणिच्छयाधिगमं ॥१॥

२. परसमयिगंति ज० वृ० । ३. अपरिच्चत्तसहावं ज० वृ० । ४. जं तं ज० वृ० । ५. सह ज० वृ० ।

गुणोंसे, विविध प्रकारकी पर्यायोंसे और उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यसे द्रव्यका जो सदा सद्भाव रहता है वही उसका स्वभाव है—स्वरूपास्तित्व है ॥ ४ ॥

अब सादृश्यास्तित्वका स्वरूप कहते हैं—

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं ।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं ॥ ५ ॥

निश्चयसे इस लोकमें धर्मका उपदेश देने वाले श्रीवृषभ जिनेन्द्रने कहा है कि भिन्न-भिन्न लक्षणोंवाले द्रव्योंका 'सत्' यह एक व्यापक लक्षण है। समस्त द्रव्योंमें सामान्यरूपसे व्याप्त रहनेके कारण 'सत्' को सादृश्यास्तित्व कहते हैं।

स्वरूपास्तित्व विशेषलक्षण रूप है क्योंकि उसके द्वारा प्रत्येक द्रव्यकी द्रव्यान्तरसे पृथक् व्यवस्था सिद्ध होती है और सादृश्यास्तित्व सामान्यलक्षणरूप है क्योंकि उसके द्वारा प्रत्येक द्रव्यकी पृथक्-पृथक् सत्ता सिद्ध न होकर सबमें पाई जानेवाली समानताकी सिद्धि होती है। जिस प्रकार वृक्ष अपने-अपने स्वरूपास्तित्वसे आम नीम आदि भेदोंसे अनेक प्रकारका है और सादृश्यास्तित्वसे वृक्षजातिकी अपेक्षा एक है उसी प्रकार द्रव्य अपने-अपने स्वरूपास्तित्वसे जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश तथा कालके भेदसे छह प्रकार हैं और सादृश्यास्तित्वसे सत्‌की अपेक्षा सब एक हैं। स्वरूपास्तित्व विशिष्टग्राही है और सादृश्यास्तित्व सामान्यग्राही ॥ ५ ॥

आगे यह बतलाते हैं कि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यसे आरम्भ नहीं होता, वह स्वयं सिद्ध है और सत्ता द्रव्यसे अभिन्न है—अपृथग्भूत है—

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादो ।
सिद्धं तध[1] आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥ ६ ॥

प्रत्येक द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है—उसकी किसी दूसरे द्रव्यसे उत्पत्ति नहीं होती है तथा सत् स्वरूप है—सत्तासे अभिन्न है ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान् ने यथार्थमें कहा है। जो पुरुष आगमसे उस प्रकार सिद्ध द्रव्यस्वरूपको नहीं मानता है वह परसमय है—मिथ्यादृष्टि है ॥ ६ ॥

अब बतलाते हैं कि उत्पादादित्रय रूप होनेपर ही सत् द्रव्य होता है—

सदवट्ठियं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो ।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो ॥ ७ ॥

स्वभावमें अवस्थित रहनेवाला सत् द्रव्य कहलाता है और गुणपर्यायरूप अर्थोंमें उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यसे सम्बन्ध रखनेवाला द्रव्यका जो परिणमन है वह उसका स्वभाव है।

सत् द्रव्यका लक्षण अवश्य है परन्तु न केवल वह स्थितिरूप है—ध्रौव्यात्मक है अपितु उत्पाद तथा व्ययरूप भी है। इस प्रकार उत्पादादि त्रिलक्षण सत् ही द्रव्यका स्वरूप है ॥ ७ ॥

---

१. तह ज० वृ०।

अब उत्पाद व्यय और ध्रौव्यके पारस्परिक अविनाभावको सुदृढ़ करते हैं अर्थात् इस बात का निरूपण करते हैं कि उक्त तीनों धर्म परस्पर एक दूसरेको छोड़कर नहीं रह सकते—

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥ ८ ॥

उत्पाद व्ययसे रहित नहीं होता, व्यय उत्पादसे रहित नहीं होता और उत्पाद तथा व्यय दोनों ही ध्रौव्य रूप पदार्थके बिना नहीं होते।

किसी भी द्रव्यमें नूतन पर्यायकी उत्पत्ति, उसकी पूर्व पर्यायके नाशके बिना नहीं हो सकती और पूर्व पर्यायका नाश नूतन पर्यायकी उत्पत्तिके विना नहीं हो सकता तथा पूर्वोत्तर पर्यायों में एकता ध्रौव्यके बिना संभव नहीं हो सकती अतः उत्पादादि तीनों धर्म परस्परमें अविनाभूत हैं अर्थात् एक दूसरेके विना नहीं हो सकते हैं ॥ ८ ॥

आगे इस बातका निरूपण करते हैं कि उत्पादादि तीनों द्रव्यसे पृथक् नहीं हैं—

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
[१]दव्वं हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥ ९ ॥

उत्पाद व्यय और ध्रौव्य पर्यायोंमें रहते हैं और पर्याय ही—त्रिकालवर्ती अनेक पर्यायोंका समूह ही द्रव्य है अतः यह निश्चय है कि उत्पादादि सब द्रव्य ही हैं उससे पृथक् नहीं हैं ॥ ९ ॥

अब उत्पादादिमें समय भेदको दूरकर द्रव्यपना सिद्ध करते हैं—

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥ १० ॥

निश्चयसे द्रव्य, उत्पाद व्यय और ध्रौव्य नामक पदार्थोंसे समवेत है, एकमेक है, जुदा नहीं है और वह भी एक ही समयमें। अतः यह निश्चय है कि उत्पादादि तीनों पदार्थ द्रव्य स्वरूप हैं—उससे भिन्न नहीं हैं ॥ १० ॥

आगे अनेक द्रव्योंके संयोगसे होनेवाली पर्यायोंके द्वारसे द्रव्यमें उत्पादादिका विचार करते हैं—

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तंपि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥ ११ ॥

द्रव्यका अन्य पर्याय उत्पन्न होता है और अन्य पर्याय नष्ट होता है फिर भी द्रव्य न नष्ट ही हुआ है और न उत्पन्न ही।

---

१. यदि 'दव्वं हि' के स्थान पर 'दव्वम्हि' ऐसा सप्तम्यन्त पाठ मान लिया जाय तो यह अर्थ हो सकता है कि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य पर्यायोंमें विद्यमान हैं और पर्यायें द्रव्यमें विद्यमान हैं अतः यह सब द्रव्य ही हैं यह निश्चयपूर्वक कहा जाता है।

संयोगसे उत्पन्न होनेवाले द्रव्यपर्याय दो प्रकारके हैं एक समानजातीय और दूसरा असमानजातीय। एकन्ध की द्व्यणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक आदि पिण्डपर्याय समानजातीय पर्याय हैं और जीव तथा पुद्गलके सम्बन्धसे होनेवाले नर नारकादि पर्याय असमानजातीय पर्याय हैं। किसी स्कन्धमें त्र्यणुक पर्याय नष्ट होकर चतुरणुक पर्याय उत्पन्न हो गया पर परमाणुओंकी अपेक्षा वह स्कन्ध न नष्ट ही हुआ है और न उत्पन्न ही। इसी प्रकार किसी जीवमें मनुष्य पर्याय नष्ट होकर देव पर्याय उत्पन्न हो गया पर जीवत्व सामान्यकी अपेक्षा वह जीव न नष्ट ही हुआ है और न उत्पन्न ही। इससे सिद्ध होता है कि उत्पादादि तीनों द्रव्य रूप ही हैं उससे पृथक् नहीं हैं।। ११।।

अब एक द्रव्यके द्वारसे द्रव्यमें उत्पादादिका विचार करते हैं—

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेवत्ति ।। १२ ।।

अपने स्वरूपास्तित्वसे अभिन्न द्रव्य स्वयं ही एक गुणसे अन्यगुण रूप परिणमन करता है अतः गुण पर्याय द्रव्य इस नामसे ही कहे गये हैं।

एक द्रव्यके आश्रित होनेवाले पर्याय गुणपर्याय कहलाते हैं जैसे कि किसी आममें हरा रूप नष्ट होकर पीला रूप उत्पन्न हो गया यहाँ हरा और पीला रूप आमके गुण पर्याय हैं। अथवा किसी जीवका ज्ञानगुण मतिज्ञान रूपसे नष्ट होकर श्रुतज्ञान रूप हो गया यहाँ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान जीवके गुण पर्याय हैं। जिस प्रकार हरे पीले रूपमें परिवर्त्तन होने पर भी आम आम ही रहता है अन्य रूप नहीं हो जाता है अथवा मति-श्रुत ज्ञानमें परिवर्त्तन होने पर भी जीव जीव ही रहता अन्य रूप नहीं हो जाता उसी प्रकार संसारका प्रत्येक द्रव्य यद्यपि एक गुणसे अन्यगुण रूप परिणमन करता है परन्तु वह स्वयं अन्य रूप नहीं हो जाता इससे सिद्ध होता है कि गुण पर्याय द्रव्य ही है—उससे भिन्न नहीं है।। १२।।

अब सत्ता और द्रव्य अभिन्न हैं इस विषयमें युक्ति प्रदर्शित करते हैं—

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुवं हवदि तं कधं दव्वं।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ।। १३ ।।

यदि द्रव्य स्वयं सत् रूप न हो तो वह असत् रूप हो जावेगा और उस दशामें वह ध्रुवरूप—नित्यरूप किस प्रकार हो सकेगा ? द्रव्यमें जो ध्रुवता है वह सत् रूप होनेसे ही है यदि द्रव्यको सत् रूप नहीं माना जावेगा तो द्रव्यकी ध्रुवता नष्ट हो जावेगी अर्थात् द्रव्य ही नष्ट हो जावेगा। इसी प्रकार यदि सत्तासे द्रव्यको पृथक् माना जावे तो सत्ता गुण अनावश्यक हो जाता है। सत्ताकी आवश्यकता द्रव्यका अस्तित्व सुरक्षित रखनेके लिये ही होती है। यदि सत्तासे पृथक् रहकर भी द्रव्यका अस्तित्व सुरक्षित रह सकता है तो फिर उस सत्ताके माननेकी आवश्यकता ही क्या है ? इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य स्वयं सत्ता रूप है।। १३।।

अब पृथक्त्व और अन्यत्वका लक्षण प्रकट करते हुए द्रव्य और सत्तामें विभिन्नता सिद्ध करते हैं—

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं भवदि कधमेगं ।। १४ ।।

निश्चयसे श्री महावीर स्वामीका ऐसा उपदेश है कि प्रदेशोंका जुदा-जुदा होना पृथक्त्व है और अन्य पदार्थका अन्यरूप नहीं होना अन्यत्व कहलाता है। जब कि सत्ता और द्रव्य परस्परमें अन्यरूप नहीं होते, गुण और गुणीके रूपमें जुदे-जुदे ही रहते हैं तब दोनों एक कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते।

सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है। गुण गुणीमें कभी भी भेद नहीं होता इसलिये दोनोंमें पृथक्त्व नामका भेद न होनेसे एकता है—अभिन्नता है परन्तु सत्ता सदा गुण ही रहेगा और द्रव्य गुणी ही। त्रिकालमें भी अन्यरूप नहीं होंगे इसलिये दोनोंमें अन्यभाव नामका भेद रहनेसे एकता नहीं है अर्थात् भिन्नता है। सारांश यह हुआ कि द्रव्य और सत्तामें कथंचिद् भेद और कथंचिद् अभेद है॥ १४॥

आगे अतद्भाव रूप अन्यत्वका लक्षण उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओत्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो॥ १५॥

सत्ता रूप द्रव्य है, सत्तारूप गुण है और सत्तारूप ही पर्याय है इस प्रकार सत्ताका द्रव्य गुण और पर्यायोंमें विस्तार है। निश्चयसे उसका जो परस्परमें अभाव है वह अभाव ही अतद्भाव है—'अन्यत्व' नामका भेद है।

जिस प्रकार एक मोतीकी माला हार सूत्र और मोती इन भेदोंसे तीन प्रकार है उसी प्रकार एक द्रव्य, द्रव्य गुण और पर्यायके भेदसे तीन प्रकार है। जिस प्रकार मोतीकी मालाका शुक्ल गुण, शुक्ल हार, शुक्ल सूत्र और शुक्ल मोतीके भेदसे तीन प्रकार है उसी प्रकार द्रव्यका सत्तागुण, सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्यायके भेदसे तीन प्रकार है। जिस प्रकार भेद विवक्षासे मोतीकी मालाका शुक्ल गुण, हार नहीं है, सूत्र नहीं है, और मोती नहीं है तथा हार सूत्र और मोती शुक्ल गुण नहीं हैं उसी प्रकार एक द्रव्यमें पाया जाने वाला सत्ता गुण, द्रव्य नहीं है, गुण नहीं है और पर्याय नहीं है तथा द्रव्य गुण और पर्याय भी सत्ता नहीं है। सबका परस्परमें अन्योन्याभाव है। यही अतद्भाव या अन्यत्व नामका भेद कहलाता है। सत्ता और द्रव्यके बीच यही अन्यत्व नामका भेद है॥ १५॥

अब अतद्भाव सर्वथा अभाव रूप है इसका निषेध करते हैं—

जं दव्वं तण्ण गुणो जोवि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावोत्ति णिद्दिट्ठो॥ १६॥

जो द्रव्य है वह गुण नहीं है, और जो गुण है वह यथार्थमें द्रव्य नहीं है। निश्चयसे यही अतद्भाव है—अन्यत्व नामक भेद है। सर्वथा अभाव अतद्भाव नहीं है ऐसा कहा गया है।

द्रव्य और गुणमें सर्वथा अभाव माननेसे दोनोंका ही अस्तित्व सिद्ध नहीं होता अतः एकका अन्यरूप नहीं हो सकना ही अतद्भाव माना जाता है॥ १६॥

आगे सत्ता और द्रव्यमें गुणगुणी भाव सिद्ध करते हैं—

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो ।
सदवट्ठियं सहावे दव्वत्ति जिणोवदेसोयं ॥ १७ ॥

निश्चयसे जो द्रव्यका स्वभावभूत उत्पादादित्रय रूप परिणाम है वह सत्तासे अभिन्न गुण है और निरन्तर स्वभावमें अवस्थित रहने वाला द्रव्य सत् है ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान्का उपदेश है।

निरन्तर स्वभावमें स्थित रहनेके कारण द्रव्य सत् कहलाता है और कालत्रयवर्ती द्रव्यका जो उत्पादादित्रय रूप परिणमन है वह उसका स्वभाव है। द्रव्यका स्वभाव सत्तासे अभिन्न है तथा गुण स्वरूप है। द्रव्यमें सत्ता गुणकी प्रधानता है और सत्ता गुणमें द्रव्य रहता है ऐसा व्यवहार होता है। इसी व्यवहारके कारण द्रव्यको सत् कहा है। इस सत्ता गुणसे सत् स्वरूप गुणी द्रव्यका भान होता है अतः सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है ॥ १७ ॥

अब गुण और गुणियोंमें नानापनका निराकरण करते हैं—

णत्थि गुणोत्ति व कोई पज्जाओत्तीह वा विणा दव्वं ।
दव्वत्तं पुणभावो तम्हा दवं सयं सत्ता ॥ १८ ॥

इस संसारमें द्रव्यके विना न कोई गुण है और न कोई पर्याय है अर्थात् जितने भी गुण अथवा पर्याय हैं वे सब द्रव्यके आश्रय ही रहते हैं। और चूंकि द्रव्यका अस्तित्व उसका स्वभाव-भूत गुण है इसलिये द्रव्य स्वयं ही सत्ता रूप है।

सारांश यह है कि जीवादि द्रव्य और उनके स्वभावभूत अस्तित्वादि गुण सर्वथा पृथक् पृथक् नहीं हैं ॥ १८ ॥

आगे सदुत्पाद और असदुत्पादमें अविरोध प्रकट करते हैं—

एवंविहे सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं ।
सदसब्भावणिबद्धं पाडुब्भावं सदा लभदि ॥ १९ ॥

इस प्रकारका द्रव्य, स्वभावमें द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नयोंकी विवक्षासे क्रमशः सत् और असत् इन दो भावोंसे संयुक्त उत्पादको सदा प्राप्त होता है।

जिस प्रकार क्रमसे होनेवाली कटक कुण्डलादि पर्यायोंमें सुवर्ण पहलेसे ही विद्यमान रहता है नवीन नवीन उत्पन्न नहीं होता है इसलिये उसका उत्पाद सदुत्पाद कहलाता है उसी प्रकार क्रमसे होने वाली नर नारकादि पर्यायोंमें जीवादि द्रव्य पहले से ही विद्यमान रहता है नवीन नवीन उत्पन्न नहीं होता है इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे उनका उत्पाद सदुत्पाद कहलाता है। और जिस प्रकार सुवर्णमें क्रमसे होने वाली कटक कुण्डलादि पर्यायें नई उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार जीवादि द्रव्योंमें क्रमसे होने वाली नर नारकादि पर्यायें नई नई ही उत्पन्न होती हैं अतः पर्यायार्थिक नयसे उसका असदुत्पाद कहलाता है ॥ १९ ॥

अब द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्यमें जिस सदुत्पादका वर्णन किया है उसीका पुनः समर्थन करते हैं—

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो।
किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि ॥ २० ॥

जीवद्रव्य, परिणमन करता हुआ मनुष्य देव अथवा अन्य कुछ रूप होगा सो तद्रूप होकर क्या अपनी द्रव्यत्व शक्तिको—जीवत्वभावको छोड़ देता है? यदि नहीं छोड़ता है तो अन्यरूप कैसे हो सकता है?

कालक्रमसे द्रव्यमें अनन्त पर्यायें उत्पन्न होती हैं परन्तु वे अन्वय शक्तिसे साथमें लगे हुए द्रव्यत्वभावको नहीं छोड़ती हैं अतः इस द्रव्यत्वभावकी अपेक्षा उन अनन्त पर्यायोंका उत्पाद सदुत्पाद ही कहलाता है ॥ २० ॥

अब पर्यायार्थिक नयसे द्रव्यमें जिस असदुत्पादका वर्णन किया था उसका समर्थन करते हैं—

मणुओ ण होदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि ॥ २१ ॥

जो मनुष्य है वह उस समय देव नहीं है और जो देव है वह उस समय मनुष्य अथवा सिद्ध नहीं है क्योंकि एक द्रव्यकी एक कालमें एक ही पर्याय हो सकती है। इस प्रकार देवादि रूप नहीं होने वाला मनुष्यादि, परस्परमें अभिन्न भावको किस प्रकार प्राप्त हो सकता है?

पर्याय क्रमवर्ती ही होता है अतः पूर्व पर्यायमें उत्तर पर्याय का और उत्तर पर्यायमें पूर्व पर्यायका अभाव सुनिश्चित रहता है और यही कारण है कि उत्तर क्षणमें होने वाली पर्यायका उत्पाद असदुत्पाद कहलाता है। यह कथन पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा है ॥ २१ ॥

अब एक ही द्रव्यमें अन्यत्वभाव और अनन्यत्वभाव ये दो परस्पर विरोधी भाव किस तरह रहते हैं इसका वर्णन करते हैं—

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥ २२ ॥

द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षासे वह सभी द्रव्य—द्रव्यकी समस्त पर्यायें अन्य नहीं हैं और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे अन्य हैं क्योंकि उस समय वे उसी पर्याय रूप हो जाती हैं।

द्रव्यार्थिक नय अन्वयग्राही है और पर्यायार्थिक नय व्यतिरेकग्राही। द्रव्यार्थिक नय कालक्रमसे होने वाली अनन्त पर्यायोंमें अन्वयको ग्रहण करता है इसलिये उसकी अपेक्षासे उन समस्त पर्यायों में अनन्यत्वभाव सिद्ध होता है और पर्यायार्थिक नय कालक्रमसे होने वाली अनन्त पर्यायोंमें व्यतिरेकको ग्रहण करता है इसलिये उसकी अपेक्षा उन समस्त पर्यायोंमें अन्यत्व भाव सिद्ध होता है। सारांश यह है कि नय विवक्षासे एक ही द्रव्यमें दो परस्पर विरोधी भाव सिद्ध हो जाते हैं ॥ २२ ॥

अब सब प्रकारका विरोध दूर करने वाली सप्तभङ्गी वाणीका अवतार करते हैं—

अत्थित्ति य णत्थित्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं ।
पज्जाएण दु केणवि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ।। २३ ।।

द्रव्य किसी एक पर्यायसे अस्तिरूप है, किसी एक पर्यायसे नास्तिरूप है, किसी एक पर्यायसे अवक्तव्य है, किसी एक पर्यायसे अस्तिनास्तिरूप है और किन्हीं अन्य पर्यायोंसे अन्य तीन भङ्ग स्वरूप कहा गया है।

संसारके किसी भी पदार्थमें मुख्य रूपसे तीन धर्म पाये जाते हैं एक विधि, दूसरा निषेध और तीसरा अवक्तव्य। इन धर्मोंका जब पृथक्-पृथक् रूपसे अथवा अन्य धर्मोंके साथ संयुक्त रूपसे कथन किया जाता है तब सात भङ्ग हो जाते हैं। ये भङ्ग किसी एक पर्यायकी अपेक्षासे होते हैं अतः उनके साथ कथञ्चित् अर्थको सूचित करने वाला 'स्यात्' शब्द लगाया जाता है। सात भङ्ग इस प्रकार हैं—१ स्यादस्ति, २ स्यान्नास्ति, ३ स्यादवक्तव्य, ४ स्यादस्तिनास्ति, ५ स्यादस्ति अवक्तव्य ६ स्यान्नास्ति अवक्तव्य और ७ स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य। इसका खुलासा इस प्रकार है—

१. स्व द्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव इस प्रकार स्वचतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य अस्तिरूप है।
२. परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य नास्तिरूप है।
३. एक कालमें 'अस्तिनास्ति' नहीं कह सकते इसलिये अवक्तव्य है।
४. क्रमसे वचन द्वारा अस्तिनास्ति धर्मोंका कथन हो सकता है इसलिये अस्तिनास्तिरूप है।
५. 'अस्ति' धर्मको जब अवक्तव्यके साथ मिलाकर कहते हैं तब द्रव्य अस्ति अवक्तव्यरूप है।
६. 'नास्ति' धर्मको जो अवक्तव्यके साथ मिला कर कहते हैं तब द्रव्य नास्ति अवक्तव्यरूप है।
७. और, जब कालक्रमसे 'अस्ति' 'नास्ति' धर्मको अवक्तव्यके साथ मिलाकर कहते हैं तब द्रव्य अस्तिनास्ति अवक्तव्यरूप होता है ।। २३ ।।

आगे सदुत्पाद और असदुत्पादके समर्थनमें जीवकी जिन मनुष्यादि पर्यायोंका उल्लेख किया गया है वे मोह क्रियाके फल हैं और इस कारण वस्तुस्वभावसे पृथक् हैं ऐसा कथन करते हैं—

एसोत्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहाव णिव्वत्ता ।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो ।। २४ ।।

यह पर्याय टङ्कोत्कीर्ण—अविनाशी है ऐसा नर नारकादि पर्यायोंमें कोई भी पर्याय नहीं है और रागादि अशुद्धपरिणतिरूप विभाव स्वभावसे उत्पन्न हुई जीवकी अशुद्ध क्रिया नहीं है यह बात भी नहीं है अर्थात् वह अवश्य है। तथा चूँकि उत्कृष्ट वीतराग भावरूपी परम धर्म निष्फल है अर्थात् नर नारकादि पर्यायरूप फलसे रहित है अतः जीवकी रागादि परिणमनरूप क्रिया फल रहित नहीं है अर्थात् सफल है, ये नर नारकादि पर्याय उसी क्रियाके फल हैं।

ऊपर जीवकी जिन नर नारकादि पर्यायोंका कथन किया है वे सब अनित्य हैं तथा मोह क्रियासे जन्य हैं अतः शुद्ध निश्चयकी अपेक्षा जीवसे भिन्न हैं तथा छोड़ने योग्य हैं ।। २४ ।।

आगे मनुष्यादि पर्याय जीवकी क्रियाके फल हैं ऐसा प्रकट करते हैं—

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण ।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥ २५ ॥

नाम नामक कर्म, अपने स्वभावसे जीवके स्वभावको अभिभूत कर--आच्छादित कर जीवको मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी अथवा देव कर देता है ।

यद्यपि जीवका शुद्धस्वभाव निष्क्रिय है तथापि संसारी दशामें उसका वह स्वभाव नाम-कर्मके स्वभावसे अभिभूत हो रहा है अतः उसे मनुष्यादि पर्यायोंमें भ्रमण करना पड़ता है वास्तवमें जीव इन प्रपञ्चोंसे परवर्ती है ॥ २५ ॥

आगे इस बातका निर्धार करते हैं कि मनुष्यादिपर्यायोंमें जीवके स्वभावका अभिभव-आच्छादन कैसे हो जाता है ?

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता ।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि ॥ २६ ॥

मनुष्य नारकी तिर्यञ्च और देव इस प्रकार चारों गतियोंके जीव निश्चयसे नामकर्मके द्वारा रचे गये हैं और इसीलिये वे अपने अपने उपार्जित कर्मोंके अनुरूप परिणमन करते हुए शुद्ध आत्मस्वभावको प्राप्त नहीं होते हैं ।

यद्यपि मनुष्यादि पर्याय नामकर्मके द्वारा रचे गये हैं फिर भी इतने मात्रसे उनमें जीवके स्वभावका अभिभव नहीं हो जाता । जिस प्रकार कि सुवर्णमें जडे हुए माणिक्य रत्नका अभिभव नहीं होता है उसी प्रकार मनुष्यादि शरीरसे सम्बद्ध जीवका अभिभव नहीं होता । उन पर्यायोंमें जो जीव अपने शुद्ध स्वभावको प्राप्त नहीं कर पाते हैं उसका कारण है कि वहाँ वे अपने-अपने उपार्जित कर्मोंके अनुरूप परिणमन करते रहते हैं । जिस प्रकार कि जलका प्रवाह वनमें अपने प्रदेशों और स्वादसे नीम चन्दनादि वृक्ष रूप होकर परिणमन करता है वहाँ वह जल अपने द्रव्यस्व-भाव और स्वादस्वभावको प्राप्त नहीं कर पाता है उसी प्रकार यह आत्मा भी जवनर नारकादि-पर्यायोंमें अपने प्रदेश और भावोंसे कर्म रूप होकर परिणमन करता है तब वह शुद्ध चिदानन्द स्वभावको प्राप्त नहीं होता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव परिणमन के दोषसे यद्यपि अनेक रूप हो जाता है तथापि उसके स्वभावका नाश नहीं होता ॥ २६ ॥

आगे, जीवद्रव्यपनेकी अपेक्षा अवस्थित होनेपर भी पर्यायकी अपेक्षा अनवस्थित है—नाना रूप है यह प्रकट करते हैं—

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई ।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलयत्ति ते णाणा ॥ २७ ॥

जिसमें प्रत्येक क्षण उत्पाद और व्यय हो रहा है ऐसे जीव लोकमें द्रव्यदृष्टिसे न तो कोई जीव उत्पन्न होता है और न कोई नष्ट ही होता है । द्रव्य दृष्टिसे जो उत्पाद है वही व्यय है—दोनों एक रूप हैं परन्तु पर्याय दृष्टिसे उत्पाद और व्यय नानारूप हैं—जुदे-जुदे हैं ।

जैसे किसीने घड़ा फोड़कर कूँडा वना लिया। यहाँ जब मिट्टीकी ओर दृष्टि डालकर विचार करते हैं तब कहना पड़ता है कि न मिट्टी उत्पन्न हुई है और न नष्ट ही। जो मिट्टी घड़ारूप थी वही तो कूँड़ा रूप हुई है इसलिये दोनों एक ही हैं परन्तु जब घड़ा और कूँड़ा इन दोनों पर्यायोंकी ओर दृष्टि देकर विचार करते हैं तब कहना पड़ता है कि घड़ा नष्ट हो गया और कूँड़ा उत्पन्न हो गया। तथा यह दोनों पर्याय कालक्रमसे हुईं अतः एक न होकर अनेक हैं। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि पदार्थ द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा अवस्थित तथा एक है और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा अनवस्थित तथा अनेक है ॥ २७ ॥

अब जीवकी अस्थिर दशाको प्रकट करते हैं—

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमयट्ठिदोत्ति संसारे।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स ॥ २८ ॥

इसलिये संसारमें कोई भी जीव स्वभावसे अवस्थित है—स्थिर रूप है ऐसा नहीं है और चारों गतियोंमें संसरण—भ्रमण करनेवाले जीव द्रव्यकी जो क्रिया है—अन्य-अन्य अवस्थारूप परिणति है वही संसार है ॥ २८ ॥

आगे बतलाते हैं कि अशुद्ध परिणतिरूप संसारमें जीवके साथ पुद्गलका सम्बन्ध किस प्रकार होता है जिससे कि उसे मनुष्यादि पर्याय धारण करना पड़ते हैं—

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥ २९ ॥

यह जीव अनादिबद्ध कर्मोंसे मलिन होता हुआ कर्मसंयुक्त परिणामको प्राप्त होता है—मिथ्यात्व तथा राग द्वेषादि रूप विभाव दशाको प्राप्त होता है और उस विभाव दशासे पुद्गलात्मक द्रव्य कर्मके साथ सम्बन्धको प्राप्त करता है इससे यह सिद्ध हुआ कि भावकर्मरूप आत्माका सराग परिणाम ही कर्मका कारण होनेसे कर्म कहलाता है।

यह जीव अनादि कालसे कर्ममलकलङ्कसे दूषित होकर मिथ्यात्व तथा राग द्वेषादि रूप परिणमन करता है उसके फलस्वरूप इसके साथ द्रव्यकर्मका सम्बन्ध हो जाता है और जब उसका उदय आता है तब इसे मनुष्यादि पर्यायोंमें भ्रमण करना पड़ता है। यह द्रव्यकर्म और भावकर्मका कार्यकारणभाव अनादि कालसे चला आ रहा है इसलिये इतरेतराश्रय दोषकी आशङ्का नहीं करना चाहिये ॥ २९ ॥

अब यह सिद्ध करते हैं कि यथार्थमें आत्मा द्रव्यकर्मोंका कर्ता नहीं है—

परिणामो सयमादा सा पुण किरियत्ति होइ जीवमया।
किरिया कम्मत्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता ॥ ३० ॥

जीवका जो परिणाम है वह स्वयं जीव है—जीवरूप है, उसकी जो क्रिया है वह भी जीवसे निर्वृत्त होनेके कारण जीवमयी है। और चूँकि रागादि परिणतिरूप क्रिया ही कर्म—भावकर्म मानी गई है अतः जीव उसीका कर्ता है पुद्गलरूप द्रव्य कर्मका कर्ता नहीं है।

कर्ता और कर्मका व्यवहार स्वद्रव्यमें ही हो सकता है इसलिये जीव रागादिभाव कर्मका ही कर्ता है पुद्गलरूप द्रव्यकर्मका कर्ता नहीं है। भावकर्म जीवकी निजकी अशुद्ध परिणति है और द्रव्यकर्म पुद्गल द्रव्यकी परिणति है। तत्त्वदृष्टिसे दो विजातीय द्रव्योंमें कर्ताकर्म व्यवहार त्रिकालमें भी संभव नहीं है॥ ३०॥

अब आत्मा जिस स्वरूप परिणमन करता है उसका प्रतिपादन करते हैं—

परिणमदि चेयणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा॥ ३१॥

आत्मा चेतना रूप परिणमन करता है और वह चेतना ज्ञान कर्म तथा कर्मफलके भेदसे तीन प्रकारकी मानी तथा कही गई है।

जीव चाहे शुद्ध दशामें हो और चाहे अशुद्ध दशामें। प्रत्येक दशामें वह चेतना रूप ही परिणमन करता है। वह चेतना ज्ञानचेतना कर्मचेतना और कर्मफल चेतनाके भेदसे तीन प्रकार की कही गई है॥ ३१॥

आगे उक्त तीन चेतनाओंका स्वरूप कहते हैं—

णाणं अत्थवियप्पो कम्मं जीवेण सं समारद्धं।
तमणेगविधं भणिदं फलत्ति सोक्खं व दुक्खं वा॥ ३२॥

पदार्थका विकल्प—स्वपरका भेद लिये हुए जीवाजीवादि पदार्थोंका तत्तदाकारसे जानना ज्ञान है, जीवने जो प्रारम्भ कर रक्खा है वह कर्म है, वह कर्म शुभाशुभादिके भेदसे अनेक प्रकारका है और सुख अथवा दुःख कर्मका फल है।

जिस प्रकार दर्पण एक ही कालमें घटपदादि विविध पदार्थोंको प्रतिविम्बित करता है उसी प्रकार ज्ञान एक ही कालमें स्वपरका भेद लिये हुए विविध पदार्थोंको प्रकट करता है। इस प्रकार आत्मा का जो ज्ञान भाव रूप परिणमन है उसे ज्ञान चेतना कहते हैं। जीव, पुद्गल कर्मके निमित्त से प्रत्येक समय जो शुभ अशुभ आदि अनेक भेदोंको लिये हुए भाव कर्मरूप परिणमन करता है उसे कर्म चेतना कहते हैं तथा जीव, अपने-अपने कर्मबन्धके अनुरूप जो सुख दुःखादि फलोंका अनुभव करता है उसे कर्मफल चेतना कहते हैं॥ ३२॥

आगे ज्ञान कर्म और कर्मके फल अभेद नयसे आत्मा ही है इसका निश्चय करते हैं—

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो॥ ३३॥

आत्मा परिणाम स्वरूप है—परिणमन करना आत्माका स्वभाव है और वह परिणाम ज्ञान, कर्म और कर्मफल रूप होता है इसलिये ज्ञान कर्म तथा फल ये तीनों ही आत्मा हैं ऐसा मानना चाहिये।

यद्यपि भेद नयसे आत्मा परिणामी है और ज्ञानादि परिणाम हैं, आत्मा चेतक अथवा वेदक

है और ज्ञानादि चेत्य अथवा वेद हैं तथापि अभेद नयकी विवक्षासे यहाँ परिणाम और परिणामीको एक मानकर ज्ञानादिको आत्मा कहा गया है ऐसा समझना चाहिये ॥ ३३ ॥

आगे इस अभेद भावनाका फल शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्ति है यह बतलाते हुए द्रव्यके सामान्य कथनका संकोच करते हैं—

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्पत्ति णिच्छिदो समणो ।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥ ३४ ॥

कर्त्ता करण कर्म और फल आत्मा ही हैं ऐसा निश्चय करनेवाला मुनि यदि अन्य द्रव्यरूप परिणमन नहीं करता है तो वह शुद्ध आत्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ३४ ॥

इस प्रकार द्रव्य सामान्यका वर्णन पूर्ण कर अब द्रव्यविशेषका वर्णन प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम द्रव्यके जीव और अजीव भेदों का निरूपण करते हैं—

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोपयोगमयो ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं ॥ ३५ ॥

द्रव्यके दो भेद हैं जीव और अजीव । इनमेंसे जीव चेतनामय और उपयोगमय है तथा पुद्गलद्रव्यको आदि लेकर पाँच प्रकारका अजीव चेतनासे रहित है ।

पदार्थको सामान्य-विशेषरूपसे जाननेकी जीवकी जो शक्ति है उसे चेतना कहते हैं और उस शक्तिका ज्ञानदर्शनरूप जो व्यापार है उसे उपयोग कहते हैं । ज्ञान और दर्शनके भेदसे चेतना तथा उपयोग दोनोंके दो दो भेद हैं । यह द्विविध चेतना और द्विविध उपयोग जिसमें पाया जावे उसे जीव द्रव्य कहते हैं और जिसमें उक्तचेतना तथा तन्मूलक उक्त उपयोगका अभाव हो उसे अजीव-द्रव्य कहते हैं । अजीवद्रव्यके पाँच भेद हैं—१ पुद्गल २ धर्म ३ अधर्म ४ आकाश और ५ काल ॥ ३५ ॥

आगे लोक और अलोकके भेदसे द्रव्यके दो भेद दिखलाते हैं—

पुग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो ।
वट्टदि आयासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ॥ ३६ ॥

अनन्त आकाशमें जो क्षेत्र पुद्गल तथा जीवसे संयुक्त और धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय एवं कालसे सहित हो वह सर्वकाल—अतीत अनागत तथा वर्तमान इन तीनों कालोंमें लोक कहा जाता है ।

इस गाथामें लोकका लक्षण कहा गया है अतः पारिशेष्यात् अलोकका लक्षण अपने आप प्रतिफलित हो जाता है । जहाँ केवल आकाश ही आकाश हो उसे अलोक कहते हैं ॥ ३६ ॥

आगे क्रिया और भाव की अपेक्षा द्रव्योंमें विशेषता बतलाते हैं—

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स ।
परिणामा[1] जायंते[2] संघादादो व भेदादो ॥ ३७ ॥

---

१. परिणामादो । २. जायदि ज० वृ० ।

पुद्गल और जीव स्वरूप लोकके उत्पाद व्यय और ध्रौव्य परिणामसे—एक समयवर्ती अर्थ-पर्यायसे, संघातसे—मिलनेसे तथा भेदसे—बिछुड़नेसे होते हैं।

संसार के प्रत्येक पदार्थोंमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप परिणमन होता रहता है। वह परिणमन किन्हींमें भावरूप होता है और किन्हीं में क्रिया तथा भाव दोनों रूप होता है। अगुरु-लघु गुणके निमित्तसे प्रत्येक पदार्थमें जो समय समय पर शक्तिके अंशोंका परिवर्तन होता है उसे भाव कहते हैं और प्रदेश परिस्पन्दात्मक जो हलन-चलन है उसे क्रिया कहते हैं। जीव और पुद्गल द्रव्यमें क्रिया तथा भाव दोनों रूप परिणमन होता है परन्तु आकाश, धर्म, अधर्म और काल इन द्रव्योंमें सदा भाव रूप ही परिणमन होता है। जीवमें भी संसारी जीवके ही क्रिया रूप परिणमन होता है मुक्त जीवके मुक्त होनेके प्रथम समयको छोड़कर अन्य अनन्तकाल तक भावरूप ही परिणमन होता है। इस प्रकार क्रिया और भावकी अपेक्षा जीवादि द्रव्योंमें विशेषता है ॥ ३७ ॥

आगे गुणोंकी विशेषतासे ही द्रव्यमें विशेषता होती है यह सिद्ध करते हैं—

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं।
ते तब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया ॥ ३८ ॥

जिन चिह्नोंसे जीव अजीव द्रव्य जाना जाता है वे द्रव्य भावसे विशिष्ट अथवा अविशिष्ट मूर्तिक और अमूर्तिक गुण जानना चाहिये।

'ते तब्भाव विसिट्ठा' यहाँ पर दोनों ही वृत्तिकारोंने 'तब्भाव विसिट्ठा' और 'अतब्भाव विसिट्ठा' इस प्रकार दो पाठ मानकर वृत्ति लिखी है जिसका अभिप्राय यह है। द्रव्य और गुणमें आधार आधेय अथवा लक्ष्य लक्षणभाव हैं। द्रव्यमें गुण रहते हैं अथवा गुणोंके द्वारा द्रव्यका परिज्ञान होता है। भेद नयसे जिस समय विचार करते हैं उस समय द्रव्य द्रव्यरूप ही रहता है और गुण गुणरूप ही। द्रव्य गुण नहीं होता और गुण द्रव्य नहीं हो पाता इसलिये यहाँ गुणोंको विशेषण दिया गया है कि वे अतद्भावसे विशिष्ट हैं अर्थात् द्रव्यत्व भावसे विशिष्ट नहीं हैं—जुदे हैं। और अभेद नयसे जब विचार करते हैं तब प्रदेश भेद न होनेसे द्रव्य और गुण एकरूप ही दृष्टिगत होते हैं इस-लिये इस नय विवक्षासे गुणोंको विशेषण दिया गया है कि वे तद्भावसे विशिष्ट हैं अर्थात् द्रव्यके स्वभावसे विशिष्ट हैं द्रव्यरूप ही हैं उससे जुदे नहीं हैं। जो द्रव्य जैसा होता है उसके गुण भी वैसे ही होते हैं इसलिये मूर्तद्रव्यके गुण मूर्त होते हैं—इन्द्रियग्राह्य होते हैं जैसे कि पुद्गलके रूप रस गन्ध स्पर्श और अमूर्त द्रव्यके गुण अमूर्त होते हैं—इन्द्रियोंके द्वारा अग्राह्य होते हैं जैसे कि जीवके ज्ञान दर्शनादि ॥ ३८ ॥

आगे मूर्त और अमूर्त गुणोंका लक्षण ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं—

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा[1]।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा ॥ ३९ ॥

मूर्त गुण इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य हैं, पुद्गलद्रव्यात्मक हैं और अनेक प्रकारके हैं तथा अमूर्तिक द्रव्योंके गुण अमूर्तिक हैं इन्द्रियोंके द्वारा अग्राह्य हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ ३९ ॥

१. अणेयविहा ज० वृ०।

अब मूर्त पुद्गल द्रव्यके गुणोंको कहते हैं—

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥ ४० ॥

सूक्ष्म-परमाणुसे लेकर महास्कन्ध पृथिवी पर्यन्त पुद्गलके रूप रस गन्ध और स्पर्श ये चार प्रकारके गुण विद्यमान रहते हैं। इनके सिवाय अक्षर अनक्षर आदिके भेदसे विविध प्रकारका जो शब्द है वह भी पौद्गल है—पुद्गल सम्बन्धी पर्याय है।

कर्ण इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य होने तथा भित्ति आदि मूर्त पदार्थोंके द्वारा रुक जाने आदिके कारण शब्द मूर्तिक है परन्तु रूप रस गन्ध और स्पर्शके समान वह पुद्गलमें सदा विद्यमान नहीं रहता इसलिये गुण नहीं है। शब्द परमाणुमें भी नहीं रहता किन्तु स्कन्धमें रहता है अर्थात् स्कन्धोंके पारस्परिक आघातसे उत्पन्न होता है इसलिये पुद्गलका गुण न होकर उसकी पर्याय है ॥ ४० ॥

अब अन्य पाँच अमूर्तद्रव्योंके गुणोंका वर्णन करते हैं—

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥४१॥
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगोत्ति अप्पणो भणिदो।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥ ४२ ॥ जुगलं ॥

आकाशद्रव्यका अवगाह, धर्मद्रव्यका गमनहेतुत्व, अधर्म द्रव्यका स्थिति हेतुत्व, कालद्रव्यका वर्तना और जीव द्रव्यका उपयोग गुण कहा गया है। इस प्रकार अमूर्तद्रव्योंके गुण संक्षेपसे जानना चाहिये।

पुद्गलको छोड़कर अन्य पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं इसलिये उनके गुण भी अमूर्तिक हैं। न उन द्रव्योंका इन्द्रियोंके द्वारा साक्षात् ज्ञान होता है और न उनके गुणोंका। समस्त द्रव्योंके लिये अवगाहन—स्थान देना आकाश द्रव्यका गुण है। यद्यपि अलोकाकाशमें आकाशको छोड़कर ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जिसके लिये वह अवगाहन देता हो तो भी शक्तिकी अपेक्षा उसका गुण रहता ही है। जीव और पुद्गलके गमनमें सहायक होना धर्म द्रव्यका गुण है, उन्हींकी स्थितिमें निमित्त होना अधर्म द्रव्यका गुण है, समय-समय प्रत्येक द्रव्योंकी पर्यायोंके बदलनेमें सहायक होना काल द्रव्यका गुण है, और जीवाजीवादि पदार्थोंको सामान्य विशेष रूपसे जानना जीवद्रव्यका गुण है। यह आकाशादि पाँच अमूर्तिक द्रव्योंके असाधारण गुणोंका संक्षिप्त विवेचन है ॥ ४१-४२ ॥

आगे छह द्रव्योंमें प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्वकी अपेक्षा विशेषता बतलाते हैं—

जीवा पोग्गलकाया[1] धम्माऽधम्मा पुणो य आगासं[2]।
देसेहिं[3] असंखादा[4] णत्थि पदेसत्ति कालस्स ॥ ४३ ॥

---

१. पुग्गलकाया। २. आयासं। ३. सपदेसेहिं। ४. असंख्या ज० वृ०।

जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाशमें पाँच द्रव्य प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात हैं अर्थात् इनके असंख्यात प्रदेश हैं और कालद्रव्यके प्रदेश नहीं है। कालद्रव्य एक प्रदेशात्मक है अतएव उसमें द्वितीयादि प्रदेश नहीं हैं ॥ ४३ ॥[1]

अब प्रदेशी और अप्रदेशी द्रव्य कहां रहते हैं इसका विवेचन करते हैं—

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहि आददो लोगो।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा ॥ ४४ ॥

आकाश, लोक और अलोक दोनोंमें व्याप्त है, धर्म और अधर्मके द्वारा लोक व्याप्त है अर्थात् ये दोनों समस्त लोकमें फैलकर रह रहे हैं। शेष रहे जीव पुद्गल और काल सो ये तीनों विवक्षावश लोकमें व्याप्त हैं। कालद्रव्य स्वयं एक प्रदेशी है इसलिये लोकके एक प्रदेशमें रहता है परन्तु ऐसे कालद्रव्य गणनामें असंख्यात हैं और लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर रहते हैं इसलिये अनेक कालाणुओंकी अपेक्षा काल द्रव्य समस्त लोकमें स्थित है। एक जीव द्रव्यके असंख्यात प्रदेश हैं और संकोच विस्तार रूप स्वभाव होनेसे वे छोटे बड़े शरीरके अनुरूप लोकके असंख्यातवें भागमें अवस्थित रहते हैं। लोक पूरण समुद्घातके समय लोकमें भी व्याप्त हो जाते हैं। परन्तु वह अवस्था किन्ही जीवोंके समयमात्रके लिये होती है। अधिकांश काल शरीर प्रमाणके अनुरूप लोकाकाशमें ही रहकर बीतता है। यह एक जीव द्रव्यकी अपेक्षा विचार हुआ। नाना जीवोंकी अपेक्षा जीव द्रव्य समस्त लोकमें व्याप्त है। पुद्गल द्रव्यका अवस्थान लोक के एक प्रदेशसे लेकर समस्त लोक में हैं। पुद्गलोंमें वस्तुतः द्रव्य संज्ञा परमाणुओंको हैं। ऐसे परमाणुरूप पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त हैं। परमाणु एक प्रदेशी है इसलिये वह लोकके एक ही प्रदेशमें स्थित रहता है परन्तु जब वह परमाणु अपने स्निग्ध और रूक्षगुणके कारण अन्य परमाणुओंके साथ मिलकर स्कन्ध हो जाता है तब लोक के एकसे अधिक प्रदेशोंको व्याप्त करने लगता है। ऐसा नियम नहीं है कि लोकके एक प्रदेशमें एक ही परमाणु रहे। यदि ऐसा नियम मान लिया जावे तो लोकके असंख्यात प्रदेशोंमें असंख्यातसे अधिक परमाणु स्थान नहीं पा सकेंगे। नियम ऐसा है कि परमाणु एक ही प्रदेशमें रहता है परन्तु उस एक प्रदेशमें संख्यात-असंख्यात—अनन्त परमाणुओंसे निर्मित स्कन्ध भी स्थित हो सकते हैं। पुद्गल परमाणुओंमें परस्पर अवगाहन देनेकी सामर्थ्य होनेके कारण उक्त मान्यतामें कुछ भी आपत्ति नहीं आती। इस प्रकार स्कन्धकी अपेक्षा अथवा अनन्तानन्त परमाणुओंकी अपेक्षा पुद्गल द्रव्य भी समस्त लोकमें व्याप्त होकर स्थित है। सारांश यह हुआ कि काल जीव और पुद्गल ये तीन द्रव्य, एक द्रव्यकी अपेक्षा लोकके एक देशमें और अनेक द्रव्यकी अपेक्षा सर्व लोकमें स्थित हैं ॥ ४४ ॥

आगे इन द्रव्योंमें प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्वकी संभवता दिखाते हैं—

जध[2] ते णभप्पदेसा[3] तधप्पदेसा[4] हवंति सेसाणं।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ॥ ४५ ॥

---

१. ४३ वीं गाथाके बाद ज० वृ० में निम्नांकित गाथा अधिक व्याख्यात है—
'एदाणि पंच दव्वाणि उज्झियकालं तु अत्थिकायत्ति।
भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं ॥'

२–३–४. जह ते णहप्पदेसा तहप्पदेसा ज० वृ०।

जिस प्रकार आकाशमें प्रदेश होते हैं उसी प्रकार शेष—धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य तथा पुद्गलके भी प्रदेश होते हैं। परमाणु स्वयं अप्रदेश है—द्वितीयादि प्रदेशोंसे रहित है परन्तु उससे ही प्रदेशोंकी उत्पत्ति कही गई है।

पुद्गलका परमाणु आकाशके जितने क्षेत्रको रोकता है उसे आकाशका एक प्रदेश कहते हैं। ऐसे प्रदेश आकाशमें अनन्त हैं। एक प्रदेश प्रमाण आकाशमें विद्यमान धर्म अधर्म द्रव्यके अंश एक प्रदेश कहलाते हैं। ऐसे प्रदेश धर्म अधर्म द्रव्यमें असंख्यात हैं। इसी प्रकार जीव और पुद्गलमें भी प्रदेशोंका सद्भाव समझ लेना चाहिए। एक जीव द्रव्यमें असंख्यात प्रदेश हैं तथा पुद्गलमें स्कन्धकी अपेक्षा संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं। परमाणु एक प्रदेशात्मक है। इस प्रकार सब द्रव्योंमें प्रदेशका व्यवहार परमाणु जन्य ही है ॥ ४५ ॥

अब कालाणु प्रदेश रहित ही है इस बातका नियम करते हैं—

[1]समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥ ४६ ॥

समय अप्रदेश है—द्वितीयादि प्रदेशोंसे रहित है। जब एक प्रदेशात्मक पुद्गलजातिरूप परमाणु मन्द गतिसे आकाश द्रव्यके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशके प्रति गमन करता है तब उस समय की उत्पत्ति होती है।

यहाँ काल द्रव्यकी समय पर्याय और उसका उपादान कारण कालाणु दोनोंको एक मानकर कथन किया है ॥ ४६ ॥

अब काल पदार्थके द्रव्य और पर्यायका विश्लेषण करते हैं—

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी ॥ ४७ ॥

आकाशके उस प्रदेशके प्रति मन्दगतिसे जाने वाले परमाणुके जो काल लगता है उसके बराबर सूक्ष्मकाल है। काल द्रव्यकी पर्याय भूत समय कहलाता है और उसके आगे तथा पहले अन्वयीरूपसे स्थिर रहने वाला जो पदार्थ है वह काल द्रव्य है। समय वर्तमान पर्यायकी अपेक्षा उत्पन्न प्रध्वंसी है—उत्पन्न होकर नष्ट होता रहता है ॥ ४७ ॥

अब आकाशके प्रदेशका लक्षण कहते हैं—

[2]आगासमणुणिविट्ठं [2]आगासपदेससण्णया भणिदं।
सव्वेसिं च [3]अणूणं सक्कदि तं देदुमवकासं ॥ ४८ ॥

परमाणुसे रोका हुआ जो आकाश है वह आकाशका प्रदेश इस नामसे कहा गया है। वह आकाशका एक प्रदेश अन्य सब द्रव्योंके प्रदेशोंको तथा परम सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त हुए अनन्त पुद्गल स्कन्धोंको अवकाश देनेमें समर्थ है ॥ ४८ ॥

---

१. समयपर्यायस्योपादानकारणत्वात्समयः कालाणुः ज० वृ०। २. आयास—ज०वृ०। ३. आयास—ज०वृ०।
४. शेष पञ्च द्रव्य प्रदेशानां परम सौक्ष्म्य परिणतानन्त परमाणु स्कन्धानाञ्च ज० वृ०।

आगे तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वप्रचयका लक्षण कहते हैं—

एक्को व दुगे वहुगा संखातीदा तदो अणंता य।
दव्वाणं च पदेसा संति हि समयत्ति कालस्स ॥४९॥

कालद्रव्यको छोड़कर शेप पाँच द्रव्योंके प्रदेश एक दो वहुत अर्थात् संख्यात, असंख्यात और उसके वाद अनन्त तक यथायोग्य होते हैं परन्तु कालद्रव्यका समय पर्यायरूप एक ही प्रदेश है।

प्रदेशोंके समूहको तिर्यक्प्रचय और क्रमवर्ती समयोंके समूहको ऊर्ध्वताप्रचय कहते हैं। ऊर्ध्वताप्रचय सभी द्रव्योंमें होता है परन्तु तिर्यक्प्रचय उन्हीं द्रव्योंमें सम्भव है जिनमें कि अनेक प्रदेश पाये जाते हैं। यतः कालद्रव्य एकप्रदेशी है अतः उसमें तिर्यक्प्रचय नहीं होता केवल ऊर्ध्वताप्रचय ही होता है ॥ ४९ ॥

अव कालद्रव्यमें जो ऊर्ध्वप्रचय होता है वह निरन्वय नहीं होता किन्तु द्रव्यपनेसे अन्वयी रूप-ध्रुवरूप होता है यह सिद्ध करते हैं—

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एक्कसमयम्मि।
समयस्स सोवि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि ॥५०॥

जिस कालाणुरूप समयका एक ही समयमें उत्पाद और व्यय होता है वह समय भी—काल पदार्थ भी अपने स्वभावमें अवस्थित रहता है।

कालाणु द्रव्य होनेके कारण ध्रुवरूप रहता है और उसमें समयरूप पर्यायोंका उत्पाद तथा व्यय होता रहता है। मन्दगतिसे चलनेवाला पुद्गल परमाणु जब पूर्व कालाणुको छोड़कर उत्तर-वर्ती कालाणुके पास पहुँचता है तव नवीन समय पर्यायका उत्पाद होता है और पूर्व समय पर्यायका व्यय होता है परन्तु कालाणु दोनोंमें अन्वयरूपसे विद्यमान रहता है ॥ ५० ॥

आगे यह सिद्ध करते हैं कि वर्तमान समयके समान काल द्रव्यके अतीत-अनागत सभी समयोंमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्य होते हैं—

[1]एक्कम्मि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो ॥५१॥

एक समय पर्यायमें कालाणुरूप कालद्रव्यके उत्पाद स्थिति तथा विनाशरूप भाव होते हैं। निश्चयसे यह उत्पादादित्रयरूप कालाणुका सद्भाव सदा काल विद्यमान रहता है।

जिस प्रकार कालद्रव्य एक ही समयमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप परिणमन करता है उसी प्रकार सव समयमें परिणमन करता है ॥ ५१ ॥

---

१. एगम्हि ज० वृ०।

आगे, कालद्रव्य अप्रदेश है इसका यह अर्थ नहीं है कि उसमें एक भी प्रदेश नहीं होता। यहाँ अप्रदेशका अर्थ एकप्रदेशी है। यदि कालद्रव्यको एकप्रदेशी न माना जावे तो उसका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। यह बतलाते हैं—

जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ॥५२॥

जिस द्रव्यमें बहुत प्रदेश नहीं हैं अथवा जो परमार्थसे एकप्रदेशी भी नहीं जाना जा सकता है अर्थात् जिसमें एक प्रदेश भी नहीं है अस्तित्वसे वहिर्भूत उस पदार्थको तुम शून्य जानो।

पदार्थका अस्तित्व उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे होता है तथा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य प्रदेशों पर निर्भर हैं अतः जिस द्रव्यमें एक भी प्रदेश नहीं होगा उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। यतः कालद्रव्य अस्तित्व रूप है अतः उसे एकप्रदेशी मानना चाहिये। अप्रदेशका अर्थ द्वितीयादि प्रदेशसे रहित समझना चाहिये ॥ ५२ ॥

इस प्रकार ज्ञेय तत्त्वको कहकर अब ज्ञान ज्ञेयके विभागसे आत्माका निश्चय करना चाहते हैं अतः सर्वप्रथम आत्माको परभावोंसे जुदा करनेके लिये उसके व्यवहार जीवत्वके कारण दिखलाते हैं—

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो।
जो त्तं जाणदि जीवो पाणचदुक्काहिसंबद्धो[1] ॥५३॥

यह लोक अपने प्रदेशोंसे परिपूर्ण है, जीवाजीवादि पदार्थोंसे भरा हुआ है और नित्य है इसे जो जानता है तथा इन्द्रिय, वल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणोंसे संयुक्त है वह जीव है।

यद्यपि जीव, निश्चयसे स्वतः सिद्ध परम चैतन्यरूप निश्चय प्राणसे जीवित रहता है तथापि यहाँ व्यवहारकी अपेक्षा उसे इन्द्रियादि चार बाह्य प्राणोंसे जीवित रहनेवाला वतलाया है। वह भी इसलिये कि इन सर्वगम्य वाह्य प्राणोंसे अल्पज्ञ मनुष्य भी जीवको लोकके अन्य पदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न समझने लगें ॥ ५३ ॥

अब वे चार प्राण कौन हैं ? यह स्वयं ग्रन्थकार बतलाते हैं—

इंदियपाणो य तधा बलपाणो तह य आउपाणो य।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥५४॥

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँच इन्द्रिय प्राण, इसी प्रकार मनोबल, वचनबल और कायवल ये तीन वल प्राण, इसी प्रकार आयुप्राण और श्वासोच्छ्वास प्राण ये जीवोंके (चार अथवा दश) प्राण होते हैं।

---

१. पाणचउक्केण संबद्धो, ज० वृ०।

जिनके संयोगसे जीव जीवित और वियोगसे मृत कहलावे उन्हें प्राण कहते हैं। ऐसे प्राण अभेद विवक्षासे चार और भेद विवक्षासे दश होते हैं ॥ ५४ ॥[1]

अब जीव शब्दकी निरुक्ति पूर्वक यह बतलाते हैं कि प्राण जीवत्वके कारण हैं तथा पौद्गलिक हैं—

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥ ५५ ॥

जो पूर्वोक्त चार प्राणोंसे वर्तमानमें जीवित है, आगे जीवित होगा और पहले जीवित था वह जीव है। वे सभी प्राण पुद्गल द्रव्यसे रचे गये हैं।

'यः प्राणैः जीवति स जीवः' जो प्राणोंसे जीवित है वह जीव है यह वर्तमान प्राणियोंकी अपेक्षा निरुक्ति है। 'यः प्राणैः जीविष्यति स जीवः' जो प्राणोंसे जीवित होगा वह जीव है। यह विग्रह गतिमें स्थित जीवोंकी अपेक्षा निरुक्ति है और 'यः प्राणैरजीवत् स जीवः' जो प्राणोंसे जीवित था वह जीव है यह मुक्त जीवोंकी अपेक्षा जीवकी निरुक्ति है ऐसा समझना चाहिये ॥ ५५ ॥

अब प्राण पौद्गलिक हैं इस बातको स्वतन्त्ररूपसे सिद्ध करते हैं—

जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं ।
उवभुंजं कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं ॥ ५६ ॥

मोह आदि पौद्गलिक कर्मोंसे बँधा हुआ जीव पूर्वोक्त प्राणोंसे बद्ध होता है और उनके सम्बन्धसे ही कर्मोंके फलको भोगता हुआ अन्य ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मोंसे बद्ध होता है।

यतः प्राणोंके कारण और कार्य दोनों ही पौद्गलिक हैं अतः प्राण भी पौद्गलिक ही हैं— पुद्गलसे निष्पन्न हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ ५६ ॥

अब प्राण पौद्गलिक कर्मके कारण हैं यह स्पष्ट करते हैं—

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहि कुणदि जीवाणं ।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं ॥ ५७ ॥

यदि वह प्राणसंयुक्त जीव, मोह तथा राग द्वेषरूप भावोंसे स्वजीव और परजीवोंके प्राणोंका घात करता है तो उसके ज्ञानावरणादि कर्मोंसे बन्ध होता है।

यह जीव इन्द्रियादि प्राणोंके द्वारा कर्मफलको भोगता है, उसे भोगता हुआ मोह तथा राग द्वेषको प्राप्त होता है, और मोह तथा राग द्वेषसे स्वजीव तथा परजीवोंके प्राणोंका विघात करता है। अन्य जीवोंके प्राणोंका विघात न भी कर सके तो भी अन्तरङ्गके कलुषित हो जानेसे स्वकीय-

---

१. ५४वीं गाथाके बाद ज० वृ० में निम्न गाथा अधिक व्याख्यात है—
'पंचवि इंदियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दस पाणा ॥'

भाव प्राणोंका घात तो करता ही है। इस प्रकार संक्लिष्ट परिणाम होनेसे ज्ञानावरणादि नवीन कर्मोंका बन्ध करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राण पौद्गलिक कर्मोंके कारण हैं ॥ ५७ ॥

आगे इन पौद्गलिक प्राणोंकी सन्तति क्यों चलती है ? इसका अन्तरङ्ग कारण कहते हैं—

आदा कम्ममलिमसो धरदि पाणे पुणो पुणो अण्णे ।
ण जहदि जाव ममत्तं देहपधायेसु विसएसु ॥५८॥

अनादि कालीन कर्मसे मलिन आत्मा तव तक बार-बार दूसरे प्राणोंको धारण करता रहता है जब तक कि वह शरीरादि विषयोंमें ममत्व भावको नहीं छोड़ता है।

संसार शरीर और भोगोंमें ममता वुद्धि ही प्राणोंकी सन्ततिको आगे चलानेमें अन्तरङ्ग कारण है ॥ ५८ ॥

अब पौद्गलिक प्राणोंकी सन्ततिके रोकनेमें अन्तरङ्ग कारण बतलाते हैं—

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि ।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥५९॥

जो इन्द्रिय विषय कषाय आदिको जीतने वाला होकर शुद्ध उपयोग रूप आत्माका ध्यान करता है वह कर्मोंसे अनुरक्त नहीं होता फिर प्राण उसका अनुचरण कैसे कर सकते हैं—उसके साथ कैसे सम्बन्ध कर सकते हैं ? अर्थात् नहीं कर सकते ॥ ५९ ॥

आगे आत्माको अन्य पदार्थोंसे बिलकुल ही जुदा करनेके लिये व्यवहार जीवकी चतुर्गति रूप पर्यायका स्वरूप कहते हैं—

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्मि संभूदो ।
अत्थो पज्जायो सो संठाणादिप्पभेदेहिं ॥ ६० ॥

स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वसे निश्चित जीव पदार्थकी अन्य पदार्थ—पुद्गल द्रव्यके संयोगसे उत्पन्न हुई जो दशा विशेष है वह पर्याय है। वह पर्याय संस्थान संहनन आदिके भेदसे अनेक प्रकारकी है।

नामकर्मादि रूप पुद्गलके साथ सम्वन्ध होने पर जीवमें नर नारकादि रूप पर्यायें उत्पन्न होती हैं जो अपने संस्थान संहनन आदि के भेदसे विविध प्रकारकी हुआ करती हैं। पर संयोगज होनेके कारण ऐसी सभी पर्यायें विभाव पर्यायें कहलाती हैं अतएव त्याज्य हैं ॥ ६० ॥

अब जीवकी पूर्वोक्त पर्यायोंको दिखलाते हैं—

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा ।
पज्जाया जीवाणं [१]उदयादु हि णामकम्मस्स ॥ ६१ ॥

संसारी जीवोंकी जो नर नारक तिर्यञ्च और देव पर्याय हैं वे नामकर्मके उदयसे संस्थान संहनन आदिके द्वारा स्वभाव पर्यायसे भिन्न विभावरूप उत्पन्न होते हैं।

---

१. धरेदि ज० वृ०। २. उययादि दि ज० वृ०।

जिस प्रकार एक ही अग्नि ईन्धनके भेदसे अनेक प्रकारकी दिखती है उसी प्रकार एक ही आत्मा कर्मोदयवश अनेक रूप दिखाई देता है ॥ ६१ ॥

आगे, यद्यपि आत्मा अन्य द्रव्योंके साथ संकीर्ण है—मिला हुआ है तो भी उसका स्वरूपास्तित्व स्वपरके विभागका कारण है यह दिखलाते हैं—

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं ।
जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि ॥ ६२ ॥

जो पुरुष उस पूर्व कथित द्रव्यके स्वरूपास्तित्वसे युक्त द्रव्यगुण पर्याय अथवा उत्पाद व्यय ध्रौव्यके भेदसे तीन प्रकार कहे हुए द्रव्यके स्वभावको भेद सहित जानता है वह शुद्धात्म द्रव्यसे भिन्न अन्य अचेतन द्रव्योंमें मोहको प्राप्त नहीं होता ।

आत्म द्रव्यका स्वरूपास्तित्व ही उसे पर पदार्थोंसे विविक्त सिद्ध करता है ॥ ६२ ॥

आगे सब प्रकारसे आत्माको भिन्न करनेके लिये पर द्रव्यके संयोगका कारण दिखलाते हैं—

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो ।
सो हि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥ ६३ ॥

आत्मा उपयोग स्वरूप है, ज्ञान और दर्शन उपयोग कहे गये हैं और आत्माका वह उपयोग शुभ तथा अशुभ होता है ।

आत्माके चैतन्यानुविधायी परिणामको उपयोग कहते हैं । उस उपयोगका परिणमन ज्ञान दर्शनके भेदसे दो प्रकारका होता है । सामान्य चेतनाके परिणामको दर्शनोपयोग और विशेष चेतनाके परिणामको ज्ञानोपयोग कहते हैं । आत्माका यह उपयोग अपने आपमें शुद्ध होता है परन्तु मोहका उदय उसे मलिन करता रहता है । जिस उपयोगके साथ मोहका उदय मिश्रित रहता है वह अशुद्धोपयोग कहलाता है और जो उपयोग मोहके उदयसे अमिश्रित रहता है वह शुद्धोपयोग कहलाता है । मोहका उदय असंख्यात प्रकारका होता है परन्तु संक्षेपमें उसके शुभ-अशुभके भेदसे दो भेद माने जाते हैं । शुद्धोपयोग कर्मबन्धका कारण नहीं है परन्तु शुभ-अशुभके भेदसे विभाजित अशुद्धोपयोग कर्मबन्धका कारण माना गया है । इस प्रकार आत्माका जो परद्रव्यके साथ संयोग होता है उसमें उसका अशुद्धोपयोग ही कारण है ॥ ६३ ॥

अब कौन उपयोग किस कर्मका कारण है यह बतलाते हैं—

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि ।
असुहो वा तध[1] पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥ ६४ ॥

यदि जीवका उपयोग शुभ होता है तो पुण्य कर्म संचय—बन्धको प्राप्त होता है और अशुभ होता है तो पाप कर्म संचयको प्राप्त होता है । उन शुभ-अशुभ उपयोगोंके अभावमें कर्मोंका चय-संग्रह—बन्ध नहीं होता है ॥ ६४ ॥

---

१. तह ज० वृ० ।

आगे शुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं—

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तधेव अणगारे।
जीवे य साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥६५॥

जो जीव परमभट्टारक महादेवाधिदेव श्रीअर्हन्त भगवान्को जानता है, ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मसे रहित और सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे विभूषित श्री सिद्ध परमेष्ठीको ज्ञानदृष्टिसे देखता है, उसी प्रकार आचार्य उपाध्याय और साधुरूप निष्परिग्रह गुरुओंको जानता देखता है तथा जीव मात्र पर दयाभावसे सहित है उस जीवका वह उपयोग शुभोपयोग कहलाता है ॥ ६५ ॥

अब अशुभोपयोगका स्वरूप बतलाते हैं—

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥६६॥

जीवका जो उपयोग विषय और कषायसे व्याप्त है, मिथ्या शास्त्रोंका सुनना, आर्त्त रौद्र रूप खोटे ध्यानोंमें प्रवृत्त होना तथा दुष्ट-कुशील मनुष्योंके साथ गोष्ठी करना आदि कार्योंसे युक्त है, हिंसादि पापोंके आचरणमें उग्र है, और उन्मार्ग–विपरीत मार्गके चलानेमें तत्पर है वह अशुभोपयोग है ॥ ६६ ॥

आगे शुभाशुभ भावसे रहित शुद्धोपयोगका वर्णन करते हैं—

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्मि।
होज्झं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए ॥६७॥

जो अशुभोपयोगसे रहित है और शुभोपयोगमें भी जो उद्यत नहीं हो रहा है ऐसा मैं आत्मातिरिक्त अन्य द्रव्योंमें मध्यस्थ होता हूँ और ज्ञानस्वरूप आत्माका ही ध्यान करता हूँ।

जो अशुभोपयोगको पहले ही छोड़ चुका है, अब शुभोपयोगमें भी प्रवृत्त होनेके लिये जिसका जी नहीं चाहता, जो शुद्धात्माको छोड़कर अन्य सब द्रव्योंमें मध्यस्थ हो रहा है और जो निरन्तर सहज चैतन्यसे उद्भासित एक निजशुद्ध आत्माका ही ध्यान करता है वह शुद्धोपयोगी है। इस जीवके उपयोगको शुद्धोपयोग कहते हैं। इस शुद्धोपयोग के प्रभाव से आत्मा का परद्रव्य के साथ संयोग छूट जाता है। इसलिये ही श्री कुन्दकुन्द स्वामीने शुद्धोपयोगी होने की भावना प्रकट की है ॥ ६७ ॥

आगे शरीरादि परद्रव्यमें भी माध्यस्थ्यभाव प्रकट करते हैं—

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण[1] कारयिदा अणुमत्ता णेव कत्तीणं ॥६८॥

न मैं शरीर हूँ, न मन हूँ, न वचन हूँ, न उनका कारण हूँ, न उनका करने वाला हूं, न कराने वाला हूं और न करने वालोंको अनुमति देने वाला हूं।

१. हि ज० वृ०।

परम विवेकी मनुष्य जिस प्रकार शरीरसे इतर पदार्थोंमें परत्व बुद्धि रखते हैं उसी प्रकार स्व शरीरमें भी परत्व बुद्धि रखते हैं। स्व शरीर ही नहीं उसके आश्रय से होने वाले काय वचन और मनोयोगमें भी परत्व बुद्धि रखते हैं। यही कारण है कि कुन्दकुन्द स्वामीने यहाँ यह भावना प्रकट की है कि मैं कायादि तीनों योगोंमें से कोई भी नहीं हूँ, न मैं इन्हें स्वयं करता हूँ, न दूसरेसे कराता हूँ, और न इनके करने वालोंको अनुमति ही देता हूँ ॥ ६८ ॥

आगे इस बातका निश्चय करते हैं कि शरीर, वचन और मन तीनों ही परद्रव्य हैं—

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पगत्ति णिद्दिट्ठा ।
पोग्गलदव्वं पि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥ ६९ ॥

शरीर, मन और वचन तीनों ही पुद्‌गल द्रव्यात्मक हैं ऐसे कहे गये हैं और पुद्‌गल द्रव्य भी परमाणुरूप द्रव्योंका स्कन्धरूप पिण्ड है ॥ ६९ ॥

आगे आत्माके परद्रव्य तथा उसके कर्तृत्वका अभाव सिद्ध करते हैं—

णाहं पोग्गलमइओ[1] ण ते मया पोग्गला[2] कया पिंडं ।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स ॥ ७० ॥

मैं पुद्‌गलरूप नहीं हूँ और न मेरे द्वारा वे पुद्‌गल पिण्ड—शरीर रूप किये गये हैं। इसलिये निश्चयसे मैं शरीर नहीं हूँ और न उस शरीरका कर्ता ही हूँ।

मैं सहज चैतन्यसे उद्‌भासित अखण्ड चेतन द्रव्य हूँ और शरीर पुद्‌गलसे निर्वृत्त अचेतन पदार्थ है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं है, सभी द्रव्योंका सहज स्वभावसे शाश्वतिक परिणमन हो रहा है। मैं अपने सहज शुद्ध स्वभावका ही कर्ता हो सकता हूँ, जड़ शरीरका कर्ता त्रिकाल में भी नहीं हो सकता, उसके कर्ता तो पुद्‌गल परमाणु हैं जिनके कि द्वारा शरीराकार स्कन्धकी रचना हुई है।······इस प्रकारके विचारोंसे श्री कुन्दकुन्द स्वामीने अपनी शुद्ध आत्माको अन्य द्रव्योंसे अत्यन्त विभक्त सिद्ध किया है ॥ ७० ॥

आगे 'यदि आत्मा पुद्‌गल परमाणुओंमें शरीराकार परिणमन नहीं करता है तो फिर उनमें शरीररूप पर्यायकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है' इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य समयसद्दो जो ।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुहवदि ॥ ७१ ॥

जो परमाणु द्वितीयादि प्रदेशोंसे रहित है, एक प्रदेश मात्र है और स्वयं शब्दसे रहित है, वह यतः स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणका धारक होता है अतः द्विप्रदेशादिपनेका अनुभव करता है।

यद्यपि परमाणु एकप्रदेश रूप है तो भी वह स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणके कारण दूसरे परमाणुओंके साथ मिलकर स्कन्ध बन जाता है। ऐसा स्कन्ध दोप्रदेशीसे लेकर संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेशी तक होता है। जीवका शरीर भी ऐसे ही परमाणुओंके संयोगसे बना हुआ है।

---

१. पुग्गल ज० वृ०। २. पुग्गला ज० वृ०।

यथार्थमें पुद्गल परमाणुओंका पुञ्ज ही शरीरका कर्ता है। यह जीव मोहके उदयसे व्यर्थ ही अपने आपको उसका कर्ता धर्ता मानकर रागी द्वेषी होता है॥ ७१॥

आगे परमाणुका वह स्निग्ध अथवा रूक्ष गुण किस प्रकारका है यह कहते हैं—

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं व लुक्खत्तं।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुहवदि॥७२॥

परमाणुमें जो स्निग्धता और रूक्षता रहती है उसमें अगुरु-लघु गुणके कारण प्रत्येक समय परिणमन होता रहता है। इस परिणमनके कारण वह स्निग्धता और रूक्षता एकसे लेकर एक एक अंशकी वृद्धि होते-होते अनन्तपने तकका अनुभव करने लगती है ऐसा कहा गया है।

स्निग्धता और रूक्षता पुद्गलके गुण हैं। प्रत्येक गुणमें अनन्त अविभाज्य शक्तिके अंश होते हैं जिन्हें गुणांश या अविभागप्रतिच्छेद्य कहते हैं। अगुरुलघु गुणकी सहायता पाकर इन गुणांशोंमें प्रत्येक समय हानि वृद्धि होती रहती है। इस हानि वृद्धिको आगममें षड्गुणी हानिवृद्धि कहा है। उसके संख्यातभाग वृद्धि, असंख्यातभाग वृद्धि, अनन्तभाग वृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुण वृद्धि, अनन्तगुण वृद्धि, संख्यातभाग हानि, असंख्यातभागहानि, अनन्तभागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि और अनन्तगुणहानि इस प्रकार नाम भी हैं। स्निग्ध और रूक्ष गुणके अंशोंमें जब वृद्धि होने लगती है तब एक अंशसे लेकर बढ़ते-बढ़ते अनन्त अंश तक बढ़ जाते हैं और जब उनमें हानि होने लगती है तब घटते-घटते एक अंश तक रह जाते हैं। परमाणुमें जब स्निग्धता और रूक्षताके अंश घटते-घटते एक अंश तक रह जाते हैं तब वे जघन्यगुणके धारक कहलाने लगते हैं। ऐसे परमाणुओंका दूसरे परमाणुओंके साथ बन्ध नहीं होता। हाँ, उन परमाणुओंकी स्निग्धता और रूक्षताके अंशमें जब पुनः वृद्धि हो जावेगी तब फिर वे बन्धके योग्य हो जावेंगे। परमाणुओंका जो परस्परमें बन्ध होता है उसमें उनकी रूक्षता और स्निग्धता ही कारण मानी गई है। परमाणुओंका यह बन्ध अपनेसे दो अधिक गुणवालोंके साथ ही होता है ऐसा नियम है। यह बन्ध स्निग्धका स्निग्धके साथ, रूक्षका रूक्षके साथ तथा स्निग्धका रूक्षके साथ अथवा रूक्षका स्निग्धके साथ होता है। दो गुणवालेका चार गुणवालेके साथ अथवा तीन गुण वालेका पाँच गुणवालेके साथ बन्ध होता है। इस प्रकार गुणोंकी समता और विषमता दोनों ही अवस्थाओंमें बन्ध होता है परन्तु गुणोंका दो अधिक होना आवश्यक है। जघन्य गुणवाले तथा समानगुणवाले परमाणुओंका परस्परमें बन्ध नहीं होता॥ ७२॥

आगे किस प्रकारके स्निग्ध और रूक्षगुणसे परमाणु पिण्ड पर्यायको प्राप्त होते हैं यह दिखलाते हैं—

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा[1] समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झंति हि आदिपरिहीणा॥७३॥

अपने शक्त्यंशोंमें परिणमन करनेवाले परमाणु यदि स्निग्ध हों अथवा रूक्ष हों, दो चार छंह आदि अंशोंकी गिनतीकी अपेक्षा सम हों अथवा तीन पाँच सात आदि अंशोंकी गिनतीकी अपेक्षा

---

१. अणुपरिणामशब्देनात्रपरिणामपरिणता अणवो गृह्यन्ते ज० वृ०।

विसम हों, अपने अंशोंसे दो अधिक हों और आदि अंश—जघन्य अंश से रहित हों तो परस्पर बन्धको प्राप्त होते हैं अन्यथा नहीं ॥ ७३ ॥

पूर्वोक्त बातको पुनः स्पष्ट करते है—

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुहवदि ।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु वज्झदि पंचगुणजुत्तो ॥ ७४ ॥

स्निग्धतासे द्विगुण अर्थात् स्निग्धगुणके दो अंशोंको धारण करनेवाला परमाणु चतुर्गुण स्निग्धके साथ अर्थात् स्निग्धताके चार अंश धारण करनेवाले परमाणुके साथ बन्धका अनुभव करता है। और रूक्षतासे त्रिगुण अर्थात् रूक्षगुणके तीन अंशोंको धारण करनेवाला परमाणु पांचगुण युक्त रूक्ष अर्थात् रूक्षगुणके पाँच अंशोंको धारण करनेवाले परमाणुके साथ बँधता है—मिलकर स्कन्ध दशाको प्राप्त होता है।

इस कथनसे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि स्निग्धका स्निग्धके ही साथ और रूक्षका रूक्षके ही साथ वन्ध होता है। यह तो द्विगुणाधिकका बन्ध होता है इसका उदाहरण मात्र है। वैसे वन्ध स्निग्ध स्निग्धका, रूक्ष रूक्षका, स्निग्ध रूक्षका और रूक्ष स्निग्धका होता है[1] ॥ ७४ ॥

आगे आत्मा द्विप्रदेशादि पुद्गल स्कन्धोंका कर्ता नहीं यह कहते हैं—

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा वादरा ससंठाणा ।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते[2] ॥७५॥

दो प्रदेशोंको आदि लेकर संख्यात असंख्यात तथा अनन्त पर्यन्त प्रदेशोंको धारण करनेवाले, सूक्ष्म अथवा वादर, विभिन्न आकारोंसे सहित तथा पृथिवी जल अग्नि और वायु रूप स्कन्ध अपने अपने स्निग्ध और रूक्ष गुणोंके परिणमनसे होते हैं।

तात्पर्य यह है कि पुद्गल स्कन्धोंका कर्ता पुद्गल द्रव्य ही है आत्मा नहीं है ॥ ७५ ॥

आगे आत्मा पुद्गलस्कन्धोंको खींच कर लानेवाला भी नहीं है यह वतलाते हैं—

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकाएहिं[3] सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहिं वादरेहिं य अप्पाओग्गेहिं[4] जोग्गेहिं ॥ ७६ ॥

यह लोक सब जगह सूक्ष्म, स्थूल, अप्रायोग्य—कर्मवर्गणारूप होनेकी योग्यतासे रहित तथा योग्य—कर्मवर्गणारूप होनेकी योग्यतासे सहित पुद्गल कायोंसे ठसाठस भरा हुआ है।

---

१. उक्तञ्च—'णिद्धा णिद्धेण वज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला ।
णिद्ध लुक्खा य वज्झंति रूवारूवीय पोग्गला ॥'
'णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण ।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि वंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥'

२. 'स्निग्धरूक्षत्वाभ्यां वन्धः', न जघन्यगुणानाम्' 'गुणसाम्ये सदृशानाम्', 'द्वयधिकादिगुणानां तु', अध्याय ५ तत्त्वार्थसूत्र । ज० वृ० । ३. पुग्गलकायेहिं, ज० वृ० । ४. अप्पाओग्गेहिं ज० वृ० ।

कर्मरूप होने योग्य पुद्गलवर्गणाएँ लोकके प्रत्येक प्रदेशमें विद्यमान हैं अतः जब जीव राग द्वेपादि भावोंसे युक्त होता है तब अपने ही क्षेत्रमें विद्यमान कर्मरूप होने योग्य पुद्गल-वर्गणाओंके साथ सम्बन्धको प्राप्त हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि[1] जीव जहाँ रहता है वहीं उसके बन्ध योग्य पुद्गल भी रहते हैं वह अन्य बाह्य स्थानसे उन्हें खींच कर नहीं लाता है ॥ ७६ ॥

आगे आत्मा पुद्गलपिण्डको कर्मरूप नहीं परिणमाता यह कहते हैं—

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं ण दु ते जीवेण परिणमिदा ॥७७॥

कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गलस्कन्ध, जीवकी राग-द्वेपादिरूप परिणतिको प्राप्त कर स्वयं ही कर्मरूप परिणमनको प्राप्त हो जाते हैं। वे जीवके द्वारा नहीं परिणमाये जाते हैं।

कर्म पुद्गलमय हैं इसलिये उनका उपादान पुद्गलस्कन्ध ही है जीव केवल निमित्त है[2] ॥ ७७ ॥

आगे शरीराकार परिणत पुद्गलपिण्डोंका कर्ता जीव नहीं है यह कहते हैं—

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया[3] पुणो[4] हि जीवस्स।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा ॥७८॥

वे वे द्रव्यकर्मरूप परिणत हुए पुद्गल स्कन्ध अन्य पर्यायका सम्बन्ध पाकर फिर भी जीवके शरीर रूप उत्पन्न हो जाते हैं।

जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर जो पुद्गलकाय कर्मरूप परिणत होते हैं वे अन्य जन्ममें शरीराकार हो जाते हैं। यह सब क्रिया पुद्गल स्कन्धोंमें अपने आप ही होती है अतः जीव शरीराकार परिणत पुद्गलपिण्डोंका भी कर्ता नहीं है ॥ ७८ ॥

अब आत्माके शरीरका अभाव बतलाते हैं—

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजयिओ।
आहारय कम्मइओ [5]पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥ ७९ ॥

औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, तैजस शरीर, आहारक शरीर और कार्मण शरीर ये सब शरीर पुद्गल द्रव्यात्मक हैं।

यतः शरीर पुद्गल द्रव्यात्मक हैं अतः आत्माके नहीं हैं ॥ ७९ ॥

---

१. ततो जायते यत्रैव शरीरावगाढक्षेत्रे जीवस्तिष्ठति बन्धयोग्यपुद्गला अपि तत्रैव तिष्ठन्ति न च बहिर्भागाज्जीव आनयति। ज० वृ०।

२. 'जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन।' पु० सि०।

३. पुग्गलकाया ज० वृ०। ४. पुणोवि ज० वृ०। ५. पुग्गल—ज० वृ०।

आगे, यदि ऐसा है तो शरीरादि समस्त परद्रव्योंसे जुदा करने वाला जीवका असाधारण—उसी एकमें पाया जाने वाला लक्षण क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥८०॥

जो रस रहित हो, रूप रहित हो, गन्ध रहित हो, अव्यक्त हो—स्पर्श रहित हो, शब्द रहित हो, इन्द्रियोंके द्वारा जिसका ग्रहण नहीं हो सकता हो, सब प्रकारके आकारोंसे रहित हो और चेतना गुणसे सहित हो उसे जीव जानो ।

पाँच प्रकारके रस, पाँच प्रकारके रूप, दो प्रकारके गन्ध, आठ प्रकारके स्पर्श, अनेक प्रकारके शब्द तथा द्विकोण त्रिकोण आदि विविध प्रकारके संस्थान पुद्गलमें ही पाये जाते हैं और मूर्त होनेसे उसीका इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण—ज्ञान होता है परन्तु जीव उससे भिन्न है उसका एक चेतना ही असाधारण गुण है जो समस्त जीवोंमें पाया जाता है और जीवको छोड़कर किसी अन्य द्रव्यमें नहीं पाया जाता । वह जीव अमूर्तिक है अतः इन्द्रियोंके द्वारा उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता है ॥ ८० ॥

आगे अमूर्त आत्मामें जब स्निग्ध और रूक्ष गुणका अभाव है तब उसका पौद्गलिक कर्मोंके साथ वन्ध कैसे होता है ? यह पूर्वपक्ष रखते हैं—

मुत्तो रूवादिगुणो वज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं ।
तव्विवरीदो अप्पा वंधदि किध पोग्गलं कम्मं ॥८१॥

रूपादि गुणोंसे सम्पन्न मूर्त—पुद्गल द्रव्य, स्निग्धत्व-रूक्षत्वस्पर्शसे परस्परमें बन्धको प्राप्त होता है यह ठीक है परन्तु उससे विपरीत आत्मा पौद्गलिक कर्मको किस प्रकार बांधता है ? ॥ ८१ ॥

आगे अमूर्तिक आत्माके भी बन्ध होता है ऐसा सिद्धान्त पक्ष रखते हैं—

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।
दव्वाणि गुणे य जधा तध वंधो तेण जाणीहि ॥८२॥

रूपादि गुणोंसे रहित आत्मा जिस प्रकार रूप आदि से सहित घटपटादि पुद्गल द्रव्यों और उनके गुणोंको देखता तथा जानता है उसी प्रकार रूपादि गुणोंसे युक्त कर्मरूप पुद्गल द्रव्यके साथ इसका वन्ध होता है ऐसा जानो ।

जिस प्रकार रूपादिसे रहित आत्मा रूपादि पदार्थोंको जान सकता है देख सकता है उसी प्रकार रूपादिसे रहित आत्मा रूपादि गुणोंसे युक्त कर्मरूप पुद्गलोंको ग्रहण कर सकता है । ऐसा वस्तुका स्वभाव है । अतः इसमें कोई बाधा नहीं दिखती । अथवा इसका भाव इस प्रकार समझना चाहिये—जैसे कोई बालक मिट्टीके वैलको अपना समझ कर देखता है जानता है परन्तु वह मिट्टीका वैल उस बालकसे सर्वथा जुदा है । जुदा होने पर भी यदि कोई उस मिट्टी के बैलको तोड़ देता है तो वह बालक दुःखी होता है । इसी प्रकार कोई गोपाल सचमुचके बैलको देखता है

जानता है परन्तु वह बैल उस गोपालसे सर्वथा जुदा है ! जुदा होने पर भी यदि कोई उस बैलको चुरा लेता है या नष्ट कर देता है तो वह गोपाल दुखी होता है। जब कि उक्त दोनों ही प्रकारके बैल बालक तथा गोपालसे जुदे हैं तब वे उनकें अभावमें दुःखी क्यों होते हैं। इससे यह बात विचारमें आती है कि वे बालक और गोपाल उन बैलोंको अपना देखते जानते हैं। इस कारण अपने परिणामोंसे बँध रहे हैं। उनका ज्ञान बैलके निमित्तसे तदाकार परिणत हो रहा है इसलिये परस्वरूप बैलोंसे सम्बन्धका व्यवहार आ जाता है। इसी प्रकार इस आत्माका कर्मरूप पुद्गलके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है परन्तु अनादि कालसे एक क्षेत्रावगाहकर ठहरे हुए पुद्गलोंके निमित्तसे जीवमें राग द्वेषादि भाव पैदा होते हैं। इन्हींके कारण यह कर्मोंका बन्ध करने वाला कहलाता है। 'गाय बाँध दी गई है' यहाँ तत्त्व दृष्टिसे जब विचार करते हैं तब बन्धन रस्सी का रस्सीके साथ है न कि रस्सीका गायके साथ। फिर भी 'गाय बांध दी गई' ऐसा व्यवहार होता है। उसका भी कारण यह है कि जब तक रस्सीका रस्सीके साथ सम्बन्ध रहेगा तब तक गाय उस स्थानसे अन्यत्र नहीं जा सकेगी। इसी प्रकार नवीन कर्मोंका सम्बन्ध आत्माके एक क्षेत्रावगाहमें स्थित पुरातन कर्मोंके साथ ही होता है न कि आत्माके साथ, फिर भी आत्मा बद्ध कहलाता है। उसका भी कारण यह है कि जब तक पुरातन कर्मोंके साथ नवीन कर्मोंका सम्बन्ध जारी रहता है तब तक आत्मा स्वतन्त्र नहीं रह सकता। इन दोनोंमें ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है ॥ ८२ ॥

आगे भाव बन्धका स्वरूप कहते हैं—

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि ।
पप्पा विविधे विसए जो हि पुणो तेहिं संबंधो ॥८३॥

जो उपयोग स्वभाववाला जीव विविध प्रकारके—इष्ट अनिष्ट विषयोंको पाकर मोहित होता है—उन्हें अपना मानने लगता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है वह उन्हीं भावोंसे बन्धको प्राप्त होता है।

मोह—परपदार्थको अपना मानना, राग—इष्ट वस्तुओंके मिलने पर प्रसन्न होना और द्वेष—प्रतिकूल सामग्री मिलने पर विषाद युक्त होना ये तीनों भाव ही भावबन्ध हैं ॥ ८३ ॥

अब भावबन्धके अनुसार द्रव्यबन्धका स्वरूप बतलाते हैं—

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसए ।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्मत्ति उवएसो ॥८४॥

जीव इन्द्रियोंके विषयमें आये हुए इष्ट अनिष्ट पदार्थोंको जिस भावसे जानता है, देखता है और राग करता है उसी भावसे पौद्गलिक द्रव्य कर्मका बन्ध होता है ऐसा उपदेश है।

मोह कर्मके दो भेद हैं १ दर्शन मोहनीय और २ चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहके उदयसे यह जीव आत्मस्वरूपको भूलकर पर पदार्थमें आत्म बुद्धि करने लगता है इसे मोह अथवा मिथ्यादर्शन कहते हैं। चारित्र मोहनीयके उदयसे यह जीव इष्ट पदार्थोंको पाकर प्रसन्नताका अनुभव करता है और अनिष्ट पदार्थोंको पाकर दुःखी होता है। जीवकी इस परिणतिको राग द्वेष अथवा कषाय

कहते हैं। द्विविध मोहके उदयसे आत्मामें जो विकार होता है वह भावबन्ध कहलाता है। इस भाव बन्धके होने पर आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाह रूपसे स्थित कार्मणवर्गणामें कर्मरूप परिणमन हो जाता है इसे द्रव्य बन्ध कहते हैं। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यबन्ध भावबन्ध पूर्वक होता है ॥ ८४ ॥

आगे पुद्गलबन्ध, जीवबन्ध और उभय बन्धका स्वरूप बतलाते हैं—

फासेहिं पोग्गलाणं[1] बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णं अवगाहो पोग्गलजीवप्पगो[2] भणिदो ॥८५॥

यथायोग्य स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श गुणोंके द्वारा पूर्व और नवीन कर्मरूप पुद्गल परमाणुओंका जो बन्ध है वह पुद्गल बन्ध है, रागादि भावोंसे जीवमें जो विकार उत्पन्न होता है वह जीव बन्ध है और पुद्गल तथा जीवका जो परस्परमें अवगाह—प्रदेशानुप्रवेश होता है वह पुद्गल जीव बन्ध-उभयबन्ध कहा गया है ॥ ८५ ॥

आगे द्रव्यबन्ध भावबन्धहेतुक है यह सिद्ध करते हैं—

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पोग्गला[3] काया।
पविसंति जहाजोग्गं तिट्ठंति[4] य जंति बज्झंति ॥८६॥

वह आत्मा लोकाकाशके तुल्य असंख्यातप्रदेशी होनेसे सप्रदेश है, उन असंख्यात प्रदेशों में कर्मवर्गणाके योग्य पुद्गल पिण्ड काय वचन और मनोयोगके अनुसार प्रवेश करते हैं, बन्धको प्राप्त होते हैं, स्थितिको प्राप्त होते हैं और फिर चले जाते हैं—निर्जीर्ण हो जाते हैं।

आगममें द्रव्य कर्मबन्धकी चार अवस्थाएं बतलाई हैं १ प्रदेशबन्ध २ प्रकृतिबन्ध ३ स्थितिबन्ध और ४ अनुभागबन्ध। तीव्र मन्द अथवा मध्यम योगोंका आलम्बन पाकर आत्माके असंख्यात प्रदेशोंमें जो कर्मपिण्डका प्रवेश होता है उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं, प्रविष्ट कर्मपिण्ड आत्म-प्रदेशोंके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं, कषायभावके अनुसार कर्मपिण्ड उन आत्मप्रदेशोंमें यथा योग्य समय तक स्थित रहते हैं उसे स्थितिबन्ध कहते हैं और आबाधा काल पूर्ण होने पर कर्मपिण्ड अपना फल देते हुए खिरने लगते हैं इसे अनुभागबन्ध कहते हैं। यह चारों प्रकारका द्रव्यबन्ध भावबन्धपूर्वक होता है ॥ ८६ ॥

आगे द्रव्यबन्धका हेतु होनेसे रागादि परिणामरूप भावबन्ध ही निश्चयसे बन्ध है यह सिद्ध करते हैं—

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥८७॥

रागी जीव कर्मोंको बांधता है और रागरहित आत्मा कर्मोंसे मुक्त होता है। संसारी जीवोंका यह बन्धतत्त्वका संक्षेप कथन निश्चय से जानो।

---

१. पुग्गलाणं ज० वृ०। २. पुग्गल ज० वृ०। ३. पुग्गला ज० वृ०। ४. चिट्ठंति ज० वृ०।

निश्चयसे बन्ध और मोक्षका संक्षिप्त कारण रागका सद्भाव तथा रागका अभाव ही है इसलिये राग भावको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ८७ ॥

आगे परिणाम ही द्रव्यबन्धके साधक हैं यह बतलाते हुए परिणामोंकी विशेषताका वर्णन करते हैं—

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो ।
असुहो मोहपदेसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥ ८८ ॥

जीवके परिणामसे द्रव्यबन्ध होता है, वह परिणाम राग द्वेष तथा मोहसे सहित होता है, उनमें मोह और द्वेष अशुभ हैं तथा राग शुभ और अशुभ दोनों प्रकारका है ॥ ८८ ॥

आगे द्रव्यरूप पुण्य पाप बन्धका कारण होनेसे शुभाशुभ परिणामोंकी क्रमशः पुण्य पाप संज्ञा है और शुभाशुभ भावसे रहित शुद्धोपयोगरूप परिणाम मोक्षका कारण है यह कहते हैं—

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावत्ति भणियमण्णेसु ।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥ ८९ ॥

निज शुद्धात्म द्रव्यसे अन्य—बहिर्भूत शुभाशुभ पदार्थोंमें जो शुभपरिणाम है उसे पुण्य और जो अशुभ परिणाम है उसे पाप कहा है। तथा अन्य पदार्थोंसे हटकर निजशुद्धात्म द्रव्यमें जो परिणाम है वह आगममें दुःखक्षयका कारण बतलाया गया है। ऐसा परिणाम शुद्ध कहलाता है ॥ ८९ ॥

आगे जीवकी स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति और परद्रव्यसे निवृत्ति करनेके लिये स्वपरका भेद दिखलाते हैं—

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवनिकायाध थावरा य तसा ।
अण्णा ते जीवादो जीवोवि य तेहिंदो अण्णो ॥ ९० ॥

पृथिवीको आदि लेकर स्थावर और त्रसरूप जो जीवोंके छह निकाय कहे गये हैं वे सब जीवसे भिन्न हैं और जीव भी उनसे भिन्न है।

यह त्रस और स्थावरका विकल्प शरीरजन्य है। वास्तवमें जीव न त्रस है न स्थावर है। वह तो शुद्ध चैतन्य घनानन्दरूप आत्मद्रव्य मात्र है ॥ ९० ॥

आगे स्वपरका भेद ज्ञान होनेसे जीवकी स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति होती है और स्वपरका भेदज्ञान न होनेसे परद्रव्यमें प्रवृत्ति होती है यह दिखलाते हैं—

जो ण विजाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज ।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदत्ति मोहादो ॥ ९१ ॥

जो जीव इस प्रकार स्वभावको प्राप्तकर पर तथा आत्माको नहीं जानता है वह मोहसे 'मैं शरीरादिरूप हूँ, ये शरीरादि मेरे हैं', ऐसा मिथ्या परिणाम करता है।

जब तक इस जीवको भेद विज्ञान नहीं होता तब तक यह दर्शनमोहके उदयसे 'मैं शरीरादिरूप हूँ' ऐसा, और चारित्रमोहके उदयसे 'ये शरीरादि मेरे हैं—मैं इनका स्वामी हूँ' ऐसा विपरीताभिनिवेश करता रहता है। यह विपरीताभिनिवेश ही संसार भ्रमणका कारण है इसलिये इसे दूर करनेके लिये भेदविज्ञान प्राप्त करना चाहिये॥ ९१॥

आगे आत्माका कर्म क्या है? इसका निरूपण करते हैं—

कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं॥९२॥

अपने स्वभावको करता हुआ आत्मा निश्चयसे स्वभावका ही—स्वकीय चैतन्य परिणामका ही कर्त्ता है पुद्गल द्रव्यरूप द्रव्य कर्म तथा शरीरादि समस्त भावोंका कर्ता नहीं है।

निश्चयसे कर्तृ कर्मका व्यवहार वहीं बनता है जहाँ व्याप्य व्यापक होता है। जीव व्यापक है और उसके चैतन्य परिणाम व्याप्य हैं अतः जीव स्वकीय चैतन्य परिणामका ही कर्ता हो सकता है। ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म और औदारिक शरीरादि नोकर्म पुद्गल द्रव्य हैं। इनका जीवके साथ व्याप्य व्यापक भाव किसी भी तरह सिद्ध नहीं है अतः वह इनका कर्ता त्रिकालमें भी नहीं हो सकता॥ ९२॥

आगे पुद्गल परिणाम आत्माका कर्म क्यों नहीं? यह शङ्का दूर करते हैं—

गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि।
जीवो पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु॥९३॥

जीव सदा काल पुद्गलके बीचमें रहता हुआ भी पौद्गलिक कर्मोंको न ग्रहण करता है, न छोड़ता है और न करता ही है।

जिस प्रकार अग्नि लोह पिण्डके बीचमें रह कर भी उसे न ग्रहण करती है न छोड़ती है और न करती है उसी प्रकार यह जीव भी पुद्गलके बीच रह कर भो न उसे ग्रहण करता है न छोड़ता है और न करता ही है। संसारके सर्व पदार्थ स्वतन्त्र हैं और अपने उपादानसे होने वाले उनके परिणमन भी स्वतन्त्र हैं फिर जीव पुद्गल द्रव्यका कर्ता कैसे हो सकता है?॥ ९३॥

आगे यदि ऐसा है तो आत्मा पुद्गल कर्मोंके द्वारा क्यों ग्रहण किया जाता और क्यों छोड़ा जाता? यह बतलाते हैं—

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स।
आदीयदे कदाई विमुच्चदे कम्मधूलीहिं॥९४॥

वह आत्मा इस समय—संसारी दशामें आत्म द्रव्यसे उत्पन्न हुए अपने ही अशुद्ध परिणामों का कर्ता होता हुआ कर्मरूप धूलीके द्वारा ग्रहण किया जाता है और किसी कालमें छोड़ दिया जाता है।

जब आत्मा अपने आपमें उत्पन्न हुए रागादि अशुद्ध भावोंको करता है तब कर्मरूप धूली उसे आवृत कर देती है और जब आबाधा पूर्ण हो जाती है तब वही कर्मरूपी धूली उस आत्मासे

जुदी हो जाती है—उसे छोड़ देती है। इन दोनोंका ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। यथार्थ में आत्मा न कर्मोंको ग्रहण करती है और न कर्म आत्माको ग्रहण करते हैं। यदि ग्रहण करने लगें तो दोनोंका एक अस्तित्व हो जावे परन्तु ऐसा त्रिकालमें भी नहीं हो सकता क्योंकि सत्का कभी नाश नहीं होता और असत्की उत्पत्ति नहीं होती ॥ ९४ ॥

आगे पुद्गल कर्मोंमें ज्ञानावरणादि रूप विचित्रता किसकी की हुई है यह निरूपण करते हैं—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि रागदोसजुदो ।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥ ९५ ॥

जिस समय यह आत्मा रागद्वेषसे सहित होता हुआ शुभ अथवा अशुभ भावोंमें परिणमन करता है उसी समय कर्मरूपी धूली ज्ञानावरणादि आठ कर्म होकर आत्मामें प्रवेश करती है।

जिस प्रकार वर्षा ऋतुमें जब नूतन मेघका जल भूमिके साथ संयोग करता है तब वहाँके अन्य पुद्गल अपने आप विविध रूप होकर हरीघास, शिलीन्ध्र, तथा इन्द्रगोप कीटक आदि रूप परिणमन करने लगते हैं इसी प्रकार जब रागी द्वेषी आत्मा शुभ-अशुभ भावोंमें परिणमन करता है तब उसका निमित्त पाकर कर्मरूपी धूलीमें ज्ञानावरणादि रूप विचित्रता स्वयं उत्पन्न हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि पुद्गलात्मक कर्मोंमें जो विचित्रता देखी जाती है उसका कर्ता पुद्गल ही है जीव नहीं[1] ॥ ९५ ॥

आगे अभेदनयसे बन्धके कारणभूत रागादिरूप परिणमन करनेवाला आत्मा ही बन्ध कहलाता है यह कहते हैं—

सपदेसो सो अप्पा कसायदो मोहरागदोसेहिं ।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधोत्ति परूविदो समये ॥ ९६ ॥

जो लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशोंसे सहित है तथा मोह राग एवं द्वेषसे कषायित—कषैला होता हुआ कर्मरूपी धूलीसे श्लिष्ट हो रहा है—संबद्ध हो रहा है वह आत्मा ही बन्ध है ऐसा आगममें कहा गया है।

जिस प्रकार अनेक प्रदेशोंवाला वस्त्र, लोध्र, फिटकरी आदि पदार्थोंके द्वारा कषैला होकर जब लाल पीले आदि रंगोंमें रंगा जाता है तब वह स्वयं लाल पीला आदि हो जाता है। उस समय 'यह वस्त्र लाल या पीले रङ्गसे रंगा हुआ है' ऐसा न कहकर 'लाल वस्त्र' 'पीला वस्त्र' यही व्यवहार होने लगता है। उसी प्रकार जब यह आत्मा भावकर्मसे कषायित होकर कर्मरजसे आश्लिष्ट होता है—भावबन्ध पूर्वक द्रव्यबन्धको प्राप्त होता है तब 'यह आत्माका बन्ध है' ऐसा न कहकर अभेदनयसे 'यह बन्ध है' ऐसा कहा जाने लगता है। इस दृष्टिसे आत्मा ही बन्ध है ऐसा कथन सिद्ध हो जाता है ॥ ९६ ॥

---

१. ९५वीं गाथाके बाद ज० वृ० में निम्न गाथा अधिक व्याख्यात है—
'सुयपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसम्मि ।
विपरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥'

आगे निश्चयबन्ध और व्यवहारबन्धका स्वरूप दिखलाते हैं—

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्चएण णिद्दिट्ठो ।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥९७॥

जीवोंके जो रागादि भाव हैं वे ही निश्चयसे बन्ध हैं इस प्रकार बन्ध तत्त्वकी संक्षिप्त व्याख्या अर्हन्त भगवान्ने मुनियोंके लिये बतलाई है। व्यवहारबन्ध इससे विपरीत कहा है अर्थात् आत्माके साथ कर्मोंका जो एक क्षेत्रवगाह होता है वह व्यवहारबन्ध है ॥ ९७ ॥

आगे अशुद्ध नयसे अशुद्ध आत्माकी ही प्राप्ति होती है ऐसा उपदेश करते हैं—

ण जहदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदत्ति देहदविणेसु ।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होइ उम्मग्गं ॥९८॥

जो पुरुष शरीर तथा धनादिकमें 'मैं इन रूप हूं' और 'ये मेरे हैं' इस प्रकारकी ममत्व बुद्धि-को नहीं छोड़ता है वह शुद्धात्मपरिणति रूप मुनिमार्गको छोड़ कर अशुद्ध परिणति रूप उन्मार्ग-को प्राप्त होता है।

शरीर तथा धनादिकको अपना बतलाना अशुद्ध नयका काम है इसलिये जो अशुद्ध नयसे शरीरादिमें अहंता और ममताको नहीं छोड़ता है वह मुनि मुनि पदसे भ्रष्ट होकर मिथ्यामार्गको प्राप्त होता है अतः अशुद्ध नयका आलम्बन छोड़कर सदा शुद्ध नयका ही आलम्बन ग्रहण करना चाहिये ॥ ९८ ॥

आगे शुद्ध नयसे शुद्धात्माका लाभ होता है ऐसा निश्चय करते हैं—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को ।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥९९॥

'मैं शरीरादि परद्रव्योंका नहीं हूँ और ये शरीरादि परपदार्थ भी मेरे नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञान रूप हूँ' इस प्रकार जो ध्यानमें अपने शुद्ध आत्माका चिन्तन करता है वही ध्याता है—वास्त-विक ध्यान करने वाला है।

शुद्धनय शुद्धात्माको शरीर धनादि बाह्य पदार्थोंसे भिन्न बतलाता है। इसलिये उसका आलम्बन लेकर जो अपने आपको बाह्य पदार्थोंसे असंपृक्त-शुद्ध—टंकोत्कीर्ण ज्ञान स्वभाव अनुभव करता है वह शुद्धात्माको प्राप्त होता है और वही सच्चा ध्याता कहलाता है ॥ ९९ ॥

आगे नित्य होनेसे शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है ऐसा उपदेश देते हैं—

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥१००॥

मैं आत्माको ऐसा मानता हूं कि वह ज्ञानात्मक है, दर्शनरूप है, अतीन्द्रिय है, सबसे महान्—श्रेष्ठ है, नित्य है, अचल है, पर पदार्थोंके आलम्बनसे रहित है, और शुद्ध है ॥ १०० ॥

आगे विनाशी होनेके कारण आत्माके सिवाय अन्य पदार्थ प्राप्त करने योग्य नहीं हैं ऐसा उपदेश देते हैं—

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगा अप्पा ॥१०१॥

शरीर अथवा धन, अथवा सुख दुःख, अथवा शत्रु मित्र जन, ये सभी जीवके अविनाशी नहीं हैं। केवल, ज्ञान दर्शन स्वरूप शुद्ध आत्मा ही अविनाशी है।

शरीर धन तथा शत्रु मित्र जन तो स्पष्ट जुदे ही हैं और इन्हें नष्ट होते हुए प्रत्यक्ष देखते भी हैं परन्तु इच्छाकी पूर्तिसे होने वाला सुख और इच्छाके सद्भावमें उत्पन्न होने वाला दुःख भी आत्मासे जुदा है अर्थात् आत्माका स्व स्वभाव नहीं है। तथा संयोग जन्य है अतः क्षण भङ्गुर है। जो सुख इच्छाके अभावमें उत्पन्न होता है उसमें किसी बाह्य पदार्थके आलम्बनकी अपेक्षा नहीं रहती अतः वह नित्य है तथा स्वस्वभाव रूप है। परन्तु ऐसा सुख वीतराग-सर्वज्ञ दशाके प्रकट हुए विना प्राप्त नहीं हो सकता है ॥ १०१ ॥

आगे शुद्धात्माको उपलब्धिसे क्या होता है ? यह कहते हैं—

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागाराणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं ॥१०२॥

जो गृहस्थ अथवा मुनि ऐसा जान कर परमात्मा—उत्कृष्ट आत्म स्वरूपका ध्यान करता है वह विशुद्धात्मा होता हुआ मोह की दुष्ट गांठको क्षीण करता है—खोलता है।

शुद्धात्माकी उपलब्धिका फल अनादिकालीन मोहकी दुष्ट गांठको खोलना है ऐसा जान कर उसकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ १०२ ॥

आगे मोहकी गांठके खुलनेसे क्या होता है ? यह कहते हैं—

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥१०३॥

जो पुरुष मोहकी गांठको खोलता हुआ मुनि अवस्थामें राग द्वेषको नष्टकर सुख दुःखमें समान दृष्टिवाला होता है वह अविनाशी मोक्ष सुखको पाता है।

मोक्षका अविनाशी सुख उसी जीवको प्राप्त हो सकता है जो सर्वप्रथम दर्शनमोहकी गांठको खोलकर सम्यग्दृष्टि बनता है फिर मुनि अवस्थामें राग और द्वेषको क्षीण करता हुआ सुख दुःखमें मध्यस्थ रहता है—अनुकूल प्रतिकूल सामग्रीके मिलनेपर हर्ष-विषादका अनुभव नहीं करता है ॥ १०३ ॥

आगे, एकाग्ररूपसे चिन्तन करना ही जिसका लक्षण है ऐसा ध्यान आत्माकी अशुद्ध दशा को नहीं रहने देता है ऐसा निश्चय करते हैं—

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि धादा[1] ॥१०४॥

---
१. झादा ज० वृ०।

जिसने मोह जन्य कलुषताको दूर कर दिया है, जो पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त है, और मनको रोककर जो स्वस्वभावमें सम्यक् प्रकारसे स्थित है वही पुरुष आत्माका ध्यान करनेवाला है।

जब तक इस पुरुषका हृदय मिथ्या दर्शनके द्वारा कलङ्कित हो रहा है। विषय कषायमें इसकी आसक्ति बढ़ रही है, पवन वेगसे ताड़ित ध्वजाके अञ्चलके समान जब तक इसका चित्त चञ्चल रहता है और विविध इच्छाओंके कारण जब तक इसका ज्ञानोपयोग आत्मस्वभावमें स्थिर न रहकर इधर उधर भटकता रहता है तब तक यह पुरुष शुद्ध आत्मस्वरूपका ध्यान नहीं कर सकता यह निश्चित है॥ १०४॥

आगे जिन्हें शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो गई ऐसे सर्वज्ञ भगवान् किसका ध्यान करते हैं ऐसा प्रश्न प्रकट करते हैं—

णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू।
णेयंतगदो समणो झादि किमट्ठं[1] असंदेहो॥१०५॥

जिन्होंने अत्यन्त दृढ घातिया कर्मोको नष्ट कर दिया है, जो प्रत्यक्षरूपसे समस्त पदार्थोंको जाननेवाले हैं, जो जानने योग्य पदार्थोंके अन्तको प्राप्त हैं तथा संदेह रहित हैं ऐसे महामुनि केवली भगवान् किसलिये अथवा किस पदार्थका ध्यान करते हैं?॥ १०५॥

आगे केवली भगवान् इसका ध्यान करते हैं यह बतलाते हुए पूर्वोक्त प्रश्नका समाधान प्रकट करते हैं—

सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो।
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं॥१०६॥

जो सब प्रकारकी पीडाओंसे रहित हैं, सर्वाङ्ग परिपूर्ण आत्म जन्य अनन्त सुख तथा अनन्त ज्ञानसे युक्त हैं, और स्वयं इन्द्रिय रहित होकर इन्द्रियातीत हैं—इन्द्रिय ज्ञानके अविषय हैं ऐसे केवली भगवान् अनाकुलतारूप उत्कृष्ट सुखका ध्यान करते हैं।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक दो शुक्लध्यान केवली भगवान्के क्रमशः तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें होते हैं ऐसा आगममें लिखा है। ध्यानका लक्षण एकाग्र-चिन्तानिरोध है—किसी एक पदार्थमें मनोव्यापारको स्थिर करना ध्यान कहलाता है। जब कि केवली भगवान् त्रिलोक और त्रिकाल सम्बन्धी समस्त पदार्थोंको एक साथ जान रहे हैं तब उनके किसी एक पदार्थमें एकाग्रचिन्तानिरोधरूप ध्यान किस प्रकार संभव हो सकता है? यह प्रश्न स्वाभाविक है। इसका उत्तर श्री कुन्दकुन्द भगवान्ने इस प्रकार दिया है कि सर्वज्ञदेव जो परम सुखका अनुभव करते हैं वही उनका ध्यान है। यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि उन्हें परम सुख प्राप्त नहीं है इसलिये उसका ध्यान करते हैं। परम सुख तो उन्हें घातिचतुष्कका क्षय होते ही प्राप्त हो जाता है इसलिये उसकी प्राप्तिके लिये ध्यान करते हैं यह बात नहीं है। किन्तु स्थिरीभूत ज्ञानसे उसका अनुभव करते हैं ऐसा भाव ग्रहण करना चाहिये। वास्तवमें स्थिरीभूत ज्ञानको ही

---

१. कमट्ठं ज० वृ०।

ध्यान कहते हैं। ज्ञानमें अस्थिरताके कारण कषाय और योग होते हैं। इनमेंसे कषाय तो दशमगुण स्थान तक ही रहती है उसके आगे योग जन्य अस्थिरता रहती है जो तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें नष्ट होने लगती है और चौदहवें गुणस्थानमें बिलकुल ही नष्ट हो जाती है अतः अस्थिरताके नष्ट हो जानेसे उनका ज्ञान स्थिरीभूत हो जाता है। यही उनका ध्यान है ।। १०६ ।।

आगे यह शुद्धात्माकी प्राप्ति ही मोक्षमार्ग है ऐसा निश्चय करते हैं—

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा ।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स ।।१०७।।

यतः सामान्य केवली, तीर्थंकर केवली तथा अन्य सामान्य मुनि इसी शुद्धात्मोपलब्धिरूप मार्गका अवलम्बनकर सिद्ध हुए हैं अतः उन्हें और उस मोक्षमार्गको मेरा नमस्कार होवे ।। १०७ ।।

आगे श्री कुन्दकुन्द स्वामी स्वयं इसी मोक्षमार्गकी परिणतिको स्वीकृत करते हुए अपनी भावना प्रकट करते हैं—

तम्हा तध[1] जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण[2] ।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि ।।१०८।।

इसलिये मैं भी उन्हीं सामान्य केवली तथा तीर्थंकर केवली आदिके समान स्वभावसे ज्ञायक आत्माको जानकर ममताको छोड़ता हूं और ममताके अभावरूप वीतरागभावमें अवस्थित होता हूँ ।। १०८ ।।[3]

इति भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृते प्रवचनसारपरमागमे ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनो
नाम द्वितीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ।

●

---

१. तह ज० वृ० । २. सहावेण ज० वृ० ।
३. १०८वीं गाथाके बाद ज० वृ० में निम्नलिखित गाथाकी व्याख्या अधिक की गई है—
'दंसनसंसुद्धाणं सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं ।
अव्वाबाधरदाणं णमो णमो सिद्धसाहूणं ।।'

चारित्राधिकारः

आगे श्री कुन्दकुन्दस्वामी दुःखोंसे छुटकारा चाहने वाले पुरुषोंको मुनिपद ग्रहण करनेकी प्रेरणा करते हैं—

एवं पणमिय सिद्धे [1]जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे ।
पडिवज्जद सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ।। १ ।।

हे *भव्यजीवो! यदि आपलोग दुःखोंसे छुटकारा चाहते हैं तो इस प्रकार सिद्धोंको, जिन*-वरोंमें श्रेष्ठ तीर्थकर अर्हन्तोंको और आचार्योपाध्याय सर्व साधु रूप मुनियोंको बार-बार प्रणाम कर मुनि पदको प्राप्त करें ।। १ ।।

मुनि होनेका इच्छुक पुरुष पहले क्या क्या करे यह उपदेश देते हैं—

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोइदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ।। २ ।।

समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं ।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ।। ३ ।।

जो मुनि होना चाहता है वह सर्व प्रथम अपने बन्धुवर्गसे पूछकर गुरु स्त्री तथा पुत्रोंसे छुटकारा प्राप्त करे। फिर ज्ञान दर्शन चारित्र तप और वीर्य इन पांच आचारोंको प्राप्त होकर ऐसे आचार्यके पास पहुँचे जो कि अनेक गुणोंसे सहित हों, कुल रूप तथा अवस्थासे विशिष्ट हों और अन्य मुनि जिसे अत्यन्त चाहते हों। उनके पास पहुँच कर उन्हें प्रणाम करता हुआ यह कहे कि हे प्रभो! मुझे अंगीकार कीजिये। अनन्तर उनके द्वारा अनुगृहीत होकर निम्नाङ्कित भावना प्रकट करे ।। २-३ ।।

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि ।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ।। ४ ।।

'मैं दूसरोंका नहीं हूं, दूसरे मेरे नहीं हैं, और न इस लोकमें मेरा कुछ है।' इस प्रकार निश्चित होकर जितेन्द्रिय होता हुआ सद्योजात बालकके समान दिगम्बर रूपको धारण करे ।। ४ ।।

---

१. सासादनादिक्षीणकषायान्ता एकदेशजिना उच्यन्ते शेषाश्चानागारकेवलिनो जिनवरा भण्यन्ते। तीर्थंकर-परमदेवाश्च जिनवरवृषभा इति तान् जिनवरवृषभान् ज० वृ०।

आगे सिद्धिके कारणभूत बाह्य लिङ्ग और अन्तरङ्ग लिङ्ग इन दो लिङ्गोंका वर्णन करते हैं—

[1]जधजादरूवजादं [2]उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहितं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं॥ ५॥

[3]मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं [4]उवजोगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं [5]जोण्हं॥ ६॥ जुगलं॥

जो सद्योजात बालकके समान निर्विकार निर्ग्रन्थ रूपके धारण करनेसे उत्पन्न होता है, जिसमें शिर तथा दाड़ी-मूंछके बाल उखाड़ दिये जाते हैं, जो शुद्ध है—निर्विकार है, हिंसादि पापोंसे रहित है, और शरीरकी संभाल तथा सजावटसे रहित है वह बाह्य लिङ्ग है। तथा जो मूर्च्छा—परपदार्थोंमें ममता परिणाम और आरम्भसे रहित है, उपयोग और योगकी शुद्धिसे सहित है, परकी अपेक्षासे दूर है एवं मोक्षका कारण है वह श्री जिनेन्द्र देवके द्वारा कहा हुआ अन्तरङ्गलिङ्ग—भावलिङ्ग है।

जैनागममें बहिरङ्ग लिङ्ग और अन्तरङ्ग लिङ्ग—दोनों ही लिङ्ग परस्पर सापेक्ष रहकर ही कार्यके साधक बतलाये हैं। अन्तरङ्ग लिङ्गके बिना बहिरङ्ग केवल नटके समान वेष मात्र है उससे आत्माका कुछ भी कल्याण साध्य नहीं है और बहिरङ्ग लिङ्गके बिना अन्तरङ्ग लिङ्गका होना संभव नहीं है। क्योंकि जब तक बाह्य परिग्रहका त्याग होकर यथार्थ निर्ग्रन्थ अवस्था प्रकट नहीं हो जाती तब तक मूर्च्छा या आरम्भ रूप आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग नहीं हो सकता और जबतक हिंसादि पापोंका अभाव तथा शरीरासक्तिका भाव दूर नहीं हो जाता तबतक उपयोग और योगकी शुद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार उक्त दोनों लिङ्ग ही अपुनर्भव—फिरसे जन्म धारण नहीं करना अर्थात् मोक्षके कारण हैं॥ ५-६॥

आगे श्रमण कौन होता है? यह कहते हैं—

आदाय तंपि गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो॥ ७॥

जो परमभट्टारक अर्हन्त परमेश्वर अथवा दीक्षा गुरुसे पूर्वोक्त दोनों लिङ्गोंको ग्रहण कर उन्हें नमस्कार करता है और व्रत सहित आचार विधिको सुनकर शुद्ध आत्म स्वरूपमें उपस्थित रहता है—अपने उपयोगको अन्य पदार्थोंसे हटाकर शुद्ध आत्म स्वरूपके चिन्तनमें लीन रखता है वह श्रमण होता है॥ ७॥

---

१. जथजादरूपजादं ज० वृ०। २. उप्पादिय—ज० वृ०। ३. मुच्छारंभविमुक्कं ज० वृ०। ४. उवओग- ज० वृ०। ५. जेण्हं ज० वृ०।

आगे यद्यपि श्रमण अखण्डित सामायिक चारित्रको प्राप्त होता है तो भी कदाचित् छेदो-पस्थापक हो जाता है यह कहते हैं—

वदसमदिंदियरोधो लोचावस्सकमचेलमण्हाणं[1] ।
खिदिसयणमदंतवणं[2] ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥ ८ ॥

एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥ ९ ॥

पाँच[3] महाव्रत, [4]पाँच समितियाँ, [5]पाँच इन्द्रियोंका निरोध करना, केशलोंच करना, [6]छह आवश्यक, वस्त्रका त्याग, स्नानका त्याग, पृथिवीपर सोना, दन्तधावन नहीं करना, खड़े-खड़े भोजन करना और एक बार भोजन करना—ये मुनियोंके मूलगुण निश्चय पूर्वक श्री जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे गये हैं। जो मुनि इनमें प्रमाद करता है वह छेदोपस्थापक होता है।

ये अट्ठाईस मूलगुण निर्विकल्प सामायिक चारित्रके भेद हैं इन्हींसे मुनिपदकी सिद्धि होती है। इनमें प्रमाद होनेसे निर्विकल्पक सामायिक चारित्रका भंग हो जाता है इसलिये इनमें सदा सावधान रहना चाहिये। मुनिके अनुभवमें जब यह बात आवे कि मेरे संयमके अमुक भेदमें भङ्ग हुआ है तब वह उसी भेदमें आत्माको फिरसे स्थापित करे। ऐसी दशामें वह मुनि छेदोपस्थापक कहलाता है॥ ८–९॥

आगे आचार्योंके प्रव्रज्यादायक और छेदोपस्थापकके भेदसे दो भेद हैं ऐसा कहते हैं—

लिंगग्गहणं तेसिं गुरुत्ति पव्वज्जदायगो होदि ।
छेदेसूवट्ठग्गा सेसा णिज्जावया समणा ॥ १० ॥

उन मुनियोंको पूर्वोक्त लिङ्ग ग्रहण करानेवाले गुरु प्रव्रज्यादायक—दीक्षा देनेवाले गुरु होते हैं और एकदेश तथा सर्वदेशके भेदसे दो प्रकारका छेद होनेपर जो पुनः उसी संयममें फिरसे स्थापित करते हैं वे अन्य मुनि निर्यापक गुरु कहलाते हैं।

विशाल मुनिसंघमें दीक्षा गुरु और निर्यापक गुरु इस प्रकार पृथक्-पृथक् दो गुरु होते हैं। दीक्षागुरु नवीन शिष्योंको दीक्षा देते हैं और निर्यापकगुरु संयमका भंग होनेपर संघस्थ मुनियोंको प्रायश्चित्तादिके द्वारा पुनः संयममें स्थापित करते हैं। अल्पमुनि संघमें एक ही आचार्य दोनों काम कर सकते हैं॥ १०॥

आगे संयमका भङ्ग होने पर उसके पुनः जोड़ने की विधि कहते हैं—

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्मि ।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ॥ ११ ॥

---

१. लोचावस्सय ज० वृ०। २. -मदंतवणं ज० वृ०। ३. अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ४ ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापन। ५. स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और कर्ण इनका निरोध करना। ६. समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग।

छेदुं[1]पजुत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्मि ।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं ॥ १२ ॥

यत्नपूर्वक प्रारम्भ हुई शरीरकी चेष्टामें यदि साधुके भंग होता है तो उसका आलोचना पूर्वक फिरसे वही क्रिया करना प्रायश्चित्त है और जो साधु अन्तरङ्ग संयमभंग रूप उपयोगसे सहित है वह जिनमतमें व्यवहार क्रियामें चतुर किसी अन्य मुनिके पास जाकर आलोचना करे तथा उनके द्वारा वतलाये हुए प्रायश्चित्तका आचरण करे ।

वहिरङ्ग और अन्तरङ्गके भेदसे संयमका भंग दो प्रकारका है—जहाँ प्रमाद रहित ठीक ठीक प्रवृत्ति करते हुए भी कदाचित् शारीरिक क्रियाओंमें भङ्ग हो जाता है उसे वहिरङ्ग संयमका भङ्ग कहते हैं । इसका प्रायश्चित्त यही है कि उस भंगकी आलोचना करे तथा पुनः वैसी प्रवृत्ति न कर पूर्ववत् ठीक ठीक आचरण करे । जहाँ उपयोग रूप संयमका भङ्ग होता है उसे अन्तरङ्ग संयमका भङ्ग कहते हैं । जिस मुनिके यह अन्तरङ्ग संयमका भङ्ग हुआ हो वह जिनप्रणीत आचारमार्गमें निपुण किसी निर्यापकाचार्यके पास जाकर छलरहित अपने दोषोंकी आलोचना करे और वे निर्यापकाचार्य जो प्रायश्चित्त दें उसका शुद्ध हृदयसे आचरण करे । ऐसा करनेसे ही छूटा हुआ संयम पुनः प्राप्त हो सकता है ॥ ११-१२ ॥

आगे मुनि पदके भङ्गका कारण होनेसे परपदार्थोंके साथ सम्बन्ध छोड़ना चाहिये ऐसा कहते हैं—

अधिवासे य विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे ।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि ॥ १३ ॥

मुनि, मुनिपदमें अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग भङ्गसे रहित होकर निरन्तर परपदार्थोंमें राग द्वेष पूर्ण सम्वन्धोंको छोड़ता हुआ गुरुओंके समीपमें अथवा किसी अन्य स्थानमें विहार करे ।

नव दीक्षित साधु अपने गुरुजनोंसे अधिष्ठित गुरुकुल में निवास करे अथवा अन्य किसी स्थानपर । परन्तु वह सदा मुनिपदके भङ्गके कारणोंको वचाता रहे और वाह्य पदार्थोंमें राग द्वेषरूप सम्बन्धको छोड़ता रहे अन्यथा उसका चारित्र मलिन होनेकी संभावना रहती है ॥ १३ ॥

आगे आत्मद्रव्यमें सम्बन्ध होनेसे ही मुनिपदकी पूर्णता होती है ऐसा उपदेश करते हैं—

चरदि णिवद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि ।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ॥ १४ ॥

जो मुनि, ज्ञानमें तथा दर्शन आदि गुणोंमें लीन रहकर निरन्तर प्रवृत्ति करता है और पूर्वोक्त मूलगुणोंमें निरन्तर प्रयत्नशील रहता है उसीका मुनिपना पूर्णताको प्राप्त होता है ।

सच्चा श्रमण—साधु—मुनि वही है जो वाह्य पदार्थोंसे हटकर शुद्ध ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगरूप स्वस्वभावमें निरन्तर लीन रहता है । तथा अट्ठाईस मूलगुणोंका निरतिचार पालन करता है ॥ १४ ॥

---

१. छेदपउत्तो ज० वृ० ।

आगे मुनिपदके भङ्गका कारण होनेसे मुनिको प्रासुक आहार आदिमें भी ममत्व नहीं करना चाहिये यह कहते हैं—

भत्ते वा खवणे वा आवसधे[1] वा पुणो विहारे वा ।
उवधिम्मि[2] वा णिवद्धं णेच्छदि समणम्मि विकधम्मि[3] ॥ १५ ॥

उत्तममुनि, भोजनमें, अथवा उपवासमें, अथवा गुहा आदि निवास स्थानमें, अथवा विहार कार्यमें, अथवा शरीररूप परिग्रहमें, अथवा साथ रहने वाले अन्य मुनियोंमें, अथवा विकथामें ममत्व-पूर्वक सम्वन्धकी इच्छा नहीं करता है ॥ १५ ॥

आगे प्रमादपूर्ण प्रवृत्ति ही मुनिपदका भंग है ऐसा कहते हैं—

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु ।
समणस्स सव्वकालं[4] हिंसा सा संततत्ति[5] मदा ॥ १६ ॥

सोना, वैठना, खड़ा होना तथा विहार करना आदि क्रियाओंमें साधुकी जो प्रयत्न रहित—स्वच्छन्द प्रवृत्ति है वह निरन्तर अखण्ड प्रवाहसे चलने वाली हिंसा है ऐसा माना गया है।

प्रमादपूर्ण प्रवृत्तिसे हिंसा होती है और हिंसासे मुनिपदका भंग होता है अतः मुनिको चाहिये कि वह सदा प्रमाद रहित प्रवृत्ति करें ॥ १६ ॥

आगे छेद अर्थात् मुनिपदका भंग अन्तरङ्ग और बहिरङ्गके भेदसे दो प्रकारका होता है ऐसा कहते हैं—

मरदु व जिवदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि वंधो हिंसामेत्तेण समिदीसु ॥ १७ ॥

दूसरा जीव मरे अथवा न मरे परन्तु अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने वालेके हिंसा निश्चित है अर्थात् वह नियमसे हिंसा करने वाला है तथा जो पाँचों समितियोंमें प्रयत्नशील रहता है अर्थात् यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करता है उसके बाह्य हिंसामात्रसे बन्ध नहीं होता है।

आत्मामें प्रमादकी उत्पत्ति होना भावहिंसा है और शरीरके द्वारा किसी प्राणीका विघात होना द्रव्यहिंसा है। भावहिंसासे मुनिपदका अन्तरङ्ग भङ्ग होता है और द्रव्यहिंसासे बहिरङ्ग भङ्ग होता है। बाह्यमें जीव चाहे मरे चाहे न मरे परन्तु जो मुनि अयत्नाचार पूर्वक गमना-गमनादि करता है उसके प्रमादके कारण भावहिंसा होनेसे मुनिपदका अन्तरङ्ग भङ्ग निश्चितरूपसे होता है और जो मुनि प्रमादरहित प्रवृत्ति करता है उसके बाह्यमें जीवोंका विघात होने पर भी प्रमादके अभावमें भावहिंसा न होनेसे हिंसाजन्य पापवन्ध नहीं होता है। भावहिंसाके साथ होने वाली द्रव्यहिंसा ही पापवन्धका कारण है। केवल द्रव्यहिंसासे पापवन्ध नहीं होता परन्तु भावहिंसा द्रव्य-

---

१. आवसहे ज० वृ० । २. उवविम्हि ज० वृ० । ३. विकहम्हि ज० वृ० । ४. सव्वकाले ज० वृ० ।
५. संततित्ति ज० वृ० ।

हिंसाकी अपेक्षा नहीं रखती। वह हो अथवा न भी हो परन्तु भावहिंसाके होने पर नियमसे पापबन्ध होता है। इसलिये निरन्तर प्रमाद रहित ही प्रवृत्ति करना चाहिये ॥ १७ ॥[1]

आगे भावहिंसारूप अन्तरङ्ग भङ्ग (छेद) का सर्व प्रकारसे त्याग करना चाहिये ऐसा कहते हैं—

अयदाचारो समणो छस्सुवि कायेसु [2]वंधगोत्ति मदो ।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥ १८ ॥

अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने वाला साधु छहों कायोंके विषयमें बन्ध करने वाला है ऐसा माना गया है और वही साधु यदि निरन्तर यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करता है तो जलमें कमल की तरह कर्मबन्धरूप लेपसे रहित होता है ॥ १८ ॥

आगे अन्तरङ्ग छेदका कारण होनेसे परिग्रहका सर्वथा त्याग करना चाहिये ऐसा कहते हैं—

हवदि व ण हवदि बंधो [3]मदे हि जीवेऽध [4]कायचेट्ठम्मि ।
वंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छंडिया सव्वं ॥ १९ ॥

गमनागमन रूप शरीरकी चेष्टामें जीवके मरनेपर कर्मका बन्ध होता भी है और नहीं भी होता है परन्तु परिग्रहसे कर्मबन्ध निश्चित होता है इसलिये मुनि सब प्रकारके परिग्रहका त्याग करते हैं।

यदि अन्तरङ्गमें प्रमाद परिणति है तो बाह्यमें जीववध कर्मबन्धका कारण होता है अन्यथा नहीं। इसलिये कहा है कि शरीरकी चेष्टामें जो त्रस स्थावर जीवोंका विघात होता है उससे कर्म-बन्ध होता भी है और नहीं भी होता है परन्तु परिग्रह अन्तरङ्गके मूर्च्छा परिणामके विना नहीं होता अतः उसके रहते हुए कर्मबन्ध जारी ही रहता है। यह विचार कर मुनि सब प्रकारके परि-ग्रहका त्याग कर चुकते हैं। यहाँ तक कि वस्त्र तथा भोजन पात्र वगैरह कुछ भी अपने पास नहीं रखते हैं ॥ १९ ॥

अब, यहाँ कोई यह आशङ्का करे कि बाह्यपरिग्रहका सर्वथा त्याग कर देनेपर भी यदि अन्तरङ्गमें उसकी लालसा बनी रहती है तो उस त्यागसे क्या लाभ है ? इस प्रश्नका समाधान करते हुए कहते हैं कि मुनिका जो बाह्य परिग्रह त्याग है वह अन्तरङ्ग लालसासे रहित ही होता है—

ण हि णिरवेक्खो चाओ ण हवदि भिक्खुस्स [5]आसयविसुद्धी ।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु[6] कम्मक्खओ विहिओ ॥ २० ॥

---

१. १७वीं गाथाके बाद ज० वृ० में निम्नाङ्कित दो गाथाओंकी व्याख्या अधिक की गई है—
उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए ।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज ॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो वंधो सुहुमो य देसिदो समये ।
मुच्छापरिग्गहोच्चिय अज्झप्पयमाणदो दिट्ठो ॥२॥ जुम्मं

२. बधकरोत्ति ज० वृ० । ३. मदम्हि ज० वृ० । ४. कायचेट्ठम्हि ज० वृ० । ५. आसयविसोहो ज० वृ० ।
६. कहं तु ज० वृ० ।

मुनिका त्याग यदि निरपेक्ष नहीं है—अन्तरङ्गकी लालसासे रहित नहीं है तो उसके आशय-उपयोगकी विशुद्धि नहीं हो सकती और जिसके आशयमें विशुद्धता नहीं है उसके कर्मोंका क्षय कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

जिस प्रकार जब तक धानका छिलका दूर नहीं हो जाता तब तक उसके भीतर रहनेवाले चावलकी लालिमा दूर नहीं की जा सकती इसी प्रकार जब तक बाह्य परिग्रहका त्याग नहीं हो जाता तब तक अन्तरङ्गमें निर्मलता नहीं आ सकती और जब तक अन्तरङ्गमें निर्मलता नहीं आ जाती तब तक कर्मोंका क्षय किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि कर्मक्षयके लिये अन्तरङ्गकी विशुद्धि आवश्यक है और अन्तरङ्गकी विशुद्धिके लिये बाह्य परिग्रहका त्याग आवश्यक है। जहाँ बाह्य परिग्रहके त्यागका उपदेश है वहाँ अन्तरङ्गकी लालसाका त्याग भी स्वतः सिद्ध है क्योंकि उसके विना केवल बाह्य त्यागसे आत्माका कल्याण नहीं हो सकता यह निश्चित है ॥ २० ॥[1]

आगे अन्तरङ्ग संयमका घात परिग्रहसे ही होता है ऐसा कहते हैं—

किध[2] [3]तम्मि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।
तध[4] परदव्वम्मि रदो कध[5]मप्पाणं [6]पसाधयदि ॥ २१ ॥

उस परिग्रहकी आकांक्षा रखनेवाले पुरुषमें मूर्च्छा—ममतापरिणाम, आरम्भ तथा संयमका विघात किस प्रकार नहीं हो ? अर्थात् सब प्रकारसे हो। तथा जो साधु परद्रव्यमें रत रहता है वह आत्माका प्रसाधन कैसे कर सकता है—आत्माको उज्ज्वल कैसे बना सकता है।

यदि कोई ऐसा कहे कि हम बाह्य परिग्रह रखते हुए भी उसमें मूर्च्छा परिणाम नहीं करते हैं इसलिये हमारी उससे कोई हानि नहीं होती है। इसके उत्तरमें श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जिसके पास परिग्रह है उसकी उस परिग्रहमें मूर्च्छा न हो, तज्जन्य आरम्भ न हो और उन दोनोंके निमित्तसे उसके संयममें कोई बाधा न हो यह संभव नहीं है। जहाँ परिग्रह होगा वहाँ मूर्च्छा आरम्भ और असंयम नियमसे रहते हैं। इसके सिवाय जो शुद्ध आत्मद्रव्यको छोड़कर परद्रव्यमें रत रहता है वह अपनी आत्माका प्रसाधन नहीं कर पाता क्योंकि उसके लिये उपयोगका तन्मयैक-भाव आवश्यक है और वह तब तक संभव नहीं होता जब तक परिग्रहमें आसक्ति बनी रहती है। इसलिये अन्तरङ्ग संयमका घातक समझकर साधुको परिग्रह दूरसे ही छोड़ देना चाहिये ॥ २१ ॥

---

१. २०वीं गाथाके बाद ज० वृ० में निम्नलिखित गाथाएँ अधिक पायी जाती हैं—
गेह्णदि व चेलखंडं भायणमत्थित्ति भणिदमिह सुत्ते।
जदि सो चत्तालंबो हवदि कहं वा अणारंभो ॥१॥
वत्थक्खंडं दुद्दियभायणमण्णं च गेह्णदि णियदं।
विज्जदि पाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि ॥२॥
गेह्णइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता।
पत्थं च चेलखंडं विभेदि परदो य पालयदि ॥३॥ विसेसयं

२. किह ज० वृ०। ३. तम्हि ज० वृ०। ४. तह। ५. कह ज० वृ०। ६. पसाहयदि ज० वृ०।

आगे परमोपेक्षारूप संयम धारण करनेकी शक्ति न होने पर आहार तथा संयम, शौच और ज्ञानके उपकरण मुनि ग्रहण कर सकते हैं ऐसा कहते हैं—

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणत्ता ॥ २२ ॥

ग्रहण करते तथा छोड़ते समय धारण करने वाले मुनिके जिस परिग्रहसे संयमका घात न हो, मुनि, काल तथा क्षेत्रका विचार कर उस परिग्रहसे इस लोकमें प्रवृत्ति कर सकता है।

यद्यपि जहाँ समस्त परिग्रहका त्याग होता है ऐसा परमोपेक्ष रूप संयम ही आत्माका धर्म है। यही उत्सर्गमार्ग है परन्तु अब क्षेत्र और कालके दोषसे मनुष्य हीन शक्तिके धारक होने लगे हैं अतः परमोपेक्षारूप संयमके धारक मुनि अत्यल्प रह गये हैं। हीन शक्तिके धारक मुनियोंको शरीरकी रक्षा के लिये आहार ग्रहण करना पड़ता है, विहारादिके समय शारीरिक शुद्धिके लिये कमण्डलु रखना पड़ता है, उठते-बैठते समय जीवोंका विघात बचानेके लिये मयूरपिच्छ रखना पड़ती है तथा उपयोगकी स्थिरता और ज्ञानकी वृद्धिके लिये शास्त्र रखना होता है। यद्यपि ये परिग्रह हैं और परमोपेक्षारूप संयमके धारक मुनिके इनका अभाव होता है परन्तु अल्पशक्तिके धारक मुनियोंका इनके बिना निर्वाह नहीं हो सकता इसलिये कुन्दकुन्द स्वामी अपवाद मार्गके रूपमें इनके ग्रहण करनेकी आज्ञा प्रदान करते हैं। इनके ग्रहण करते समय मुनिको इस बातका विचार अवश्य ही करना चाहिये कि हमारे द्वारा स्वीकृत उपकरणोंमें कोई उपकरण संयमका विघात करने वाला तो नहीं है। यदि हो तो उसका परित्याग करना चाहिये। यहाँ कितने ही लोग, कालका अर्थ शीतादि ऋतु और क्षेत्रका अर्थ शीत प्रधान आदि देश लेकर ऐसा व्याख्यान करने लगते हैं कि मुनि शीत प्रधान देशोंमें शीत ऋतुके समय कम्बलादि ग्रहण कर सकते हैं ऐसी कुन्दकुन्द स्वामीकी आज्ञा है। सो यह उनकी मिथ्या कल्पना है। कुन्दकुन्द स्वामी तो अणुमात्र परिग्रहके धारक मुनिको निगोदका पात्र बतलाते हैं। वे कम्बल धारण करनेकी आज्ञा किस प्रकार दे सकते हैं। इसी गाथामें वे स्पष्ट लिख रहे हैं कि जिनके ग्रहण करने तथा छोड़नेमें वीतराग भावरूप संयम पदका भङ्ग न हो ऐसे परिग्रह से मुनि अपनी प्रवृत्ति—निर्वाह मात्र कर सकता है उसे अपना समझकर ग्रहण नहीं कर सकता। कम्बलादिके ग्रहण और त्याग दोनोंमें ही राग द्वेषकी उत्पत्ति होनेसे वीतराग भाव रूप संयमका घात होता है यह प्रत्येक मनुष्य अपने अनुभवसे समझ सकता है अतः वह कदापि ग्राह्य नहीं है॥ २२ ॥

आगे अपवादमार्गी मुनिके द्वारा ग्रहण करने योग्य परिग्रहका स्पष्ट वर्णन करते हैं—

अप्पडिकुट्ठं[1] उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं[2] ।
मुच्छादिजणणरहिदं[3] गेण्हदु समणो जदि[4] वियप्पं ॥ २३ ॥

अपवादमार्गी उस परिग्रहको ग्रहण करे जो कि कर्मबन्धका साधक न होनेसे अप्रतिक्रुष्ट हो—अनिन्दित हो, असंयमी मनुष्य जिसे पानेकी इच्छा न करते हों, ममता आदिकी उत्पत्तिसे रहित हो और थोड़ा हो।

१. अप्पदिकुट्ठं ज० वृ०। २. असंजदजणस्स। ३. रहियं ज० वृ०। ४. जदिवि अप्पं।

अपवादमार्गी मुनिको कमण्डलु पीछी और शास्त्र ग्रहण करनेकी आज्ञा है सो मुनि ऐसे कमण्डलु आदिको ग्रहण करे जिसके निर्माणमें हिंसा आदि पाप न होते हों, जिसे देखकर अन्य मनुष्योंका मन न लुभा जावे, जो रागादि भावोंको बढ़ानेवाले न हों और परिमाणमें एकाधिक न हों। जैसे मुनि यदि कमण्डलु ग्रहण करें तो मिट्टी या लकड़ीका अथवा तूँबा आदिका ग्रहण करें। तामा, पीतल या चर्म आदिका ग्रहण न करें तथा एकसे अधिक न रक्खें। क्योंकि चर्मका बना कमण्डलु हिंसाजन्य और हिंसाका जनक होनेसे प्रतिक्रुष्ट है--निन्दित है तामा, पीतल आदिका कमण्डलु अन्य असंयमी मनुष्योंके द्वारा चुराया जा सकता है। और एकसे अधिक होनेपर उसके संरक्षणादि जन्य आकुलता उत्पन्न होने लगती है। इसी प्रकार पीछी भी ऐसी हो जो सजावटसे रहित हो। मयूरपिच्छसे बनी हुई। शास्त्र भी एक दो से अधिक साथमें न रक्खे। कितने ही साधुओंके साथ अनेकों शास्त्रोंसे भरी पेटियाँ चलती हैं यह जिनाज्ञाके विरुद्ध होनेसे ठीक नहीं है ॥ २३ ॥

आगे उत्सर्ग मार्ग ही वस्तुधर्म है अपवाद मार्ग नहीं ऐसा उपदेश देते हैं--

किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहेवि[1] ।
संगंत्ति[2] जिणवरिंदा [3]अप्पडिकम्मत्तिमुद्दिट्ठा ॥ २४ ॥

जब मोक्षके अभिलाषी मुनिके, शरीरमें भी यह परिग्रह है, ऐसा जानकर श्री जिनेन्द्रदेवने अप्रतिकर्मत्व अर्थात् ममत्वभाव सहित शरीरकी क्रियाके त्यागका उपदेश दिया है तब उस मुनिके क्या अन्य कुछ भी परिग्रह है ऐसा विचार होता है।

जब श्री जिनेन्द्रदेवने शरीरको भी परिग्रह बतलाकर उसमें ममतामयी क्रियाओंके त्यागका उपदेश दिया है तब अन्य परिग्रह मुनि कैसे रख सकते हैं? ॥[4] २४ ॥

---

१. देहोवि ज० वृ०। २. संगोत्ति ज० वृ०। ३. अप्पडिकम्मत्त। ४. २४ वीं गाथा के आगे ज० वृ० में स्त्रीमुक्तिका निराकरण करने वाली ११ गाथाओंकी व्याख्या अधिक की गई है। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं—

पेच्छदि ण हि इह लोगं परं च समणिंददेसिदो धम्मो।
धम्मम्हि तम्हि कम्हा वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥ १ ॥
णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा।
तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥ २ ॥
पइडीपमादमइया एतासिं वित्ति भासिया पमदा।
तम्हा ताओ पमदा पमादबहुलोत्ति णिद्दिट्ठा ॥ ३ ॥
संति धुवं पमदाणं मोहपदोसा भयं दुगंच्छा य।
चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाणं ॥ ४ ॥
ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि।
ण हि संउणं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं ॥ ५ ॥
चित्तस्सावो तासिं सित्थिल्लं अत्तवं च पक्खलणं।
विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहुममणुआणं ॥ ६ ॥
लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु।
भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि ॥ ७ ॥

आगे यथार्थमें उपकरण कौन हैं ? यह बतलाते हैं—

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च पण्णत्तं ॥२५॥

जिनमार्गमें यथाजातरूप—निर्ग्रन्थमुद्रा, गुरुओंके वचन, उनका विनय और शास्त्रोंका अध्ययन ये उपकरण कहे गये हैं।

जिनके द्वारा परम वीतरागरूप शुद्ध आत्मदशाकी प्राप्तिमें सहयोग प्राप्त हो उन्हें उपकरण कहते हैं। ऐसे उपकरण जिनशासनमें निम्नलिखित ४ माने गये हैं। १ सद्योजात वालकके समान निर्विकार दिगम्बर मुद्रा, २ पूज्य गुरुओंके वचनानुसार प्रवृत्ति करना, ३ गुण तथा गुणाधिक मुनियोंकी विनय करना और ४ शास्त्र अध्ययन करना। यथार्थमें आत्माकी शुद्ध दशाकी प्राप्तिमें इन्हीं कारणोंसे साक्षात् सहयोग प्राप्त होता है इसलिये ये ही वास्तविक उपकरण हैं। परन्तु ये चारों ही सहजानन्दस्वरूप शुद्धात्मद्रव्यसे बहिर्भूत शरीररूप पुद्गल द्रव्यके आश्रित हैं अतः परिग्रह हैं और त्याज्य हैं॥ २५॥

पहले कह आये हैं कि मुनिके शरीरमात्र परिग्रह होता है। अब आगे उसके पालनकी विधिका उपदेश करते हैं—

इह लोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो[1] परम्मि लोयम्मि।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥२६॥

इस लोकसे निरपेक्ष और परलोककी आकांक्षासे रहित साधु कषाय रहित होता हुआ योग्य आहार विहार करनेवाला हो।

मुनि इस लोक सम्वन्धी मनुष्य पर्यायसे निरपेक्ष रहता है और परलोकमें प्राप्त होनेवाले देवादि पर्याय सम्बन्धी सुखोंकी आकांक्षा नहीं करता है इसलिये इष्टानिष्ट सामग्रीके संयोगसे होने वाले कषायभावपर विजय प्राप्त करता हुआ योग्य आहार ग्रहण करता है तथा ईर्यासमिति पूर्वक आवश्यक विहार भी करता है॥ २६॥[2]

जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता।
घोरं चरदि व चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा॥ ८॥
तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं।
फलरूववओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा॥ ९॥
वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो॥ १०॥
जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहि णिद्दिट्ठो।
सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणा अरिहो॥ ११॥

१. अप्पडिवंधो ज० वृ०। २. २६वीं गाथाके वाद ज० वृ० में निम्नलिखित गाथा अधिक व्याख्यात है—

कोहादिएहि चउविहि विकहाहि तहिंदियाणमत्थेहिं।
समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेह णिद्दाहिं॥१॥

आगे योग्य आहार विहार करनेवाला साधु आहार विहारसे रहित होता है ऐसा उपदेश देते हैं—

जस्स अणेसणमप्पा तंपि तओ[1] तप्पडिच्छगा समणा ।
अण्णं भिक्खमणेसणमध[2] ते समणा अणाहारा ॥२७॥

मुनिकी आत्मा परद्रव्यका ग्रहण न करनेसे निराहार स्वभाववाली है, वही उनका अन्तरङ्ग तप है, मुनि निरन्तर उसी अन्तरङ्ग तपकी इच्छा करते हैं और एषणाके दोषों रहित जो भिक्षा वृत्ति करते हैं उसे सदा अन्य अर्थात् भिन्न समझते हैं इसलिये वे आहार ग्रहण करते हुए भी निराहार हैं ऐसा समझना चाहिये ।

इसी प्रकार विहार रहित स्वभाव होनेके कारण विहार करते हुए भी विहार रहित होते हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ २७ ॥

आगे मुनिके युक्ताहारपन कैसे सिद्ध होता है यह कहते हैं—

केवलदेहो समणो देहे[3] ण ममेत्तिरहिदपरम्मो ।
आउत्तो तं तवसा [4]अणिगूहं अप्पणो सत्तिं ॥२८॥

श्रमण, केवल शरीर रूप परिग्रहसे युक्त होता है, शरीरमें भी 'यह मेरा नहीं है' ऐसा विचार कर सजावटसे रहित होता है, और अपनी शक्तिको न छुपा कर उसे तपसे युक्त करता है अर्थात् तपमें लगाता है ।

मुनि, शरीरको सदा स्वशुद्धात्म द्रव्यसे बहिर्भूत मानते हैं इसलिये कभी उसका संस्कार नहीं करते हैं और अपनी शक्ति अनुसार उसे तपमें लगाते हैं इसलिये उनके युक्ताहारपना अनायास सिद्ध है ॥ २८ ॥

आगे युक्ताहारका स्वरूप विस्तारसे कहते हैं—

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जधा लद्धं[5] ।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं[6] ॥२९॥

मुनिका वह भोजन निश्चयसे एक ही बार होता है, अपूर्ण उदर (खाली पेट) होता है, सरस-नीरस जैसा मिल जाता है वैसा ही ग्रहण किया जाता है, भिक्षावृत्तिसे प्राप्त होता है, दिनमें ही लिया जाता है, रसकी अपेक्षासे रहित होता है और मधुमांस रूप नहीं होता हैं ॥ २९ ॥[7]

---

१. तवो ज० वृ० । २. एषणादोषशून्यम् ज० वृ०, अन्नस्य'हारस्यैषणं वाञ्छान्नेषणम् ज० वृ० ।
३. देहेवि ममत्त ज० वृ० । ४. अणिगूहिय ज० वृ० । ५. जहालद्धं ज० वृ० । ६. मदुमंसं ज० वृ० ।
७. २९वीं गाथाके आगे ज० वृ० में निम्नाङ्कित ३ गाथाएँ अधिक व्याख्यात हैं—

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु ।
संत्तत्तियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं ॥ १ ॥
जो पक्कमपक्कं वा पेसी मंसस्स खादि पासदि वा ।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं ॥ २ ॥
अप्पडिकुट्ठं पिंडं पाणिगयं णेव देयमण्णस्स ।
दत्ताभोत्तुमजोग्गं भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो ॥ ३ ॥ ज० वृ० । (अप्पडिकुट्ठाहारं—) इत्यपि पाठः

आगे उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्गकी मित्रतासे ही चारित्रकी स्थिरता रह सकती है ऐसा कहते हैं—

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरउ सजोग्गं मूलच्छेदं जधा ण हवदि ।। ३० ।।

जो मुनि बालक है अथवा वृद्ध है अथवा तपस्या या मार्गके श्रमसे खिन्न है, अथवा रोगादिसे पीड़ित है वह अपने योग्य उस प्रकार चर्याका आचरण कर सकता है जिस प्रकारकी मूल संयमका घात न हो।

'संयमका साधन शुद्धात्मतत्त्व ही है शरीर नहीं है' ऐसा विचार कर शरीर रक्षाकी ओर दृष्टि न डाल, बालक, वृद्ध, श्रान्त अथवा ग्लान मुनिको भी स्वस्थ तरुण तपस्वीके समान ही कठोर आचरण करना चाहिये यह उत्सर्गमार्ग है और 'शरीर भी संयमका साधन है। क्योंकि मनुष्य-शरीरके नष्ट होने पर देवादिके शरीरसे संयम धारण नहीं किया जा सकता है ऐसा विचार कर शरीर रक्षाकी ओर दृष्टि डाल, बालक वृद्ध श्रान्त अथवा ग्लान मुनि मूलसंयमका घात न करते हुए कोमल आचरण कर सकते हैं यह अपवाद मार्ग है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी यहाँ प्रकट कर रहे हैं कि उक्त दोनों ही मार्ग परस्परमें सापेक्ष हैं। आचरणमें शिथिलता न आ जावे इसलिये उत्सर्गमार्गको धारण करना चाहिये और असमयमें शरीर नष्ट न हो जाय इसलिये मूल संयमकी विराधना न करते हुए अपवाद मार्ग भी धारण करना चाहिये। क्योंकि किसी एक मार्गके आलम्बन में संयमकी सिद्धि नहीं हो सकती है ।। ३० ।।

आगे उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्गके विरोधसे चारित्रमें स्थिरता नहीं आ सकती है यह कहते हैं—

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ।। ३१ ।।

मुनि, देश काल श्रम सहनशक्ति और शरीररूप परिग्रहको अच्छी तरह जानकर आहार तथा विहारमें प्रवृत्ति करता है। यद्यपि ऐसा करनेसे उसके अल्प कर्मबन्ध होता है तो भी वह आहारादिमें उक्त प्रकारसे प्रवृत्ति करता है।

आहारादिके ग्रहणमें अल्प कर्मबन्ध होता है, इस भयसे जो अत्यन्त कठोर आचरणके द्वारा शरीरको नष्ट कर देते हैं वे देवपर्यायमें पहुँचकर असंयमी हो जाते हैं और संयमके अभावमें उनके अधिक कर्मबन्ध होने लगता है। इस प्रकार अपवादमार्गका विरोध कर केवल उत्सर्गमार्गके अपनानेसे चारित्र गुणका घात होता है। इसी प्रकार कोई शिथिलाचारी मुनि आहार विहारमें प्रवृत्ति करते हुए शुद्धात्म भावनाकी उपेक्षा कर देते हैं उनके ऐसा करनेसे अधिक कर्मबन्ध होने लगता है इस प्रकार उत्सर्गमार्गका विरोधकर केवल अपवादमार्गके अपनानेसे चारित्र गुणका घात होता है अतः उसकी स्थिरता रखनेवाले मुनियोंको उक्त दोनों मार्गोंमें निर्विरोध प्रवृत्ति करना चाहिये ऐसी शास्त्राज्ञा है ।। ३१ ।।

आगे एकाग्रतारूप मोक्षमार्गका कथन करते हैं। उस एकाग्रताका मूल साधन आगम है अतः उसीमें चेष्टा करना चाहिये यह बतलाते हैं—

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥३२॥

श्रमण वही है जो एकाग्रताको प्राप्त है, एकाग्रता उसीके होती है जो जीवाजीवादि पदार्थोंके विषयमें निश्चित है अर्थात् संशय विपर्ययादि रहित सम्यग्ज्ञानका धारक है, और पदार्थोंका निश्चय आगमसे होता है इसलिये आगमके विषयमें चेष्टा करना—आगमका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उद्योग करना श्रेष्ठ है ॥ ३२ ॥

आगे आगमसे हीन मुनि कर्मोंका क्षय नहीं कर सकता यह कहते हैं—

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ॥३३॥

आगमसे हीन मुनि न आत्माको जानता है और न आत्मासे भिन्न शरीरादि परपदार्थों को। स्व परपदार्थोंको नहीं जाननेवाला भिक्षु कर्मोंका क्षय कैसे कर सकता है ?

आगे मोक्षमार्गमें गमन करने वाले साधुके आगम ही चक्षु है यह बतलाते हैं—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य[1] ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥३४॥

मुनि आगम रूपी नेत्रोंके धारक हैं, संसारके समस्त प्राणी इन्द्रिय रूपी चक्षुओंसे सहित हैं, देव अवधिज्ञान रूपी नेत्रसे युक्त हैं और अष्टकर्म रहित सिद्ध भगवान् सब ओरसे चक्षु वाले हैं अर्थात् केवलज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंको युगपत् जानने वाले हैं ॥ ३४ ॥

आगे आगमरूपी चक्षुके द्वारा ही सब पदार्थ जाने जाते हैं ऐसा कहते हैं—

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेण[2] हि पेछित्ता[3] तेवि ते समणा ॥३५॥

विविध गुणपर्यायोंसे सहित जीवाजीवादि समस्त पदार्थ आगमसे सिद्ध हैं। निश्चयसे उन पदार्थोंको वे महामुनि आगम के द्वारा ही जानते हैं ॥ ३५ ॥

आगे जिसे आगमज्ञान नहीं है वह मुनि ही नहीं है ऐसा कहते हैं—

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि[4] जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थित्ति भणइ सुत्तं असंजदो [5]हवदि किध[6] समणो ॥३६॥

इस लोकमें जिसके आगमज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन नहीं होता है उसके संयम नहीं होता है ऐसा सिद्धान्त कहते हैं। फिर जिसके संयम नहीं है वह मुनि कैसे हो सकता है ?

---

१. देवादि ज० वृ०। २. आगमेण य ज० वृ०। ३. पेच्छित्ता ज० वृ०। ४. हवदि ज० वृ०। ५. होदि ज० वृ०। ६. किह ज० वृ०।

जिस पुरुषके प्रथम ही आगमको जानकर पदार्थोंका श्रद्धान न हुआ हो उस पुरुषके संयम भाव भी नहीं होता यह निश्चय है और जिसके संयम नहीं है वह मुनि कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है। मुनि बननेके लिये आगमज्ञान, सम्यग्दर्शन और तीनों संयमकी प्राप्ति आवश्यक है ॥ ३६ ॥

आगे जबतक आगमज्ञान तत्वार्थ श्रद्धान और संयम इन तीनोंकी एकता नहीं होती तबतक मोक्षमार्ग प्रकट नहीं होता ऐसा कहते हैं—

> **ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि ण[1] अत्थि अत्थेसु ।**
> **सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥ ३७ ॥**

यदि जीवाजीवादि पदार्थोंमें श्रद्धान नहीं है तो मात्र आगमके जान लेनेसे ही जीव सिद्ध नहीं होता है। अथवा पदार्थोंका श्रद्धान करता हुआ भी यदि असंयत हो तो भी निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता है।

सिद्ध होनेके लिये आगमज्ञान पदार्थश्रद्धान और संयम तीनोंका यौगपद्य—एक साथ प्राप्त होना ही समर्थ कारण है ॥ ३७ ॥

आगे आत्मज्ञानी जीवकी महत्ता प्रकट करते हैं—

> **जं अण्णाणी कम्मं खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं ।**
> **तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेण ॥ ३८ ॥**

अज्ञानी जीव, जिस कर्मको लाखों-करोड़ों पर्यायों द्वारा क्षपित करता है तीन गुप्तियोंसे गुप्त आत्मज्ञानी जीव उस कर्मको उच्छ्वासमात्रमें क्षपित कर देता है।

ज्ञानकी और खासकर आत्मज्ञानकी बड़ी महिमा है ॥ ३८ ॥

आगे आत्मज्ञान शून्य पुरुषके आगम ज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान और संयमभावकी एकता भी कार्यकारी नहीं है यह कहते हैं—

> **परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो ।**
> **विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरोवि ॥ ३९ ॥**

जिसके शरीरादि परपदार्थोंमें परमाणु प्रमाण भी ममताभाव विद्यमान है वह समस्त आगमका धारक होकर भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है।

जो शुद्धात्म द्रव्यसे अतिरिक्त शरीरादि परपदार्थोंमें थोड़ी भी मूर्च्छा रखता है उन्हें अपना मानता है वह समस्त आगमका जाननेवाला होकर भी आत्मज्ञानसे शून्य है और जो आत्मज्ञानसे शून्य है वह मुक्तिको प्राप्त नहीं कर सकता है यह निश्चय है ॥ ३९ ॥[2]

---

१. जदि वि णत्थि ज० वृ०। २. ३९वीं गाथाके आगे ज० वृ० में निम्नाङ्कित गाथा अधिक उपलब्ध है—

चागो य अणारंभो विसयविरागो खओ कसायाणं ।
सो संजमोत्ति भणिदो पव्वज्जाए विसेसेण ॥१॥

आगे कैसा मुनि संयत कहलाता है यह बतलाते हैं—

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो[1] जिदकसाओ[2] ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥ ४० ॥

जो ईर्यादि पाँच समितियोंसे सहित है, कायगुप्ति वचन गुप्ति मनोगुप्ति इन तीन गुप्तियोंसे युक्त है, स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियोंको रोकनेवाला है, क्रोधादि कषायोंको जीतनेवाला है और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानसे पूर्ण है—सम्पन्न है ऐसा साधु ही संयत कहा गया है ॥ ४० ॥

आगे श्रमण अर्थात् साधुका लक्षण कहते हैं—

समसत्तुवंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥ ४१ ॥

जिसे शत्रु और मित्रोंका समूह एक समान हों, सुख और दुःख एक समान हों, प्रशंसा और निन्दा एक समान हों, पत्थरके ढेले और सुवर्ण एक समान हों तथा जो जीवन और मरणमें समभाववाला हो वह श्रमण अर्थात् साधु है ॥ ४१ ॥

आगे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें एक साथ प्रवृत्ति करने वाला मुनि ही एकाग्रताको प्राप्त होता है यह कहते हैं—

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एयग्गगदोत्ति मदो सामण्णं तस्स परिपुण्णं[3] ॥ ४२ ॥

जो साधु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंमें एक साथ उद्यत रहता है वह एकाग्रगत है तथा उसीका मुनिपद पूर्णताको प्राप्त होता है ऐसा माना गया है ॥ ४२ ॥

आगे एकाग्रताका अभाव मोक्षमार्ग नहीं है यह प्रकट करते हैं—

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज ।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥ ४३ ॥

यदि साधु अन्य द्रव्यको पा कर मोह करता है अथवा राग करता है अथवा द्वेष करता है तो वह अज्ञानी है तथा विविध कर्मोंसे बद्ध होता है।

शुद्धात्म द्रव्यको छोड़ कर परपदार्थमें आत्मबुद्धि करना तथा इष्ट अनिष्ट वस्तुओंमें राग द्वेष करना मोहोदयके कार्य हैं। जब तक इस जीवके मोहका उदय रहता है तब तक वह अज्ञानी रहता है और अनेक प्रकारका कर्मबन्ध उसके जारी रहता है ॥ ४३ ॥

आगे एकाग्रता ही मोक्षका मार्ग है यह बतलाते हैं—

अत्थेसु[4] जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुपयादि[5] ।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविधाणि[6] ॥ ४४ ॥

---

१. ⋯संउडो ज० वृ०। २. जिय⋯ ज० वृ०। ३. पडिपुण्णं ज० वृ०। ४. अट्ठेसु ज० वृ०। ५. -मुवयादि ज० वृ०। ६. विविहाणि ज० वृ०।

जो मुनि बाह्य पदार्थोंमें न मोह करता है, न राग करता है और न द्वेष करता है वह निश्चित ही अनेक कर्मोंका क्षय करता है ।। ४४।।

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्मि ।
तेसुवि सुद्धुवउत्ता अणासवा सासवा सेसा ।। ४५ ।।

मुनि परमागममें शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगीके भेदसे दो प्रकारके कहे गये हैं। उनमेंसे शुद्धोपयोगी आस्रवसे रहित हैं और शेष—शुभोपयोगी आस्रवसे सहित हैं।। ४५ ।।

आगे शुभोपयोगी श्रमणका लक्षण प्रकट करते हैं—

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तसु[1] ।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे[2] चरिया ।। ४६ ।।

यदि मुनि अवस्थामें अरहन्त आदिमें भक्ति तथा परमागमसे युक्त महामुनियोंमें वत्सलता—गोवत्सकी तरह स्नेहानुवृत्ति है तो वह शुभोपयोगसे युक्त चर्या है ।। ४६ ।।

आगे शुभोपयोगी मुनियोंकी प्रवृत्ति दिखलाते हैं—

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिया रायचरियम्मि ।। ४७ ।।

सराग चारित्रकी दशामें अपनेसे पूज्य मुनियोंको वन्दना करना, नमस्कार करना, आते हुए देख उठकर खड़ा होना, जाते समय पीछे-पीछे चलना इत्यादि प्रवृत्ति तथा उनके श्रम—थकावटको दूर करना निन्दित नहीं है ।। ४७ ।।

आगे शुभोपयोगी मुनियोंकी अन्य प्रवृत्तियाँ दिखलाते हैं—

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ।। ४८ ।।

दर्शन और ज्ञानका उपदेश देना, शिष्योंका संग्रह करना, उनका पोषण करना तथा जिनेन्द्र देवकी पूजाका उपदेश देना यह सब सरागी अर्थात् शुभोपयोगी मुनियोंकी प्रवृत्ति है ।। ४८ ।।

आगे जो कुछ भी प्रवृत्तियां होती हैं वे शुभोपयोगी मुनियोंके ही होती हैं ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

उवकुणदि जोवि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स ।
कायविराधणरहिदं[3] सोवि सरागप्पधाणो से ।। ४९ ।।

जो, ऋषि मुनि यति और अनगारके भेदसे चतुर्विध मुनि समूहका षट्कायिक जीवोंकी विराधनासे रहित उपकार करता है—वैयावृत्यके द्वारा उन्हें सुख पहुँचाता है वह भी सराग प्रधान अर्थात् शुभोपयोगी साधु है ।। ४९ ।।

---

१. पवणयाहिजुत्तेसु ज० वृ० । २. हवे ज० वृ० । ३. ····विराहण····ज० वृ० ।

आगे षट्कायिक जीवोंकी विराधना न करते हुए ही वैयावृत्य करना चाहिये ऐसा कहते हैं—

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥५०॥

यदि वैयावृत्यके लिये उद्यत हुआ साधु षट्कायिक जीवोंकी हिंसा करता है तो वह मुनि नहीं है। वह तो श्रावकोंका धर्म है।

यद्यपि वैयावृत्य अन्तरङ्ग तप है और शुभोपयोगी मुनियोंके कर्तव्योंमें से एक कर्तव्य है तथापि वे उस प्रकारकी वैयावृत्य नहीं करते जिसमें कि षट्कायिक जीवोंकी विराधना हो। विराधना पूर्वक वैयावृत्य करना श्रावकोंका धर्म है न कि मुनियों का ॥ ५० ॥

यद्यपि परोपकारसें शुभ कषायके प्रभावसे अल्प कर्मबन्ध होता है तो भी शुभोपयोगी पुरुष उसे करे ऐसा उपदेश देते हैं—

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो यदिवियप्पं ॥५१॥

यद्यपि अल्प कर्मबन्ध होता है तथापि शुभोपयोगी श्रमण, गृहस्थ अथवा मुनिधर्मकी चर्चासे युक्त श्रावक और मुनियोंका निरपेक्ष हो दयाभावसे उपकार करे ॥ ५१ ॥

आगे उसी परोपकारके कुछ प्रकार बतलाते हैं—

रोगेण वा [1]छुधाए तण्हेणया[2] वा समेण वा रूढं।
[3]देट्ठा समणं साधू पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥५२॥

शुभोपयोगी मुनि, किसी अन्य मुनिको रोगसे, भूखसे, प्याससे अथवा श्रम—थकावट आदिसे आक्रान्त देख उसे अपनी शक्तिअनुसार स्वीकृत करे अर्थात् वैयावृत्य द्वारा उसका खेद दूर करे॥५२॥

आगे शुभोपयोगी मुनि वैयावृत्यके निमित्त लौकिक जनोंसे वार्तालाप भी करते हैं यह दिखलाते हैं—

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥५३॥

ग्लान (बीमार) गुरु बाल अथवा वृद्ध साधुओंकी वैयावृत्यके निमित्त, शुभ भावोंसे सहित लौकिकजनोंके साथ वार्तालाप करना भी निन्दित नहीं है ॥ ५३ ॥

आगे यह शुभोपयोग मुनियोंके गौण और श्रावकोंके मुख्य रूपसे होता है ऐसा कथन करते हैं—

एसा पसत्थभूता समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं ॥५४॥

---

१. छुहाए ज० वृ०। २. तण्हाए वा ज० वृ०। ३. दिट्ठा ज० वृ०।

यह शुभरागरूप प्रवृत्ति मुनियोंके अल्परूपमें और गृहस्थोंके उत्कृष्ट रूपमें होती है। गृहस्थ इसी शुभ प्रवृत्तिसे उत्कृष्ट सुख प्राप्त करते हैं ॥ ५४ ॥

आगे कारणकी विपरीततासे शुभोपयोगके फलमें विपरीतता—भिन्नता सिद्ध होती है यह कहते हैं—

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं ।
णाणाभूमिगदाणि हि वीयाणि व सस्सकालम्मि ॥५५॥

जिस प्रकार नाना प्रकारकी भूमिमें पड़े हुए बीज धान्योत्पत्तिके समय भिन्न भिन्न प्रकारके फल फलते हैं उसी प्रकार यह शुभ राग, वस्तुकी विशेषतासे—जघन्य मध्यम उत्कृष्ट पात्रकी विभिन्नतासे विपरीत—भिन्न भिन्न प्रकारका फल फलता है ॥ ५५ ॥

आगे कारणकी विपरीततासे फलकी विपरीतता दिखलाते हैं—

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो ।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥५६॥

छद्मस्थ जीवों द्वारा अपनी बुद्धिसे कल्पित देव गुरु धर्मादिक पदार्थोंको उद्देश्य कर व्रत नियम अध्ययन ध्यान तथा दानमें तत्पर रहने वाला पुरुष अपुनर्भाव अर्थात् मोक्षको प्राप्त नहीं होता किन्तु सुखस्वरूप देव या मनुष्य पर्यायको प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

आगे इसी बातको और भी स्पष्ट करते हैं—

अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु[१] [२]पुरिसेसु ।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुजेसु[३] ॥५७॥

परमार्थको नहीं जानने वाले तथा विषय कषायसे अधिक पुरुषोंकी सेवा करना, टहल चाकरी करना और उन्हें दान देना कुदेवों तथा नीच मनुष्योंमें फलता है ॥ ५७ ॥

आगे इसीका समर्थन करते हैं—

जदि ते विसयकसाया पावत्ति परूविदा व सत्थेसु ।
[४]कह ते [५]तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ॥५८॥

यदि वे विषय कषाय पाप हैं इस प्रकार शास्त्रोंमें कहे गये हैं तो उन पापरूप विषय कषायोंमें आसक्त पुरुष संसारसे तारने वाले कैसे हो सकते हैं अर्थात् किसी भी प्रकार नहीं हो सकते हैं ॥ ५८॥

आगे पात्रभूत तपोधनका लक्षण कहते हैं—

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु ।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥५९॥

जो पुरुष पापोंसे विरत है, समस्त धर्मात्माओंमें साम्यभाव रखता है और गुण समूहकी सेवा करता है वह सुमार्गका भागी है अर्थात् मोक्षमार्गका पथिक है ॥ ५९ ॥

---

१. विसयकषायादिगेसु ज० वृ० । २. पुरुसेसु ज० वृ० । ३. मणुवेसु ज० वृ० । ४. किह ज० वृ० । ५. तं पडिवद्धा ज० वृ० ।

आगे इसीको पुनः स्पष्ट करते हैं—

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥ ६० ॥

जो अशुभपयोगसे रहित हैं और शुद्धोपयोग अथवा शुभोपयोगसे युक्त हैं वे उत्तम मुनि भव्य मनुष्यको तारते हैं। उनकी भक्ति करने वाला मनुष्य प्रशस्तफलको प्राप्त होता है ॥ ६० ॥

आगे गुणाधिक मुनियोंके प्रति कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिये यह कहते हैं—

दिट्ठा पगदं वत्थू अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं ।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वोत्ति[1] उवदेसो ॥ ६१ ॥

इसलिये निर्विकार निर्ग्रन्थ रूपके धारक उत्तम पात्रको देखकर जिनमें उठकर खड़े होनेकी प्रधानता है ऐसी क्रियाओंसे प्रवृत्ति करना चाहिये क्योंकि गुणोंके द्वारा आदर विनयादि विशेष करना योग्य है ऐसा अरहन्त भगवान्‌का उपदेश है[2] ॥ ६१ ॥

आगे अभ्युत्थानादि क्रियाओंको विशेषरूपसे बतलाते हैं—

अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं ।
अंजलिकरणं पणमं भणिदं इह गुणाधिगाणं हि ॥ ६२ ॥

इस लोकमें निश्चयपूर्वक अपनेसे अधिक गुण वाले महापुरुषोंके लिये उठकर खड़े होना, आइये-आइये आदि कहकर अङ्गीकार करना, समीपमें बैठकर सेवा करना, अन्नपानादिकी व्यवस्था कराकर पोषण करना, गुणोंकी प्रशंसा करते हुए सत्कार करना, विनयसे हाथ जोड़ना तथा नमस्कार करना योग्य कहा गया है ॥ ६२ ॥

आगे श्रमणाभास मुनियोंके विषयमें उक्त समस्त क्रियाओंका निषेध करते हैं—

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उपासेया ।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥ ६३ ॥

जो आगमके अर्थमें निपुण हैं तथा संयम तप और ज्ञानसे सहित हैं ऐसे मुनि ही निश्चयसे अन्य मुनियोंके द्वारा उठकर खड़े होने योग्य, सेवा करनेके योग्य तथा वन्दना करनेके योग्य हैं।

जो उक्त गुणोंसे रहित हैं ऐसे श्रमणाभास मुनियोंके प्रति अभ्युत्थानादि क्रियाओंका प्रतिषेध है ॥ ६३ ॥

---

१. विशेषदव्वत्ति ज० वृ० । २. ज० वृ० में इस गाथाका ऐसा भाव प्रकट किया गया है कि निर्विकार निर्ग्रन्थरूपके धारक तपोधनको अपने संघमें आता देख तीन दिन पर्यन्त उनका उठकर खड़े होना आदि सामान्य क्रियाओं द्वारा सत्कार करना चाहिये और तीन दिन बाद विशिष्ट परिचय होने पर गुणोंके अनुसार उनके सत्कारमें विशेषता करना चाहिये ।

आगे श्रमणाभासका लक्षण कहते हैं—

ण हवदि समणोत्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥ ६४॥

यदि कोई मुनि, संयम तप तथा आगमसे युक्त होकर भी जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान नहीं करता है तो वह श्रमण नहीं है--मुनि नहीं है ऐसा माना गया है। सम्यग्दर्शनसे हीन मुनि श्रमणाभास कहलाता है ॥ ६४॥

आगे समीचीन मुनिको जो दोष लगाता है वह चारित्र हीन है ऐसा कहते हैं—

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥ ६५॥

जो मुनि, जिनेन्द्रदेवकी आज्ञामें स्थित अन्य मुनिको देखकर द्वेष वश उनकी निन्दा करता है तथा अभ्युत्थान आदि क्रियाओंके होनेपर प्रसन्न नहीं होता वह निश्चयसे चारित्र रहित है ॥ ६५॥

आगे जो स्वयं गुणहीन होकर अपनेसे अधिक गुणवाले मुनिसे अपनी विनय कराना चाहता है उसकी निन्दा करते हैं—

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जोवि होमि समणोत्ति।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥ ६६॥

जो मुनि स्वयं गुणोंका धारक न होता हुआ भी 'मैं मुनि हूँ' इस अभिमान वश अधिक गुणवाले महामुनियोंसे विनयकी इच्छा करता है वह अनन्तसंसारी है अर्थात् अनन्त काल तक संसारमें भ्रमण करनेवाला है ॥ ६६॥

आगे जो स्वयं गुणाधिक होकर हीनगुणवाले मुनिकी वन्दनादि क्रिया करता है उसकी निन्दा करते हैं—

अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता ॥ ६७॥

जो मुनि, मुनिपदमें स्वयं अधिक गुणवाले होकर गुणहीन मुनियोंके साथ वन्दनादि क्रियाओंमें प्रवृत्त होते हैं अर्थात् उन्हें नमस्कारादि करते हैं वे मिथ्यात्वसे युक्त तथा चारित्रसे भ्रष्ट होते हैं ॥ ६७॥

आगे मुनिको असत्सङ्गसे बचना चाहिये ऐसा कहते हैं—

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसायो[1] तवोधिगो[2] चावि।
लोगिगजणसंसग्गं ण [3]जहदि जदि संजदो ण[4] हवदि ॥ ६८॥

---

१. समितकषाओ, ज० वृ०। २. तओधिगो ज० वृ०। ३. चयदि ज० वृ०। ४. णविदि ज० वृ०।

जिसने आगमके अर्थ और पदोंका निश्चय किया है, जिसकी कषायें शान्त हो चुकी हैं और जो तपश्चरणसे अधिक है ऐसा होकर भी यदि मुनि लौकिक मनुष्योंके संसर्गको नहीं छोड़ता है तो वह संयमी नहीं है ॥ ६८ ॥[1]

आगे लौकिक मनुष्यका लक्षण कहते हैं—

णिग्गंथं पव्वइदो[2] वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं ।
सो लोगिगोदि भणिदो संजमतवसंपजुत्तोवि[3] ॥ ६९ ॥

यदि कोई मुनि निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण करके इस लोक सम्बन्धी ज्योतिष तन्त्र मन्त्र आदि क्रियाओं द्वारा प्रवृत्ति करता है तो वह संयम तथा तपसे युक्त होता हुआ भी लौकिक है ऐसा कहा गया है ॥ ६९ ॥

आगे सत्सङ्ग करना चाहिये ऐसा कहते हैं—

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं ।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ॥ ७० ॥

इसलिये यदि साधु दुःखसे छुटकारा चाहता है तो वह निरन्तर ऐसे मुनिके साथ रहे जो कि गुणोंकी अपेक्षा अपने समान हो अथवा अपनेसे अधिक हो ॥ ७० ॥

आगे संसार तत्त्वका उद्घाटन करते हैं—

जे अजधागहिदत्था एदे तच्चत्ति णिच्छिदा समये ।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति तेतो परं कालं ॥ ७१ ॥

जो जिनमतमें स्थित होकर भी पदार्थको ठीक-ठीक ग्रहण नहीं करते हैं और अतत्त्वको 'यह तत्त्व है' ऐसा निश्चित कर बैठे हैं वे वर्तमान कालसे लेकर अनन्तफलोंसे परिपूर्ण दीर्घकाल तक भ्रमण करते रहते हैं ॥ ७१ ॥

आगे मोक्षतत्त्वका स्वरूप बतलाते हैं—

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदोपसंतप्पा ।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥ ७२ ॥

जो मिथ्याचारित्रसे रहित है तथा यथावस्थित पदार्थोंका निश्चय होनेसे जिसकी आत्मा शान्त है—कषायके उद्रेकसे रहित है वह सम्पूर्ण मुनिपदको धारण करनेवाला मुनि इस निःसार संसारमें चिर काल तक जीवित नहीं रहता अर्थात् शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ॥ ७२ ॥

---

१. ६८वीं गाथाके आगे ज० वृ० में निम्न गाथा अधिक व्याख्यात है—
तिसिदं व भुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥ १ ॥
२. पव्वयिदो ज० वृ० । ३. ....संजुदो चावि ज० वृ० ।

आगे मोक्ष तत्त्वका साधनतत्त्व दिखलाते हैं—

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं वहित्थमज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा ॥७३॥

जिन्होंने यथार्थरूपसे समस्त तत्त्वोंको जान लिया है, और जो वहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग परिग्रहको छोड़कर पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंमें लीन नहीं हैं वे महामुनि शुद्ध हैं—मोक्षतत्त्वको साधन करनेवाले हैं ऐसा कहा गया है ॥ ७३ ॥

आगे मोक्ष तत्त्वका साधनतत्त्व सब मनोरथोंका स्थान है ऐसा कहते हैं—

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सोच्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥७४॥

साक्षात् मोक्षतत्त्वको साधन करनेवाले शुद्धोपयोगी मुनिके ही मुनिपद कहा गया है, उसीके दर्शन और ज्ञान कहे गये हैं, उसीके मोक्ष कहा गया है और वही सिद्धस्वरूप है। ऐसे शुद्धोपयोगी महामुनिको नमस्कार हो ॥ ७४ ॥

आगे शिष्यजनोंको शास्त्रका फल दिखलाते हुए प्रकृत ग्रन्थको समाप्त करते हैं—

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥७५॥

जो पुरुष, गृहस्थ अथवा मुनिकी चर्यासे युक्त होता हुआ अरहन्त भगवान्‌के इस शासनको समझता है वह अल्पकालमें ही प्रवचनसारको—सिद्धान्तके रहस्यभूत परमात्मभावको पा लेता है ॥ ७५ ॥

●

नियमसार

•

नियमसार

जीवाधिकार

मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसण सहावं ।
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं ॥ १ ॥

अनन्त और उत्कृष्ट ज्ञान दर्शन स्वभावसे युक्त श्री महावीर जिनेन्द्रको नमस्कार कर मैं केवली और श्रुतकेवलीके द्वारा कहे हुए नियमसारको कहूँगा ॥ १ ॥

मोक्षमार्ग और उसका फल

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो मोक्खउवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं ॥ २ ॥

जिन शासनमें मार्ग और मार्गफल इस तरह दो प्रकारका कथन किया गया है। इनमें मोक्ष का उपाय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मार्ग है और निर्वाणकी प्राप्ति होना मार्गका फल है ॥ २ ॥

नियमसार पदकी सार्थकता

णियमेण य जं कज्जं तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं ।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं ॥ ३ ॥

नियमसे जो करने योग्य है वह नियम है; ऐसा नियम ज्ञान दर्शन चारित्र है। इनमें विपरीत अर्थात् मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्रका परिहार करनेके लिये 'सार' यह वचन निश्चयसे कहा गया है।

भावार्थ—नियमसारका अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है इन्हींका इस ग्रन्थमें वर्णन किया जावेगा ॥ ३ ॥

नियम और उसका फल

णियमं मोक्खउवायो तस्स फलं हवदि परमणिव्वाणं ।
एदेसिं तिण्हं पि य पत्तेयपरूवणा होई ॥ ४ ॥

नियम अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका उपाय है और उसका फल परमनिर्वाण है। इस ग्रन्थमें इन तीनोंका पृथक्-पृथक् निरूपण है ॥ ४ ॥

व्यवहार सम्यग्दर्शनका स्वरूप

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्ता ॥ ५ ॥

आप्त, आगम और तत्त्वोंके श्रद्धानसे सम्यग्दर्शन होता है। जिसके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं तथा जो समस्त गुणोंसे तन्मय है ऐसा पुरुष आप्त कहलाता है ॥ ५ ॥

अठारह दोषोंका वर्णन

छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।[1]
स्वेदं खेद मदो रइ विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो ॥ ६ ॥

क्षुधा, तृष्णा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग ये अठारह दोष हैं ॥ ६ ॥

परमात्माका स्वरूप

णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो।
सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥ ७ ॥

जो (पूर्वोक्त) समस्त दोषोंसे रहित है, तथा केवलज्ञान आदि परम वैभवसे युक्त है वह परमात्मा कहा जाता है। उससे जो विपरीत है वह परमात्मा नहीं है ॥ ७ ॥

आगम और तत्त्वार्थका स्वरूप

तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वापरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ॥ ८ ॥

उन परमात्माके मुखसे निकले हुए वचन, जो कि पूर्वापर दोषसे रहित तथा शुद्ध हैं 'आगम' इस शब्दसे कहे गये हैं और उस आगमके द्वारा कहे हुए जो पदार्थ हैं वे तत्त्वार्थ हैं ॥ ८ ॥

तत्त्वार्थोंका नामोल्लेख

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥ ९ ॥

जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये तत्त्वार्थ कहे गये हैं। ये तत्त्वार्थ अनेक गुण और पर्यायोंसे संयुक्त हैं ॥ ९ ॥

---

१. क्षुधा तृष्णा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्।
जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदो रतिः ॥ १५ ॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥ १६ ॥

जीवका लक्षण तथा उपयोगके भेद

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणं त्ति ॥ १० ॥

जीव उपयोगमय है अर्थात् जीवका लक्षण उपयोग है। उपयोग ज्ञानदर्शनरूप है अर्थात् उपयोगके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके भेदसे दो भेद हैं। उनमें ज्ञानोपयोग, स्वभावज्ञान और विभाव ज्ञानके भेदसे दो प्रकारका है ॥ १० ॥

स्वभावज्ञान और विभावज्ञानका विवरण

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं त्ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥ ११ ॥

इन्द्रियोंसे रहित तथा प्रकाश आदि बाह्य पदार्थोंकी सहायतासे निरपेक्ष जो केवल ज्ञान है वह स्वभावज्ञान है। सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानके विकल्पसे विभावज्ञान दो प्रकारका है ॥ ११ ॥

सम्यग्विभावज्ञान तथा मिथ्याविभावज्ञानके भेद—

सण्णाणं चउभेदं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव ॥ १२ ॥

सम्यग्विभावज्ञानके चार भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय। और अज्ञानरूप विभावज्ञान कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधिके भेदसे तीन प्रकारका है ॥ १२ ॥

दर्शनोपयोगके भेद

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं ॥ १३ ॥

उसी प्रकार दर्शनोपयोग, स्वस्वभावदर्शनोपयोग और विभावदर्शनोपयोगके भेदसे दो प्रकारका है। इनमें इन्द्रियोंसे रहित तथा परपदार्थकी सहायतासे निरपेक्ष जो केवलदर्शन है वह स्वभावदर्शन है इस प्रकार कहा गया है ॥ १३ ॥

विभाव दर्शन और पर्यायके भेद

चक्खु अचक्खू ओही तिण्णिवि भणिदं विभावदिच्छित्ति।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ॥ १४ ॥

चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन ये तीनों दर्शन विभाव दर्शन हैं इस प्रकार कहा गया है। स्वपरापेक्ष और निरपेक्षके भेदसे पर्यायके दो भेद हैं ॥ १४ ॥

विभावपर्याय और स्वभावपर्यायका विवरण

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ॥ १५ ॥

मनुष्य, नारक, तिर्यञ्च और देव ये विभाव पर्यायें कही गई हैं तथा कर्मरूप उपाधिसे रहित जो पर्यायें हैं वे स्वभावपर्यायें कही गई हैं ।। १५ ।।

मनुष्यादि पर्यायोंका विस्तार

माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा ।
सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविभेएण ।। १६ ।।

कर्मभूमिज और भोगभूमिजके भेदसे मनुष्य दो प्रकारके हैं तथा पृथिवियोंके भेदसे नारकी सात प्रकारके जानना चाहिये ।। १६ ।।

चउदहभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा ।
एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादव्वं ।। १७ ।।

तिर्यञ्चोंके चौदह और देवसमूहके चार भेद कहे गये हैं। इन सबका विस्तार लोकविभागमें जानना चाहिये।

भावार्थ—सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक, बादरएकेन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक, द्वीन्द्रिय-पर्याप्तक, अपर्याप्तक, त्रीन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक, चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक, असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक और संज्ञिपञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तकके भेदसे तिर्यञ्चोंके चौदह भेद हैं। तथा भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकके भेदसे देवसमूहके चार भेद हैं। इन सबका विस्तार लोक विभाग नामक परमागममें जानना चाहिये ।। १७ ।।

आत्माके कर्तृत्व-भोक्तृत्वका वर्णन

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा ।
कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो ।। १८ ।।

आत्मा पुद्गल कर्मका कर्ता भोक्ता व्यवहारसे है और आत्मा कर्मजनित भावका कर्ता भोक्ता निश्चयसे अर्थात् अशुद्ध निश्चयसे है।

भावार्थ—अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयकी अपेक्षा आत्मा द्रव्य कर्मका कर्ता और उसके फलका भोक्ता है और अशुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा कर्मजनित मोह राग द्वेष आदि भाव कर्मका कर्ता तथा भोक्ता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे शरीरादि नोकर्मका कर्ता है तथा उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे घटपटादिका कर्ता है। यह अशुद्ध जीवका कथन है ।। १८ ।।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयसे जीवकी पर्यायोंका वर्णन

दव्वत्थिएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया ।
पज्जयणएण जीवा संजुत्ता होंति दुविहेहिं ।। १९ ।।

द्रव्यार्थिक नयसे जीव, पूर्वकथित पर्यायोंसे व्यतिरिक्त—भिन्न हैं और पर्यायार्थिकनयसे जीव स्वपरापेक्ष तथा निरपेक्ष—दोनों प्रकारकी पर्यायोंसे संयुक्त हैं।

भावार्थ—यहाँ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा जीवकी भिन्नता तथा अभिन्नताका वर्णन किया गया है इसलिये स्याद्वादकी शैलीसे जीवका स्वरूप समझना चाहिये ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थमें जीवाधिकार
नामका पहला अधिकार समाप्त हुआ ॥ १ ॥

२
अजीवाधिकार

पुद्गल द्रव्यके भेदोंका कथन

अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं ।
खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो ॥ २० ॥

अणु और स्कन्धके विकल्पसे पुद्गल द्रव्य दो विकल्प वाला है । इनमें स्कन्ध छह प्रकारके हैं और परमाणु दो भेदोंसे युक्त है ।

भावार्थ—प्रथम ही पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं—१. स्वभाव पुद्गल और २. विभाव पुद्गल । उनमें परमाणु स्वभाव पुद्गल है और स्कन्ध विभाव पुद्गल है । स्वभाव पुद्गलके कार्यपरमाणु और कारणपरमाणुकी अपेक्षा दो भेद हैं तथा विभाव पुद्गल—स्कन्धके अतिस्थूल आदि छह भेद हैं । इन छह भेदोंके नाम तथा उदाहरण आगेकी गाथाओंमें स्पष्ट किये गये हैं ॥ २० ॥

स्कन्धोंके छह भेद

अइथूलथूल थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च ।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं ॥ २१ ॥
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा ।
थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेलमादीया ॥ २२ ॥
छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि ।
सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य ॥ २३ ॥
सुहुमा हवंति खंधा पावोग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो ।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंदि ॥ २४ ॥

अतिस्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म ऐसे पृथिवी आदि स्कन्धके छह भेद हैं ॥ २१ ॥

भूमि पर्वत आदि अति स्थूल स्कन्ध कहे गये हैं तथा घी, जल, तेल आदि स्थूल स्कन्ध हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ २२ ॥

छाया आतप आदि स्थूलसूक्ष्म स्कन्ध हैं ऐसा जानो। तथा चार इन्द्रियोंके विषय सूक्ष्म-स्थूल स्कन्ध हैं ऐसा कहा गया है ॥ २३ ॥

कर्मवर्गणा रूप होनेके योग्य स्कन्ध सूक्ष्म हैं और इनसे विपरीत अर्थात् कर्मवर्गणा रूप न होनेके योग्य स्कन्ध अतिसूक्ष्म हैं ऐसा आचार्य निरूपण करते हैं ॥ २४ ॥

भावार्थ—जो पृथक् करने पर पृथक् हो जावें और मिलाने पर फिर मिल न सकें ऐसा पुद्गल स्कन्धोंको अतिस्थूलस्थूल कहते हैं जैसे पृथिवी, पर्वत आदि। जो पृथक् करने पर पृथक् हो जावें और मिलाने पर पुनः मिल जावें ऐसे पुद्गल स्कन्धोंको स्थूल कहते हैं जैसे घी, जल, तेल आदि तरल पदार्थ। जो नेत्रोंसे दिखाई तो देते हैं पर ग्रहण नहीं किये जा सकते ऐसे स्कन्धोंको स्थूल-सूक्ष्म कहते हैं जैसे छाया, आतप आदि। जो नेत्रोंसे देखनेमें तो नहीं आते परन्तु अपनी-अपनी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं ऐसे स्कन्धोंको सूक्ष्मस्थूल कहते हैं जैसे कर्ण, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियके विषयभूत शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श। जो कर्मवर्गणारूप परिणमन करनेके योग्य हैं ऐसे स्कन्ध सूक्ष्म कहलाते हैं ये इन्द्रिय ज्ञानके द्वारा नहीं जाने जाते मात्र कार्य द्वारा इनका अनुमान होता है। तथा जो इतने सूक्ष्म हैं कि कर्मवर्गणारूप परिणमन नहीं कर सकते उन्हें अतिसूक्ष्म स्कन्ध कहते हैं ये अवधिज्ञानादि प्रत्यक्ष ज्ञानोंके द्वारा जाने जाते हैं ॥ २१–२४ ॥

कारण परमाणु और कार्य परमाणुका लक्षण

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणंति तं णेयो।
खंधाणां अवसाणो णादव्वो कज्जपरमाणू ॥ २५ ॥

जो पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार धातुओंका कारण है उसे कारण परमाणु जानना चाहिये और स्कन्धोंके अवसानको अर्थात् स्कन्धोंमें भेद होते-होते जो अन्तिम अंश रहता है उसे कार्य परमाणु जानना चाहिये।

भावार्थ—पृथिवी, जल, अग्नि और वायुका जो रूप अपने ज्ञानमें आता है वह अनेक परमाणुओंके मेलसे वना हुआ स्कन्ध है। इस स्कन्धके वननेमें जो परमाणु मूल कारण हैं वे कारण परमाणु कहलाते हैं। स्निग्ध और रूक्ष गुणके कारण परमाणु परस्परमें मिलकर स्कन्ध वनते हैं जव उनमें स्निग्धता और रूक्षगुणोंका ह्रास होता है तव विघटन होता है इस तरह विघटन होते-होते जो अन्तिम अंश—अविभाज्य अंश रह जाता है वह कार्य परमाणु कहलाता है ॥ २५ ॥

परमाणुका लक्षण

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि ॥ २६ ॥

आप ही जिसका आदि है, आप ही जिसका मध्य है, आप ही जिसका अन्त है, जो इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणमें नहीं आता, तथा जिसका दूसरा विभाग नहीं हो सकता उसे परमाणु द्रव्य जानो।

भावार्थ—परमाणु एकप्रदेशी होनेसे उसमें आदि, मध्य और अन्तका विभाग नहीं होता तथा उसका इतना सूक्ष्म परिणमन है कि वह इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य नहीं होता इसी तरह एकप्रदेशी होनेसे उसमें विभाग नहीं हो पाता ॥ २६ ॥

परमाणुके स्वभावगुण और विभावगुणका वर्णन

एयरसरूवगंधं दोफासं तं हवे सहावगुणं ।
विहावगुणमिदि भणिदं जिणसमये सव्वपयडत्तं ॥ २७ ॥

एक रस, एक रूप, एक गन्ध और दो स्पर्शोंसे युक्त जो परमाणु है वह स्वभावगुणवाला है और द्व्यणुक आदि स्कन्ध दशामें अनेक रस, अनेक रूप, अनेक गन्ध और अनेक स्पर्शवाला जो परमाणु है वह जिनशासनमें सर्वप्रकट रूपसे विभाव गुणवाला है ऐसा कहा गया है।

भावार्थ—जो परमाणु स्कन्ध दशासे विघटित होकर एकप्रदेशीपनेको प्राप्त हुआ है उसमें खट्टा, मीठा, कडुआ, कषायला और चिर्परा इन पांच रसोंमें से कोई एक रस होता है, श्वेत, पीत, नील, लाल और कृष्ण इन पांच-वर्णोंमेंसे कोई एक वर्ण होता है, सुगन्ध दुर्गन्ध इन दो गन्धोंमें से कोई एक गन्ध होता है और शीत उष्णमें से कोई एक तथा स्निग्ध रूक्षमें से कोई एक इस प्रकार दो स्पर्श होते हैं। कर्कश मृदु गुरु और लघु ये चार स्पर्श आपेक्षिक होनेसे परमाणुमें विवक्षित नहीं हैं। इस प्रकार पांच गुणोंसे युक्त परमाणु स्वभाव गुण वाला परमाणु कहा गया है परन्तु यही परमाणु जब स्कन्ध दशामें अनेक रस, अनेक रूप, अनेक गन्ध और अनेक स्पर्शोंसे युक्त होता है तब विभावगुण वाला कहा गया है। तात्पर्य यह है कि परमाणु स्वभाव पुद्गल है और स्कन्ध विभाव पुद्गल है ॥ २७ ॥

पुद्गलकी स्वभाव पर्याय और विभाव पर्यायका वर्णन

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जायो ।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जायो ॥ २८ ॥

जो अन्यनिरपेक्ष परिणाणाम है वह स्वभावपर्याय है और स्कन्धरूपसे जो परिणाम है वह विभाव पर्याय है।

भावार्थ—पुद्गल द्रव्यका परमाणुरूप जो परिणमल है वह अन्य परमाणुओंसे निरक्षेप होनेके कारण स्वभाव पर्याय है तथा स्कन्धरूप जो परिणमन है वह अन्य परमाणुओंसे सापेक्ष होनेके कारण विभाव पर्याय है ॥ २८ ॥

परमाणुमें द्रव्यरूपताका वर्णन

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण ।
पोग्गलदव्वेत्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स ॥ २९ ॥

निश्चय नयसे परमाणुको पुद्गल द्रव्य कहा जाता है और व्यवहारसे स्कन्धके 'पुद्गल द्रव्य है' ऐसा व्यपदेश होता है।

भावार्थ—पुद्‌गल द्रव्यके परमाणु और स्कन्धकी अपेक्षा दो भेद हैं। दोनों भेदोंमें द्रव्य और पर्यायरूपता है, क्योंकि द्रव्यके बिना पर्याय नहीं रहता और पर्यायके बिना द्रव्य नहीं रहता ऐसा आगमका उल्लेख है। यहाँ निश्चयनयकी अपेक्षा परमाणुको द्रव्य और स्कन्धको पर्याय कहा गया है। स्कन्धमें जो पुद्‌गल द्रव्यका व्यवहार होता है अथवा परमाणुमें जो पर्यायका व्यवहार होता है उसे व्यवहारनयका विषय बताया है एतावता नयविवक्षासे दोनोंमें उभयरूपता है ॥ २९ ॥

धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यका लक्षण

गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपुग्गलाणं च।
अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदव्वाणं ॥ ३० ॥

जो जीव और पुद्‌गलोंके गमनका निमित्त है वह धर्म है, जो जीव और पुद्‌गलोंकी स्थितिका निमित्त है वह अधर्म है तथा जो जीवादि समस्त द्रव्योंके अवगाहनका निमित्त है वह आकाश है।

भावार्थ—छह द्रव्योंमें सिर्फ जीव और पुद्‌गल द्रव्यमें क्रिया है शेष चार द्रव्य क्रिया रहित हैं। जिनमें क्रिया होती है उन्हींमें क्रियाका अभाव होने पर स्थितिका व्यवहार होता है इस तरह जीव और पुद्‌गल इन दो द्रव्योंकी क्रियामें जो अप्रेरक निमित्त है वह धर्म द्रव्य है तथा उन्हीं दो द्रव्योंकी स्थितिमें जो अप्रेरक निमित्त है वह अधर्म द्रव्य है। अवगाहन समस्त द्रव्योंका होता है इसलिये आकाशका लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि जो जीवादि समस्त द्रव्योंके अवगाहन स्थान देनेमें निमित्त है वह आकाश द्रव्य है ॥ ३० ॥

व्यवहारकालका वर्णन

समयावलिभेदेण दु दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं।
तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु ॥ ३१ ॥

समय और आवलिके भेदसे व्यवहार कालके दो भेद हैं अथवा अतीत, वर्त्तमान और भविष्यत्‌के भेदसे तीन भेद हैं। उनमें अतीत काल, संख्यात आवलि तथा हतसंस्थान अर्थात् संस्थानसे रहित सिद्धोंका जितना प्रमाण है उतना है।

भावार्थ—व्यवहारकालसे समय और आवलिकी अपेक्षा दो भेद हैं। इनमें समय काल द्रव्यकी सबसे लघु पर्याय है। असंख्यात समयोंकी एक आवलि होती है। यहाँ आवली, निमेष, काष्ठा, कला, नाडी, दिन रात आदिका उपलक्षण है। दूसरी विधिसे कालके भूत, वर्तमान और भविष्यत्‌की अपेक्षा तीन भेद हैं। इनमें भूतकाल संख्यात आवलि तथा सिद्धोंके बराबर है[1] ॥ ३१ ॥

---

१. यहाँ 'तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु' इस पाठके बदले गोम्मटसार जीवकाण्डमें 'तीदो संखेज्जा-वलिहदसिद्धाणं पमाणं तु' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ होता है—संख्यात आवलिसे गुणित सिद्धोंका जितना प्रमाण है उतना अतीत काल है।

भविष्यत् तथा वर्तमान कालका लक्षण और निश्चयकालका स्वरूप—

जीवा दु पुग्गलादोऽणंतगुणा भावि[१] संपदा समया।
लोयायासे संति य परमट्ठो सो हवे कालो ॥ ३२॥

भावी अर्थात् भविष्यत्काल जीव तथा पुद्गलसे अनन्तगुणा है। सम्प्रति अर्थात् वर्तमान काल समयमात्र है। लोकाकाशके प्रदेशोंपर जो कालाणु हैं वह परमार्थ अर्थात् निश्चय काल है॥ ३२॥

जीवादि द्रव्योंके परिवर्तनका कारण तथा धर्मादि चार द्रव्योंकी स्वभाव गुणपर्यायरूपता का वर्णन—

जीवादीदव्वाणं परिवट्टणकारणं हवे कालो।
धम्मादिचउण्णाणं सहावगुणपज्जया होंति ॥ ३३॥

जीवादि द्रव्योंके परिवर्त्तनका कारण काल है। धर्मादिक चार द्रव्योंके स्वभाव गुण पर्यायें होती हैं।

भावार्थ—जीवादिक द्रव्योंमें जो समय-समयमें वर्तनारूप परिणमन होता है उसका निमित्त कारण काल द्रव्य है। धर्म अधर्म आकाश और काल इन चार द्रव्योंके जो गुण तथा पर्याय हैं वे सदा स्वभावरूप ही होते हैं उनमें विभावरूपता नहीं आती॥ ३३॥

अस्तिकाय तथा उसका लक्षण

एदे छद्दव्वाणि य कालं मोत्तूण अत्थिकायत्ति।
णिद्दिट्ठा जिणसमये काया हु बहुप्पदेसत्तं ॥ ३४॥

काल द्रव्यको छोड़कर ये छह द्रव्य जिनशासनमें 'अस्तिकाय' कहे गये हैं। बहुप्रदेशीपना कायद्रव्यका लक्षण है।

भावार्थ—जिनागममें काल द्रव्यको छोड़कर शेष जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहे गये हैं। जिनमें बहुत प्रदेश हों उसे अस्तिकाय कहते हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी है अतः वह अस्तिकाय में सम्मिलित नहीं है॥ ३४॥

किस द्रव्यके कितने प्रदेश हैं इसका वर्णन

संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स।
धम्माधम्मस्स पुणो जीवस्स असंखदेसा हु ॥ ३५॥

---

१. मुद्रित प्रतियोंमें 'चावि' पाठ है जो कि त्रुटिपूर्ण जान पड़ता है। वर्तमान और भविष्यत् कालका लक्षण जीवकाण्डमें भी इस प्रकार बताया गया है—

समओ दु वट्टमाणो जीवादो सव्वपुग्गलादो वि।
भावी अणंतगुणिदो इदि ववहारो हवे कालो ॥५७८॥

वर्तमान काल समयमात्र है और भावीकाल जीवों तथा समस्त पुद्गल द्रव्योंसे अनन्तगुणा है। इस प्रकार व्यवहार कालका वर्णन है।

लोयायासे ताव इदरस्स अणंतयं हवे देसा ।
कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जह्मा ।। ३६ ।।

मूर्त अर्थात् पुद्गल द्रव्यके संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं, धर्म, अधर्म तथा एक जीव द्रव्यके असंख्यात प्रदेश हैं, लोकाकाशमें धर्मादिकके समान असंख्यात प्रदेश हैं परन्तु अलोकाकाशमें अनन्त प्रदेश हैं । काल द्रव्यमें कायपना नहीं है क्योंकि वह एकप्रदेशी ।। ३५-३६ ।।

द्रव्योंमें मूर्तिक अमूर्तिक तथा अचेतनका विभाग

पुग्गलदव्वं मोत्तं मुत्तिविरहिया हवंति सेसाणि ।
चेदणभावो जीवो चेदणगुणवज्जिया सेसा ।। ३७ ।।

पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है शेष्य द्रव्य अमूर्तिक हैं । जीव द्रव्य चेतन है और शेष द्रव्य चेतना-गुणसे रहित हैं ।। ३७ ।।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थमें अजीवाधिकार
नामका दूसरा अधिकार समाप्त हुआ ।। २ ।।

३

शुद्धभावाधिकार

हेय उपादेय तत्त्वोंका वर्णन

जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा ।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो ।। ३८ ।।

जीवादि बाह्यतत्त्व हेय हैं—छोड़नेके योग्य हैं और कर्मरूप उपाधिसे उत्पन्न होनेवाले गुण तथा पर्यायोंसे रहित आत्मा, आत्माके लिये उपादेय है—ग्रहण करनेके योग्य है ।। ३८ ।।

निर्विकल्प तत्त्वका स्वरूप

णो खलु सहावठाणा णो माणवमाणभावठाणा वा ।
णो हरिसभावठाणा णो जीवस्साहरिस्सठाणा वा ।। ३९ ।।

निश्चयसे जीवके स्वभावस्थान (विभाव स्वभावके स्थान) नहीं हैं, मान अपमानभावके स्थान नहीं हैं, हर्षभावके स्थान नहीं हैं, तथा अहर्षभावके स्थान नहीं हैं ।। ३९ ।।

णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा ।
णो अणुभागट्ठाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा ॥ ४० ॥

जीवके स्थितिबन्ध स्थान नहीं हैं, प्रकृतिस्थान नहीं हैं, प्रदेशस्थान नहीं हैं, अनुभागस्थान नहीं हैं और उदय स्थान नहीं हैं ।

भावार्थ—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशकी अपेक्षा बन्धके चार भेद हैं सो जीवके चारों ही प्रकारके बन्धस्थान नहीं हैं । जब बन्धस्थान नहीं हैं तब उनके उदयस्थान कैसे हो सकते हैं ? वास्तवमें बन्ध और उदयकी अवस्था व्यवहारनयसे है, यहाँ निश्चयनयकी प्रधानतासे उसका निषेध किया गया है ॥ ४० ॥

णो खइयभावठाणा णो खयउवसमसहावठाणा वा ।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा ॥ ४१ ॥

जीवके क्षायिक भावके स्थान नहीं हैं, क्षायोपशमिक स्वभावके स्थान नहीं हैं, औदयिक भावके स्थान नहीं है और औपशमिक स्वभावके स्थान नहीं हैं ।

भावार्थ—कर्मोंकी क्षय, क्षयोपशम, उपशम और उदयरूप अवस्थाओंमें होने वाले भाव क्रमसे क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और औदयिक भाव कहलाते हैं । ये परनिमित्तसे होनेके कारण जीवके स्वभाव स्थान नहीं हैं । निश्चयनय जीवके कर्मबन्धको स्वीकृत नहीं करता इसलिये कर्मोंके निमित्तसे होने वाली अवस्थाएँ भी जीवकी नहीं हैं ॥ ४१ ॥

चउगइभवसंभमणं जाइ जरामरणरोयसोका य ।
कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति ॥ ४२ ॥

जीवके चतुर्गति रूप संसारमें परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणा स्थान नहीं हैं ॥ ४२ ॥

णिद्दंडो णिद्दंदो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो ।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ॥ ४३ ॥

आत्मा निर्दण्ड—मन वचन कायके व्यापारसे रहित है, निर्द्वन्द्व है, निर्मम है, निष्कल—शरीर रहित है, निरालम्ब है, नीराग है, निर्दोष है, निर्मूढ है और निर्भय है ॥ ४३ ॥

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को ।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥ ४४ ॥

आत्मा निर्ग्रन्थ है, नीराग है, निःशल्य है, सकल दोषोंसे निर्मुक्त है, निष्काम है, निष्क्रोध है, निर्मान है और निर्मद है ॥ ४४ ॥

वण्णरसगंधफासा थीपुंसणओसयादिपज्जाया ।
संठाणा संहणणा सव्वे जीवस्स णो संति ॥ ४५ ॥

वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, स्त्री, पुरुष नपुंसकादि पर्याय, संस्थान और संहनन ये सभी जीवके नहीं है ॥ ४५ ॥

तब फिर जीव कैसा है ?

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ ४६ ॥

जीवको रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, (अतएव बाह्यमें) अव्यक्त—अप्रकट, चेतनागुणसे सहित, शब्दरहित, लिङ्ग अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा अग्राह्य, और किसी निर्दिष्ट आकारसे रहित जानो ॥ ४६ ॥

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति ।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण ॥ ४७ ॥

जैसे सिद्धात्माएँ हैं वैसे ही संसारी जीव हैं क्योंकि (स्वभावदृष्टिसे वे भी) जरा मरण और जन्म से रहित तथा सम्यक्त्वादि आठ गुणोंसे अलंकृत हैं ॥ ४७ ॥

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा ।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया ॥ ४८ ॥

जिस प्रकार लोकाग्रमें स्थित सिद्ध भगवान् शरीररहित, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा हैं उसी प्रकार (स्वभावदृष्टिसे) संसारमें स्थित जीव जो शरीररहित, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा हैं ॥ ४८ ॥

एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु ।
सव्वे सिद्धसहावा शुद्धणया संसिदी जीवा ॥ ४९ ॥

वास्तवमें ये सब भाव व्यवहार नयकी अपेक्षा कहे गये हैं । शुद्ध नयसे संसारमें रहने वाले सब जीव सिद्ध स्वभाव वाले हैं ।

भावार्थ—यद्यपि संसारी जीवकी वर्त्तमान पर्याय दूषित है तो भी उसे द्रव्य स्वभावकी अपेक्षा सिद्ध भगवान्‌के समान कहा गया है ॥ ४९ ॥

परद्रव्य हेय है और स्वद्रव्य उपादेय है

पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं ।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा ॥ ५० ॥

पहले कहे हुए समस्तभाव परद्रव्य तथा परस्वभाव हैं इसलिये हेय हैं—छोड़नेके योग्य हैं और आत्मा अन्तस्तत्त्व—स्वभाव तथा स्वद्रव्य है अतः उपादेय है ॥ ५० ॥

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके लक्षण तथा उनकी उत्पत्तिके कारण—

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं ।
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं ॥ ५१ ॥
चलमलिणमगाढत्तविवज्जिय सद्दहणमेव समत्तं ।
अधिगमभावो णाणं हेयोपादेयतच्चाणं ॥ ५२ ॥
सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा ।
अन्तरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥ ५३ ॥
सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं ।
ववहारणिच्छएण दु तम्हा चरणं पवक्खामि ॥ ५४ ॥
ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्स होदि तवचरणं ।
णिच्छयणयचारित्ते तवचरणं होदि णिच्छयदो ॥ ५५ ॥

विपरीत अभिप्रायसे रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है तथा संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है ॥ ५१ ॥

(अथवा) चल, मलिन और अगाढत्व दोषसे रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है और हेयोपादेय तत्त्वोंका ज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है ॥ ५२ ॥

सम्यक्त्वका वाह्य निमित्त जिनसूत्र—जिनागम और उसके ज्ञायक पुरुष हैं तथा अन्तरंग निमित्त दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय आदि कहा गया है ।

भावार्थ—निमित्त कारणके दो भेद हैं एक वहिरङ्ग निमित्त और दूसरा अन्तरङ्ग निमित्त । सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका वहिरङ्ग निमित्त जिनागम और उसके ज्ञाता पुरुष हैं तथा अन्तरङ्ग निमित्त दर्शन मोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व प्रकृति एवं अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन प्रकृतियोंका उपशम, क्षय और क्षयोपशमका होना है । वहिरङ्ग निमित्तके मिलने पर कार्यकी सिद्धि होती भी है और नहीं भी होती परन्तु अन्तरङ्ग निमित्तके मिलने पर कार्यकी सिद्धि नियमसे होती है ॥ ५३ ॥

सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान तो मोक्षके लिये हैं ही, सुन, सम्यक् चारित्र भी मोक्षके लिये है इसलिये मैं व्यवहार और निश्चय नयसे सम्यक्चारित्रको कहूँगा ।

भावार्थ—मोक्ष प्राप्तिके लिये जिस प्रकार सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान आवश्यक कहे गये हैं उसी प्रकार सम्यक् चारित्रको आवश्यक कहा गया है इसलिये यहाँ व्यवहार और निश्चय दोनों नयोंके आलम्वनसे सम्यक्चारित्रको कहूँगा ॥ ५४ ॥

व्यवहार नयके चारित्रमें व्यवहार नयका तपश्चरण होता है और निश्चयनयके चारित्रमें निश्चय नयका तपश्चरण होता है ।

भावार्थ—व्यवहार नयसे पापक्रियाके त्यागको चारित्र कहते हैं इसलिये इस चारित्रमें व्यवहार नयके विषयभूत अनशन-ऊनोदर आदिको तप कहा जाता है। तथा निश्चय नयसे निजस्वरूपमें अविचल स्थितिको चारित्र कहा है इसलिये इस चारित्रमें निश्चय नयके विषयभूत सहज-निश्चयनयात्मक परमभाव स्वरूप परमात्मामें प्रतपनको तप कहा है ।। ५५ ।।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थमें शुद्धभावाधिकार नामका
तीसरा अधिकार समाप्त हुआ ।। ३ ।।

४

व्यवहारचारित्राधिकार

अहिंसा महाव्रतका स्वरूप

कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणऊण जीवाणं ।
तस्सारंभणियत्तणपरिणामो होइ पढमवदं ।। ५६ ।।

कुल, योनि, जीव समास तथा मार्गणास्थान आदिमें जीवोंका ज्ञानकर उनके आरम्भसे निवृत्तिरूप जो परिणाम है वह पहला अहिंसा महाव्रत है ।। ५६ ।।

सत्य महाव्रतका स्वरूप

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं ।
जो पजहदि साहु सया बिदियवयं होइ तस्सेव ।। ५७ ।।

जो साधु रागसे, दोषसे अथवा मोहसे असत्यभाषाके परिणामको छोड़ता है उसीके सदा दूसरा सत्य महाव्रत होता है ।। ५७ ।।

अचौर्य महाव्रतका स्वरूप

गामे व णयरे वारण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं ।
जो मुचदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव ।। ५८ ।।

जो ग्राममें, नगरमें, अथवा वनमें परकीय वस्तुको देखकर उसके ग्रहणके भावको छोड़ता है उसीके तीसरा अचौर्य महाव्रत होता है ।। ५८ ।।

ब्रह्मचर्य महाव्रतका स्वरूप

दट्ठूण इच्छिरूवं वांछाभावं णिवत्तदे तासु ।
मेहुणसण्ण विवज्जिय परिणामो अहव तुरीयवदं ।। ५९ ।।

जो स्त्रियोंके रूपको देखकर उनमें वाञ्छाभावको छोड़ता है अथवा मैथुन संज्ञासे रहित जिसके परिणाम हैं उसीके चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत होता है ॥ ५९ ॥

परिग्रहत्याग महाव्रतका स्वरूप

सव्वेसिं गंथाणं तागो णिरवेक्खभावणापुव्वं ।
पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स ॥ ६० ॥

निरपेक्ष भावनापूर्वक अर्थात् संसार सम्बन्धी किसी भोगोपभोग अथवा मान सम्मानकी इच्छा नहीं रखते हुए समस्त परिग्रहोंका जो त्याग है चारित्रके भारको धारण करने वाले मुनिका वह पांचवां परिग्रहत्याग महाव्रत कहा गया है ॥ ६० ॥

ईर्यासमितिका स्वरूप

पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि ।
गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स ॥ ६१ ॥

जो साधु दिनमें प्रासुक—जीव जन्तु रहित मार्गसे युग प्रमाण—चार हाथ प्रमाण भूमिको देखता हुआ आगे चलता है उसके ईर्यासमिति होती है ॥ ६१ ॥

भाषासमितिका स्वरूप

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं ।
परिचत्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स ॥ ६२ ॥

पैंशुन्य—चुगली, हास्य, कर्कश, परनिन्दा और आत्म प्रशंसारूप वचनको छोड़कर स्वपर हितकारी वचनको वोलने वाले साधुके भाषासमिति होती है ॥ ६२ ॥

एषणासमितिका स्वरूप

कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च ।
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी ॥ ६३ ॥

परके द्वारा दिए हुए, कृत कारित अनुमोदनासे रहित, प्रासुक तथा प्रशस्त आहारको ग्रहण करने वाले साधुके एषणासमिति होती है ॥ ६३ ॥

आदाननिक्षेपणसमितिका स्वरूप

पोथइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो ।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदित्ति णिद्दिट्ठा ॥ ६४ ॥

पुस्तक तथा कमण्डलु आदिको ग्रहण करते अथवा रखते समय जो प्रमाद रहित परिणाम है वह आदान-निक्षेपण समिति होती है ऐसा कहा गया है ॥ ६४ ॥

प्रतिष्ठापनसमितिका स्वरूप

पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण ।
उच्चारादिच्चागो पइठासमिदी हवे तस्स ॥ ६५ ॥

परकी रुकावटसे रहित, गूढ और प्रासुक भूमि प्रदेशमें जिसके मल आदिकका त्याग हो उसके प्रतिष्ठापनसमिति होती है ॥ ६५ ॥

मनोगुप्तिका लक्षण

कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइअसुहभावाणं ।
परिहारो मणगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं ॥ ६६ ॥

कलुषता, मोह, संज्ञा, राग, द्वेष आदि अशुभ भावोंका जो त्याग है उसे व्यवहारनयसे मनोगुप्ति कहा गया है ॥ ६६ ॥

वचनगुप्तिका लक्षण

थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स ।
परिहारो वचगुत्ती अलीयादिणियत्तिवयणं वा ॥ ६७ ॥

पापके कारणभूत स्त्री, राज, चोर और भोजन कथा आदि सम्बन्धी वचनोंका परित्याग अथवा असत्य आदिके त्यागरूप जो वचन हैं वह वचनगुप्ति है ॥ ६७ ॥

कायगुप्ति का लक्षण

बंधणछेदणमारण आकुञ्चण तह पसारणादीया ।
कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्तित्ति ॥ ६८ ॥

बाँधना, छेदना, मारना, सकोड़ना तथा पसारना आदि शरीर सम्बन्धी क्रियाओंसे निवृत्ति होना कायगुप्ति कही गई है ॥ ६८ ॥

निश्चयनयसे मनोगुप्ति और वचनगुप्तिका स्वरूप

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तम्मणोगुत्ती ।
अलियादिणियत्तिं वा मोणं वा होइ वदिगुत्ती ॥ ६९ ॥

मनकी जो रागादि परिणामोंसे निवृत्ति है उसे मनोगुप्ति जानो और असत्यादिकसे निवृत्ति अथवा मौन धारण करना वचनगुप्ति है ॥ ६९ ॥

निश्चयनयसे कायगुप्तिका स्वरूप

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती ।
हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्तित्ति णिद्दिट्ठा ॥ ७० ॥

शरीर सम्बन्धी क्रियाओंका त्याग करना अथवा कायोत्सर्ग करना कायगुप्ति है अथवा हिंसादि पापोंसे निवृत्ति होना कायगुप्ति है ऐसा कहा गया है ॥ ७० ॥

अर्हंत् परमेश्वरका स्वरूप

घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइ परमगुणसहिया ।
चोत्तिसअदिसअजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ॥ ७१ ॥

घन—अत्यन्त अहितकारी घातिया कर्मोंसे रहित, केवलज्ञानादि परमगुणोंसे सहित और चौंतीस अतिशयोंसे सहित ऐसे अरहंत होते हैं ॥ ७१ ॥

सिद्ध परमेष्ठीका स्वरूप

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ॥ ७२ ॥

जिन्होंने अष्ट कर्मोंका बन्ध नष्ट कर दिया है, जो आठ महागुणोंसे सहित हैं, उत्कृष्ट हैं, लोकके अग्रभागमें स्थित हैं, तथा नित्य हैं वे ऐसे सिद्ध परमेष्ठी होते हैं ॥ ७२ ॥

आचार्य परमेष्ठीका स्वरूप

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा ।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति ॥ ७३ ॥

जो पाँच प्रकारके (दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य) आचारोंसे परिपूर्ण हैं, पाँच इन्द्रिय रूपी हस्तियोंके गर्वको चूर करनेवाले हैं, धीर हैं तथा गुणोंसे गंभीर हैं ऐसे आचार्य होते हैं ॥ ७३ ॥

उपाध्याय परमेष्ठीका स्वरूप

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा ।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति ॥ ७४ ॥

जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) से संयुक्त हैं, जो जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे हुए पदार्थोंका उपदेश करनेवाले हैं, शूरवीर हैं, परिषह आदिके सहनेमें समर्थ हैं, तथा निष्काङ्क्षभावसे सहित हैं अर्थात् जो उपदेशके बदले किसी पदार्थकी इच्छा नहीं रखते हैं ऐसे उपाध्याय होते हैं ॥ ७४ ॥

साधु परमेष्ठीका स्वरूप

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता ।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति ॥ ७५ ॥

जो व्यापारसे सर्वथा रहित हैं, चार प्रकारकी (दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप) आराधनाओंमें सदा लीन रहते हैं, परिग्रह रहित हैं तथा निर्मोह हैं ऐसे साधु होते हैं ॥ ७५ ॥

व्यवहारनयके चारित्रका समारोपकर निश्चयनयके चारित्रका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा—

एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं ।
णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि ।। ७६ ।।

इस प्रकारकी भावनासे व्यवहारनयका चारित्र होता है अब इसके आगे निश्चयनयके चारित्रको कहूँगा ।। ७६ ।।

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थमें व्यवहारचारित्राधिकार नामका चौथा अधिकार समाप्त हुआ ।

५

परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार

णाहं णारयभावो तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।। ७७ ।।
णाहं मग्गणठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।। ७८ ।।
णाहं बालो वुड्ढो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।। ७९ ।।
णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।। ८० ।।
णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहोहं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।। ८१ ।।

मैं नारक पर्याय, तिर्यञ्च पर्याय, मनुष्य पर्याय अथवा देवपर्याय नहीं हूँ । निश्चयसे मैं उनका न कर्ता हूँ, न कराने वाला हूँ और न करने वालोंकी अनुमोदना करने वाला हूँ ।। ७७ ।।

मैं मार्गणास्थान नहीं हूँ, गुणस्थान नहीं हूँ, और न जीवस्थान हूँ । निश्चयसे मैं उनका न करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ और न करने वालोंकी अनुमोदना करने वाला हूँ ।। ७८ ।।

मैं बालक नहीं हूँ, वृद्ध नहीं हूँ, तरुण नहीं हूँ और न उनका कारण हूँ । निश्चयसे मैं उनका करने वाला नहीं हूँ, कराने वाला नहीं हूँ और करने वालोंकी अनुमोदना कराने वाला नहीं हूँ ।। ७९ ।।

मैं राग नहीं हूँ, द्वेष नहीं हूँ, मोह नहीं हूँ और न उनका कारण हूँ । मैं उनका करने वाला नहीं हूँ, कराने वाला नहीं हूँ और करने वालों की अनुमोदना करने वाला नहीं हूँ ।। ८० ।।

मैं क्रोध नहीं हूँ, मान नहीं हूँ, माया नहीं हूँ, और लोभ नहीं हूँ। मैं उनका करनेवाला नहीं हूँ, करानेवाला नहीं हूँ और करनेवालोंकी अनुमोदना करनेवाला नहीं हूँ॥ ८१॥

एरिसभेदब्भासे मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं।
तं दढकरणणिमित्तं पडिक्कमणादी पवक्खामि ॥८२॥

इस प्रकारके भेदज्ञानका अभ्यास होनेपर जीव मध्यस्थ होता है और उस मध्यस्थभावसे चारित्र होता है। आगे उसी चारित्रमें दृढ करनेके लिये प्रतिक्रमण आदिको कहूँगा॥ ८२॥

प्रतिक्रमण किसके होता है ?

मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदित्ति पडिकमणं ॥८३॥

जो वचनोंकी रचनाको छोड़कर तथा रागादिभावोंका निवारणकर आत्माका ध्यान करता है उसके प्रतिक्रमण होता है॥ ८३॥

आराहणाइ वट्टइ मोत्तूण विराहणं विसेसेण।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिक्कमणमओ हवे जम्हा ॥८४॥

जो विराधनाको विशेषरूपसे छोड़कर आराधनामें वर्तता है वह साधु प्रतिक्रमण कहा जाता है क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है।

भावार्थ—यहाँ अभेद विवक्षाके कारण प्रतिक्रमण करनेवाले साधुको ही प्रतिक्रमण कहा गया है॥ ८४॥

मोत्तूण अणायारं आयारे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८५॥

जो साधु अनाचारको छोड़कर आचारमें स्थिरभाव करता है वह प्रतिक्रमण कहा जाता है क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय होता है॥ ८५॥

उम्मग्गं परिचत्ता जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिक्कमणं उच्चइ पडिक्कमणमओ हवे जम्हा ॥८६॥

जो उन्मार्गको छोड़कर जिनमार्गमें स्थिरभाव करता है वह प्रतिक्रमण कहलाता है क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय होता है॥ ८६॥

मोत्तूण सल्लभावं णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८७॥

जो साधु शल्यभावको छोड़कर निःशल्यभावमें परिणमन करता है—उस रूप प्रवृत्ति करता है वह प्रतिक्रमण कहा जाता है क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है॥ ८७॥

चत्ता ह्यगुत्तिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८८॥

जो साधु अगुप्तिभावको छोड़कर तीन गुप्तियोंसे गुप्त—सुरक्षित रहता है वह प्रतिक्रमण कहा जाता है क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय होता है ॥ ८८ ॥

मोत्तूण अट्टरुद्दं झाणं जो झादि धम्मसुक्कं वा।
सो पडिकमणं उच्चइ जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु ॥८९॥

जो आर्त्त और रौद्र ध्यानको छोड़कर धर्म्य अथवा शुक्लध्यानका ध्यान करता है वह जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कथित शास्त्रोंमें प्रतिक्रमण कहा जाता है ॥ ८९ ॥

मिच्छत्तपहुदिभावा पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं।
सम्मत्तपहुदिभावा अभाविया होंति जीवेण ॥९०॥

जीवने पहले चिर काल तक मिथ्यात्व आदि भाव भाये हैं। सम्यक्त्व आदि भाव जीवने नहीं भाये हैं ॥ ९० ॥

मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइऊण णिरवसेसेण।
सम्मत्तणाणचरणं जो भावइ सो पडिक्कमणं ॥९१॥

जो सम्पूर्णरूपसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रको छोड़कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्रकी भावना करता है वह प्रतिक्रमण है ॥ ९१ ॥

आत्मध्यान ही प्रतिक्रमण है

उत्तमअट्ठं आदा तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं।
तम्हा दु झाणमेव हि उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं ॥९२॥

उत्तमार्थ आत्मा है, उसमें स्थिर मुनिवर कर्मका घात करते हैं इसलिये उत्तमार्थ—उत्कृष्ट पदार्थ आत्माका ध्यान करना ही प्रतिक्रमण है ॥ ९२ ॥

झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं ॥९३॥

ध्यानमें विलीन साधु सब दोषोंका परित्याग करता है इसलिये निश्चयसे ध्यान ही सब अतिचारों—समस्त दोषोंका प्रतिक्रमण है ॥ ९३ ॥

व्यवहार प्रतिक्रमणका वर्णन

पडिकमणणामधेये सुत्ते जह वण्णिदं पडिक्कमणं।
तह णच्चा जो भावइ तस्स तदा होदि पडिक्कमणं ॥९४॥

प्रतिक्रमण नामक शास्त्रमें जिस प्रकार प्रतिक्रमणका वर्णन किया गया है उसे जानकर जो उसकी भावना करता है उस समय उसके प्रतिक्रमण होता है ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थमें परमार्थप्रतिक्रमण नामका पाँचवाँ अधिकार पूर्ण हुआ ॥ ५ ॥

६

निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार

मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स ॥ ९५ ॥

जो समस्त वचन जालको छोड़कर तथा आगामी शुभ-अशुभका निवारणकर आत्माका ध्यान करता है उसके प्रत्याख्यान होता है ॥ ९५ ॥

आत्माका ध्यान किस प्रकार किया जाता है ?

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहाव सुहमइओ ।
केवलसत्तिसहावो सोहं इदि चिंतए णाणी ॥ ९६ ॥

ज्ञानी जीवको इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये कि मैं केवलज्ञान स्वभाव हूँ, केवलदर्शन-स्वभाव हूँ, सुखमय हूँ और केवलशक्ति स्वभाव हूँ ।

भावार्थ—ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य ही मेरे स्वभाव हैं अन्य भाव विभाव हैं इस प्रकार ज्ञानी जीव आत्माका ध्यान करते हैं ॥ ९६ ॥

णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केइं ।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी ॥ ९७ ॥

जो निजभावको नहीं छोड़ता है, परभावको कुछ भी ग्रहण नहीं करता है, मात्र सबको जानता देखता है वह मैं हूँ, इस प्रकार ज्ञानी जीवको चिन्तन करना चाहिये ॥ ९७ ॥

पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेसबंधेहि वज्जिदो अप्पा ।
सोहं इदि चिंतिज्जो तत्थेव य कुणदि थिरभावं ॥ ९८ ॥

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धोंसे रहित जो आत्मा है वही मैं हूँ इस प्रकार चिन्तन करता हुआ ज्ञानी जीव उसी आत्मामें स्थिरभावको करता है ॥ ९८ ॥

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंवणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे ॥ ९९ ॥

मैं ममत्वको छोड़ता हूं, और निर्ममत्वमें स्थित होता हूं, मेरा आलम्बन आत्मा है और शेष सबका परित्याग करता हूं ॥ ९९ ॥

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥ १०० ॥

निश्चयसे मेरा आत्मा ही ज्ञानमें है, मेरा आत्मा ही दर्शन और चारित्रमें है, आत्मा ही प्रत्याख्यानमें है और आत्मा ही संवर तथा योग—शुद्धोपयोगमें है ।

भावार्थ—गुण गुणीमें अभेद कर आत्मा हीको ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर तथा शुद्धोपयोग रूप कहा है ।। १०० ।।

जीव अकेला ही जन्म मरण करता है

एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सयं ।
एगस्स जादि मरणं एगो सिज्झदि णीरयो ।।१०१।।

यह जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही स्वयं जन्म लेता है । एकका मरण होता है और एक ही कर्मरूपी रजसे रहित होता हुआ सिद्ध होता है ।। १०१ ।।

ज्ञानी जीवकी भावना

एको मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ।।१०२।।

ज्ञान दर्शन लक्षण वाला, शाश्वत एक आत्मा ही मेरा है संयोगलक्षण वाले शेष समस्त-भाव मुझसे वाह्य हैं ।। १०२ ।।

आत्मगत दोषोंसे छूटनेका उपाय

जं किंचि मे दुच्चरित्तं सव्वं तिविहेण वोसरे ।
सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ।।१०३।।

मेरा जो कुछ भी दुश्चारित्र—अन्यथा प्रवर्तन है उस सवको त्रिविध—मन, वचन, कायसे छोड़ता हूँ और जो त्रिविध (सामायिक, छेदोपस्थापना-परिहार-विशुद्धिके भेदसे तीन प्रकारका) चारित्र है उस सबको निराकार—निर्विकल्प करता हूँ ।। १०३ ।।

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ।
आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए ।।१०४।।

मेरा सव जीवोंमें साम्यभाव है, मेरा किसीके साथ वैर नहीं है । वास्तवमें आशाओंका परित्याग कर समाधि प्राप्त की जाती है ।। १०४ ।।

निश्चय प्रत्याख्यानका अधिकारी कौन है ?

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो ।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ।।१०५।।

जो निष्कषाय है, इन्द्रियोंका दमन करने वाला है, समस्त परीषहोंको सहन करनेमें शूर वीर है, उद्यमशील है तथा संसारके भयसे भीत है उसीके सुखमय प्रत्याख्यान—निश्चय प्रत्याख्यान होता है ।। १०५ ।।

एवं भेदब्भासं जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं ।
पच्चक्खाणं सक्कदि धरिदें सो संजदो णियमा ।।१०६।।

इस प्रकार जो निरन्तर जीव और कर्मके भेदका अभ्यास करता है वह संयत—साधु नियमसे प्रत्याख्यान धारण करनेको समर्थ है ।। १०६ ।।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थमें निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार नामका छठवां अधिकार पूर्ण हुआ ।। ६ ।।

७

परमालोचनाधिकार

आलोचना किसके होती है ?

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं ।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि ॥१०७॥

जो नोकर्म और कर्मसे रहित तथा विभावगुण पर्यायोंसे भिन्न आत्माका ध्यान करता है उस साधुके आलोचना होती है ॥ १०७ ॥

आलोचनाके चार रूप

आलोयणमालुञ्छणवियडीकरणं च भावसुद्धी य ।
चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खणं समए ॥१०८॥

आलोचन, आलुञ्छन, अविकृतीकरण और भावशुद्धि इस तरह आगममें आलोचनाका लक्षण चार प्रकारका कहा गया है ॥ १०८ ॥

आलोचनका स्वरूप

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं ।
आलोयणमिदि जाणह परमजिणंदस्स उपएसं ॥१०९॥

जो जीव अपने परिणामको समभावमें स्थापितकर अपने आत्माको देखता है—उसके वीतरागस्वभावका चिन्तन करता है वह आलोचन है ऐसा परम जिनेन्द्रका उपदेश जानो ॥ १०९ ॥

आलुञ्छनका स्वरूप

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीय परिणामो ।
साहीणो समभावो आलुञ्छणमिदि समुद्दिट्ठं ॥११०॥

कर्मरूप वृक्षका मूलच्छेद करनेमें समर्थ, स्वाधीन, समभावरूप जो अपना परिणाम है वह आलुञ्छन इस नामसे कहा गया है ॥ ११० ॥

अविकृतीकरणका स्वरूप

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं ।
मज्झत्थभावणाए वियडीकरणं त्ति विण्णेयं ॥१११॥

जो मध्यस्थभावनामें कर्मसे भिन्न तथा निर्मलगुणोंके निवासस्वरूप आत्माकी भावना करता है उसकी वह भावना अविकृतीकरण है ऐसा जानना चाहिये ॥ १११ ॥

भावशुद्धिका स्वरूप

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति।
परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥११२॥

भव्य जीवोंका मद, मान, माया और लोभसे रहित जो भाव है वह भाव शुद्धि है ऐसा लोकालोकके देखनेवाले सर्वज्ञ भगवान्‌ने कहा है ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थमें परमालोचनाधिकार नामका सातवां अधिकार समाप्त हुआ ॥७॥

८

शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार

निश्चय प्रायश्चित्तका स्वरूप

वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो।
सो हवदि पायछित्तं अणवरयं चेव कायव्वो ॥११३॥

व्रत, समिति, शील और संयमरूप परिणाम, तथा इन्द्रिय निग्रहरूप जो भाव है वह प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त निरन्तर करने योग्य है ॥ ११३ ॥

कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं।
पायच्छित्तं भणिदं णियगुणचिंता य णिच्छयदो ॥११४॥

क्रोधादिक स्वकीय विभाव भावोंके क्षय आदिककी भावनामें लीन रहना तथा निजगुणोंका चिन्तन करना निश्चयसे प्रायश्चित्त कहा गया है ॥ ११४ ॥

कषायों पर विजय प्राप्त करनेका उपाय

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जयदि खु ए चहुविहकसाए ॥११५॥

क्रोधको क्षमासे, मानको स्वकीय मार्दव धर्मसे, मायाको आर्जवसे और लोभको संतोषसे इस तरह चारकषायोंको ज्ञानी जीव निश्चयसे जीतता है ॥ ११५ ॥

निश्चय प्रायश्चित्त किसके होता है?

उक्किट्ठो जो बोहो णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं।
जो धरइ मुणी णिच्चं पायच्छित्तं हवे तस्स ॥११६॥

उसी आत्माका जो उत्कृष्ट बोध, ज्ञान अथवा चिन्तन है उसे जो मुनि निरन्तर धारण करता है उसके प्रायश्चित्त होता है ॥ ११६ ॥

किं बहुणा भणिएण दु वरतवचरणं महेसिणं सव्वं ।
पायच्छित्तं जाणह अणेयकम्माण खयहेउ ॥११७॥

बहुत कहनेसे क्या ? महर्षियोंका जो उत्कृष्ट तपश्चरण है उस सबको तूँ अनेक कर्मोंके क्षय का कारण प्रायश्चित्त जान ॥ ११७ ॥

तप प्रायश्चित्त क्यों है ?

णंताणंतभवेण समज्जिअसुहअसुहकम्मसंदोहो ।
तवचरणेण विणस्सदि पायच्छित्तं तवं तम्हा ॥११८॥

क्योंकि अनन्तानन्त भवोंके द्वारा उपार्जित शुभ-अशुभ कर्मोंका समूह तपश्चरणके द्वारा विनष्ट हो जाता है इसलिये तप प्रायश्चित्त है ॥ ११८ ॥

ध्यान ही सर्वस्व क्यों है ?

अप्पसरूवालंवणभावेण दु सव्वभावपरिहारं ।
सक्कदि काउं जीवो तम्हा झाणं हवे सव्वं ॥११९॥

आत्मस्वरूपका अवलम्बन करने वाले भावसे जीव समस्त विभाव भावोंका निराकरण करने में समर्थ होता है इसलिये ध्यान ही सब कुछ है ॥ ११९ ॥

सुहअसुहवयणरयणं रायादीभाववारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा ॥१२०॥

शुभ-अशुभ वचनोंकी रचना तथा रागादिक भावोंका निवारण कर जो आत्माका ध्यान करता है उसके नियमसे नियम अर्थात् रत्नत्रय होता है ॥ १२० ॥

कायोत्सर्ग किसके होता है ?

कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं ।
तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्विअप्पेण ॥१२१॥

जो शरीर आदि पर द्रव्यमें स्थिरभावको छोड़कर निर्विकल्प रूपसे आत्माका ध्यान करता है उसके कायोत्सर्ग होता है ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थमें शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्ताधिकार नामका आठवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

९

परमसमाध्यधिकार

परमसमाधि किसके होती है ?

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण ।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥१२२॥

जो वचनोच्चारणकी क्रियाको छोड़कर वीतराग भावसे आत्माका ध्यान करता है उसके परमसमाधि होती है ॥ १२२ ॥

संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण ।
जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥१२३॥

जो संयम, नियम और तपसे तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानके द्वारा आत्माका ध्यान करता है उसके परमसमाधि होती है ॥ १२३ ॥

समताके विना सब व्यर्थ है

किं काहदि वणवासो कायकलेसो विचित्तउववासो ।
अज्झयणमौणपहुदी समदा रहियस्स समणस्स ॥१२४॥

समताभावसे रहित साधुका वनवास, कायक्लेश, नाना प्रकारका उपवास तथा अध्ययन और मौन आदि धारण करना क्या करता है ? कुछ नहीं ॥ १२४ ॥

स्थायी सामायिक व्रत किससे होता है ?

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२५॥

जो समस्त सावद्य—पाप सहित कार्योंमें विरत है, तीन गुप्तियोंको धारण करने वाला है तथा जिसने इन्द्रियोंको निरुद्ध कर लिया है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान्‌के शासनमें कहा गया है ॥ १२५ ॥

जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥१२६॥

जो स्थावर अथवा त्रस सब जीवोंमें समभाव वाला है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान्‌के शासनमें कहा गया है ॥ १२६ ॥

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे ।
तस सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥१२७॥

जिसका आत्मा संयम, नियम तथा तपमें सन्निहित रहता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान्के शासनमें कहा गया है ॥ १२७ ॥

जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेति दु ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥१२८॥

राग और द्वेष जिसके विकार उत्पन्न नहीं करते हैं उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान्के शासनमें कहा गया है ॥ १२८ ॥

जो दु अट्टं च रुद्दं च झाणं वज्जेदि णिच्चसा ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥१२९॥

जो निरन्तर आर्त्त और रौद्र ध्यानका परित्याग करता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान्के शासनमें कहा गया है ॥ १२९ ॥

जो दु पुण्णं च पावं च भावं वज्जेदि णिच्चसा ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥१३०॥

जो निरन्तर पुण्य और पापरूप भावको छोड़ता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान्के शासनमें कहा गया है ॥ १३० ॥

जो दु हस्सं रई सोगं अरतिं वज्जेदि णिच्चसा ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥१३१॥
जो दुगंछा भयं वेदं सव्वं वज्जेदि णिच्चसा ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥१३२॥

जो निरन्तर हास्य, रति, शोक और अरतिका परित्याग करता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान्के शासनमें कहा गया है ॥ १३१ ॥

जो निरन्तर जुगुप्सा, भय और सब प्रकारके वेदोंकी छोड़ता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान्के शासनमें कहा गया है ॥ १३२ ॥

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसा ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥१३३॥

जो निरन्तर धर्म्य और शुक्लध्यानका ध्यान करता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान्के शासनमें कहा गया है ॥ १३३ ॥

इस तरह श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थमें परमसमाध्यधिकार नामका नौवां अधिकार समाप्त हुआ ॥९॥

परमभक्त्यधिकार

सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो ।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥१३४॥

जो श्रावक अथवा मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें भक्ति करता है उसे निवृति भक्ति—मुक्तिकी प्राप्ति होती है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है ॥ १३४ ॥

मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि ।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं ॥१३५॥

मोक्षको प्राप्त करने वाले पुरुषोंके गुणभेदको जानकर उनकी भी परम भक्ति करता है उसे भी निवृति भक्ति—मुक्तिकी प्राप्ति होती है ऐसा व्यवहारनयसे कहा गया है ॥ १३५ ॥

मोक्खपहे अप्पाणं ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती ।
तेण दु जीवो पावइ असहायगुणं णियप्पाणं ॥१३६॥

मोक्षमार्गमें अपने आपको स्थापित कर जो निवृति भक्ति—मुक्तिकी आराधना करता है उससे जीव असहाय—स्वापेक्ष गुणोंसे युक्त निज आत्माको प्राप्त करता है ॥ १३६ ॥

रायादीपरिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य कह हवे जोगो ॥१३७॥

जो साधु अपने आत्माको रागादिकके परित्यागमें लगाता है वह योगभक्तिसे युक्त है अन्य साधुके योग कैसे हो सकता है ? ॥ १३७ ॥

सव्वविअप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो ॥१३८॥

जो साधु अपने आत्माको समस्त विकल्पोंके अभावमें लगाता है वह योग भक्तिसे युक्त है अन्य साधुके योग किस प्रकार हो सकता है ? ॥ १३८ ॥

योगका लक्षण

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु ।
जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो ॥१३९॥

जो विपरीत अभिप्रायको छोड़कर जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित तत्त्वोंमें अपने आपको लगाता है उसका वह निजभाव ही योग है ॥ १३९ ॥

उसहादिजिणवरिंदा एवं काऊण जोगवरभत्तिं ।
णिव्वुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरभत्तिं ॥१४०॥

ऋषभादि जिनेन्द्र इस प्रकार योगकी उत्तम भक्ति कर निर्वाणके सुखको प्राप्त हुए हैं इसलिये तूं भी योगकी उत्तम भक्तिको धारण कर ॥ १४० ॥

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्द स्वामी विरचित नियमसार ग्रन्थमें परमभक्त्यधिकार नामका दशवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥ १० ॥

११
निश्चयपरमावश्यकाधिकार

आवश्यक शब्दकी निरुक्ति

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो ॥१४१॥

जो अन्यके वशमें नहीं होता उसके कार्यको आवश्य (आवश्यक) कहते हैं। कर्मोंका नाश करने वाला जो योग है वह निर्वृति—निर्वाणका मार्ग है ऐसा कहा गया है ॥ १४१ ॥

आवश्यक युक्तिका निरुक्तार्थ

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं त्ति वोधव्वा ।
जुत्ति त्ति उवाअं ति य णिरवयवो होदि णिज्जेत्ति ॥१४२॥

जो अन्यके वश नहीं है वह अवश है और अवशका जो कर्म है वह आवश्यक (आवश्य) है ऐसा जानना चाहिये। युक्ति इसका अर्थ उपाय है। आवश्यककी जो युक्ति है वह आवश्यक युक्ति है इस तरह आवश्यक युक्ति शब्दका सम्पूर्ण निरुक्ति अर्थ है।

भावार्थ—शब्दसे निकलने वाले अर्थको निरुक्त अर्थ कहते हैं। यहाँ आवश्यक युक्ति शब्द-का ऐसा ही अर्थ वतलाया गया है ॥ १४२ ॥

वट्टदि जो सो समणो अण्णवसो होदि असुहभावेण ।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवस्सयलक्खणं ण हवे ॥१४३॥

जो साधु अशुभ भावसे प्रवृत्ति करता है वह अन्य वश है इसलिये उसका कार्य आवश्यक नामसे युक्त नहीं है।

भावार्थ—अवश साधुका कार्य आवश्यक है अन्यवश साधुका कार्य आवश्यक नहीं है ॥ १४३ ॥

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे ॥१४४॥

जो साधु निश्चयसे शुभ भावमें प्रवृत्ति करता है वह अन्यवश है इसलिये उसका कर्म आवश्यक नामवाला नहीं है।

भावार्थ—एकसौ तेतालीस तथा एक सौ चवालीसवीं गाथामें कहा गया है कि जो साधु शुभ और अशुभभावोंमें प्रवृत्ति करता है वह अवश नहीं है किन्तु अन्यवश है इसलिये उसका जो कर्म है वह आवश्य अथवा आवश्यक नहीं कहला सकता ॥ १४४ ॥

दव्वगुणपज्जयाणं चित्तं जो कुणइ सो वि अण्णवसो।
मोहंधयारववगयसमणा कहयंति एरिसयं ॥१४५॥

जो साधु द्रव्य, गुण और पर्यायोंके मध्यमें अपना चित्त लगाता है अर्थात् उनके विकल्पमें पड़ता है वह भी अन्यवश है ऐसा मोहरूपी अन्धकारसे रहित मुनि कहते हैं ॥ १४५ ॥

आत्मवश कौन है ?

परिचत्ता परभावं अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ॥१४६॥

जो परपदार्थको छोड़कर निर्मलस्वभाववाले आत्माका ध्यान करता है वह आत्मवश है। निश्चयसे उसके कर्मको आवश्यककर्म कहते हैं ॥ १४६ ॥

शुद्धनिश्चय आवश्यक प्राप्तिका उपाय

आवासं जइ इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स ॥१४७॥

यदि तू आवश्यककी इच्छा करता है तो आत्मस्वभावमें अत्यन्त स्थिरभावको कर। उससे ही जीवका श्रामण्यगुण—मुनिधर्म पूर्ण होता है ॥ १४७ ॥

आवश्यक करनेकी प्रेरणा

आवासएण हीणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।
पुव्वुत्तकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा ॥१४८॥

क्योंकि आवश्यकसे रहित साधु चारित्रसे अत्यन्तभ्रष्ट हैं इसलिये पूर्वोक्त क्रमसे आवश्यक करना चाहिये ॥ १४८ ॥

आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा।
आवासय परिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा ॥१४९॥

जो साधु आवश्यक कर्मसे युक्त है वह अन्तरात्मा हैं और जो आवश्यक कर्मसे रहित है वह बहिरात्मा है ॥ १४९ ॥

अन्तरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा ।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अन्तरंगप्पा ॥१५०॥

जो साधु अन्तर्जल्प और बाह्य जल्पमें वर्तता है वह बहिरात्मा है और जो (किसी भी प्रकारके) जल्पोंमें नहीं वर्तता है वह अन्तरात्मा कहा जाता है ॥ १५० ॥

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सोवि अन्तरंगप्पा ।
झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि ॥१५१॥

जो धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानमें परिणत है वह भी अन्तरात्मा है । ध्यान विहीन साधु बहिरात्मा है ऐसा जान ॥ १५१ ॥

प्रतिक्रमण आदि क्रियाओंकी सार्थकता

पडिकमणपहुदि किरियं कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं ।
तेण दु विरागचरिए समणो अब्भुट्ठिदो होदि ॥१५२॥

प्रतिक्रमण आदि क्रियाओंको करने वालेके निश्चय चारित्र होता है और उस निश्चय चारित्रसे साधु वीतराग चारित्रमें उद्यत होता है ।

भावार्थ—यहाँ प्रतिक्रमण आदि क्रियाओंकी सार्थकता बतलाते हुए कहा गया है कि जो साधु प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा आलोचना आदि क्रियाओंको करता रहता है उसीके निश्चय चारित्र होता है और उस निश्चय चारित्रके द्वारा ही साधु वीतराग चारित्रमें आरूढ होता है ।

वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चखाण णियमं च ।
आलोयण वयणमयं तं सव्वं जाण सज्झाउं ॥१५३॥

जो वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय नियम और वचनमय आलोचना है उस सबको तूँ स्वाध्याय जान ।

भावार्थ—प्रतिक्रमण आदिके पाठ बोलना स्वाध्यायमें गर्भित है ॥ १५३ ॥

जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं ।
सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं ॥१५४॥

हे मुनिशार्दूल ! यदि करनेको समर्थ है तो तुझे ध्यानमय प्रतिक्रमणादि करना चाहिये और यदि शक्तिसे रहित है तो तुझे तब तक श्रद्धान ही करना चाहिये ॥ १५४ ॥

जिणकहियपरमसुत्ते पडिकमणादिय परीक्खऊण फुडं ।
मोणव्वएण जोई णियकज्जं साहये णिच्चं ॥१५५॥

जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए परमागममें प्रतिक्रमणादिककी अच्छी तरह परीक्षा कर योगीको निरन्तर मौनव्रतसे निजकार्य सिद्ध करना चाहिये ॥ १५५ ॥

विवाद वर्जनीय है

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥१५६॥

नाना जीव हैं, नाना कर्म हैं और नानाप्रकारकी लब्धियाँ हैं इसलिये स्वधर्मियों और परधर्मियोंके साथ वचनसम्बन्धी विवाद वर्जनीय है—छोड़नेके योग्य है ॥ १५६ ॥

सहजतत्त्वकी आराधनाकी विधि

लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं ॥१५७॥

जिस प्रकार कोई एक मनुष्य निधिको प्राप्तकर स्वजन्मभूमिमें स्थित हो उसका फल भोगता है उसीप्रकार ज्ञानी जीव ज्ञानरूपी निधिको पाकर परसमूहको छोड़ उसका अनुभव करता है।

सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं य काऊण।
अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्ज य केवली जादा ॥१५८॥

समस्त पुराणपुरुष इसप्रकार आवश्यक कर अप्रमत्तादिक स्थानोंको प्राप्त करके केवली हुए हैं।

भावार्थ—जितने पुराण पुरुष अब तक केवली हुए हैं वे सब पूर्वोक्त विधिसे प्रमत्तविरत नामक छठवें गुणस्थानमें आवश्यक कर्मको करके अप्रमत्तादि गुणस्थानोंको प्राप्त हुए हैं और तदनन्तर केवली हुए हैं ॥ १५८ ॥

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थमें निश्चयपरमावश्यकाधिकार नामका ग्यारहवां अधिकार पूर्ण हुआ।

१२
शुद्धोपयोगाधिकार

निश्चय और व्यवहार नयसे केवलीकी व्याख्या

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५९॥

व्यवहार नयसे केवली भगवान् सबको जानते और देखते हैं परन्तु निश्चयसे केवलज्ञानी अपने आपको जानते देखते हैं ॥ १५९ ॥

केवलज्ञान और केवलदर्शन साथ साथ होते हैं—

जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥१६०॥

जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश और प्रताप एक साथ वर्तता है उसी प्रकार केवलज्ञानीका ज्ञान और दर्शन एक साथ वर्तता है ऐसा जानना चाहिये।

भावार्थ—छद्मस्थ जीवोंके पहले दर्शन होता है उसके वाद ज्ञान होता है परन्तु केवली भगवान्‌के दर्शन और ज्ञान दोनों साथ ही साथ होते हैं ॥ १६० ॥

ज्ञान और दर्शन के स्वरूपकी समीक्षा

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव।
अप्पा सपरपयासो होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि ॥१६१॥

ज्ञान परप्रकाशक है, दर्शन स्वप्रकाशक है और आत्मा स्वपरप्रकाशक है ऐसा यदि तू वास्तवमें मानता है (तो यह तेरी विरुद्ध मान्यता है) ॥ १६१ ॥

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६२॥

यदि ज्ञान परप्रकाशक ही है तो दर्शन ज्ञानसे भिन्न सिद्ध होगा क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं होता ऐसा पूर्वसूत्रमें कहा गया है ॥ १६२ ॥

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६३॥

यदि आत्मा परप्रकाशक ही है तो दर्शन आत्मा से भिन्न होगा क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं होता ऐसा पहले कहा गया है ॥ १६३ ॥

णाणं परप्पयासं ववहारणयेण दंसणं तम्हा।
अप्पा परप्पयासो ववहारणयेण दंसणं तम्हा ॥१६४॥

व्यवहारनयसे ज्ञान परप्रकाशक है इसलिये दर्शन परप्रकाशक है और आत्मा व्यवहारनयसे परप्रकाशक है इसलिये दर्शन परप्रकाशक है ॥ १६४ ॥

णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।
अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ॥१६५॥

निश्चयनयसे ज्ञान स्वप्रकाशक है इसलिये दर्शन स्वप्रकाशक है और निश्चयनयसे आत्मा स्वप्रकाशक है इसलिये दर्शन स्वप्रकाशक है ॥ १६५ ॥

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६६॥

केवली भगवान् निश्चयसे आत्मस्वरूपको देखते हैं लोक अलोकको नहीं देखते हैं, यदि ऐसा कोई कहता है तो उसे क्या दूषण है ? अर्थात् नहीं है ॥ १६६ ॥

प्रत्यक्ष ज्ञानका वर्णन

मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरं सगं च सव्वं च।
पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ ॥१६७॥

मूर्त, अमूर्त, चेतन, अचेतन द्रव्य तथा स्व और समस्त परद्रव्यको देखनेवालेका ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अतीन्द्रिय होता है ॥ १६७ ॥

परोक्षज्ञानका वर्णन

पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जएण संजुत्तं ।
जो ण य पेच्छइ सम्मं परोक्खदिट्ठी हवे तस्स ।।१६८।।

जो नाना गुण और पर्यायों से संयुक्त पूर्वोक्त समस्त द्रव्योंको अच्छी तरह नहीं देखता है उसकी दृष्टि परोक्षदृष्टि है अर्थात् उसका ज्ञान परोक्षज्ञान है ॥ १६८ ॥

लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भगवं ।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ।।१६९।।

केवली भगवान् (व्यवहार से) लोकालोकको जानते हैं आत्माको नहीं, ऐसा यदि कोई कहता है तो क्या उसका क्या दूषण है ? अर्थात् नहीं है ॥ १६९ ॥

णाणं जीवसरूवं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा ।
अप्पाणं ण वि जाणदि अप्पादो होदि विदिरित्तं ।।१७०।।

ज्ञान जीवका स्वरूप है इसलिये आत्मा आत्माको जानता है, यदि ज्ञान आत्माको न जाने तो वह आत्मासे भिन्न—पृथक् सिद्ध हो ।। १७० ।।

अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो ।
तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि ।।१७१।।

आत्माको ज्ञान जानो और ज्ञान आत्मा है ऐसा जानो, इसमें सन्देह नहीं है इसलिये ज्ञान तथा दर्शन दोनों स्वपरप्रकाशक हैं ।। १७१ ।।

केवलज्ञानीके बन्ध नहीं है

जाणंतो पस्संतो ईहा पुव्वं ण होइ केवलिणो ।
केवलणाणी तम्हा तेण दु सोऽबंधगो भणिदो ।।१७२।।

जानते देखते हुए केवलीके पूर्वमें इच्छा नहीं होती इसलिये वे केवलज्ञानी अवन्धक—वन्धरहित कहे गये हैं ।

भावार्थ—वन्धका कारण इच्छा है, मोह कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेसे केवलीके जानने देखनेके पहले कोई इच्छा नहीं होती और इच्छा के विना उनके वन्ध नहीं होता ।। १७२ ।।

केवलीके वचन बन्धके कारण नहीं हैं

परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होई ।
परिणामरहियवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ।।१७३।।
ईहापुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकारणं होई ।
ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ।।१७४।।

परिणामपूर्वक—अभिप्रायपूर्वक वचन जीवके बन्धका कारण है। क्योंकि ज्ञानीका वचन परिणामरहित है इसलिये उसके बन्ध नहीं होता ॥ १७३ ॥

इच्छापूर्वक वचन जीवके बन्धका कारण होता है। क्योंकि ज्ञानी जीवका वचन इच्छा रहित है इसलिये उसके बन्ध नहीं होता ॥ १७४ ॥

कर्मक्षयसे मोक्ष प्राप्त होता है

आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीणं।
पच्छा पावइ सिग्घं लोयग्गं समयमेत्तेण ॥१७५॥

आयुके क्षयसे केवलीके शेष समस्त प्रकृतियोंका क्षय हो जाता है पश्चात् वे समयमात्रमें शीघ्र ही लोकाग्रको प्राप्त कर लेते हैं ॥ १७५ ॥

कारणपरम तत्त्वका स्वरूप

जाइजरमरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं।
णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं ॥१७६॥

वह कारणपरमतत्त्व जन्म जरा और मरणसे रहित है, उत्कृष्ट है, आठ कर्मोंसे वर्जित है, शुद्ध है, ज्ञानादिक चार गुणरूप स्वभावसे सहित है, अक्षय है, अविनाशी है और अछेद्य—छेदन करनेके अयोग्य है ॥ १७६ ॥

अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं।
पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंवं ॥१७७॥

वह कारणपरमतत्त्व अव्याबाध, अनिन्द्रिय, अनुपम, पुण्य पापसे निर्मुक्त, पुनरागमनसे रहित, नित्य, अचल और अनालम्ब—परके आलम्बनसे रहित है ॥ १७७ ॥

निर्वाण कहाँ होता है ?

णवि दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१७८॥

जहाँ न दुःख है, न सांसारिक सुख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न मरण है और न जन्म है वहीं निर्वाण होता है ॥ १७८ ॥

णवि इंदिय उवसग्गा णवि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य।
णय तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१७९॥

जहाँ न इन्द्रियाँ हैं, न उपसर्ग हैं, न मोह है, न विस्मय है, न निद्रा है, न तृषा है, और न क्षुधा है वहीं निर्वाण होता है ॥ १७९ ॥

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
णवि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१८०॥

जहाँ न कर्म हैं, न नोकर्म हैं, न चिन्ता है, न आर्त रौद्र ध्यान है और न धर्म्य शुक्ल ध्यान हैं वहीं निर्वाण होता है ॥ १८० ॥

सिद्धभगवान्‌का स्वरूप

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं ।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सपदेसत्तं ॥१८१॥

उन सिद्धभगवान्‌के केवलज्ञान है, केवलसुख है, केवलवीर्य है, केवलदर्शन है, अमूर्तिकपना है, अस्तित्व है तथा प्रदेशोंसे सहितपना है ॥ १८१ ॥

निर्वाण और सिद्धमें अभेद

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा ।
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ॥१८२॥

निर्वाण ही सिद्ध हैं और सिद्ध ही निर्वाण हैं ऐसा कहा गया है। कर्मसे विमुक्त आत्मा लोकाग्रपर्यन्त जाता है ॥ १८२ ॥

कर्मविमुक्त आत्मा लोकाग्रपर्यन्त ही क्यों जाता है ?

जीवाणं पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी ।
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति ॥१८३॥

जीव और पुद्गलोंका गमन, जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहाँ तक होता है। लोकाग्रके आगे धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे कर्मयुक्त आत्माएँ नहीं जाती हैं ॥ १८३ ॥

ग्रन्थका समारोप

णियमं णियमस्स फलं णिद्दिट्ठं पवयणस्य भत्तीए ।
पुव्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयण्हा ॥१८४॥

इस ग्रन्थमें प्रवचनकी भक्तिसे नियम और नियमका फल दिखलाया गया है। इसमें यदि पूर्वापर विरोध हो तो आगमके ज्ञाता पुरुष उसे दूर कर पूर्ति करें ॥ १८४ ॥

ईसाभावेण पुणो केई णिंदंति सुंदरं मग्गं ।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे ॥१८५॥

और कितने ही लोग ईर्ष्याभावसे सुन्दर मार्गकी निन्दा करते हैं इसलिये उनके वचन सुनकर जिनमार्गमें अभक्ति—अश्रद्धा न करो ॥ १८५ ॥

णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं ।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं ॥१८६॥

मैंने पूर्वापर दोषसे रहित जिनोपदेशको जानकर निजभावनाके निमित्त यह नियमसार नामका शास्त्र रचा है ॥ १८६ ॥

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसारमें शुद्धोपयोगाधिकार नामका बारहवाँ अधिकार समाप्त हुआ ।

●

अष्टपाहुड

८

अष्टपाहुड़

दर्शन पाहुड़

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स ।
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकमं समासेण ॥ १ ॥

मैं आद्य जिनेन्द्र श्री ऋषभदेव तथा अन्तिम जिनेन्द्र श्री वर्द्धमान स्वामीको नमस्कार कर क्रमानुसार संक्षेपसे सम्यग्दर्शनके मार्गको कहूँगा ॥ १ ॥

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं ।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥ २ ॥

श्री जिनेन्द्र भगवान्‌ने शिष्योंके लिये दर्शनमूल धर्मका उपदेश दिया है इसलिये उसे अपने कानोंसे सुनो । जो सम्यग्दर्शनसे रहित है वह वन्दना करने योग्य नहीं है ॥ २ ॥

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥ ३ ॥

जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे ही वास्तवमें भ्रष्ट हैं क्योंकि सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट मनुष्यको मोक्ष प्राप्त नहीं होता । जो सम्यक् चारित्रसे भ्रष्ट हैं वे सिद्ध हो जाते हैं परन्तु जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे सिद्ध नहीं हो सकते ॥ ३ ॥

सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥ ४ ॥

जो सम्यक्त्व रूपी रत्नसे भ्रष्ट हैं वे बहुत प्रकारके शास्त्रोंको जानते हुए भी आराधनाओंसे रहित होनेके कारण उसी संसारमें भ्रमण करते रहते हैं ॥ ४ ॥

सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं ।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥ ५ ॥

जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे रहित हैं वे भले ही हजारों करोड़ों वर्षों तक उत्तमता पूर्वक कठिन तपश्चरण करें तो भी उन्हें रत्नत्रय प्राप्त नहीं होता है ॥ ५ ॥

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे ।
कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेण ॥ ६ ॥

जो पुरुष सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, बल और वीर्यसे वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं तथा कलिकाल सम्बन्धी मलिन पापसे रहित हैं वे सब शीघ्र ही उत्कृष्ट ज्ञानी हो जाते हैं ॥ ६ ॥

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स।
कम्मं वालुयवरणं बंधुच्चिय णासए तस्स॥ ७॥

जिस मनुष्यके हृदयमें सम्यक्त्व रूपी जलका प्रवाह निरन्तर प्रवाहित होता है उसका पूर्व-बन्धसे संचित कर्मरूपी बालूका आवरण नष्ट हो जाता है॥ ७॥

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य।
एदे भट्ठविभट्ठा सेसं पि जणं विणासंति॥ ८॥

जो मनुष्य दर्शनसे भ्रष्ट हैं, ज्ञानसे भ्रष्ट हैं और चारित्रसे भ्रष्ट हैं वे भ्रष्टोंमें भ्रष्ट हैं—अत्यन्त भ्रष्ट हैं तथा अन्य जनोंको भी भ्रष्ट करते हैं॥ ८॥

जो कोवि धम्मसीलो संजमतवणियमजोयगुणधारी।
तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गत्तणं दिंति॥ ९॥

जो कोई धर्मात्मा संयम, तप, नियम और योग आदि गुणोंका धारक है उसके दोषोंको कहते हुए क्षुद्र मनुष्य स्वयं भ्रष्ट हैं तथा दूसरोंको भी भ्रष्टता प्रदान करते हैं॥ ९॥

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति॥ १०॥

जैसे जड़के नष्ट हो जानेपर वृक्षके परिवारकी वृद्धि नहीं होती वैसे ही जो पुरुष जिन दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे मूलसे विनष्ट हैं—उनका मूलधर्म नष्ट हो चुका है अतः ऐसे जीव सिद्ध अवस्थाको प्राप्त नहीं हो पाते॥ १०॥

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होई।
तह जिणदंसणमूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स॥ ११॥

जिस प्रकार वृक्षकी जड़से शाखा आदि परिवारसे युक्त कई गुणा स्कन्ध उत्पन्न होता है उसी प्रकार मोक्ष मार्गकी जड़ जिन दर्शन—जिन धर्मका श्रद्धान है ऐसा कहा गया है॥ ११॥

जे दंसणेसु भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराणं।
ते होंति लुल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं॥ १२॥

जो मनुष्य स्वयं सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट होकर अपने चरणोंमें सम्यग्दृष्टियोंको पाड़ते हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टियोंसे अपने चरणोंमें नमस्कार कराते हैं वे लूले और गूँगे होते हैं तथा उन्हें रत्नत्रय अत्यन्त दुर्लभ रहता है। यहाँ लूले और गूँगेसे तात्पर्य स्थावर जीवोंसे हैं क्योंकि यथार्थमें वे ही गतिरहित तथा शब्दहीन होते हैं॥ १२॥

जेवि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जगारवभयेण।
तेसिं पि णत्थि बोहि पावं अणुमोयमाणाणं॥ १३॥

जो सम्यग्दृष्टि मनुष्य मिथ्यादृष्टियोंको जानते हुए भी लज्जा गौरव और भयसे उनके चरणोंमें पड़ते हैं वे भी पापकी अनुमोदना करते हैं अतः उन्हें रत्नत्रयकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १३ ॥

दुविहंपि गंथचापं तीसुवि जोयेसु संजमो ठादि ।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होई ॥ १४ ॥

जहाँ अन्तरङ्ग वहिरङ्गके भेदसे दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग होता है मन वचन काय इन तीनों योगोंमें संयम स्थित रहता है ज्ञान, कृत कारित अनुमोदनासे शुद्ध रहता है और खड़े होकर भोजन किया जाता है वहाँ सम्यग्दर्शन होता है ॥ १४ ॥

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभाव उवलद्धी ।
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि ॥ १५ ॥

सम्यग्दर्शनसे सम्यग्ज्ञान होता है सम्यग्ज्ञानसे समस्त पदार्थोंकी उपलब्धि होती है और समस्त पदार्थोंकी उपलब्धि होनेसे यह जीव सेव्य तथा असेव्यको—कर्तव्य-अकर्तव्यको जानने लगता है ॥ १५ ॥

सेयासेयविदण्हू उद्धुदुस्सील सीलवंतो वि ।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं ॥ १६ ॥

सेव्य और असेव्यको जाननेवाला पुरुष अपने मिथ्यास्वभावको नष्ट कर शीलवान् हो जाता है तथा शीलके फलस्वरूप स्वर्गादि अभ्युदयको पाकर फिर निर्वाणको प्राप्त हो जाता है ॥ १६ ॥

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं ।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥ १७ ॥

यह जिनवचनरूपी औषधि विषय सुखको दूर करनेवाली है, अमृतरूप है, बुढ़ापा मरण आदिकी पीड़ाको हरनेवाली है तथा समस्त दुःखोंका क्षय करनेवाली है ॥ १७ ॥

एगं जिणस्स रूवं बीयं उक्किट्ठसावयाणं तु ।
अवरट्ठियाणं तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि ॥ १८ ॥

जिनमतमें तीन लिङ्ग—वेष वतलाये हैं उनमें एक तो जिनेन्द्रभगवान्का निर्ग्रन्थ लिङ्ग है, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों—ऐलक क्षुल्लकोंका है, और तीसरा आर्यिकाओंका है इनके सिवाय चौथा लिङ्ग नहीं है ॥ १८ ॥

छह दव्व णवपयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा ।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ १९ ॥

छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व कहे गये हैं जो उनके स्वरूपका श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ॥ १९ ॥

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥ २० ॥

जिनेन्द्रभगवान्‌ने जीवादि सात तत्त्वोंके श्रद्धानको व्यवहार सम्यक्त्व कहा हैं और शुद्ध आत्माके श्रद्धानको निश्चय सम्यक्त्व वतलाया है ॥ २० ॥

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण ।
सारं गुणरयणत्तयसोवाणं पढम मोक्खस्स ॥ २१ ॥

इस प्रकार जिनेन्द्रभगवान्‌के द्वारा कहा हुआ सम्यग्दर्शन रत्नत्रयमें साररूप है और मोक्ष की पहली सीढ़ी है इसलिये हे भव्य जीवो ! उसे अच्छे अभिप्रायसे धारण करो ॥ २१ ॥

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं ।
केवलिजिणेहि भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥ २२ ॥

जितना चारित्र धारण किया जा सकता है उतना धारण करना चाहिये और जितना धारण नहीं किया जा सकता उसका श्रद्धान करना चाहिये क्योंकि केवलज्ञानी जिनेन्द्र देवने श्रद्धान करने वालोंके सम्यग्दर्शन वतलाया है ॥ २२ ॥

दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकालसुपसत्था ।
एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं ॥ २३ ॥

जो दर्शन ज्ञान चारित्र तप तथा विनयमें निरन्तर लीन रहते हैं और गुणोंके धारक आचार्य आदिका गुणगान करते हैं वे वन्दना करने योग्य हैं—पूज्य हैं ॥ २३ ॥

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ ।
सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो ॥ २४ ॥

मात्सर्य भावमें भरा हुआ जो पुरुष जिनेन्द्रभगवान्‌के सहजोत्पन्न-दिगम्वर रूपको देखनेके योग्य नहीं मानता है वह संयमी होनेपर भी मिथ्यादृष्टि ही है ॥ २४ ॥

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं ।
ये गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति ॥ २५ ॥

शील सहित तथा देवोंके द्वारा वन्दनीय जिनेन्द्र देवके रूपको देखकर जो अपना गौरव करते हैं—अपनेको वड़ा मानते हैं वे भी सम्यग्दर्शनसे रहित हैं ॥ २५ ॥

असंजदं ण वंदे वच्छविहीणोवि तो ण वंदिज्ज ।
दोण्णिवि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥ २६ ॥

असंयमीको वन्दना नहीं करना चाहिये और भाव संयमसे रहित वाह्य नग्न रूपको धारण करनेवाला भी वन्दनीय नहीं है । क्योंकि वे दोनों ही समान हैं उनमें एक भी संयमी नहीं है ॥ २६ ॥

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो ।
को वंदमि गुणहीणो णहु सवणो णेव सावओ होइ ॥ २७ ॥

न शरीरकी वन्दना की जाती है, न कुलकी वन्दना की जाती है और न जाति संयुक्तकी वन्दना की जाती है। गुणहीनको कौन वन्दना करता है ? क्योंकि गुणोंके बिना न मुनि होता है और न श्रावक होता है ॥ २७ ॥

वंदमि तवसावण्णा सीलं च गुणं च बंभचेरं च ।
सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेण सुद्धभावेण ॥ २८ ॥

मैं तपस्वी साधुओंको, उनके शीलको, मूलोत्तर गुणोंको, ब्रह्मचर्यको और मुक्तिगमनको सम्यक्त्व सहित शुद्ध भावसे वन्दना करता हूं ॥ २८ ॥

चउसट्ठिचमरसहिओ चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो ।
अणवरबहुसत्तहिओ कम्मक्खय कारणणिमित्तो ॥ २९ ॥

जो चौसठ चमर सहित हैं चौतीस अतिशयोंसे युक्त हैं। निरन्तर अनेक प्राणियोंका हित करने वाले हैं और कर्मरूपके कारण हैं ऐसे तीर्थंकर परमदेव वन्दनाके योग्य हैं ॥ २९ ॥

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण ।
चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥ ३० ॥

ज्ञान दर्शन तप और चारित्र इन चार गुणों से संयम होता है और इन चारोंका समागम होनेपर मोक्ष होता है ऐसा जिनशासनमें कहा है ॥ ३० ॥

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं ।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥ ३१ ॥

सर्वप्रथम मनुष्यके लिये ज्ञानसार है और ज्ञान से भी अधिक सार सम्यग्दर्शन है क्योंकि सम्यग्दर्शन से सम्यक्चारित्र होता है और सम्यक्चारित्र से निर्वाण प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरियेण सम्मसहियेण ।
चोण्हं वि समाजोगे सिद्धा जीवा ण संदेहो ॥ ३२ ॥

ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्वसहित तप और चारित्र इन चारों के समागम होनेपर ही जीव सिद्ध हुए हैं इसमें सन्देह नहीं है ॥ ३२ ॥

कल्लाणपरंपरया कहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं ।
सम्मद्दंसण रयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए ॥ ३३ ॥

जीव कल्याणकी परम्पराके साथ निर्मल सम्यक्त्वको प्राप्त करते हैं इसलिये सम्यग्दर्शन् रूपी रत्न लोकमें देव दानवोंके द्वारा पूजा जाता है ॥ ३३ ॥

लद्धूण य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गुत्तेण ।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खय सुक्खं च मोक्खं च ।। ३४ ।।

यह जीव उत्तमगोत्र सहित मनुष्य पर्यायको पाकर तथा वहाँ सम्यक्त्वको प्राप्तकर अक्षय सुख और मोक्षको प्राप्त होता है ।। ३४ ।।

विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठ सुलक्खणेहिं संजुत्तो ।
चउतीस अइसयजुदो सा पडिया थावरा भणिया ।। ३५ ।।

एक हजार आठ लक्षणों और चौंतीस अतिशयों से सहित जिनेन्द्र भगवान् जब तक विहार करते हैं तब तक उन्हें स्थावर प्रतिमा कहते हैं ।। ३५ ।।

वारसविहतवजुत्ता कम्मं खविऊण विहिवलेण स्सं ।
वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ।। ३६ ।।

जो बारह प्रकारके तपसे युक्त हो विधिपूर्वक अपने कर्मोका क्षयकर व्युत्सर्ग–निर्ममतासे शरीर छोड़ते हैं वे सर्वोत्कृष्ट मोक्षको प्राप्त होते हैं ।। ३६ ।।

इस प्रकार दर्शनपाहुड समाप्त हुआ ।

•

सूत्रपाहुड

अरहंतभासियत्थं गणधरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ।। १ ।।

जिसका प्रतिपादनीय अर्थ अर्हन्त देवके द्वारा कहा गया है, जो गणधर देवोंके द्वारा अच्छी तरह रचा गया है और आगमके अर्थका अन्वेषण ही जिसका प्रयोजन है ऐसे परमार्थभूत सूत्रको मुनि सिद्ध करते हैं ।। १ ।।

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आइरियपरंपरेण मग्गेण ।
णाऊण दुविहसुत्तं वट्टइ सिवमग्ग जो भव्वो ।। २ ।।

द्वादशाङ्ग सूत्रमें आचार्योंकी परम्परासे जिसका उपदेश हुआ है ऐसे शब्द-अर्थरूप द्विविध श्रुतको जानकर जो मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होता है वह भव्य जीव है ।। २ ।।

सुत्तम्मि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि ।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णोवि ।। ३ ।।

जो मनुष्य सूत्रके जाननेमें निपुण है वह संसारका नाश करता है। जैसे सूत्र—डोरासे रहित सुई नष्ट हो जाती है और सूत्र सहित सुई नष्ट नहीं होती ॥ ३ ॥

पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओ वि संसारे।
सच्चेयणपच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ॥ ४ ॥

वैसे ही जो पुरुष सूत्र—आगमसे सहित है वह चतुर्गति रूप संसारके मध्य स्थित होता हुआ भी नष्ट नहीं होता है। भले ही वह दूसरोंके द्वारा दृश्यमान न हो फिर भी स्वात्माके प्रत्यक्ष-से वह उस संसारको नष्ट करता है ॥ ४ ॥

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी ॥ ५ ॥

जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे हुए सूत्रके अर्थको, जीव अजीव आदि बहुत प्रकार-के पदार्थोंको तथा हेय उपादेय तत्त्वको जानता है वही वास्तव में सम्यग्दृष्टि है ॥ ५ ॥

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं ॥ ६ ॥

जो सूत्र जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहा गया है उसे व्यवहार तथा निश्चयसे जानो। उसे जानकर ही योगी सुख प्राप्त करता है और मलके समूहको नष्ट करता है ॥ ६ ॥

सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छाइट्ठी हु सो मुणेयव्वो।
खेडेवि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं सचेलस्स ॥ ७ ॥

जो मनुष्य सूत्रके अर्थ और पदसे रहित है उसे मिथ्यादृष्टि मानना चाहिये। इसलिये वस्त्र सहित मुनिको खेलमें भी पाणिपात्र भोजन नहीं करना चाहिये ॥ ७ ॥

हरिहरतुल्लोवि णरो सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी।
तहवि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ ८ ॥

जो मनुष्य सूत्रके अर्थसे रहित है वह हरिहरके तुल्य होने पर भी स्वर्गको प्राप्त होता है, करोड़ों पर्याय धारण करता है परन्तु मुक्तिको प्राप्त नहीं होता। वह संसारी ही कहा गया है ॥ ८ ॥

उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्मो य गरुयभारो य।
जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छदि होदि मिच्छत्तं ॥ ९ ॥

जो मनुष्य उत्कृष्ट सिंहके समान निर्भय चर्या करता है, बहुत तपश्चरणादि परिकर्म करता है, बहुत भारी भारसे सहित है और स्वच्छन्द—आगमके प्रतिकूल विहार करता है वह पापको प्राप्त होता है तथा मिथ्यादृष्टि है ॥ ९ ॥

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं ।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥१०॥

परमोत्कृष्ट श्री जिनेन्द्र भगवान्‌ने वस्त्ररहित—दिगम्बर मुद्रा और पाणिपात्रका जो उपदेश दिया है वही एक मोक्षका मार्ग है और अन्य सब अमार्ग हैं ॥ १० ॥

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि ।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए ॥ ११ ॥

जो संयमोंसे सहित है तथा आरम्भ और परिग्रहसे विरत है वही सुर असुर एवं मनुष्य सहित लोकमें वन्दना करने के योग्य है ॥ ११ ॥

जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता ।
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरा साहू ॥ १२ ॥

जो मुनि सैकड़ों शक्तियोंसे सहित हैं, बाईस परिषह सहन करते हैं और कर्मोंका क्षय तथा निर्जरा करते हैं वे मुनि वन्दना करनेके योग्य हैं ॥ १२ ॥

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता ।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जा य ॥ १३ ॥

दिगम्बर मुद्राके सिवाय जो अन्य लिङ्गी है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे संयुक्त है तथा वस्त्रमात्रके द्वारा परिग्रही है वे उत्कृष्ट श्रावक इच्छाकार कहनेके योग्य हैं अर्थात् उनसे इच्छामि या इच्छाकार करना चाहिये ॥ १३ ॥

इच्छायारमहत्थं सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं ।
ठाणे ठिय सम्मत्तं परलोयसुहंकरो होई ॥ १४ ॥

जो पुरुष सूत्रमें स्थित होता हुआ इच्छाकार शब्दके महान् अर्थको जानता है, आरम्भ आदि समस्त कार्य छोड़ता है और सम्यक्त्व सहित श्रावकके पदमें स्थित रहता है वह परलोकमें सुखी होता है ॥ १४ ॥

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेइ णिरवसेसाइं ।
तहवि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ १५ ॥

जो आत्माको तो नहीं चाहता है किन्तु अन्य समस्त धर्मादि करता है वह इतना करने पर भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है वह संसारी ही कहा गया है ॥ १५ ॥

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण ।
जेण य लहेइ मोक्खं तं जाणिज्जइ पयत्तेण ॥ १६ ॥

इस कारण उस आत्माका मन वचन कायसे श्रद्धान करो । क्योंकि जिससे मोक्ष प्राप्त होता है उसे प्रयत्न पूर्वक जानना चाहिये ॥ १६ ॥

वालग्गकोडिमत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं ।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि ॥ १७ ॥

मुनियोंके वालके अग्रभागके वरावर भी परिग्रहका ग्रहण नहीं होता है वे एक ही स्थान में दूसरोंके द्वारा दिये हुए प्रासुक अन्नको अपने हाथ रूपी पात्रमें ग्रहण करते हैं ॥ १७ ॥

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्तेसु ।
जइ लेइ अप्पवहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं ॥ १८ ॥

जो मुनि, यथाजात वालकके समान नग्न मुद्राके धारक हैं वे अपने हाथमें तिलतुषमात्र भी परिग्रह ग्रहण नहीं करते । यदि वे थोड़ा वहुत परिग्रह ग्रहण करते हैं तो निगोद जाते हैं अर्थात् निगोद पर्यायमें उत्पन्न होते हैं ॥ १८ ॥

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं वहुयं च हवइ लिंगस्स ।
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ निरायारो ॥ १९ ॥

जिस लिङ्गमें थोड़ा वहुत परिग्रहका ग्रहण होता है वह निन्दनीय लिङ्ग है । क्योंकि जिनागममें परिग्रह रहितको ही निर्दोप साधु माना गया है ॥ १९ ॥

पंचमहव्वयजुत्तो तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होई ।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य ॥ २० ॥

जो मुनि पांच महाव्रतसे युक्त और तीन गुप्तियोंसे सहित है वही संयमी होता है । वही निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग है और वही वन्दना करनेके योग्य है ॥ २० ॥

दुइयं च उत्तलिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च ।
भिक्खं भमेइ पत्ते समिदीभासेण मोणेण ॥ २१ ॥

दूसरा लिङ्ग ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावकोंका है जो भिक्षाके लिये भाषा समिति अथवा मौनपूर्वक भ्रमण करते हैं और पात्रमें भोजन करते हैं ॥ २१ ॥

लिंगं इत्थीण हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि ।
अज्जिय वि एकवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ ॥ २२ ॥

तीसरा लिङ्ग स्त्रियोंका अर्थात् क्षुल्लिकाओंका है । वे दिनमें एक ही बार भोजन करती हैं । आर्यिका एक ही वस्त्र रखती हैं और वस्त्र सहित ही भोजन करती हैं ॥ २२ ॥

णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो ।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसाउम्मग्गया सव्वे ॥ २३ ॥

जिनशासनमें ऐसा कहा है कि वस्त्रधारी यदि तीर्थंकर भी हो तो वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता । एक नग्न वेष ही मोक्षमार्ग है वाकी सव उन्मार्ग हैं—मिथ्यामार्ग हैं ॥ २३ ॥

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु।
भणिओ सुहमो काओ तासिं कह होइ पव्वज्जा ॥ २४॥

स्त्रियोंके योनि, स्तनोंका मध्य, नाभि तथा कांख आदि स्थानोंमें सूक्ष्म जीव कहे गये हैं अतः उनके प्रव्रज्या-महाव्रतरूप दीक्षा कैसे हो सकती है ? ॥ २४ ॥

जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सावि संजुत्ता।
घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण पव्वया भणिया ॥ २५॥

स्त्रियोंमें यदि कोई सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है तो वह भी मोक्षमार्गसे युक्त कही गई है। वह यद्यपि घोर चारित्रका आचरण कर सकती है तो भी उसके मोक्षोपयोगी प्रव्रज्या नहीं कही गई है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि स्त्री सोलहवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकती है आगे नहीं अतः उसके मोक्षमार्गोपयोगी दीक्षाका विधान नहीं है। हां, आर्यिकाका व्रत उन्हें प्राप्त होता है और उपचारसे वे महाव्रतकी धारक भी कही जाती हैं ॥ २५ ॥

चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण।
विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु ण संकया झाणं ॥२६॥

स्त्रियोंका मन शुद्ध नहीं होता, उनका परिणाम स्वभावसे ही शिथिल होता है, उनके प्रत्येक मासमें मासिक धर्म होता है और सदा भीरु प्रकृति होनेसे उनके ध्यान नहीं होता है ॥ २६ ॥

माहेण अप्पगाहा समुद्दसलिले सचेलअत्थेण।
इच्छा जाहु णियत्ता ताह णियत्ताइं सव्वदुक्खाइं ॥२७॥

जिसप्रकार कोई मनुष्य अपना वस्त्र धोनेके लिये समुद्रके जलमेंसे थोड़ा जल ग्रहण करता है उसी प्रकार जो ग्रहण करने योग्य आहारादिमेंसे थोड़ा आहारादि ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार जिन मुनियोंकी इच्छा निवृत्त हो गई है उनके सब दुःख निवृत्त हो गये हैं ॥ २७ ॥

इस प्रकार सूत्रपाहुड समाप्त हुआ।

चारित्रपाहुड

सव्वण्हु सव्वदंसी णिम्मोहा वीयराय परमेट्ठी।
वंदित्तु तिजगवंदा अरहंता भव्वजीवेहिं ॥१॥
णाणं दंसण सम्मं चारित्तं सोहिकारणं तेसिं।
मुक्खाराहणहेउं चारित्तं पाहुडं वोच्छे ॥२॥

मैं सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निर्मोह, वीतराग, परमपदमें स्थित, त्रिजगत्‌के द्वारा वन्दनीय, भव्यजीवोंके द्वारा पूज्य अरहन्तोंको वन्दना कर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी शुद्धिका कारण तथा मोक्ष प्राप्तिका हेतु रूप चारित्रपाहुड कहूँगा ॥ १-२ ॥

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं ।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ॥ ३ ॥

जो जानता है वह ज्ञान है जो देखता अर्थात् श्रद्धान करता है वह दर्शन कहा गया है। तथा ज्ञान और दर्शनके संयोगसे चारित्र होता है ॥ ३ ॥

एए तिण्णिवि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया ।
तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविह चारित्तं ॥ ४ ॥

जीवके ये ज्ञानादिक तीनों भाव अक्षय तथा अमेय होते हैं। इन तीनोंकी शुद्धिके लिये जिनेन्द्रभगवान्‌ने दो प्रकारका चारित्र कहा है ॥ ४ ॥

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ।
विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि ॥ ५ ॥

इनमें पहला सम्यक्त्वके आचरणरूप चारित्र है जो जिनेन्द्रभाषित ज्ञान और दर्शनसे शुद्ध है तथा दूसरा संयमके आचरणरूप चारित्र है वह भी जिनेन्द्रभगवान्‌के ज्ञानसे उपदेशित तथा शुद्ध है ॥ ५ ॥

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोससंकाइ ।
परिहरिसम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥ ६ ॥

इस प्रकार जानकर जिनदेवसे कहे हुए मिथ्यात्वके उदयमें होनेवाले शङ्कादि दोषोंको तथा त्रिमूढता आदि सम्यक्त्वके सब मलोंको मन वचन कायसे छोड़ो ॥ ६ ॥

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य ।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्लपहावणा य ते अट्ठ ॥ ७ ॥

निःशङ्कित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यग्दर्शनके आठ अङ्ग अथवा गुण हैं ॥ ७ ॥

तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय ।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ॥ ८ ॥

वही जिन भगवान्‌का श्रद्धान जब निःशङ्कित आदि गुणोंसे विशुद्ध तथा यथार्थ ज्ञानसे युक्त होता है तब प्रथम सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहलाता है। यह सम्यक्त्वाचरण चारित्र मोक्ष प्राप्तिका साधन है ॥ ८ ॥

सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं ॥ ९ ॥

जो सम्यक्त्वाचरण चारित्रसे शुद्ध हैं, ज्ञानी हैं, और मूढ़तारहित हैं वे यदि संयमचरण चारित्रसे युक्त हों तो शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

सम्मत्तचरणभट्ठा संजमचरणं चरंति जे वि णरा।
अण्णाणणाणमूढा तहवि ण पावंति णिव्वाणं ॥ १० ॥

जो मनुष्य सम्यक्त्वचरण चारित्रसे भ्रष्ट हैं किन्तु संयमचरण चारित्रका आचरण करते हैं वे मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञानके विषयमें मूढ़ होनेके कारण निर्वाणको नहीं पाते हैं ॥ १० ॥

वच्छल्लं विणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए।
मग्गणगुणसंसणाए उवगूहण रक्खणाए य ॥ ११ ॥
एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं।
जीवो आराहंतो जिणसम्मत्तं अमोहेण ॥ १२ ॥

मोहका अभाव होनेसे जिनोपदिष्ट सम्यक्त्वकी आराधना करनेवाला सम्यग्दृष्टि पुरुष वात्सल्य, विनय, दान देनेमें दक्ष दया, मोक्षमार्गकी प्रशंसा, उपगूहन, संरक्षण—स्थितीकरण और आर्जवभाव इन लक्षणोंसे जाना जाता है ॥ ११-१२ ॥

उच्छाहभावणासंपसंससेवा कुदंसणे सद्धा।
अण्णाणमोहमग्गे कुव्वंतो जहदि जिणसम्मं ॥ १३ ॥

अज्ञान और मोहके मार्गरूप मिथ्यामतमें उत्साह, भावना, प्रशंसा, सेवा और श्रद्धा करता हुआ पुरुष जिनोपदिष्ट सम्यक्त्वको छोड़ देता है ॥ १३ ॥

उच्छाहभावणासंपसंससेवा सुदंसणे सद्धा।
ण जहदि जिणसम्मत्तं कुव्वंतो णाणमग्गेण ॥ १४ ॥

समीचीन मतमें ज्ञानमार्गके द्वारा उत्साह, भावना, प्रशंसा, सेवा और श्रद्धाको करता हुआ पुरुष जिनोपदिष्ट सम्यक्त्वको नहीं छोड़ता है ॥ १४ ॥

अण्णाणं मिच्छत्तं वज्जहि णाणे विसुद्धसम्मत्ते।
अह मोहं सारंभं परिहर धम्मे अहिंसाए ॥ १५ ॥

हे भव्य ! तू ज्ञानके होनेपर अज्ञानको, विशुद्ध सम्यक्त्वके होनेपर मिथ्यात्वको और अहिंसा-धर्मके होनेपर आरम्भ सहित मोहको छोड़ दे ॥ १५ ॥

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसंजमे भावे।
होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते ॥ १६ ॥

हे भव्य ! तू परिग्रहका त्याग होनेपर दीक्षा ग्रहण कर, और उत्तम संयमभावके होनेपर श्रेष्ठ तपमें प्रवृत्त हो क्योंकि मोह रहित वीतरागभावके होनेपर ही अत्यन्त विशुद्धध्यान होता है ॥ १६ ॥

मिच्छदंसणमग्गे मलिणे अण्णाणमोहदोसेहिं ।
वज्झंति मूढजीवा मिच्छत्ताबुद्धिउदएण ॥ १७ ॥

मूढजीव, अज्ञान और मोहरूपी दोषोंसे मलिन मिथ्यादर्शनके मार्गमें मिथ्यात्व तथा मिथ्याज्ञानके उदयसे लीन होते हैं ॥ १७ ॥

सम्मद्दंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया ।
सम्मेण य सद्दहदि य परिहरदि चारित्तजे दोसे ॥ १८ ॥

जब यह जीव समीचीन दर्शनके द्वारा सामान्य सत्तात्मक पदार्थोंको देखता है, सम्यग्ज्ञानके द्वारा द्रव्य और पर्यायों को जानता है तथा सम्यग्दर्शन के द्वारा उनका श्रद्धान करता है तभी चारित्र सम्बन्धी दोषोंको छोड़ता है ॥ १८ ॥

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स ।
णियगुणमाराहंतो अचिरेण वि कम्म परिहरइ ॥ १९ ॥

ये तीनों भाव—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मोह रहित जीवके होते हैं। आत्मगुणकी आराधना करनेवाला निर्मोह जीव शीघ्र ही कर्मोंका नाश करता है ॥ १९ ॥

संखिज्जमसंखिज्जगुणं च संसारिमेरूमत्ता णं ।
सम्मत्तमणुचरंता करंति दुक्खक्खयं धीरा ॥ २० ॥

सम्यक्त्वका आचरण करनेवाले धीर वीर पुरुष संसारी जीवोंकी मर्यादारूप कर्मोंकी संख्यातगुणी तथा असंख्यातगुणी निर्जरा करते हुए दुःखोंका क्षय करते हैं ॥ २० ॥

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं ।
सायारं सग्गंथे परिग्गहारहिय खलु णिरायारं ॥ २१ ॥

सागार और निरागारके भेदसे संजमचरण चारित्र दो प्रकारका होता है। उनमेंसे सागार चारित्र परिग्रहसहित श्रावकके होता है और निरागार चारित्र परिग्रहरहित मुनिके होता है ॥ २१ ॥

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य ।
बंभारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥ २२ ॥

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रि भुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्ट त्याग ये ग्यारह भेद देशविरत—श्रावकके हैं ॥ २२ ॥

पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि ।
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं ॥ २३ ॥

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस तरह बारह प्रकारका सागार संयमचरण चारित्र है ॥ २३ ॥

थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्तथूले य।
परिहारो परमहिला परिग्गहारंभपरिमाणं ॥ २४ ॥

त्रस विघातरूप स्थूल हिंसा, स्थूल असत्य, स्थूल अदत्तग्रहण तथा परस्त्री सेवनका त्याग करना एवं परिग्रह और आरम्भका परिमाण करना ये क्रमशः अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाणाणुव्रत हैं ॥ २४ ॥

दिसिविदिसमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥ २५ ॥

दिशाओं और विदिशाओंमें गमनागमनका प्रमाण करना सो पहला दिग्व्रत नामा गुणव्रत है। अनर्थदण्डका त्याग करना सो दूसरा अनर्थदण्डत्याग नामा गुणव्रत है और भोग उपभोगका परिमाण करना सो तीसरा भोगोपभोगपरिमाण नामा गुणव्रत है। इस प्रकार ये तीन गुणव्रत हैं ॥ २५ ॥

सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥ २६ ॥

सामायिक पहला शिक्षाव्रत है, प्रोषध दूसरा शिक्षाव्रत कहा गया है, अतिथिपूजा तीसरा शिक्षाव्रत है और जीवनके अन्तमें सल्लेखना धारण करना चौथा शिक्षाव्रत है ॥ २६ ॥

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रावकधर्मरूप संयम चरणका निरूपण किया अब आगे यतिधर्मरूप सकल, शुद्ध और निष्कल संयमचरणका निरूपण करूँगा ॥ २७ ॥

पंचेंदियसंवरणं पंचवया पंचविंसकिरियासु।
पंच समिदि तयगुत्ती संजमचरणं णिरायारं ॥ २८ ॥

पाँच इन्द्रियोंका दमन, पाँचव्रत, इनकी पच्चीस भावनाएँ, पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ यह निरागार संयमचरण चारित्र है ॥ २८ ॥

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य।
ण करेइ रायदोसे पंचेंदियसंवरो भणिओ ॥ २९ ॥

अमनोज्ञ और मनोज्ञ स्त्रीपुत्रादि सजीव द्रव्योंमें तथा गृह, सुवर्ण, रजत आदि अजीव द्रव्योंमें जो राग द्वेष नहीं करना है वह पञ्चेन्द्रियोंका संवर कहा गया है ॥ २९ ॥

हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य।
तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य ॥ ३० ॥

हिंसाका त्याग अहिंसा महाव्रत है, असत्यका त्याग सत्यमहाव्रत है, अदत्त वस्तुका त्याग अचौर्यमहाव्रत है, कुशील विरत होना ब्रह्मचर्य महाव्रत है और परिग्रहसे विरत होना अपरिग्रह महाव्रत है ॥ ३० ॥

साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं ।
जं च महल्लाणि तदो महव्वया महहे याइं ॥ ३१ ॥

जिन्हें महापुरुष धारण करते हैं, जो पहले महापुरुषोंके द्वारा धारण किये गये हैं और जो स्वयं महान् हैं ॥ ३१ ॥

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिक्खेवो ।
अवलोयभोयणाए अहिंसए भावणा होंति ॥ ३२ ॥

१ वचनगुप्ति २ मनोगुप्ति ३ ईर्यासमिति ४ सुदाननिक्षेप और ५ आलोकितभोजन ये अहिंसा-व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥ ३२ ॥

कोहभयहासलोहापोहाविवरीयभासणा चेव ।
विदियस्स भावणाए ए पंचेव य तहा होंति ॥ ३३ ॥

क्रोधत्याग, भयत्याग, हासत्याग, लोभत्याग और अनुवीचिभाषण (आगमानुकूलभाषण) ये सत्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥ ३३ ॥

सुण्णायारणिवासो विमोचितावास जं परोधं च ।
एसणसुद्धिसउत्तं साहम्मीसंविसंवादो ॥ ३४ ॥

शून्यागारनिवास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, एषणशुद्धि और सधर्माविसंवाद ये पाँच-अचौर्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥ ३४ ॥

महिलालोयणपुव्वरइसरणससत्तवसहि विकहाहिं ।
पुट्ठियरसेहिं विरओभावण पंचावि तुरियम्मि ॥ ३५ ॥

रागभाव पूर्वक स्त्रियोंके देखनेसे विरक्त होना, पूर्वरतिके स्मरणका त्याग करना, स्त्रियोंसे संसक्त वसतिका त्याग करना, विकथाओंसे विरत होना और पुष्टिकर भोजनका त्याग करना ये पाँच ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥ ३५ ॥

अपरिग्गहसमणुण्णेसु सद्दपरिसरसरूवगंधेसु ।
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति ॥ ३६ ॥

मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द स्पर्श रस रूप और गन्धमें रागद्वेष आदिका त्याग करना ये पाँच परिग्रह त्यागव्रतकी भावनाएँ हैं ॥ ३६ ॥

इरियाभासा एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो ।
संजमसोहिणिमित्ते खंति जिणा पंचसमिदीओ ॥ ३७ ॥

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण तथा प्रतिष्ठापन ये पाँच समितियाँ संयमकी शुद्धिके लिये श्रीजिनेन्द्रदेवने कही हैं।। ३७ ।।

भव्वजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं ।
णाणं णाणसरूवं अप्पाणं तं वियाणेहि ।। ३८।।

भव्य जीवोंको समझानेके लिये जिनमार्गमें जिनेन्द्रदेवने जैसा कहा है वैसा ज्ञान तथा ज्ञान-स्वरूप आत्माको हे भव्य ! तू अच्छी तरह जान ।। ३८ ।।

जीवाजीवविभत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी ।
रायादिदोसरहिओ जिणसासणमोक्खमग्गुत्ति ।। ३९ ।।

जो मनुष्य जीव और अजीवका विभाग जानता है—शरीरादि अजीव तथा आत्माको जुदा-जुदा जानता है वह सम्यग्ज्ञानी है। जो रागद्वेषसे रहित है वह जिन शासनमें मोक्षमार्ग है ऐसा कहा गया है ।। ३९ ।।

दंसणणाणचरित्तं तिण्णिवि जाणेह परमसद्धाए ।
जं जाणिऊण जोई अइरेण लहंति णिव्वाणं ।। ४० ।।

दर्शन ज्ञान और चारित्र इन तीनोंको तू अत्यन्त श्रद्धासे जान। जिन्हें जानकर मुनिजन शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त करते हैं ।। ४० ।।

पाऊण णाणसलिलं णिम्मलसुविसुद्धभावसंजुत्ता ।
हुंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ।। ४१ ।।

जो पुरुष ज्ञानरूपी जलको पीकर निर्मल और अत्यन्त विशुद्धभावोंसे संयुक्त होते हैं वे शिवालयमें रहनेवाले तथा त्रिभुवनके चूडामणि सिद्ध परमेष्ठी होते हैं ।। ४१ ।।

णाणगुणेहिं विहीणा ण लहंते ते सुइच्छियं लाहं ।
इय णाउं गुणदोसं तं सण्णाणं वियाणेहि ।। ४२ ।।

जो मनुष्य ज्ञान गुणसे रहित हैं वे अपनी इष्ट वस्तुको नहीं पाते हैं इसलिये गुणदोषोंको जाननेके लिये तूँ सम्यग्ज्ञानको अच्छी तरह जान ।। ४२ ।।

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी ।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ।। ४३ ।।

जो मनुष्य चारित्रगुणसे युक्त तथा सम्यग्ज्ञानी है वह अपने आत्मामें परपदार्थकी इच्छा नहीं करता है। ऐसा मनुष्य शीघ्र ही अनुपम सुख पाता है यह निश्चयसे जान ।। ४३ ।।

एवं संखेवेण य भणियं णाणेण वीयरायेण ।
सम्मत्तसंजमासयदुण्हं पि उदेसियं चरणं ।। ४४ ।।

इस प्रकार वीतराग जिनेन्द्रदेवने केवलज्ञानके द्वारा जिसका निरूपण किया था वह सम्यक्त्व तथा संयमके आश्रयरूप दोनों प्रकारका चारित्र मैंने संक्षेपसे कहा है ।। ४४ ।।

भावेह भावसुद्धं फुडु रइयं चरणपाहुडं चेव ।
लहु चउगइ चइऊणं अइरेणऽपुणब्भवा होई ॥ ४५ ॥

हे भव्य जीवो ! प्रकटरूपसे रचे हुए इस चारित्रपाहुड़का तुम शुद्ध भावोंसे चिन्तन करो जिससे चतुर्गतिसे छूटकर शीघ्र ही पुनर्जन्मसे रहित हो जाओ—जन्म मरणकी व्यथासे छूटकर मुक्त हो जाओ ॥ ४५ ॥

इस प्रकार चारित्रपाहुड पूर्ण हुआ ।

बोधपाहुड

वहुसत्थअत्थजाणे संजमसम्मत्तसुद्धतवयरणे ।
वंदित्ता आयरिए कसायमलवज्जिदे सुद्धे ॥ १ ॥
सयलजणवोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं ।
वुच्छामि समासेण छक्कायसुहंकरं सुणह ॥ २ ॥

जो वहुत शास्त्रोंके अर्थको जानने वाले हैं, जिनका तपश्चरण संयम और सम्यक्त्वसे शुद्ध हैं, जो कषायरूपी मलसे रहित हैं और जो अत्यन्त शुद्ध हैं ऐसे आचार्योंकी वन्दना कर मैं जिनमार्गमें श्री जिनेन्द्रदेवके द्वारा जैसा कहा गया है तथा जो छह कायके जीवोंको सुख उपजानेवाला है ऐसा बोधपाहुड ग्रन्थ समस्त जीवोंको समझानेके लिये संक्षेपसे कहूँगा । हे भव्य ! तू उसे सुन ॥ १–२ ॥

आयदणं चेदिहरं जिणपडिमा दंसणं च जिणविंवं ।
भणियं सुवीयरायं जिणमुद्दा णाणमदत्थं ॥ ३ ॥
अरहंतेण सुदिट्ठं जं देवं तित्थमिह य अरहंतं ।
पावज्ज गुणविसुद्धा इय णायव्वा जहाकमसो ॥ ४ ॥

आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, रागरहित-जिनविम्व, जिनमुद्रा, आत्माके प्रयोजन-रूप ज्ञान, देव, तीर्थ, अरहन्त और गुणोंसे विशुद्ध दीक्षा ये ग्यारह स्थान जैसे अरहन्त भगवान्‌ने कहे हैं वैसे यथाक्रमसे जानने योग्य हैं ॥ ३–४ ॥

मय राय दोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता ।
पंच महव्वयधारी आयदणं महरिसी भणियं ॥ ५ ॥

मद राग द्वेष मोह क्रोध और लोभ जिसके आधीन हो गये हैं और जो पाँच महाव्रतोंको धारण करता है ऐसा महामुनि आयतन कहा गया है ॥ ५ ॥

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स ।
सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं ॥ ६ ॥

जो विशुद्ध ध्यान तथा केवलज्ञानसे युक्त हैं ऐसे जिस मुनिश्रेष्ठके शुद्ध आत्माकी सिद्धि हो गई है उस समस्तपदार्थोंको जाननेवाले केवलज्ञानीको सिद्धायतन कहा है ॥ ६ ॥

बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं चेदयाइं अण्णं च ।
पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं ॥ ७ ॥

जो आत्माको ज्ञानस्वरूप तथा दूसरे जीवोंको चैतन्यस्वरूप जानता है ऐसे पाँच महाव्रतोंसे शुद्ध और ज्ञानसे तन्मय मुनिको हे भव्य तू चैत्यगृह जान ॥ ७ ॥

चेइयबंधं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स ।
चेइहरं जिणमग्गे छक्कायहियंकरं भणियं ॥ ८ ॥

बन्ध मोक्ष दुःख और सुखका जिस आत्माको ज्ञान हो गया है वह चैत्य है, उसका घर चैत्यगृह कहलाता है तथा जिनमार्गमें छयकायके जीवोंका हित करनेवाला संयमी मुनि चैत्यगृह कहा गया है ॥ ८ ॥

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं ।
णिग्गंथ वीयरागा जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥ ९ ॥

दर्शन और ज्ञानसे पवित्र चारित्रवाले निष्परिग्रह वीतराग मुनियोंका जो अपना तथा दूसरेका चलता फिरता शरीर है वह जिनमार्गमें प्रतिमा कहा गया है ॥ ९ ॥

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
सा होइ वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा ॥ १० ॥

जो शुद्ध—निर्दोषचारित्रका आचरण करता है, जीवादिपदार्थोंको ठीक ठीक जानता है और शुद्ध सम्यक्त्वस्वरूप आत्माको देखता है वह परिग्रह रहित संयमी मनुष्य जंगम प्रतिमा है तथा नमस्कार करने योग्य है ॥ १० ॥

दंसण अणंत णाणं अणंतवीरिय अणंतसुक्खाय ।
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं ॥ ११ ॥
णिरुवममचलमखोहा णिम्मिविया जंगमेण रूवेण ।
सिद्धठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा ॥ १२ ॥

जो अनन्तदर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्तसुखसे सहित हैं शाश्वत-अविनाशी सुखस्वरूप हैं, शरीर रहित हैं, आठ कर्मोंके बन्धनसे रहित हैं, उपमारहित हैं, चञ्चलता रहित हैं,

क्षोभ रहित हैं, जंगमरूपसे निर्मित हैं और लोकाग्रभागरूप सिद्धस्थानमें स्थित हैं ऐसे शरीर रहित सिद्ध परमेष्ठी स्थावर प्रतिमा हैं ॥ ११-१२ ॥

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च ।
णिग्गथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं ॥ १३ ॥

जो सम्यक्त्वरूप, संयमरूप, उत्तमधर्मरूप, निर्ग्रन्थरूप, एवं ज्ञानमय मोक्षमार्गको दिखलाता है ऐसे मुनिके रूपको जिनमार्गमें दर्शन कहा है ॥ १३ ॥

जह फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं स घियमयं चावि ।
तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्थं ॥ १४ ॥

जिस प्रकार फूल गन्धमय और दूध घृतमय होता है उसी प्रकार दर्शन अन्तरङ्गमें सम्यग्ज्ञानमय है और वहिरङ्गमें मुनि श्रावक और आर्यिकाके वेषरूप है ॥ १४ ॥

जिणविम्बं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च ।
जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा ॥ १५ ॥

जो ज्ञानमय है, संयमसे शुद्ध है, वीतराग है, तथा कर्मक्षयमें कारणभूत शुद्ध दीक्षा और शिक्षा देता है ऐसा आचार्य जिनविम्व कहलाता है ॥ १५ ॥

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं ।
जस्स च दंसण णाणं अत्थि धुवं चेयणाभावो ॥ १६ ॥

जिसके नियमसे दर्शन ज्ञान और चेतनाभाव विद्यमान है उस आचार्यरूप जिन विम्बको प्रणाम करो, सव प्रकारसे उसकी पूजा करो और शुद्धप्रेम करो ॥ १६ ॥

तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
अरहंतमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य ॥ १७ ॥

जो तप व्रत और उत्तर गुणोंसे शुद्ध है, समस्त पदार्थोंको जानता देखता है तथा शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण करता है ऐसा आचार्य अर्हन्मुद्रा है यही दीक्षा और शिक्षाको देनेवाली हैं ॥ १७ ॥

दढसंजममुद्दाए इंदियमुद्दाकसायदढमुद्दा ।
मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया ॥ १८ ॥

दृढ़तासे संयम धारण करना सो संयम मुद्रा है, इन्द्रियोंको विषयोंसे विमुख रखना सो इन्द्रियमुद्रा है, कषायोंके वशीभूत न होना सो कषायमुद्रा है, ज्ञानके स्वरूपमें स्थिर होना सो ज्ञानमुद्रा है। जैन शास्त्रोंमें ऐसी जिनमुद्रा कही गई है ॥ १८ ॥

संजमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स ।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ॥ १९ ॥

संयम सहित तथा उत्तमध्यान युक्त मोक्षमार्गका लक्ष्य जो शुद्ध आत्मा है वह ज्ञानसे ही प्राप्त किया जाता है इसलिये ज्ञान जानने योग्य है ॥ १९ ॥

जह णवि कहदि हु कक्खं रहिओ कंडस्स वेज्झयविहीणो ।
तह णवि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥ २० ॥

जिस प्रकार धनुर्विद्याके अभ्याससे रहित पुरुष वाणके लक्ष्य अर्थात् निशानेको प्राप्त नहीं कर पाता है उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष मोक्षमार्गके लक्ष्यभूत आत्माको नहीं ग्रहण कर पाता है ॥ २० ॥

णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो ।
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥ २१ ॥

ज्ञान पुरुष अर्थात् आत्मामें होता है और उसे विनयी मनुष्य ही प्राप्त कर पाता है। ज्ञान द्वारा यह जीव मोक्षमार्गका चिन्तन करता हुआ लक्ष्यको प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

मइधणुहं जस्स थिरं सुदगुण बाणा सुअत्थि रयणत्तं ।
परमत्थबद्धलक्खो ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स ॥ २२ ॥

जिस मुनिके पास मतिज्ञानरूपी स्थिर धनुष है, श्रुतज्ञानरूपी डोरी है, रत्नत्रयरूपी वाण है और परमार्थरूप शुद्ध आत्मस्वरूपमें जिसने निशाना बाँध रक्खा है ऐसा मुनि मोक्षमार्गसे नहीं चूकता है ॥ २२ ॥

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च ।
सो देइ जस्स अत्थि हु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा ॥ २३ ॥

देव वह है जो जीवोंको धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका कारणभूत ज्ञान देता है। वास्तवमें देता भी वही है जिसके पास धर्म अर्थ काम तथा दीक्षा होती है ॥ २३ ॥

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता ।
देवो ववगयमोहो उदययरो भव्वजीवाणं ॥ २४ ॥

धर्म वह है जो दयासे विशुद्ध है, दीक्षा वह है जो सर्वपरिग्रहसे रहित है और देव वह है जिसका मोह दूर हो गया हो तथा जो भव्य जीवोंको अभ्युदयका करनेवाला हो ॥ २४ ॥

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचेंदियसंजदे णिरावेक्खे ।
ण्हाऊण मुणी तित्थे दिक्खासिक्खासुण्हाणेण ॥ २५ ॥

जो व्रत और सम्यक्त्वसे विशुद्ध है, पञ्चेन्द्रियोंसे संयत है अर्थात् पाँचों इन्द्रियोंको वश करनेवाला है और इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी भोग परिभोगसे निःस्पृह है ऐसे शुद्ध आत्मा रूपी तीर्थमें मुनिको दीक्षा शिक्षारूपी उत्तम स्नानसे पवित्र होना चाहिये ॥ २५ ॥

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं ।
तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतभावेण ॥ २६ ॥

यदि शान्तभावसे निर्मल धर्म, सम्यग्दर्शन, संयम, तप और ज्ञान धारण किये जायें तो जिन-मार्गमें यहीं तीर्थ कहा गया है ॥ २६ ॥

णामे ठवणे हि य सं दव्वे भावे हि सगुणपज्जाया ।
चउणागदि संपदिमे भावा भावंति अरहंतं ॥ २७ ॥

नाम स्थापना द्रव्य और भाव इनके द्वारा गुण और पर्याय सहित अरहन्तदेव जाने जाते हैं । च्यवन[1], आगति[2] और [3]संपत्ति ये भाव अर्हन्तपनेका बोध कराते हैं ॥ २७ ॥

दंसण अणंत णाणे मोक्खो णट्ठट्ठकम्मबंधेण ।
णिरुवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होई ॥ २८ ॥

जिसके अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान है, अष्टकर्मोंका बन्ध नष्ट होनेसे जिन्हें भाव मोक्ष प्राप्त हो चुका है, तथा जो अनुपम गुणोंको धारण करता है ऐसा शुद्ध आत्मा अरहन्त होता है ॥ २८ ॥

जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च ।
हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमये च अरहंतो ॥ २९ ॥

जो बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, चतुर्गतियोंमें गमन, पुण्य और पाप तथा रागादि दोषोंको नष्ट कर ज्ञानमय होता है वह अरहन्त कहलाता है २९ ॥

गुणठाणमग्गणेहिं य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहिं ।
ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरहपुरिसस्स ॥ ३० ॥

गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण, और जीव समास इस तरह पाँच प्रकारसे अर्हन्तपुरुषकी स्थापना करना चाहिये ॥ ३० ॥

तेरहमें गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो ।
चउतीस अइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठ पडिहारा ॥ ३१ ॥

तेरहवें गुणस्थानमें सयोगकेवली अर्हन्त होते हैं उनके स्पष्ट रूपसे चौंतीस अतिशय रूप गुण तथा आठ प्रातिहार्य होते हैं ॥ ३१ ॥

गइइंदिये च काए जोए वेए कसायणाणे य ।
संजमदंसणलेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥ ३२ ॥

गति इन्द्रिय काय योग वेद कषाय ज्ञान संयम दर्शन लेश्या भव्यत्व सम्यकत्व संज्ञी और आहार ये इन चौदह मार्गणाओंमें अरहन्तकी स्थापना करनी चाहिये ॥ ३२ ॥

---

१. स्वर्गादिसे अवतार लेना । २. भरतादि क्षेत्रोंमें आकर जन्म धारण करना । ३. सम्पत् रत्न-वृष्टि आदि ।

आहारो य सरीरो इंदियमण आणपाणभासा य ।
पज्जत्तिगुणसमिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरहो ॥ ३३ ॥

आहार, शरीर, इन्द्रिय, मन, श्वासोच्छ्वास और भाषा इन पर्याप्तिरूप गुणोंसे समृद्ध उत्तमदेव अर्हन्त होता है ॥ ३३ ॥

पंचवि इंदियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दह पाणा ॥ ३४ ॥

पाँचों इन्द्रियाँ मन वचन कायकी अपेक्षा तीन बल, तथा आयु प्राणसे सहित श्वासोच्छ्वास ये दश प्राण होते हैं ॥ ३४ ॥

मणुयभवे पंचिंदिय जीवट्ठाणेसु होइ चउदसमे ।
एदे गुणगणजुत्तो गुणमारूढो हवइ अरहो ॥ ३५ ॥

मनुष्यपर्यायमें पञ्चेन्द्रिय नामका जो चौदहवाँ जीवसमास है उसमें इन गुणोंके समूहसे युक्त, तेरहवें गुणस्थानपर आरूढ़ मनुष्य अर्हन्त होता है ॥ ३५ ॥

जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं ।
सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगुंछा य दोसो य ॥ ३६ ॥

दस पाणा पज्जत्ती अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया ।
गोखीरसंखधवलं मंसं रुहिरं च सव्वंगे ॥ ३७ ॥

एरिसगुणेहिं सव्वं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं ।
ओरालियं च कायं णायव्वं अरहपुरिसस्स ॥ ३८ ॥

जो बुढ़ापा, रोग आदिके दुःखोंसे रहित है, आहार नीहारसे वर्जित है, निर्मल है, और जिसमें नाकका मल, थूक, पसीना, दुर्गन्ध आदि दोष नहीं हैं ॥ ३६ ॥

जिनके १० प्राण ६ पर्याप्तियां और १००८ लक्षण कहे गये हैं वे तथा जिनके सर्वाङ्गमें गोदुग्ध और शंखके समान सफेद मांस और रुधिर है ॥ ३७ ॥

इस प्रकारके गुणोंसे सहित तथा समस्त अतिशयोंसे युक्त अत्यन्त सुगन्धित औदारिक शरीर अर्हन्त पुरुषके जानना चाहिये । यह द्रव्य अर्हन्तका वर्णन है ॥ ३८ ॥

मयरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिओ य सुविसुद्धो ।
चित्तपरिणामरहिदो केवलभावे मुणेयव्वो ॥ ३९ ॥

केवलज्ञान रूप भावके होनेपर अर्हन्त, मद राग द्वेषसे रहित, कषायरूप मलसे वर्जित, अत्यन्त शुद्ध और मनके परिणामसे रहित होता है ऐसा जानना चाहिये ॥ ३९ ॥

सम्मद्दंसणि पस्सइ जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया ।
सम्मत्तगुणविसुद्धो भावो अरहस्स णायव्वो ॥ ४० ॥

अरहंत परमेष्ठी अपने समीचीन दर्शनगुणके द्वारा समस्त द्रव्य पर्यायोंको सामान्य रूपसे देखते हैं और ज्ञानगुणके द्वारा विशेष रूपसे जानते हैं। वे सम्यग्दर्शनरूप गुणसे अत्यन्त निर्मल रहते हैं। इस प्रकार अरहन्तका भाव जानना चाहिये ॥ ४० ॥

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा।
गिरिगुह गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिदो वा ॥ ४१ ॥
सवसासत्तं तित्थं वचचइदालत्तयं च वुत्तेहिं।
जिणभवणं अह वेज्झं जिणमग्गे जिणवरा विंति ॥ ४२ ॥
पंचमहव्वयजुत्ता पंचिंदियसंजया णिरावेक्खा।
सज्झायझाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिइच्छंति ॥ ४३ ॥

शून्यगृहमें, वृक्षके अधस्तलमें, उद्यानमें, श्मशानमें, पहाड़के गुफामें, पहाड़के शिखरपर, भयंकर वनमें अथवा वसतिकामें मुनिराज रहते हैं।

स्वाधीन मुनियोंके निवासरूप तीर्थ, उनके नामके अक्षररूप वचन, उनकी प्रतिमारूप चैत्य, प्रतिमाओंकी स्थापनाका आधाररूप आलय और कहे हुए आयतनादिके साथ जिनभवन—अकृत्रिम जिन चैत्यालय आदिको जिनमार्गमें जिनेन्द्रदेव मुनियोंके लिये वेद्य अर्थात् जानने योग्य पदार्थ कहते हैं। पांच महाव्रतोंसे सहित, पाँच इन्द्रियोंको जीतनेवाले, निःस्पृह तथा स्वाध्याय और ध्यानसे युक्त श्रेष्ठ मुनि उपर्युक्त स्थानोंको निश्चयमें चाहते हैं ॥ ४१-४३ ॥

गिहगंथमोहमुक्का वावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४४ ॥

जो गृहनिवास तथा परिग्रहके मोहसे रहित है, जिसमें वाईस परीषह सहे जाते हैं, कषाय जीती जाती है, और जो पापके आरम्भसे रहित है ऐसी दीक्षा जिनेन्द्रदेवने कही है ॥ ४४ ॥

धणधण्णवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइं।
कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४५ ॥

जो धन धान्य वस्त्रादिके दान, सोना चांदी, शय्या, आसन तथा छत्र आदिके खोटे दानसे रहित है। ऐसी दीक्षा कही गई है ॥ ४५ ॥

सत्तूमित्ते य समा पसंसणिद्दा अलद्धिलद्धि समा।
मणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४६ ॥

जो शत्रु और मित्र, प्रशंसा और निन्दा, हानि और लाभ, तथा तृण और सुवर्णमें समान भाव रखती है ऐसी जिनदीक्षा कही गई है ॥ ४६ ॥

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा।
सव्वत्थगिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४७ ॥

जहाँ उत्तम और मध्यम घरमें, दरिद्र तथा धनवान्में कोई भेद नहीं रहता तथा सब जगह आहार ग्रहण किया जाता है ऐसी जिनदीक्षा कही गई है ॥ ४७ ॥

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा ।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४८ ॥

जो परिग्रह रहित है, स्त्री आदि पर पदार्थके संसर्गसे रहित है, मानकषाय और भोग परिभोगकी आशासे रहित है, राग रहित है, दोष रहित है, ममता रहित है और अहंकार रहित है ऐसी जिन दीक्षा कही गई है ॥ ४८ ॥

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा ।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४९ ॥

जो स्नेहरहित है, लोभरहित है, मोहरहित है, विकाररहित है, कलुषतारहित है, भयरहित है और आशारहित है ऐसी जिन दीक्षा कही गई है ॥ ४९ ॥

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुय णिराउहा संता ।
परकियणिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५० ॥

जिसमें सद्योजात बालकके समान नग्न रूप धारण किया जाता है, भुजाएँ नीचे की ओर लटकाई जाती हैं जो शस्त्ररहित है, शान्त है और जिसमें दूसरेके द्वारा बनाई हुई वसतिकामें निवास किया जाता है ऐसी जिनदीक्षा कही गई है ॥ ५० ॥

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसंक्कारवज्जिया रूक्खा ।
मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५१ ॥

जो उपशम, क्षमा तथा दमसे युक्त है, शरीरके संस्कारसे वर्जित है, रूक्ष है, मद राग एवं द्वेषसे रहित है ऐसी जिनदीक्षा कही गई है ॥ ५१ ॥

विवरीयमूढभावा पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता ।
सम्मत्तगुण विसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५२ ॥

जिसका मूढभाव दूर हो गया है, जिसमें आठों कर्म नष्ट हो गये हैं, मिथ्यात्व भाव नष्ट हो गया है, और जो सम्यग्दर्शन रूप गुणसे विशुद्ध है ऐसी जिनदीक्षा कही गई है ॥ ५२ ॥

जिणमग्गे पव्वज्जा छहसंहणणेसु भणिय णिग्गंथा ।
भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया ॥ ५३ ॥

जिनमार्गमें जिनदीक्षा छहों संहनन वालोंके कही गई है । यह दीक्षा कर्म क्षयका कारण बताई गई है । ऐसी दीक्षाकी भव्य पुरुष निरन्तर भावना करते हैं ॥ ५३ ॥

तिलतुसमत्तणिमित्तं समबाहिरगंथसंगहो णत्थि ।
पव्वज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरसीहिं ॥ ५४ ॥

जिसमें तिलतुषमात्र बाह्य परिग्रहका संग्रह नहीं है ऐसी जिनदीक्षा सर्वज्ञदेवके द्वारा कही गई है ॥ ५४ ॥

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च अत्थेइ ।
सिलकट्ठे भूमितले सव्वे आरूहइ सव्वत्थ ॥ ५५ ॥

उपसर्ग और परिषहोंको सहन करनेवाले मुनि निरन्तर निर्जन स्थानमें रहते हैं वहाँ भी सर्वत्र शिला, काष्ठ या भूमितल पर बैठते हैं ॥ ५५ ॥

पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ ।
सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५६ ॥

जिसमें पशु स्त्री नपुंसक और कुशील मनुष्योंका संग नहीं किया जाता, विकथाएँ नहीं कही जातीं और सदा स्वाध्याय तथा ध्यानमें लीन रहा जाता है ऐसी जिनदीक्षा कही गई है ॥ ५६ ॥

तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य ।
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५७ ॥

जो तप व्रत और उत्तर गुणोंसे शुद्ध है, संयम, सम्यक्त्व और मूलगुणोंसे विशुद्ध है, तथा दीक्षोचित अन्यगुणोंसे शुद्ध है ऐसी जिनदीक्षा कही गई है ॥ ५७ ॥

एवं आयत्तणगुणपज्जत्ता बहुविसुद्धसम्मत्ते ।
णिग्गंथे जिणमग्गे संखेवेणं जहाखादं ॥ ५८ ॥

इस प्रकार आत्मगुणोंसे परिपूर्ण जिनदीक्षा, अत्यन्त निर्मल सम्यक्त्व सहित, निष्परिग्रह जिन मार्गमें जैसी कही गई है वैसी संक्षेपसे मैंने कही है ॥ ५८ ॥

रूवत्थं सुद्धत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं ।
भव्वजणबोहणत्थं छक्कायहिदंकरं उत्तं ॥ ५९ ॥

जिनेन्द्रदेवने जिनमार्गमें शुद्धिके लिये जिस रूपस्थ मार्गका निरूपण किया है, छह कायके जीवोंका हित करनेवाला वह मार्ग भव्य जीवोंको समझानेके लिये मैंने कहा है ॥ ५९ ॥

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं ।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥ ६० ॥

शब्द विकारसे उत्पन्न हुए भाषासूत्रोंमें श्रीजिनेन्द्रदेवने जो कहा है तथा भद्रबाहुके शिष्यने जिसे जाना है वही मार्ग मैंने यहाँ कहा है ॥ ६० ॥

बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं ।
सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ ॥ ६१ ॥

द्वादशाङ्गके जाननेवाले, चौदह पूर्वोंका बृहद् विस्तार करनेवाले और व्याख्याकारोंमें प्रधान श्रुतकेवली भगवान् भद्रबाहु जयवन्त होवें ॥ ६१ ॥

इस प्रकार बोध पाहुड समाप्त हुआ ।

भावपाहुड

णमिऊण जिणवरिंदे णरसुरभवणिंदवंदिए सिद्धे ।
वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा ॥ १ ॥

चक्रवर्ती इन्द्र तथा धरणेन्द्रसे वन्दित अर्हन्तोंको, सिद्धोंको तथा अवशिष्ट आचार्य उपाध्याय और साधुरूप संयतोंको शिरसे नमस्कार कर मैं भावपाहुड ग्रन्थको कहूँगा ॥ १ ॥

भावो हि पढमलिंगं च ण दव्वलिंगं जाण परमत्थं ।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा विंति ॥ २ ॥

निश्चयसे भाव, जिनदीक्षाका प्रथम लिङ्ग है, द्रव्यलिङ्गको तू परमार्थ मत जान, भाव ही गुण दोषोंका कारण है ऐसा भी जिनेन्द्रदेव कहते हैं ॥ २ ॥

भावविसुद्धिणिमित्तं वाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
वाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स ॥ ३ ॥

भाव शुद्धिके कारण ही वाह्य परिग्रहका त्याग किया जाता है। जो आभ्यन्तरपरिग्रहसे युक्त है उसका बाह्यपरिग्रहका त्याग निष्फल है ॥ ३ ॥

भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ ।
जम्मंतराइ वहुसो लंवियहत्थो गलियवथो ॥ ४ ॥

भाव रहित जीव यदि करोड़ों जन्म तक अनेक वार हाथ लटका कर तथा वस्त्रोंका त्याग कर तपश्चरण करे तो भी सिद्ध नहीं होता है ॥ ४ ॥

परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुंचेइ वाहिरे य जई ।
वाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ॥ ५ ॥

यदि कोई यति भाव अशुद्ध रहते हुए वाह्य परिग्रहका त्याग करता है तो भावहीन यतिका वह वाह्य परिग्रह त्याग क्या कर सकता है ? कुछ नहीं ॥ ५ ॥

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण ।
पंथिय सिवपुरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण ॥ ६ ॥

हे पथिक ! तूँ सर्वप्रथम भावको ही जान, भाव रहित वेषसे तुझे क्या प्रयोजन ? भाव ही जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रयत्नपूर्वक शिवपुरीका मार्ग वतलाया गया है ॥ ६ ॥

भावरहिएण सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारे ।
गहिउज्झियाइं वहुसो वाहिरणिग्गंथरूवाइं ॥ ७ ॥

हे सत्पुरुष ! भाव रहित तूं ने अनादि कालसे इस अनन्त संसारमें बाह्यनिर्ग्रन्थ रूप—द्रव्य लिङ्ग अनेक वार ग्रहण किये और छोड़े हैं ॥ ७ ॥

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए ।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव ॥ ८ ॥

हे जीव ! तूँ ने भयंकर नरक गतिमें, तिर्यञ्च गतिमें, नीचदेव और नीच मनुष्यगतिमें तीव्र दुःख प्राप्त किये हैं अतः तूं जिनेन्द्रप्रणीत भावनाका चिन्तवन कर ॥ ८ ॥

सत्तसु णरयावासे दारुणभीसाइं असहणीयाइं ।
भुत्ताइं सुइरकालं दुक्खाइं णिरंतरं सहियाइं ॥ ९ ॥

हे जीव ! तू ने सात नरकावासोंमें बहुत काल तक अत्यन्त भयानक और नः सहने योग्य दुःख निरन्तर भोगे तथा सहे हैं ॥ ९ ॥

खणणुत्तावणवालणवेयणविच्छेयणाणिरोहं च ।
पत्तोसि भावरहिओ तिरियगईए चिरं कालं ॥ १० ॥

हे जीव ! भावरहित तू ने तिर्यञ्चगतिमें चिरकाल तक खोदा जाना, तपाया जाना, जलाया जाना, हवा किया जाना, तोड़ा जाना और रोका जाना आदिके दुःख प्राप्त किये हैं ॥ १० ॥

आगन्तुअमाणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि ।
दुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तोसि अणंतयं कालं ॥ ११ ॥

हे जीव ! तू ने मनुष्य गतिमें तू ने आगन्तुक, मानसिक, साहजिक और शारीरिक ये चार प्रकारके दुःख अनन्त काल तक प्राप्त किये हैं ॥ ११ ॥

सुरणिलयेसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं ।
संपत्तोसि महाजस दुक्खं सुहभावणारहिओ ॥ १२ ॥

हे महायशके धारक ! तू ने शुभभावनासे रहित होकर स्वर्ग लोकमें देव देवियोंका वियोग होने पर तीव्र मानसिक दुःख प्राप्त किया है ॥ १२ ॥

कंदप्पमाइयाओ पंचवि असुहादिभावणाई य ।
भाऊण दव्वलिंगी पहीणदेवो दिवे जाओ ॥ १३ ॥

हे जीव ! तूं द्रव्यलिंगी होकर [1]कांदर्पी आदि पांच अशुभ भावनाओंका चिन्तवन कर स्वर्ग में नीच देव हुआ ॥ १३ ॥

पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ ।
भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभावबीएहिं ॥ १४ ॥

---

१. (१) कांदर्पी (२) किल्विषकी (३) संमोही (४) दानवी (५) आभियोगकी ये ५ अशुभ भावनाएं है ।

हे जीव ! तूने अनादि कालसे अनेक वार पार्श्वस्थ कुशील, संसक्त, अवसन्न, और मृगचारी आदि भावनाओंका चिन्तवनकर खोटी भावनाओंके भावरूप बीजोंसे दुःख प्राप्त किये हैं ।। १४ ।।

देवाण गुण विहूई इड्ढी माहप्प बहुविहं दट्ठुं ।
होऊण हीणदेवो पत्तो बहुमाणसं दुक्खं ।। १५ ।।

हे जीव ! तूने नीच देव होकर अन्य देवोंके गुण विभूति ऋद्धि तथा बहुत प्रकारका माहात्म्य देखकर बहुत भारी मानसिक दुःख प्राप्त किया है ।। १५ ।।

चउविह विकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो ।
होऊण कुदेवत्तं पत्तोसि अणेयवाराओ ।। १६ ।।

हे जीव ! तू चार प्रकारकी विकथाओंमें आसक्त होकर, आठमदोंसे मत्त होकर, और अशुभभावों से स्पष्ट प्रयोजन धारण कर अनेक वार कुदेवपर्याय–भवनत्रिकमें उत्पन्न हुआ है ।। १६ ।।

असुहीवीहत्थेहि य कलिमलबहुला हि गब्भवसहीहि ।
वसिओसि चिरं कालं अणेयजणणीण मुणिपवर ।। १७ ।।

हे मुनि प्रवर ! तूने अनेक माताओंके अशुद्ध घृणित और पाप रूप मलसे मलिन गर्भ-वसतियोंमें चिरकाल तक निवास किया है ।। १७ ।।

पीओसि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं ।
अण्णण्णाण महाजस सायरसलिला दु अहिययरं ।। १८ ।।

हे महायश के धारक ! तूने अनन्त जन्मोंमें अन्य अन्य माताओंके स्तनका इतना अधिक दूध पिया है कि वह इकट्ठा किये जाने पर समुद्रके जलसे भी अधिक होगा ।। १८ ।।

तुह मरणे दुक्खेण अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं ।
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिला दु अहिययरं ।। १९ ।।

हे जीव ! तुम्हारे मरने पर दुःखसे रोने वाली भिन्न भिन्न अनेक माताओंके आंसू समुद्रके जलसे भी अधिक होंगे ।। १९ ।।

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झियकेसणहरणालट्ठी ।
पुंजइ जइ कोवि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी ।। २० ।।

हे जीव ! इस अनन्त संसार सागरमें तुम्हारे कटे और छोड़े हुए केश, नख, नाल और हड्डीको यदि कोई देव इकट्ठा करे तो उसकी राशि मेरुपर्वतसे भी ऊंची हो जाय ।। २० ।।

जलथलसिहिपवणंबरगिरिसरिदरितरुवणाइं सव्वत्तो ।
वसिओ सि चिरं कालं तिहुवणमज्झे अणप्पवसो ।। २१ ।।

हे जीव ! तू ने पराधीन होकर तीन लोकके बीच जल, स्थल, अग्नि, वायु, आकाश, पर्वत, नदी, गुफा, वृक्ष और वन आदि सभी स्थानोंमें चिरकाल तक निवास किया है ।। २१ ।।

गसियाइं पुग्गलाइं भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं ।
पत्तोसि तो ण तित्तिं पुणरूवं ताइं भुंजंतो ॥ २२ ॥

हे जीव ! तूने लोकके मध्यमें स्थित समस्त पुद्गलोंका भक्षण किया तथा उन्हें बार-बार भोगते हुए भी तृप्ति नहीं हुई ॥ २२ ॥

तिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाये पीडिएण तुमे ।
तो वि ण तिण्हाच्छेओ जाओ चिंतेह भवमहणं ॥ २३ ॥

हे जीव ! तूने प्याससे पीड़ित होकर तीन लोकका समस्त जल पी लिया तो भी तेरी प्यासका अन्त नहीं हुआ । इसलिये तू संसारका नाश करनेवाले रत्नत्रयका चिन्तन कर ॥ २३ ॥

गहि उज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं ।
ताणं णत्थि पमाणं अणंतभवसायरे धीरः ॥ २४ ॥

हे मुनीवर ! हे धीर ! इस अनन्त संसार सागरमें तूने जो अनेक शरीर ग्रहण किये तथा छोड़े हैं उनका प्रमाण नहीं है ॥ २४ ॥

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं ।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ ॥ २५ ॥

हिमजलणसलिलगुरूयरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं ।
रसविज्जजोयधारण अणयपसंगेहि विविहेहिं ॥ २६ ॥

इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण वहुवारं ।
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्त ॥ २७ ॥

विप, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रग्रहण, संक्लेश, आहारनिरोध, श्वासोच्छ्वासनिरोध, बर्फ, अग्नि, पानी, वड़े पर्वत अथवा वृक्ष पर चढ़ते समय गिरना, शरीरका भंग, रसविद्याके प्रयोगसे और अन्यायके विविध प्रसङ्गोंसे आयुका क्षय होता है । हे मित्र! इस प्रकार तिर्यञ्च और मनुष्यगतिमें उत्पन्न होकर चिरकालसे अनेक वार अकाल मृत्युका अत्यन्त तीव्र महादुःख तूने प्राप्त किया है ॥ २५–२७ ॥

छत्तीसं तिण्णिसया छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि ।
अंतोमुहुत्तमज्झे पत्तोसि णिगोयवासम्मि ॥ २८ ॥

हे जीव ! तूने निगोदवास में अन्तर्मुहूर्तके भीतर छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरण प्राप्त किया है ॥ २८ ॥

वियलिंदिए असीदी सट्ठी चालीसमेव जाणेह ।
पंचिंदियचउवीसं खुद्दभवंतो मुहुत्तस्स ॥ २९ ॥

हे जीव ! ऊपर जो अन्तर्मुहूर्तके क्षुद्रभव वतलाये हैं उनमें द्वीन्द्रियोंके ८०, त्रीन्द्रियोंके ६०, चतुरिन्द्रियोंके ४० और पञ्चेन्द्रियोंके २४ भव होते हैं ऐसा तू जान ॥ २९ ॥

रयणत्तये अलद्धे एवं भमिओसि दीहसंसारे ।
इय जिणवरेहिं भणिओ तं रयणत्तय समायरह ॥ ३० ॥

हे जीव ! इस प्रकार रत्नत्रय प्राप्त न होनेसे तूने इस दीर्घसंसारमें भ्रमण किया है इसलिये तू रत्नत्रयका आचरण कर ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ३० ॥

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो ।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिह चारित्तमग्गुत्ति ॥ ३१ ॥

आत्मा आत्मामें लीन होता है यह सम्यग्दर्शन है, जीव उस आत्माको जानता है यह सम्यग्ज्ञान है तथा उसी आत्मामें चरण करता है यह चारित्र है ॥ ३१ ॥

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओसि ।
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव ॥ ३२ ॥

हे जीव ! तू अन्य अनेक जन्मोंमें कुमरणमरणसे मृत्युको प्राप्त हुआ है अतः अव जरा मरणका विनाश करनेवाले सुमरण मरणका चिन्तन कर ॥ ३२ ॥

सो णत्थि दव्वसवणो परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ ।
जत्थ ण जाओ ण मओ तियलोयपमाणिओ सव्वो ॥ ३३ ॥

तीन लोक प्रमाण इस समस्त लोकाकाशमें ऐसा परमाणु मात्र भी स्थान नहीं है जहाँ कि द्रव्यलिङ्गी मुनि न उत्पन्न हुआ हो और न मरा हो ॥ ३३ ॥

कालमणंतं जीवो जम्मजरामरणपीडिओ दुक्खं ।
जिणलिंगेण वि पत्तो परंपराभावरहिएण ॥ ३४ ॥

आचार्य परम्परासे उपदिष्ट भावलिङ्ग रहित द्रव्य लिङ्गके द्वारा भी इस जीवने अनन्तकाल तक जन्म जरा मरणसे पीड़ित हो दुःख ही प्राप्त किया है ॥ ३४ ॥

पडिदेससमयपुग्गलआउगपरिणामणामकालट्ठं ।
गहिउज्झियाइं वहुसो अणंतभवसायरे जीवो ॥ ३५ ॥

अनन्त संसार सागर के वीच इस जीवने प्रत्येक देश, प्रत्येक समय, प्रत्येक पुद्गल, प्रत्येक आयु, प्रत्येक रागादि भाव, प्रत्येक नामादि कर्म तथा उत्सर्पिणी आदि कालमें स्थित अनन्त शरीरों-को अनेक वार ग्रहण किया और छोड़ा ॥ ३५ ॥

तेयाला तिण्णिसया रज्जूणं लोयखेत्तपरिमाणं ।
मुत्तूणट्ठपएसा जत्थ ण ढुरुढुल्लियो जीवो ॥ ३६ ॥

३४३ राजू प्रमाण लोक क्षेत्रमें आठ मध्यप्रदेशोंको छोड़कर ऐसा कोई प्रदेश नहीं जहाँ इस जीवने भ्रमण न किया हो ॥ ३६ ॥

एक्केक्कंगुलिवाही छण्णवदी होंति जाणमणुयाणं ।
अक्सेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया ॥ ३७ ॥

मनुष्य शरीरके एक-एक अङ्गुल प्रदेशमें जब छियानवे-छियानवे रोग होते हैं तब शेष समस्त शरीरमें कितने-कितने रोग कहे जा सकते हैं हे जीव ! यह तूं जान ॥ ३७ ॥

ते रोया विय सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे ।
एवं सहसि महाजस किंवा बहुएहिं लविएहिं ॥ ३८ ॥

हे महायशके धारक जीव ! तू ने वे सब दुःख पूर्वभवमें परवश होकर सहे हैं और अब इस प्रकार सह रहा है अधिक कहनेसे क्या ? ॥ ३८ ॥

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिस किमिजाले ।
उयरे वसिओसि चिरं नवदसमासेहिं पत्तेहिं ॥ ३९ ॥

हे जीव ! तू ने पित्त, आंत, मूत्र, फुप्फुस, जिगर, रुधिर, खारिस और कीड़ोंके समूहसे भरे हुए माताके उदरमें अनन्तवार नौ-नौ, दश-दश मास तक निवास किया है ॥ ३९ ॥

दियसंगट्ठियमसणं आहारिय मायभुत्तमण्णांते ।
छद्दिखरिसाणमज्झे जठरे वसिओसि जणणीए ॥ ४० ॥

हे जीव ! तूने माताके पेटमें दांतोंके संगमें स्थित तथा माताके खानेके बाद उसके खाये हुए अन्नको खाकर वमन और [1] खरिसके बीच निवास किया है ॥ ४० ॥

सिसुकाले य अमाणे असुईमज्झम्मि लोलिओसि तुमं ।
असुई असिआ बहुसो मुणिवर बालत्तपत्तेण ॥ ४१ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! तू अज्ञानपूर्ण बाल्य अवस्थामें अपवित्र स्थानमें लोटा है तथा बालकपनके कारण अनेक वार तूं अपवित्र वस्तुओंको खा चुका है ॥ ४१ ॥

मंसट्ठिसुक्कसोणियपित्तंतसक्तकुणिमदुग्गंधं ।
खरिसवसपूयखिब्भिसभरियं चिंतेहि देहउडं ॥ ४२ ॥

हे जीव ! तू इस शरीररूपी घड़ेका चिन्तन कर जो मांस हड्डी वीर्य रुधिर पित्त आंतसे झरती हुई मुर्देके समान दुर्गन्धसे सहित है तथा खरिस चर्वी पीप आदि अपवित्र वस्तुओंसे भरा हुआ है ॥ ४२ ॥

भावविमुत्तो मुत्तो णय मुत्तो बंधवाईमित्तेण ।
इय भाविऊण उज्झसु गंथं अब्भंतरं धीर ॥ ४३ ॥

---

१. विना पके रुधिरसे मिले हुऐ कफको खरिस कहते हैं ।

जो रागादिभावोंसे मुक्त हैं वास्तव में वही मुक्त है, जो केवल बान्धव आदिसे मुक्त है वह मुक्त नहीं है। ऐसा विचारकर हे धीर वीर ! तूं अन्तरङ्ग परिग्रहका त्याग कर ॥ ४३ ॥

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर।
अत्तावणेण आदो बाहुवली कित्तियं कालं ॥ ४४ ॥

हे धीर मुनि ! देहादिके सम्बन्धसे रहित किन्तु मान कषायसे कलुषित बाहुबली स्वामी कितने समय तक आतापन योगसे स्थित रहे थे ?

भावार्थ—यद्यपि बाहुबली स्वामी शरीरादिसे विरक्त होकर आतापनसे विराजमान थे परन्तु 'मैं भरतकी भूमिमें खड़ा हूँ' इस प्रकार सूक्ष्म मान विद्यमान रहनेसे केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सके थे। जब उनके हृदयसे उक्त प्रकारका मान दूर हो गया था तभी उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्तरङ्गकी उज्ज्वलताके विना केवल वाह्य त्यागसे कुछ नहीं होता ॥ ४४ ॥

महुपिंगो णाय मुणी देहा हारादिचत्तवावारो।
सवणत्तणं ण पत्तो नियाणमित्तेण भवियणुय ॥ ४५ ॥

हे भव्य जीवोंके द्वारा नमस्कृत मुनि ! शरीर तथा आहार आदि व्यापारका त्याग करनेवाले मधुपिङ्ग नामक मुनि निदानमात्रसे श्रमणपनेको प्राप्त नहीं हुए थे ॥ ४५ ॥

अण्णं च वसिट्ठमुणी पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण।
सो णत्थि वासठाणो जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो ॥ ४६ ॥

और भी एक वशिष्ठ मुनि निदान मात्रसे दुःखको प्राप्त हुए थे। लोकमें वह निवास स्थान नहीं है जहाँ इस जीवने भ्रमण न किया हो ॥ ४६ ॥

सो णत्थि तं पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि।
भावविरओ वि सवणो जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो ॥ ४७ ॥

हे जीव ! चौरासी लाख योनिके निवासमें वह एक भी प्रदेश नहीं है जहाँ अन्यकी बात जाने दो भाव रहित साधुने भी भ्रमण न किया हो ॥ ४७ ॥

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण ॥ ४८ ॥

मुनि, भावसे ही जिनलिङ्गी होता है, द्रव्यमात्रसे जिनलिङ्गी नहीं होता इसलिये भावलिङ्ग ही धारण करो, द्रव्यलिङ्गसे क्या काम सिद्ध होता है ? ॥ ४८ ॥

दण्डअणयरं सयलं डहिओ अब्भतरेण दोसेण।
जिणलिंगेण वि बाहू पडिओ सो रउरवे णरये ॥ ४९ ॥

बाहुमुनि जिनलिङ्गसे सहित होनेपर भी अन्तरङ्गके दोषसे दण्डक नामक समस्त नगरको जलाकर रौरव नामक नरकमें उत्पन्नमें हुआ था ॥ ४९ ॥

अवरो वि दव्वसवणो दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो ।
दीवायणुत्ति णामो अणंतसंसारिओ जाओ ॥ ५० ॥

और भी एक द्वैपायन नामक द्रव्यलिङ्गी श्रमण सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्रसे भ्रष्ट होकर अनन्तसंसारी हुआ ॥ ५० ॥

भावसमणो य धीरो जुवईजणवेढ्ढिओ विसुद्धमई ।
णामेण सिवकुमारो परीत्तसंसारिओ जादो ॥ ५१ ॥

भावलिंगका धारक धीर वीर शिवकुमार नामका मुनि, युवतिजनोंसे परिवृत होकर भी विशुद्ध हृदय वना रहा इसीलिये संसार समुद्रसे पार हुआ ॥ ५१ ॥

अंगाइं दस य दुण्णि य चउदसपुव्वाइं सयलसुयणाणं ।
पढिओ अ भव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो ॥ ५२ ॥

भव्यसेन नामक मुनिने वारह अङ्ग और चौदह पूर्व रूप समस्त श्रुतज्ञानको पढ़ लिया तो भी वह भावश्रवणपनेको प्राप्त नहीं हुआ ॥ ५२ ॥

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य ।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ ॥ ५३ ॥

यह वात सर्व प्रसिद्ध है कि विशुद्धभावोंके धारक और अत्यन्त प्रभावसे युक्त शिवभूति मुनि 'तुषमाष' पदको घोकते हुए—याद करते हुए केवलज्ञानी हो गये ॥ ५३ ॥

भावेण होइ णग्गो वाहिरलिंगेण किं च णग्गेण ।
कम्मपयडीयणियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥ ५४ ॥

भावसे ही निर्ग्रन्थरूप सार्थक होता है केवल वाह्यलिङ्गरूप नग्न मुद्रासे क्या प्रयोजन है ? कर्म प्रकृतियोंका समुदाय भावसहित द्रव्य लिङ्गसे ही नष्ट होता है ॥ ५४ ॥

णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं ।
इय णाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ॥ ५५ ॥

जिनेन्द्र भगवान्‌ने भावरहित नग्नताको व्यर्थ कहा है ऐसा जानकर हे धीर ! सदा आत्माकी भावना कर ॥ ५५ ॥

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥ ५६ ॥

जो शरीरादि परिग्रहसे रहित है, मान कषायसे सबप्रकार मुक्त है और जिसका आत्मा आत्मामें रत रहता है वह साधु भावलिङ्गी है ॥ ५६ ॥

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥ ५७ ॥

भावलिङ्गी मुनि विचार करता है कि मैं निर्ममत्वभावको प्राप्त होकर ममता बुद्धिको छोड़ता हूं और आत्मा ही मेरा आलम्बन है इसलिये अन्य समस्त पदार्थोंको छोड़ता हूँ ॥ ५७ ॥

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥ ५८ ॥

निश्चयसे मेरे ज्ञानमें आत्मा है, दर्शन और चारित्रमें आत्मा है, प्रत्याख्यानमें आत्मा है, संवर और योगमें आत्मा है ॥ ५८ ॥

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ ५९ ॥

नित्य तथा ज्ञान दर्शन लक्षणवाला एक आत्मा ही मेरा है उसके सिवाय पर द्रव्यके संयोगसे होनेवाले समस्त भाव बाह्य हैं—मुझसे पृथक् हैं ॥ ५९ ॥

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव ।
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छसि सासयं सुक्खं ॥ ६० ॥

हे भव्य जीवो ! यदि तुम शीघ्र ही चतुर्गतिको छोड़कर अविनाशी सुखकी इच्छा करते हो तो शुद्ध भावोंके द्वारा अत्यन्त पवित्र और निर्मल आत्माकी ही भावना करो ॥ ६० ॥

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो ।
सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ॥ ६१ ॥

जो जीव, अच्छे भावोंसे सहित होकर आत्माके स्वभावका चिन्तन करता है वह जरामरणका विनाश करता और निश्चय ही निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥

जीवो जिणपण्णत्तो णाणसहाओ य चेयणासहिओ ।
सो जीवो णायव्वो कम्मक्खयकारणणिमित्तो ॥ ६२ ॥

जीव ज्ञानस्वभाववाला तथा चेतना सहित है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है । वह जीव ही कर्मक्षयका कारण जानना चाहिये ॥ ६२ ॥

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ ।
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमतीदा ॥ ६३ ॥

जिनके मनमें जीवका सद्भाव है, उसका सर्वथा अभाव नहीं है वे शरीरसे भिन्न तथा वचनके विजय से परे सिद्ध होते हैं ॥ ६३ ॥

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं ।
जाणमलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ ६४ ॥

जो रस रहित है, रूप रहित है, गन्ध रहित है, अव्यक्त है, चेतना गुणसे युक्त है, शब्द रहित है, इन्द्रियोंके द्वारा अग्राह्य है, और आकार रहित है उसे जीव जान ॥ ६४ ॥

भावहि पंचपयारं णाणं अण्णाणणासणं सिग्घं ।
भावणभावियसहिओ दिवसिवसुहभायणो होइ ॥ ६५ ॥

हे जीव ! तू अज्ञानका नाश करनेवाले पाँच प्रकारके ज्ञानका शीघ्र ही नाश कर । क्योंकि ज्ञानभावनासे सहित जीव स्वर्ग और मोक्षके सुखका पात्र होता है ॥ ६५ ॥

पढिएणवि किं कीरइ किंवा सुणिएण भावरहिएण ।
भावो कारणभूदो सायारणयारभूदाणं ॥ ६६ ॥

भावरहित पढ़ने अथवा भाव रहित सुननेसे क्या होता है ? यथार्थमें भाव ही गृहस्थपने और मुनिपनेका कारण है ॥ ६६ ॥

दव्वेण सयलणग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया ।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥ ६७ ॥

द्रव्य रूपसे सभी नग्न रहते हैं । नारकी और तिर्यञ्चोंका समुदाय भी नग्न रहता है परन्तु परिणामोंसे अशुद्ध होनेके कारण भाव मुनिपनेको प्राप्त नहीं होते ॥ ६७ ॥

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमई ।
णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जियं सुइरं ॥ ६८ ॥

जो नग्न जिन भगवान्‌की भावनासे रहित है वह दीर्घकाल तक दुःख पाता है, संसार सागरमें भ्रमण करता है और रत्नत्रयको नहीं प्राप्त करता है ॥ ६८ ॥

अयसाण भायणेण य किंते णग्गेण पावमलिणेण ।
पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ॥ ६९ ॥

हे जीव ! तुझे उस नग्न मुनिपनेसे क्या प्रयोजन ? जो कि अपयशका पात्र है, पापसे मलिन है, पैशुन्य, हास्य, मात्सर्य और मायासे परिपूर्ण है ॥ ६९ ॥

पयडहिं जिणवरलिंगं अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो ।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियई ॥ ७० ॥

हे जीव ! तूं अन्तरङ्ग भावके दोषोंसे शुद्ध होकर जिनमुद्राको प्रकट कर—धारण कर । क्योंकि भाव दोषसे दूषित जीव बाह्य परिग्रहके संगमें अपने आपको मलिन कर लेता है ॥ ७० ॥

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य इच्छुफुल्लसमो ।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥ ७१ ॥

जो धर्मसे प्रवास करता है—धर्मसे दूर रहता है, जिसमें दोषोंका आवास रहता है और जो

ईखके फूलके समान निष्फल तथा निर्गुण रहता है वह नग्नरूपमें रहनेवाला नट श्रमण है—साधु नहीं नट है ॥ ७१ ॥

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा ।
ण लहंति ते समाहिं वोहिं जिणसासणे विमले ॥ ७२ ॥

जो मुनि राग रूप परिग्रहसे युक्त हैं और जिनभावनासे रहित केवल वाह्यरूपमें निर्ग्रन्थ हैं—नग्न हैं वे पवित्र जिनशासनमें समाधि और वोधि—रत्नत्रयको नहीं पाते हैं ॥ ७२ ॥

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताईं य दोस चइऊणं ।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥ ७३ ॥

मुनि पहले मिथ्यात्व आदि दोषोंको छोड़कर भावसे—अन्तरङ्गसे नग्न होता है और पीछे जिनेन्द्र भगवान्‌की आज्ञासे वाह्यलिङ्ग—बाह्य वेषको प्रकट करता है ॥ ७३ ॥

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो ।
कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥ ७४ ॥

भाव ही इस जीवको स्वर्ग और मोक्षके सुखका पात्र वनाता है । जो मुनि भावसे रहित है वह कर्मरूपी मैलसे मलिन चित्र तिर्यञ्चगतिका पात्र तथा पापी है ॥ ७४ ॥

खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च संथुया विउला ।
चक्कहररायलच्छी लब्भइ वोही सुभावेण ॥ ७५ ॥

उत्तमभावके द्वारा, विद्याधरदेव तथा मनुष्योंके हाथोंकी अञ्जलिसे स्तुत बहुत वड़ी चक्रवर्ती राजाकी लक्ष्मी और रत्नत्रयरूप सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥ ७५ ॥

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं ।
असुहं च अट्टरुद्दं सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं ॥ ७६ ॥

भाव तीन प्रकारके जानना चाहिये—शुभ, अशुभ और शुद्ध । इनमें आर्त और रौद्रको अशुभ तथा धर्म ध्यानको शुभ जानना चाहिये । ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ७६ ॥

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं ।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥ ७७ ॥

शुद्ध स्वभाववाला आत्मा शुद्ध भाव है, वह आत्मा आत्मामें ही लीन रहता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है । इन तीन भावोंमें जो श्रेष्ठ हो उसका आचरण कर ॥ ७७ ॥

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो ।
पावइ तिहुवणसारं वोही जिणसासणे जीवो ॥ ७८ ॥

जिसका मान कषाय पूर्ण रूपसे नष्ट हो गया है तथा मिथ्यात्व और चारित्र मोहके नष्ट

होनेसे जिसका चित्त इष्ट अनिष्ट विषयोंमें समरूप रहता है ऐसा जीव ही जिनशासनमें त्रिलोकश्रेष्ठ रत्नत्रयको प्राप्त करता है ॥ ७८ ॥

विसयविरत्तो सवणो छद्दसवरकारणाइं भाऊण ।
तित्थयरणामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण ॥ ७९ ॥

विषयोंसे विरक्त रहनेवाला साधु सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन कर थोड़े ही समयमें तीर्थंकर प्रकृतिका वन्ध करता है ॥ ७९ ॥

वारसविहतवयरणं तेरसकिरियाउ भावतिविहेण ।
धरहि मणमत्तदुरियं णाणांकुसएण मुणिपवर ॥ ८० ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! तू बारह प्रकारका तपश्चरण और तेरह प्रकारकी क्रियाओंका मन वचन कायसे चिन्तन कर तथा मनरूपी मत्त हाथीको ज्ञानरूपी अंकुशसे वश कर ॥ ८० ॥

पंचविहचेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजमं भिक्खू ।
भावं भावियपुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं ॥ ८१ ॥

जहाँ पाँच प्रकारके वस्त्रोंका त्याग किया जाता है, जमीन पर सोया जाता है, दो प्रकारका संयम धारण किया जाता है, भिक्षासे भोजन किया जाता है, और पहले आत्माके शुद्ध भावोंका विचार किया जाता है वह निर्मल जिनलिङ्ग है ॥ ८१ ॥

जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरुगणाण गोसीरं ।
तहधम्माणं पवरं जिणधम्मं भाविभवमहणं ॥ ८२ ॥

जिस प्रकार रत्नोंमें हीरा और वृक्षोंके समूहमें चन्दन सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार समस्त धर्मोंमें संसारको नष्ट करनेवाला जिनधर्म सर्वश्रेष्ठ है ऐसा तू चिन्तवन कर ॥ ८२ ॥

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥ ८३ ॥

पूजा आदि शुभक्रियाओंमें व्रत सहित जो प्रवृत्ति है वह पुण्य है तथा मोह और क्षोभसे रहित आत्माका जो भाव है वह धर्म है ऐसा जिनशासनमें जिनेन्द्रभगवान्‌ने कहा है ॥ ८३ ॥

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि ।
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥ ८४ ॥

जो मुनि पुण्यका श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, उसे अच्छा समझता है और बार-बार उसे धारण करता है उसका यह सब कार्य भोगका ही कारण है, कर्मोंके क्षयका कारण नहीं है ॥८४॥

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो ।
संसारतरणहेदु धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ८५ ॥

रागादि समस्त दोषोंसे रहित होकर जो आत्मा आत्मस्वरूपमें लीन होता है वह संसार समुद्रसे पार होनेका कारण धर्म है ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ८५ ॥

अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं ।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥८६॥

जो मनुष्य आत्माकी इच्छा नहीं करता—आत्मस्वरूपकी प्रतीति नहीं करता वह भले ही समस्त पुण्य क्रियाओंको करता हो तो भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है। वह संसारी ही कहा गया है ॥ ८६ ॥

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण ।
जेण य लभेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥८७॥

इस कारण तुम मन, वचन, कायसे उस आत्माका श्रद्धान करो और यत्नपूर्वक उसे जानो जिससे कि मोक्ष प्राप्त कर सको ॥ ८७ ॥

मच्छो वि सालिसिक्थो असुद्धभावो गओ महाणरयं ।
इय णाउं अप्पाणं भावह जिणभावणं णिच्चं ॥८८॥

अशुद्ध भावोंका धारक शालिसिक्थ नामका मच्छ सातवें नरक गया ऐसा जान कर हे मुनि ! तूं निरन्तर आत्मामें जिनदेवकी भावना कर ॥ ८८ ॥

वाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो ।
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥८९॥

भावरहित मुनियोंका बाह्य परिग्रहका त्याग, पर्वत, नदी, गुफा, खोह आदिमें निवास और ज्ञानके लिये शास्त्रोंका अध्ययन यह सब व्यर्थ है ॥ ८९ ॥

भंजसु इंदियसेणं भंजसु मणोमक्कडं पयत्तेण ।
मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु ॥९०॥

तू इन्द्रिय रूपी सेनाको भंग कर, और मनरूपी बन्दरको प्रयत्नपूर्वक वश कर। हे वाह्यव्रतके वेषको धारण करनेवाले ! तू लोगोंको प्रसन्न करनेवाले कार्य मत कर ॥ ९० ॥

णवणोकसायवग्गं मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए ।
चेइयपवयणगुरूणं करेहिं भत्तिं जिणाणाए ॥९१॥

हे मुनि ! तू भावोंकी शुद्धिसे नव नोकषायोंके समूहको तथा मिथ्यात्वको छोड़ और जिनेन्द्रदेवकी आज्ञानुसार चैत्य, प्रवचन एवं गुरुओंको भक्ति कर ॥ ९१ ॥

तित्थयरभासियत्थं गणधरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥९२॥

जिसका अर्थ तीर्थंकर भगवान्‌के द्वारा कहा गया है तथा गणधरदेवने जिसकी सम्यक् प्रकारसे ग्रन्थ रचना की है, उस अनुपम श्रुतज्ञानका तू विशुद्धभावसे प्रतिदिन चिन्तन कर ॥ ९२ ॥

पाऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का ।
हुंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥ ९३ ॥

हे जीव ! मुनिगण, ज्ञानरूपी जल पीकर दुर्दम्य तृष्णारूपी प्यासकी दाह और शोषण क्रियासे रहित होकर मोक्ष महलमें निवास करनेवाले और तीनलोकके चूडामणि सिद्ध परमेष्ठी होते हैं ॥ ९३ ॥

दस दस दो सुपरीसह सहदि मुणी सयलकाल काएण ।
सुत्तेण अप्पमत्तो संजमघादं पमुत्तूण ॥ ९४ ॥

हे मुनि ! तूं जिनागमके अनुसार प्रमादरहित होकर तथा संयमके घातको छोड़कर शरीरसे सदा बाईस परीषहोंको सह ॥ ९४ ॥

जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुदएण ।
तह साहू वि ण भिज्जइ उवसग्गपरीसहेहिंतो ॥ ९५ ॥

जिस प्रकार पत्थर दीर्घकालतक पानीमें स्थित रहकर भी खण्डित नहीं होता है उसी प्रकार उपसर्ग और परिषहोंसे साधु भी खण्डित नहीं होता—विचलित नहीं होता ॥ ९५ ॥

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीसभावणा भावि ।
भावरहिएण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं ॥ ९६ ॥

हे मुनि ! तूं अनित्यत्वादि बारह अनुप्रेक्षाओं तथा पाँचमहाव्रतोंकी पच्चीस भावनाओंका चिन्तवन कर। भावरहित बाह्यलिङ्गसे क्या काम सिद्ध होता है ? ॥ ९६ ॥

सव्वविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं ।
जीवसमासाइं मुणी चउदसगुणठाणणामाइं ॥ ९७ ॥

हे मुनि ! यद्यपि तूँ सर्व विरत है तो भी नौ पदार्थ, सात तत्त्व, चौदह जीव समास और चौदह गुणस्थानोंका चिन्तन कर ॥ ९७ ॥

णवविहबंभं पयडहि अब्बभं दसविहं पमोत्तूण ।
मेहुणसण्णासत्तो भमिओसि भवण्णवे भीमे ॥ ९८ ॥

हे मुनि ! तूं दसप्रकारके अब्रह्मका त्याग कर नव प्रकारके ब्रह्मचर्यको प्रकट कर क्योंकि मैथुनसंज्ञामें आसक्त होकर ही तू इस भयंकर संसार समुद्रमें भ्रमण कर रहा है ॥ ९८ ॥

भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च ।
भावरहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे ॥ ९९ ॥

हे मुनिवर ! भावसहित मुनिनाथ ही चार आराधनाओंको पाता है तथा भावरहित मुनि चिरकाल तक दीर्घसंसारमें भ्रमण करता रहता है ॥ ९९ ॥

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं ।
दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए ॥१००॥

भावलिङ्गी मुनि कल्याणोंकी परम्परा तथा अनेक सुखोंको पाते हैं और द्रव्यलिङ्गी मुनि, मनुष्य तिर्यञ्च और कुदेवोंकी योनिमें दुःख पाते हैं ॥ १०० ॥

छादालदोसदूसियमसणं गसिउं असुद्धभावेण ।
पत्तोसि महावसणं तिरियगईए अणप्पवसो ॥१०१॥

हे मुनि ! तूंने अशुद्ध भावसे छयालीस दोषोंसे दूषित आहार ग्रहण किया इसलिये तिर्यञ्च-गतिमें परवश होकर बहुत दुःख पाया है ॥ १०१ ॥

सच्चित्तभत्तपाणं गिद्धीदप्पेणऽधी पभुत्तूण ।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं अणाइकालेण तं चिंत्त ॥१०२॥

हे मुनि ! तूने अज्ञानी होकर अत्यन्त आसक्ति और अभिमानके साथ सचित्त भोजन पान ग्रहणकर अनादिकालसे तीव्र दुःख प्राप्त किया है, इसका तू विचार कर ॥ १०२ ॥

कंदं मूलं वीयं पुप्फं पत्तादि किंचि सच्चित्तं ।
असिऊण माणगव्वं भमिओसि अणंतसंसारे ॥१०३॥

हे जीव ! तूने मान और घमण्डसे कन्द मूल बीज पुष्प पत्र आदि कुछ सचित्त वस्तुओंको खाकर इस अनन्त संसारमें भ्रमण किया है ॥ १०३ ॥

विणयं पंचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण ।
अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्तिं न पावंति ॥१०४॥

हे मुनि ! तू मन, वचन, कायरूप योगसे पाँच[1] प्रकारके विनयका पालन कर क्योंकि अविनयी मनुष्य तीर्थंकर पद तथा मुक्तिको नहीं पाते हैं ॥ १०४ ॥

णियसत्तिए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि ।
तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं ॥१०५॥

हे महायशके धारक ! तू भक्ति और रागसे निजशक्तिके अनुसार निरन्तर जिनेन्द्रभक्तिमें तत्पर करनेवाला दस[2] प्रकारका वैयावृत्य कर ॥ १०५ ॥

जं किंचि कयं दोसं मणवयकाएहिं असुहभावेण ।
तं गरहि गुरूसयासे गारव मायं च मोत्तूण ॥१०६॥

---

१. दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार ये विनयके पाँच भेद हैं । २. आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, और मनोज्ञ इन दस प्रकारके मुनियोंकी सेवा करना दस प्रकारका वैयावृत्य है ।

हे मुनि ! अशुभभावसे मन, वचन, कायके द्वारा जो कुछ भी दोष तू ने किया हो गर्व और माया छोड़कर गुरुके समीप उसकी निन्दा कर ॥ १०६ ॥

दुज्जणवयणचडक्कं णिट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा ।
कम्ममलणासणट्ठं भावेण य णिम्मया सवणा ॥१०७॥

सज्जन तथा ममतासे रहित मुनीश्वर कर्मरूपी मलका नाश करनेके लिये अत्यन्त कठोर और कटुक दुर्जन मनुष्योंके वचनरूपी चपेटाको अच्छे भावोंसे सहन करते हैं ॥ १०७ ॥

पावं खवइ असेसं खमाय परिमंडिओ य मुणिपवरो ।
खेयरअमरणराणं पसंसणीओ धुवं होई ॥१०८॥

क्षमा गुणसे सुशोभित श्रेष्ठ मुनि समस्त पापोंको नष्ट करता है तथा विद्याधर, देव और मनुष्योंके द्वारा निरन्तर प्रशंसनीय रहता है ॥ १०८ ॥

इय णाऊण खमागुण खमेहि तिविहेण सयलजीवाणं ।
चिरसंचियकोहसिहिं वरखमसलिलेण सिंचेह ॥१०९॥

हे क्षमागुणके धारक मुनि ! ऐसा जानकर मन, वचन, कायसे समस्त जीवोंको क्षमा कर और चिरकालसे संचित क्रोधरूपी अग्निको उत्कृष्ट क्षमारूपी जलसे सींच ॥ १०९ ॥

दिक्खाकालाईयं भावहि अवियारदंसणविसुद्धो ।
उत्तमबोहिणिमित्तं असारसंसारमुणिऊण ॥११०॥

हे विचार रहित मुनि ! तूँ उत्तम रत्नत्रयके लिये संसारको असार जानकर सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध होता हुआ दीक्षाकाल आदिका विचार कर ॥ ११० ॥

सेवहि चउविहलिंगं अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो ।
बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहियाणं ॥१११॥

हे मुनि ! तूँ भावलिङ्गकी शुद्धिको प्राप्त होकर चार[1] प्रकारके बाह्यलिङ्गोंका सेवन कर क्योंकि भावरहित जीवोंका बाह्यलिङ्ग स्पष्ट ही अकार्यकर है—व्यर्थ है ॥ १११ ॥

आहारभयपरिग्गहमेहुण सण्णाहिमोहिओसि तुमं ।
भमिओ संसारवणे अणाइकालं अणप्पवसो ॥११२॥

हे मुनि ! तूं आहार, भय, परिग्रह और मैथुन संज्ञाओंसे मोहित हो रहा है इसीलिये पराधीन होकर अनादिकालसे संसाररूपी वनमें भटक रहा है ॥ ११२ ॥

बाहिरसयणत्तावणतरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि ।
पालिह भावविसुद्धो पूयालाहं ण ईहंतो ॥११३॥

---

१. केश लोंच, वस्त्र त्याग, स्नान त्याग और पीछी कमडण्लु रखना ये चार बाह्य लिंग हैं ।

हे मुनि ! तूं भावोंसे विशुद्ध होकर पूजा लाभ न चाहता हुआ वाहर सोना, आतापनयोग धारण करना तथा वृक्षके मूलमें रहना आदि उत्तर गुणोंका पालन कर ॥ ११३ ॥

भावहि पढमं तच्चं विदियं तदियं चउत्थ पंचमयं ।
तियरणसुद्धो अप्पं अणाइणिहणं तिवग्गहरं ॥११४॥

हे मुनि ! तू मन, वचन, कायसे शुद्ध होकर प्रथम जीव तत्त्व, द्वितीय अजीवतत्त्व, तृतीय आस्रवतत्त्व, चतुर्थ वन्ध तत्त्व, पञ्चम संवरतत्त्व तथा अनादि निधन आत्मस्वरूप और धर्म अर्थ कामरूप त्रिवर्गको हरनेवाले निर्जरा एवं मोक्ष तत्त्वका चिन्तन कर—उन्हीं सवका विचार कर ॥ ११४ ॥

जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं ।
ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं ॥११५॥

जव तक यह जीव तत्त्वोंकी भावना नहीं करता है और जवतक चिन्ता करने योग्य धर्म्य-शुक्लध्यान तथा अनित्यत्वादि बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन नहीं करता है तव तक जरामरणसे रहित स्थानको—मोक्षको नहीं पाता है ॥ ११५ ॥

पावं हवइ असेसं पुण्णमसेसं च हवइ परिणामा ।
परिणामादो वंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥११६॥

समस्त पाप और समस्त पुण्य परिणामसे ही होता है तथा बन्ध और मोक्ष भी परिणामसे ही होता है ऐसा जिनशासनमें कहा गया है ॥ ११६ ॥

मिच्छत्त तह कसायाऽसंजमजोगेहिं असुहलेस्सेहिं ।
वंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो ॥११७॥

जिनावचनसे विमुख रहनेवाला जीव, मिथ्यात्व, कषाय, असंयम, योग और अशुभ लेश्याओंके द्वारा अशुभ कर्मको वाँधता है ॥ ११७ ॥

तव्विवरीओ वंधइ सुहकम्मं भावसुद्धिमावण्णो ।
दुविहपयारं वंधइ संखेपेणेव वज्जरियं ॥११८॥

उससे विपरीत जीव भावशुद्धिको प्राप्त होकर शुभ कर्मका वंध करता है। इस प्रकार जीव अपने शुभ भाव से दो प्रकार के कर्म बांधता है ऐसा संक्षेप से ही कहा है ॥ ११८ ॥

णाणावरणादीहिं य अट्ठहि कम्मेहिं वेढिओ य अहं ।
डहिऊण इण्हि पयडमि अणंतणाणाइ गुणचित्तां ॥११९॥

हे मुनि ! ऐसा विचार कर कि मैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे घिरा हुआ हूँ अब मैं इन्हें जलाकर अनन्त ज्ञानादि गुणरूप चेतनाको प्रकट करता हूँ ॥ ११९ ॥

सीलसहस्सट्ठारस चउरासी गुणगणाण लक्खाइं ।
भावहि अणुदिणु णिहिलं असप्पलावेण किं बहुणा ॥१२०॥

हे मुनि ! तूं अठारह हजार प्रकारका शील और चौरासी लाख प्रकारके गुण इन सबका प्रतिदिन चिन्तन कर। व्यर्थ ही बहुत बकवाद करनेसे क्या लाभ है ? ॥ १२० ॥

जे केवि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति ।
छिंदंति भावसवणा झाणकुठारेहिं भवरुक्खं ॥१२१॥

जो कोई द्रव्यलिङ्गी मुनि इन्द्रिय सुखोंसे व्याकुल हो रहे हैं वे संसार रूपी वृक्ष को नहीं काटते हैं परन्तु जो भावलिङ्गी मुनि हैं वे ध्यानरूपी कुठारोंसे इस संसाररूपी वृक्षको काट डालते हैं ॥ १२१ ॥

जह दीवो गब्भहरे मारुयबाहा विवज्जिओ जलइ ।
तह रायानिलरहिओ झाणपईवो वि पज्जलई ॥१२२॥

जिस प्रकार गर्भगृहमें रखा हुआ दीपक हवाकी बाधासे रहित होकर जलता रहता है उसी प्रकार राग रूपी हवासे रहित ध्यान रूपी दीपक जलता रहता है ॥ १२२ ॥

झायहि पंच वि गुरवे मंगलचउसरणलोयपरियरिए ।
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे ॥१२३॥

हे मुनि ! तू पांच परमेष्ठियोंका ध्यान कर ! जो कि मंगलरूप हैं, चार शरण रूप हैं, लोकोत्तम हैं मनुष्य देव और विद्याधरोंके द्वारा पूजित हैं, आराधनाओंके स्वामी हैं और वीर हैं ॥ १२३ ॥

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण ।
वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ॥१२४॥

भव्य जीव, अपने उत्तम भावसे ज्ञानमय निर्मल शीतल जलको पीकर व्याधि, बुढ़ापा, मरण, वेदना और दाहसे विमुक्त होते हुए सिद्ध होते हैं ॥ १२४ ॥

जह बीयम्मि य दड्ढे णवि रोहइ अंकुरो य महिवीढे ।
तह कम्मबीयदड्ढे भवंकुरो भावसवणाणं ॥१२५॥

जिस प्रकार बीज जल जाने पर पृथिवीपृष्ठ पर अंकुर नहीं उगता है उसी प्रकार कर्म रूपी बीजके जल जाने पर भावलिङ्गी मुनियोंके संसार रूपी अंकुर नहीं उगता है ॥ १२५ ॥

भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य ।
इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होह ॥१२६॥

भावश्रमण—भावलिङ्गी मुनि सुख पाता है और द्रव्य-श्रमण—द्रव्यलिङ्गी मुनि दुःख पाता है इस प्रकार गुण और दोषोंको जानकर हे मुनि ! तू भाव सहित संयमी बन ॥ १२६ ॥

तित्थयरगणहराइं अब्भुदयपरंपराइं सोक्खाइं ।
पावंति भावसहिआ संखेवि जिणेहिं वज्जरियं ॥१२७॥

भावसहित मुनि, अभ्युदयोंकी परम्परासे युक्त तीर्थंकर गणधर आदिके सुख पाते हैं ऐसा संक्षेपसे जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है ॥ १२७ ॥

ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं ।
भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पणट्ठमायाणं ॥१२८॥

वे मुनि धन्य हैं, और उन मुनियोंको मेरा मन, वचन, कायसे निरन्तर नमस्कार हो जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रसे शुद्ध हैं, भावसहित हैं तथा जिनकी माया नष्ट हो गई है ॥ १२८ ॥

इड्ढिमतुलं विउव्विय किंणरकिंपुरिसअमरखयरेहिं ।
तेहिं वि ण जाइ मोहं जिणभावणभाविओ धीरो ॥१२९॥

जिनभावनासे सहित धीर वीर मुनि, किन्नर किम्पुरुष, कल्पवासी देव और विद्याधरोंके द्वारा विक्रियासे दिखाई हुई अतुल्य ऋद्धिको देखकर उनके द्वारा भी मोह को प्राप्त नहीं होता ॥ १२९ ॥

किं पुण गच्छइ मोहं णरसुरसुक्खाण अप्पसाराणं ।
जाणंतो पस्संतो चिंतंतो मोक्ख मुणिधवलो ॥१३०॥

जो श्रेष्ठ मुनि, मोक्षको जानता है, देखता है, और उसका विचार करता है वह क्या अल्प-सार वाले मनुष्यों और देवोंके सुखोंमें मोहको प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं ॥ १३० ॥

उत्थरइ जा ण जरओ रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं ।
इंदियबलं न वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥१३१॥

हे मुनि ! जब तक बुढ़ापा आक्रमण नहीं करता है, रोग रूपी अग्नि जब तक शरीर रूपी कुटीको नहीं जलाती है, और इन्द्रियोंका बल जबतक नहीं घटता है तबतक तूं आत्मा का हित कर ले ॥ १३१ ॥

छज्जीव सडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहिं ।
कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्त ॥१३२॥

हे उत्कृष्ट धैर्यके धारक मुनिवर ! तू मन, वचन, काय रूप भोगोंसे निरन्तर छह कायके जीवोंकी दया कर, छह अनायतनोंका परित्याग कर और अपूर्व आत्मभावना का चिन्तन कर ॥ १३२ ॥

दसविहपाणाहारो अणंतभवसायरे नमंतेण ।
भोयसुहकारणट्ठं कदो य तिविहेण सयलजीवाणं ॥१३३॥

हे मुनि ! अनन्त संसार सागरमें घूमते हुए तूने भोग सुखके निमित्त मन, वचन, कायसे समस्त जीवोंके दस प्रकारके प्राणोंका आहार किया है ॥ १३३ ॥

पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि ।
उप्पज्जंत मरंतो पत्तोसि णिरंतरं दुक्खं ॥१३४॥

हे महायशके धारक मुनि ! प्राणिवधके कारण तूने चौरासी लाख योनियोंमें उत्पन्न होते और मरते हुए निरन्तर दुःख प्राप्त किया है ॥ १३४ ॥

जीवाणमभयदाणं देहि मुणी पाणिभूयसत्ताणं ।
कल्लाणसुहणिमित्तं परंपरा तिविहसुद्धीए ॥१३५॥

हे मुनि ! तू परम्परासे तीर्थंकरोंके कल्याण सम्बन्धी सुखके लिये मन, वचन, कायकी शुद्धतासे प्राणीभूत अथवा सत्त्व नाम धारक समस्त जीवोंको अभय दान दे ॥ १३५ ॥

असियसय किरियवाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी ।
सत्तट्ठी अण्णाणी वेणइया होंति बत्तीसा ॥१३६॥

क्रियावादियोंके एकसौ अस्सी, अक्रियावादियोंके चौरासी, अज्ञानियोंके सड़सठ और वैनयिकोंके बत्तीस भेद हैं । इस प्रकार सब मिलाकर मिथ्यादृष्टियोंके ३६३ भेद हैं ॥ १३६ ॥

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठुवि आयण्णिऊण जिणधम्मं ।
गुडसुद्धं पि पिवंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥१३७॥

अभव्य जीव जिन धर्मको अच्छी तरह सुनकर भी अपने स्वभावको—मिथ्यात्वको नहीं छोड़ता है सो ठीक ही है क्योंकि गुडमिश्रित दूधको पीते हुए भी सांप विषरहित नहीं होते हैं ॥ १३७ ॥

मिच्छत्तछण्णदिट्ठी दुद्धीए दुम्मएहिं दोसेहिं ।
धम्मं जिणपण्णत्तं अभव्वजीवो ण रोचेदि ॥१३८॥

जिसकी दृष्टि मिथ्यात्वसे आच्छादित है ऐसा अभव्य जीव मिथ्यामत रूपी दोषोंसे उत्पन्न हुई दुर्बुद्धिके कारण जिनोपदिष्ट धर्मका श्रद्धान नहीं करता है ॥ १३८ ॥

कुच्छियधम्मम्मि रओ कुच्छियपासण्डिभत्तिसंजुत्तो ।
कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगइभायणं होई ॥१३९॥

कुत्सित धर्ममें लीन, कुत्सित पाखण्डियों की भक्तिसे सहित और कुत्सित तप करने वाला मनुष्य कुत्सित गतिका पात्र होता है—नरकादि खोटी गतियोंमें उत्पन्न होता है ॥ १३९ ॥

इय मिच्छत्तावासे कुणयकुसत्थेहिं मोहिओ जीवो ।
भमिओ अणाइकालं संसारे धीर चिंतेहि ॥१४०॥

इस प्रकार मिथ्यात्वके निवासभूत संसारसे मिथ्यानय और मिथ्याशास्त्रोंसे मोहित हुआ जीव अनादि कालसे भ्रमण कर रहा है । हे धीर मुनि ! तू ऐसा विचार कर ॥ १४० ॥

पासंडि तिण्णिसया तिसट्ठिभेया उमग्ग मुत्तूण ।
रुंभहि मणु जिणमग्गे असप्पलावेण किं वहुणा ॥१४१॥

हे जीव ! तू तीन सौ त्रेसठ भेद रूप पाखण्डियोंके उन्मार्गको छोड़ कर जिनमार्गमें अपना मन रोक—स्थिर कर, निष्प्रयोजन बहुत कथन करनेसे क्या लाभ ? ॥ १४१ ॥

जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ ।
सवओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥१४२॥

इस लोकमें जीव रहित शरीर शव कहलाता है और सम्यग्दर्शनसे रहित जीव चल शव—चलता फिरता मुर्दा कहलाता है। इनमेंसे शव इस लोकमें अपूज्य है और चल शव—मिथ्यादृष्टि परलोकमें अपूज्य है ॥ १४२ ॥

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं ।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावय दुविहधम्माणं ॥१४३॥

जिस प्रकार समस्त ताराओंमें चन्द्रमा और समस्त मृग समूहमें सिंह प्रधान है उसी प्रकार मुनि और श्रावक सम्बन्धी दोनों प्रकारके धर्मोंमें सम्यग्दर्शन प्रधान है ॥ १४३ ॥

जह फणिराओ सोहइ फणमणिमाणिक्ककिरणविप्फुरिओ ।
तह विमलदंसणधरो जिणभत्ती पवयणे जीवो ॥१४४॥

जिस प्रकार नागेन्द्र, फणाके मणियोंके मध्यमें स्थित माणिक्यकी किरणोंसे देदीप्यमान होता हुआ शोभित होता है उसी प्रकार निर्मल सम्यक्त्वका धारक जिन भक्त जीव जिनागममें सुशोभित होता है ॥ १४४ ॥

जह तारायणसहियं ससहरविंवं खमंडले विमले ।
भाविय तववयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ॥१४५॥

जिस प्रकार निर्मल आकाश मण्डलमें ताराओंके समूहसे सहित चन्द्रमाका बिंब शोभित होता है उसी प्रकार तप और व्रत से निर्मल तथा सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध जिनलिङ्ग शोभित होता है ॥ १४५ ॥

इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं धरेह भावेण ।
सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढममोक्खस्स ॥१४६॥

इस प्रकार गुण और दोषको जानकर हे भव्य जीवो ! तुम उस सम्यग्दर्शन रूपी रत्नको शुद्ध भावसे धारण करो जो कि गुणरूपी रत्नोंमें श्रेष्ठ है तथा मोक्षकी पहली सीढ़ी है ॥ १४६ ॥

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य ।
दंसणणाणुवओगो णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं ॥१४७॥

यह आत्मा कर्ता है, भोक्ता है, अमूर्तिक है, शरीर-प्रमाण है, अनादि निधन है, और दर्शनोपयोग तथा ज्ञानोपयोग रूप है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है ॥ १४७ ॥

दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं ।
णिट्ठवइ भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो ॥१४८॥

भलीभाँति जिनभावनासे युक्त भव्य जीव दर्शनावरण, ज्ञानावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्मको नष्ट करता है ॥ १४८ ॥

बलसोक्खणाणदंसण चत्तारि वि पायडा गुणा होंति ।
णट्ठे घाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि ॥१४९॥

घातिचतुष्कके नष्ट होने पर अनन्त बल, अनन्त सुख, अनन्तज्ञान और अनंतदर्शन ये चारों गुण प्रकट होते हैं तथा यह जीव लोकालोकको प्रकाशित करने लगता है ॥ १४९ ॥

णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हू चउमुहो बुद्धो ।
अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं ॥१५०॥

यह आत्मा कर्मोंसे विमुक्त होने पर स्पष्ट ही परमात्मा हो जाता है और ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख तथा बुद्ध कहा जाने लगता है ।

भावार्थ—कर्म विमुक्त आत्मा केवलज्ञानसे युक्त होता है अतः ज्ञानी कहलाता है, कल्याणरूप अतः शिव कहलाता है, परम पदमें स्थित है अतः परमेष्ठी कहलाता है, समस्त पदार्थोंको जानता है अतः सर्वज्ञ कहलाता है, ज्ञानके द्वारा समस्त लोक-अलोकमें व्यापक है अतः विष्णु कहलाता है, चारों ओरसे सबको देखता है अतः चतुर्मुख कहलाता है और ज्ञाता है अतः बुद्ध कहलाता है ॥ १५० ॥

इय घाइकम्ममुक्को अट्ठारहदोसवज्जिओ सयलो ।
तिहुवणभवणपदीवो देऊ मम उत्तमं बोहिं ॥१५१॥

इस प्रकार घातिया कर्मोंसे मुक्त, अठारह दोषोंसे वर्जित, परमौदारिक शरीरसे सहित और तीन लोक रूपी घरको प्रकाशित करनेके लिये दीपक स्वरूप अरहन्त परमेष्ठी मुझे उत्तम रत्नत्रय प्रदान करें ॥ १५१ ॥

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिरायेण ।
ते जम्मवेलिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५२॥

जो भव्य जीव, उत्कृष्ट भक्ति तथा अनुरागसे भी जिनेन्द्र देवके चरण कमलोंको नमस्कार करते हैं वे उत्कृष्ट भावरूपी शस्त्रके द्वारा जन्मरूपी वेलकी जड़को खोद देते हैं ॥ १५२ ॥

जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए ।
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहिं सप्पुरिसो ॥१५३॥

जिस प्रकार कमलिनीका पत्र स्वभावसे ही जलसे लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार सत्पुरुष—सम्यग्दृष्टि जीव, भावके द्वारा कषाय और विषयोंसे लिप्त नहीं होता है ।। १५३ ।।

तेवि य भणामिहं जे सयलकलासीलसंजयगुणेहिं ।
वहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो ।।१५४।।

हम उन्हींको मुनि कहते हैं जो समस्त कला, शील, और संयम आदि गुणोंसे युक्त हैं। जो अनेक दोषोंका स्थान तथा अत्यन्त मलिन चित्त है वह मुनि तो दूर रहा श्रावकके भी समान नहीं है ।। १५४ ।।

ते धीरवीरपुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण ।
दुज्जयपवलबलुद्धरकसायभडणिज्जिया जेहिं ।।१५५।।

वे पुरुष धीर वीर हैं जिन्होंने चमकती हुई क्षमा और इन्द्रियदमन रूपी तलवारके द्वारा कठिनतासे जीतने योग्य, अतिशय बलवान् तथा बलसे उत्कट कषायरूपी योद्धाओंको जीत लिया है ।। १५५ ।।

धण्णा ते भयवंता दंसणणाणग्गपवरहत्थेहिं ।
विसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं ।।१५६।।

वे भगवान् धन्य हैं जिन्होंने दर्शन ज्ञानरूपी मुख्य तथा श्रेष्ठ हाथोंसे विषयरूपी समुद्रमें पड़े हुए भव्य जीवोंको पार कर दिया है ।। १५६ ।।

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुम्मि आरूढा ।
विसयविसपुप्फफुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं ।।१५७।।

मोहरूपी महावृक्ष पर चढ़ी हुई तथा विषय रूपी विषपुष्पोंसे फूली हुई सम्पूर्ण मोहरूपी लताको मुनिजन ज्ञान रूपी शस्त्रके द्वारा छेदते हैं ।। १५७ ।।

मोहमयगारवेहिं य मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता ।
ते सव्वदुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण ।।१५८।।

जो मुनि मोह, मद और गौरवसे रहित तथा करुणाभावसे सहित हैं वे चारित्ररूपी तलवारके द्वारा समस्त पाप रूपी स्तम्भको काटते हैं ।। १५८ ।।

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो ।
तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइंदुव्व पवणपहे ।।१५९।।

जिस प्रकार आकाशमें ताराओंकी पंक्तिसे घिरा हुआ पूर्णिमाका चन्द्र सुशोभित होता है उसी प्रकार जिनमतरूपी आकाशमें गुणसमुदायरूपी मणियोंकी मालाओंसे युक्त मुनीन्द्ररूपी चन्द्रमा सुशोभित होता है ।। १५९ ।।

चक्कहररामकेसवसुरवरजिणगणहराइ सोक्खाइं ।
चारणमुणिरिद्धीओ विसुद्धभावा णरा पत्ता ॥१६०॥

विशुद्धभावोंके धारक पुरुष, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, देवेन्द्र, जिनेन्द्र और गणधरादिके सुखोंको तथा चारणमुनियोंकी ऋद्धियोंको प्राप्त होते हैं ॥ १६० ॥

सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमं परमविमलमतुलं ।
पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा ॥१६१॥

जिनेन्द्रदेवकी भावनासे विशोभित जीव उस उत्तम मोक्षसुखको पाते हैं जो कि आनन्दरूप है, जरामरणके चिह्नोंसे रहित है, अनुपम है, उत्तम है, अत्यन्त निर्मल है, और तुलना रहित है ॥१६१॥

ते मे तिहुवणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा ।
दिंतु वरभावसुद्धिं दंसणणाणे चरित्ते य ॥१६२॥

वे सिद्ध परमेष्ठी जो कि त्रिभुवनके द्वारा पूज्य, शुद्ध, निरञ्जन, तथा नित्य हैं मेरे दर्शन ज्ञान और चारित्रमें उत्कृष्ट भावोंकी शुद्धता प्रदान करें ॥ १६२ ॥

किं जंपिएण बहुणा अत्थो धम्मो य काममोक्खो य ।
अण्णेवि य वावारा भावम्मि परिट्ठिया सव्वे ॥१६३॥

बहुत कहनेसे क्या ? धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ तथा अन्य जितने भी व्यापार हैं वे सब भावोंमें ही अवस्थित हैं—भावोंके ही आधीन हैं ॥ १६३ ॥

इय भावपाहुडमिणं सव्वं बुद्धेहि देसियं सम्मं ।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं ॥१६४॥

इस प्रकार सर्वज्ञदेवके द्वारा उपदिष्ट इस भावपाहुड ग्रन्थको जो भलीभांति पढ़ता है सुनता है और उसका चिन्तन करता है वह अविचलस्थान—मोक्षधामको प्राप्त करता है ॥ १६४ ॥

इस प्रकार भावपाहुड पूर्ण हुआ ।

मोक्षप्राभृतम्

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण ।
चइऊण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥ १ ॥

जिन्होंने कर्मोंका क्षय करके तथा पर द्रव्यका त्यागकर ज्ञानमय आत्माको प्राप्त कर लिया है उन श्री सिद्धपरमेष्ठीरूप देवके लिये बार-बार नमस्कार हो ॥ १ ॥

णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं ।
वीच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं ।। २ ।।

अनन्त उत्कृष्टज्ञान तथा अनन्त उत्कृष्टदर्शनसे युक्त, निर्मलस्वरूप उन सर्वज्ञ वीतरागदेवको नमस्कार कर मैं परमयोगियोंके लिये परमपदरूप परमात्माका कथन करूँगा ।। २ ।।

जं जाणिऊण जोई [1]जोअत्थो जोइऊण अणवरयं ।
अव्वावाहमणंतं अणोवमं हवइ णिव्वाणं ।। ३ ।।

जिस आत्मतत्त्वको जानकर तथा जिसका निरन्तर साक्षात् कर योगी ध्यानस्थमुनि, बाधा-रहित, अनन्त, अनुपम निर्वाणको प्राप्त होता है ।। ३ ।।

तिपयारो सो अप्पा [2]परभिंतरबाहिरो दु हेऊणं ।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवायेण चयहि बहिरप्पा ।। ४ ।।

वह आत्मा परमात्मा, अभ्यन्तरात्मा और बहिरात्माके भेदसे तीन प्रकारका है। इनमेंसे बहिरात्माको छोड़कर अन्तरात्माके उपायसे परमात्माका ध्यान किया जाता है। हे योगिन् ! तुम बहिरात्माका त्याग करो ।। ४ ।।

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ।। ५ ।।

इन्द्रियाँ बहिरात्मा हैं, आत्माका संकल्प अन्तरात्मा है और कर्मरूपी कलङ्कसे रहित आत्मा परमात्मा कहलाता है। परमात्माकी देवसंज्ञा है ।। ५ ।।

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा ।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ।। ६ ।।

वह परमात्मा मलरहित है, कला अर्थात् शरीरसे रहित है, अतीन्द्रिय है, केवल है, विशुद्धात्मा है, परमेष्ठी है, परमजिन है, शिवशङ्कर है, शाश्वत है, और सिद्ध है ।। ६ ।।

[3]आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण ।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ।। ७ ।।

---

१. यं अर्थ तत्त्वं जोइऊण दृष्ट्वा इति संस्कृतटीका, पुस्तकान्तरे जोयत्थो योगस्थोध्यानस्थ इत्यर्थः स्वीकृतः ।

२. 'परमंतरबाहिरो दु देहीणं' इति पाठो जयचन्द्रवचनिकायां स्वीकृतः ।

३. इस गाथाके पूर्व समस्त प्रतियोंमें तदुक्तं—पाठ है परन्तु उसके आगे कोई गाथा उद्धृत नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि 'आरुहवि—आदि गाथा ही उद्धृतगाथा है क्योंकि यह गाथा नं० ४ की गाथार्थसे गत हो जाती है। संस्कृत टीकाकारने इसे मूल ग्रन्थ समझकर इसकी टीका कर दी है। इसलिये यह मूलमें शामिल हो गई। यह गाथा कहाँकी है इसकी खोज आवश्यक है।

मन, वचन, काय इन तीनों योगोंसे बहिरात्माको छोड़कर तथा अन्तरात्मा पर आरूढ होकर अर्थात् भेदज्ञानके द्वारा अन्तरात्माका अवलम्बन लेकर परमात्माका ध्यान किया जाता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने उपदेश दिया है ॥ ७ ॥

बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ ॥ ८ ॥

बाह्यपदार्थोंमें जिसका मन स्फुरित हो रहा है तथा इन्द्रियरूप द्वारके द्वारा जो निजस्वरूपसे च्युत हो गया है ऐसा मूढदृष्टि—बहिरात्मा पुरुष अपने शरीरको ही आत्मा समझता है ॥ ८ ॥

णियदेहसरिस्सं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण ।
अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ [1]परमभावेण ॥ ९ ॥

ज्ञानी मनुष्य निज शरीरके समान परशरीरको देखकर भेदज्ञानपूर्वक विचार करता है कि देखो इसने अचेतन शरीरको भी प्रयत्नपूर्वक ग्रहण कर रक्खा है ॥ ९ ॥

सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं ।
सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्ढए मोहो ॥ १० ॥

[2]स्वपराध्यवसायके कारण अर्थात् परको आत्मा समझनेके कारण यह जीव अज्ञानवश शरीरादिको आत्मा जानता है । इस विपरीत अभिनिवेशके कारण ही मनुष्योंका पुत्र तथा स्त्री आदि विषयोंमें मोह बढ़ता है ॥ १० ॥

मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो ।
मोहोदएण पुणरवि अंगं सं मण्णए मणुओ ॥ ११ ॥

यह मनुष्य मोहके उदयसे मिथ्याज्ञान में रत है तथा मिथ्याभावसे वासित होता हुआ फिर भी शरीरको आत्मा मान रहा है ॥ ११ ॥

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो निरारम्भो ।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥ १२ ॥

जो शरीरमें निरपेक्ष है, द्वन्द्वरहित है, ममतारहित है, आरम्भरहित है, और आत्मस्वभावमें सुरत है—संलग्न है, वह योगी निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

[3]परदव्वरओ वज्झइ विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं ।
एसो जिणउवएसो समासओ बंधमोक्खस्स ॥ १३ ॥

---

१. मिच्छभावेण इति पुस्तकान्तरपाठः । २. 'स्वम् इति परस्मिन् अध्यवसायः स्वपराध्यवसाय.' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'यह आत्मा है' इस प्रकार परपदार्थोंमें जो निश्चय होता है वह स्वपराध्यवसाय कहलाता है । ३. रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥ १५० ॥ समयप्राभृत

परद्रव्योंमें रत पुरुष नानाकर्मोंसे बन्धको प्राप्त होता है और परद्रव्योंसे विरत पुरुष नाना कर्मोंसे मुक्त होता है, बन्ध और मोक्षके विषयमें जिनेन्द्र भगवान्‌का यह संक्षेपसे उपदेश है ।। १३ ।।

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ।। १४ ।।

स्वद्रव्यमें रत साधु नियमसे सम्यग्दृष्टि होता है और सम्यक्त्वरूप परिणत हुआ साधु दुष्ट आठ कर्मोंको नष्ट करता है ।। १४ ।।

जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू ।
मिच्छत्तपरिणदो उण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं ।। १५ ।।

जो साधु परद्रव्यमें रत है वह मिथ्यादृष्टि होता है और मिथ्यात्वरूप परिणत हुआ साधु दुष्ट आठ कर्मोंसे बँधता है ।। १५ ।।

परदव्वादो दुगई सद्दव्वादो हु सुग्गई हवइ ।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइ इयरम्मि ।। १६ ।।

परद्रव्यसे दुर्गति और स्वद्रव्यसे निश्चित ही सुगति होती है ऐसा जानकर स्वद्रव्यमें रति करो और परद्रव्यमें विरति करो ।। १६ ।।

आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि ।
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरसीहिं ।। १७ ।।

आत्मस्वभावसे अतिरिक्त जो सचित्त-अचित्त अथवा मिश्र द्रव्य है वह सब परद्रव्य है, ऐसा यथार्थरूपसे समस्त पदार्थोंको जानने वाले सर्वज्ञदेवने कहा है ।। १७ ।।

दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं ।
सुद्धं जिणेहि कहियं अप्पाणं हवदि सद्दव्वं ।। १८ ।।

आठ दुष्ट कर्मोंसे रहित, अनुपम, ज्ञानशरीरी, नित्य और शुद्ध जो आत्मद्रव्य है उसे जिनेन्द्र भगवान्‌ने स्वद्रव्य कहा है ।। १८ ।।

जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा दु सुचरित्ता ।
ते जिणवराण मग्गं अणुलग्गा लहदि णिव्वाणं ।। १९ ।।

जो स्वद्रव्यका ध्यान करते हैं, परद्रव्यसे पराङ्मुख रहते हैं और सम्यक्चारित्रका निरतिचार पालन करते हुए जिनेन्द्रदेवके मार्गमें लगे रहते हैं वे निर्वाणको प्राप्त होते हैं ।। १९ ।।

जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं ।
जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं ।। २० ।।

जो योगी ध्यानमें जिनेन्द्रदेवके मतानुसार शुद्ध आत्माका ध्यान करता है वह स्वर्गलोकको

प्राप्त होता है सो ठीक ही है क्योंकि जिस ध्यानसे निर्वाण प्राप्त हो सकता है उससे क्या स्वर्गलोक प्राप्त नहीं हो सकता ? ॥ २० ॥

जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं ।
सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाहु भुवणयले ॥ २१ ॥

जो मनुष्य बहुत भारी भार लेकर एक दिनमें सौ योजन जाता है वह क्या पृथिवीतलपर आधा कोश भी नहीं जा सकता ? अवश्य जा सकता है ॥ २१ ॥

जो कोडिए ण जिप्पइ सुहडो संगाम एहिं सव्वेहिं ।
सो किं जिप्पइ इक्किं णरेण संगामए सुहडो ॥ २२ ॥

जो सुभट संग्राममें करोड़ोंकी संख्यामें विद्यमान सब योद्धाओंके द्वारा मिलकर भी नहीं जीता जाता वह क्या एक योद्धाके द्वारा जीता जा सकता है ? अर्थात् नहीं जीता जा सकता ॥ २२ ॥

सग्गं तवेण सव्वो वि पावए तहि वि झाणजोएण ।
जो पावइ सो पावइ परलोए सासयं सोक्खं ॥ २३ ॥

तपसे स्वर्ग सभी प्राप्त करते हैं, पर जो ध्यानसे स्वर्ग प्राप्त करता है वह परभवमें शाश्वत—अविनाशी मोक्षसुखको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य ।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥ २४ ॥

जिस प्रकार अत्यन्त शुभ सामग्रीसे—शोधन सामग्रीसे अथवा सुहागासे स्वर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार काल आदि लब्धियोंसे आत्मा परमात्मा हो जाता है ॥ २४ ॥

[1]वरवयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ निरइ इयरेहिं ।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥ २५ ॥

व्रत और तपके द्वारा स्वर्गका प्राप्त होना अच्छा है परन्तु अव्रत और अतपके द्वारा नरकके दुःख प्राप्त होना अच्छा नहीं है । छाया ओर घाममें बैठकर इष्टस्थानकी प्रतीक्षा करनेवालोंमें बड़ा भेद है ॥ २५ ॥

जो इच्छइ निस्सरिदुं संसारमहण्णवस्स रुंदस्स ।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ॥ २६ ॥

जो मुनि अत्यन्त विस्तृत संसार महासागरसे निकलनेकी इच्छा करता है वह कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाले शुद्ध आत्माका ध्यान करता है ॥ २६ ॥

---

१. वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम् ।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतो महान् ॥ इष्टोपदेशे पूज्यपादस्य

सव्वे कसाय मोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं ।
लोयववहारविरदो अप्पा झाएइ झाणत्थो ॥ २७ ॥

ध्यानस्थमुनि समस्त कषायों और गारव मद राग द्वेष तथा व्यामोहको छोड़कर लोक-व्यवहारसे विरत होता हुआ आत्माका ध्यान करता है ॥ २७ ॥

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण ।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥ २८ ॥

मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्यको मन वचन कायरूप त्रिविधयोगोंसे छोड़कर जो योगी मौन व्रतसे ध्यानस्थ होता है वही आत्माको द्योतित करता है—प्रकाशित करता है—आत्माका साक्षात्कार करता है ॥ २८ ॥

[1]जं मया दिस्सदे रूवं तण्ण जाणादि सव्वहा ।
जाणगं दिस्सदे णंतं तम्हा जंपेमि केण हं ॥ २९ ॥

जो रूप मेरे द्वारा देखा जाता है वह बिलकुल नहीं जानता और जो जानता है वह दिखाई नहीं देता, तब मैं किसके साथ बात करूँ ॥ २९ ॥

सव्वासवणिरोहेण कम्मं खवदि संचिदं ।
जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं ॥ ३० ॥

सब प्रकारके आस्रवोंका निरोध होनेसे संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा ध्याननिमग्नयोगी केवलज्ञानको उत्पन्न करता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ३० ॥

[2]जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥ ३१ ॥

जो मुनि व्यवहारमें सोता है वह आत्मकार्यमें जागता है और जो व्यवहारमें जागता है वह आत्मकार्यमें सोता है ॥ ३१ ॥

इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं ।
झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेण ॥ ३२ ॥

ऐसा जानकर योगी सब तरहसे सब प्रकारके व्यवहारको छोड़ता है और जिनेन्द्रदेवने जैसा कहा है वैसा परमात्माका ध्यान करता है ॥ ३२ ॥

---

१. यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥ समाधिशतके पूज्यपादस्य

२. व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥ ७८ ॥ समाधिशतके पूज्यपादस्य

पंच महव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह ॥ ३३ ॥

हे मुनि ! तू पाँच महाव्रतोंसे युक्त होकर पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियोंमें प्रवृत्ति करता हुआ रत्नत्रयसे युक्त हो सदा ध्यान और अध्ययन कर ॥ ३३ ॥

रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो ।
आराहणाविहाणं तस्स फलं केवलं णाणं ॥ ३४ ॥

रत्नत्रयकी आराधना करनेवाले जीवको आराधक मानना चाहिये, आराधना करना सो आराधना है और उसका फल केवलज्ञान है ॥ ३४ ॥

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य ।
सो जिणवरेहिं भणियो जाण तुमं केवलं णाणं ॥ ३५ ॥

जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहा हुआ वह आत्मा सिद्ध है, शुद्ध है, सर्वज्ञ है, सर्वलोकदर्शी है, तथा केवलज्ञानरूप है, ऐसा तुम जानो ॥ ३५ ॥

रयणत्तयं पि जोई आराहइ जो हु जिणवरमएण ।
सो झायदि अप्पाणं परिहरदि परं ण संदेहो ॥ ३६ ॥

जो योगी—ध्यानस्थ मुनि जिनेन्द्रदेवके मतानुसार रत्नत्रय की आराधना करता है वह आत्माका ध्यान करता है और पर पदार्थका त्याग करता है इसमें संदेह नहीं है ॥ ३६ ॥

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं ।
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ॥ ३७ ॥

जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता है—सामान्य अवलोकन करता है वह दर्शन है, अथवा जो प्रतीति करता है वह दर्शन है—सम्यग्दर्शन है और जो पुण्य पापका परित्याग है वह चारित्र है ॥ ३७ ॥

तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं ।
चारित्तं परिहारो पजंपियं जिणवरिंदेहिं ॥ ३८ ॥

तत्त्वरुचि होना सम्यग्दर्शन है, तत्त्वज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है, और पाप क्रियाका परिहार-त्याग होना सम्यक्चारित्र है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ॥ ३८ ॥

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं ।
दंसणविहीणपुरिसो न लहइ तं इच्छियं लाहं ॥ ३९ ॥

सम्यग्दर्शनसे शुद्ध मनुष्य, शुद्ध कहलाता है। सम्यग्दर्शनसे शुद्ध मनुष्य निर्वाणको प्राप्त होता है। जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे रहित है वह इष्ट लाभ को नहीं पाता ॥ ३९ ॥

इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए जं तु ।
तं सम्मत्तं भणियं समणाणं सावयाणं पि ॥४०॥

यह श्रेष्ठतर उपदेश स्पष्ट ही जन्म मरणको हरने वाला है, इसे जो मानता है—इसको श्रद्धा करता है वह सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व मुनियोंके, श्रावकोंके तथा चतुर्गतिके जीवोंके होता है ॥ ४० ॥

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएणं ।
तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरिसीहिं ॥ ४१ ॥

जो मुनि जिनेन्द्रदेवके मतसे जीव और अजीवके विभागको जानता है, उसे सर्वदर्शी भगवान्ने सम्यग्ज्ञान कहा है ॥ ४१ ॥

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं ।
तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिएण ॥४२॥

यह सब जानकर योगी जो पुण्य और पाप दोनोंका परिहार करता है उसे कर्मरहित सर्वज्ञदेवने निर्विकल्पक चारित्र कहा है ॥ ४२ ॥

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए ।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ॥४३॥

रत्नत्रयको धारण करने वाला जो मुनि शुद्ध आत्माका ध्यान करता हुआ अपनी शक्तिसे तप करता है वह परम पदको प्राप्त होता है ॥ ४३ ॥

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरिओ ।
दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ॥४४॥

तीनके द्वारा तीनको धारण कर निरन्तर तीनसे रहित, तीनसे सहित और दो दोषोंसे मुक्त रहने वाला योगी परमात्माका ध्यान करता है।

विशेषार्थ—तीनके द्वारा अर्थात् मन वचन कायके द्वारा तीनको अर्थात् वर्षाकाल योग, शीत कालयोग और उष्णकाल योगको धारण कर निरन्तर अर्थात् दीक्षा कालसे लेकर सदा तीनसे रहित अर्थात् माया मिथ्यात्व और निदान इन शल्योंसे रहित, तीन से सहित अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे सहित और दो दोषोंसे विप्रमुक्त अर्थात् राग द्वेष इन दो दोषोंसे सर्वथा रहित योगी—ध्यानस्थ मुनि परमात्मा अर्थात् सिद्धके समान उत्कृष्ट निज आत्मस्वरूपका ध्यान करता है ॥ ४४ ॥

मयमायकोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो ।
निम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥४५॥

जो जीव मद माया और क्रोधसे रहित है, लोभसे वर्जित है तथा निर्मल स्वभावसे युक्त है वह उत्तम सुखको प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

विसयकसाएहि जुदो रुद्दो परमप्पभावरहियमणो।
सो न लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो ॥ ४६ ॥

जो विषय और कषायोंसे युक्त है, जिसका मन परमात्माकी भावनासे रहित है तथा जो जिनमुद्रासे पराङ्मुख—भ्रष्ट हो चुका है ऐसा रुद्रपदधारी जीव सिद्धिसुखको प्राप्त नहीं होता ॥ ४६ ॥

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ नियमेण जिणवरुद्दिट्ठा।
सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे ॥ ४७ ॥

जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कही हुई जिनमुद्रा सिद्धिसुख रूप है। जिन जीवोंको यह जिन-मुद्रा स्वप्नमें भी नहीं रुचती वे संसाररूप वनमें रहते हैं अर्थात् कभी मुक्तिको प्राप्त नहीं होते ॥ ४७ ॥

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण।
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥ ४८ ॥

परमात्माका ध्यान करने वाला योगी पापदायक लोभसे मुक्त हो जाता है और नवीन कर्म-को नहीं ग्रहण करता ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है ॥ ४८ ॥

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥ ४९ ॥

योगी—ध्यानस्थ मुनि दृढ चारित्रका धारक तथा दृढ सम्यक्त्वसे वासित हृदय होकर आत्माका ध्यान करता हुआ परम पदको प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

[1]चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥ ५० ॥

चारित्र आत्माका धर्म है अर्थात् चारित्र आत्माके धर्मको कहते हैं, धर्म आत्माका समभाव है अर्थात् आत्माके समभावको धर्म कहते हैं और समभाव राग द्वेषसे रहित जीव का अभिन्न परि-णाम है अर्थात् राग द्वेषसे रहित जीवके अभिन्न परिणामको समभाव कहते हैं ॥ ५० ॥

जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो।
तह रागादिविजुत्तो जीवो हवदि हु अणण्णविहो ॥ ५१ ॥

---

१. चारित्तं खलु धम्मो जो सो सम्मो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥ प्रवचनसारे

जिस प्रकार स्फटिकमणि स्वभावसे विशुद्ध अर्थात् निर्मल है परन्तु परद्रव्यसे संयुक्त होकर वह अन्य रूप हो जाता है उसी प्रकार यह जीव भी स्वभावसे विशुद्ध है अर्थात् वीतराग है परन्तु रागादि विशिष्ट कारणोंसे युक्त होनेपर स्पष्ट ही अन्यरूप हो जाता है।

(यहां गाथाका एक भाव यह भी समझमें आता है कि जिस प्रकार स्फटिकमणि स्वभावसे विशुद्ध है परन्तु परपदार्थके संयोगसे वह अन्य रूप हो जाता है उसी प्रकार यह जीव स्वभावसे रागादि वियुक्त है अर्थात् रागद्वेष आदि विकार भावोंसे रहित है परन्तु परद्रव्य अर्थात् कर्म नोकर्म पर पदार्थोंके संयोगसे अन्यान्य प्रकार हो जाता है। इस अर्थमें वियुक्त शब्दके प्रचलित अर्थको बदलकर 'विशेषेण युक्तो वियुक्तः अर्थात् सहितः' ऐसी जो क्लिष्ट कल्पना करना पड़ता है उससे बचाव हो जाता है ॥५१॥

देवगुरुम्मि य भत्तो साहम्मि य संजदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होइ जोई सो ॥५२॥

जो देव और गुरुका भक्त है, सहधर्मी भाई तथा संयमी जीवोंका अनुरागी है तथा सम्यक्त्व को ऊपर उठाकर धारण करता है अर्थात् अत्यन्त आदरसे धारण करता है ऐसा योगी ही ध्यानमें तत्पर होता है ॥ ५२ ॥

[1]उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहि।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ अंतो मुहुत्तेण ॥ ५३ ॥

अज्ञानी जीव उग्र तपश्चरणके द्वारा जिस कर्मको अनेक भवोंमें खिपा पाता है उसे तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित रहनेवाला ज्ञानी जीव अन्तर्मुहूर्तमें खिपा देता है ॥ ५३ ॥

ज्ञानी और अज्ञानी का लक्षण

सुभजोगेण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू।
सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥५४॥

जो साधु शुभ पदार्थके संयोगसे रागवश परद्रव्यमें प्रीतिभाव करता है वह अज्ञानी है और इससे जो विपरीत है वह ज्ञानी है ॥ ५४ ॥

आसवहेदू य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवदि।
सो तेण दु अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो ॥५५॥

जिसप्रकार इष्टविषयका राग कर्मास्रवका हेतु है उसीप्रकार मोक्ष विषयकराग भी कर्मास्रवका हेतु है और इसी रागभावके कारण यह जीव अज्ञानी तथा आत्मस्वभावसे विपरीत होता है ॥ ५५ ॥

जो कम्मजादमइओ सहावणाणस्स खंडदूसयरो।
सो तेण दु अण्णाणी जिणसासणदूसगो भणिदो ॥५६॥

---

१. 'कोटिजनम तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिनमांहि गुप्ति तैं सहज टरैं ते ॥' छहढाला

कर्मजन्य मतिज्ञानको धारण करनेवाला जो जीव स्वभावज्ञान—केवलज्ञानका खण्डन करता है, अथवा उसमें दोप लगाता है वह अपने इस कार्यसे अज्ञानी तथा जिनधर्मका दूषक कहा गया है ॥ ५६ ॥

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहि संजुत्तं ।
अण्णेसु भावरहियं लिंगग्गहणेण किं सोक्खं ॥ ५७ ॥

चारित्ररहित ज्ञान सुख करनेवाला नहीं है, सम्यग्दर्शनसे रहित तपोंसे युक्त कर्म सुख करनेवाला नहीं है, तथा छह आवश्यक आदि अन्य कार्योंमें भी भावरहित प्रवृत्ति सुख करनेवाली नहीं है फिर मात्र लिङ्गग्रहण करनेसे क्या सुख मिल जायगा ? ॥ ५७ ॥

[इस गाथाका एक भाव यह भी हो सकता है—हे साधो ! तेरा ज्ञान यथार्थचारित्रसे रहित है, तेरा तपश्चरण सम्यग्दर्शनसे रहित है तथा तेरा अन्य कार्य भी भावसे रहित है अतः तुझे लिङ्ग-ग्रहणसे—मात्र वेष धारण करनेसे क्या सुख प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं ॥ ५७ ॥

अच्चेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी ।
सो पुण णाणी भणिओ जो मण्णइ चेयणे चेदा ॥ ५८ ॥

जो अचेतनको भी चेतयिता मानता है वह अज्ञानी है और जो चेतनको चेतयिता मानता है वह ज्ञानी है ॥ ५८ ॥

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो ।
तम्हा णाणतवेण संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ॥ ५९ ॥

जो ज्ञान तपसे रहित है वह व्यर्थ है और जो तप ज्ञानसे रहित है वह भी व्यर्थ है, इसलिये ज्ञान और तपसे युक्त पुरुष ही निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ ५९ ॥

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं ।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥ ६० ॥

जो ध्रुवसिद्धि हैं अर्थात् जिन्हें अवश्य ही मोक्ष प्राप्त होना है तथा जो चार ज्ञानोंसे सहित हैं ऐसे तीर्थंकर भगवान् भी तपश्चरण करते हैं ऐसा जानकर ज्ञानयुक्त पुरुषको भी तपश्चरण करना चाहिये ॥ ६० ॥

बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतर लिंगरहिदपरियम्मो ।
सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ॥ ६१ ॥

जो साधु बाह्यलिङ्गसे तो सहित है परन्तु जिसके शरीरका संस्कार (प्रवर्तन) आभ्यन्तर-लिङ्गसे रहित है वह आत्मचारित्रसे भ्रष्ट है तथा मोक्षमार्गका नाश करनेवाला है ॥ ६१ ॥

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि ।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ॥ ६२ ॥

सुखसे वासित ज्ञान दुःख उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है इसलिये योगीको यथाशक्ति आत्माको दुःखसे वासित करना चाहिये ॥ ६२ ॥

आहारासणणिद्दाजयं च काऊण जिणवरमएण।
झायव्वो णियअप्पा णाऊण गुरुपसाएण ॥ ६३ ॥

आहार, आसन और निद्राको जीतकर जिनेन्द्र देवके मतानुसार गुरुओंके प्रसादसे निज आत्माको जानना चाहिये और उसीका ध्यान करना चाहिये ॥ ६३ ॥

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा।
सो झायव्वो णिच्चं णाऊण गुरुपसाएण ॥ ६४ ॥

आत्मा चारित्रसे सहित है, आत्मा दर्शन और ज्ञानसे युक्त है इस प्रकार गुरुके प्रसादसे जानकर उसका नित्य ही ध्यान करना चाहिये ॥ ६४ ॥

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं।
भावियसहावपुरिसो विसएसु विरच्चए दुक्खं ॥ ६५ ॥

प्रथम तो आत्मा दुःखसे जाना जाता है, फिर जानकर उसकी भावना दुःखसे होती है, फिर आत्मस्वभावकी भावना करनेवाला पुरुष दुःखसे विषयोंमें विरक्त होता है ॥ ६५ ॥

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥ ६६ ॥

जब तक मनुष्य विषयोंमें प्रवृत्ति करता है तब तक आत्मा नहीं जाना जाता अर्थात् आत्मज्ञान नहीं होता। विषयोंसे विरक्तचित्त योगी ही आत्माको जानता है ॥ ६६ ॥

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्ठा।
हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा ॥ ६७ ॥

आत्माको जानकर भी कितने ही लोग सद्भावकी भावनासे—निजात्मभावनासे भ्रष्ट होकर विषयोंमें मोहित होते हुए चतुर्गति रूप संसारमें भटकते रहते हैं ॥ ६७ ॥

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥ ६८ ॥

और जो विषयोंसे विरक्त होते हुए आत्माको जानकर उसकी भावनासे सहित रहते हैं वे तपरूपी गुण अथवा तप और मूलगुणोंसे युक्त होकर चतुरङ्ग—चतुर्गति रूप संसारको छोड़ देते हैं इसमें संदेह नहीं है ॥ ६८ ॥

परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो ॥ ६९ ॥

जिसकी अज्ञानवश परद्रव्यमें परमाणु प्रमाण भी रति है वह मूढ है, अज्ञानी है और आत्म-स्वभावसे विपरीत है ॥ ६९ ॥

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं ।
होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥ ७० ॥

जो आत्माका ध्यान करते हैं, जिनके सम्यग्दर्शनकी शुद्धि विद्यमान है, जो दृढ चारित्रके धारक हैं, तथा जिनका चित्त विषयोंसे विरक्त है ऐसे पुरुषोंको निश्चित ही निर्वाण प्राप्त होता है ॥ ७० ॥

जेण रागे परे दव्वे संसारस्स हि कारणं ।
तेणावि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पे सभावणा ॥ ७१ ॥

जिस स्त्री आदि पर्यायसे पर द्रव्यमें राग होने पर वह राग संसारका कारण होता है योगी उसी पर्यायसे निरन्तर आत्मामें आत्मभावना करता है ॥ ७१ ॥

भावार्थ—साधारण मनुष्य स्त्रीको देखकर उसमें राग करता है जिससे उसके संसारकी वृद्धि होती है परन्तु योगी—ज्ञानी मनुष्य स्त्रीको देखकर विचार करता है कि जिस प्रकार मेरा आत्मा अनन्त केवलज्ञानमय है उसी प्रकार इस स्त्रीका आत्मा भी अनन्त केवलज्ञानमय है। यह स्त्री और मैं—दोनों ही केवलज्ञानमय हैं। इस कारण यह स्त्री भी मेरी आत्मा है मुझसे पृथक् इसमें है ही क्या? जिससे स्नेह करूं।

(पं० जयचन्द्रजीने अपनी वचनिकामें 'जेण रागो परे दव्वे' ऐसा पाठ स्वीकृत कर यह अर्थ प्रकट किया है—चूंकि परद्रव्य सम्बन्धी राग संसारका कारण है इसलिये योगीको निरन्तर आत्मा-में ही आत्मभावना करनी चाहिए। परन्तु इस अर्थमें 'तेणावि—तेनापि' यहाँ तेन शब्दके साथ दिये हुए अपि शब्दकी निरर्थकता सिद्ध होती है।)

णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य ।
सत्तूणं चेव बंधूणं चारित्तं समभावदो ॥ ७२ ॥

निन्दा और प्रशंसा, दुःख और सुख तथा शत्रु और मित्रमें समभावसे ही चारित्र होता है ॥ ७२ ॥

यह ध्यानके योग्य समय नहीं है इस मान्यताका निराकरण करते हैं—

चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्ठा ।
केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥ ७३ ॥

जो चारित्रको आवरण करनेवाले चारित्रमोहनीय कर्मसे युक्त हैं, व्रत और समितिसे रहित हैं तथा शुद्धभावसे च्युत हैं ऐसे कितने ही मनुष्य कहते हैं कि यह ध्यानरूप योगका समय नहीं है अर्थात् इस समय ध्यान नहीं हो सकता ॥ ७३ ॥

सम्मत्तणाणरहिओ अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को ।
संसारसुहे सुरदो ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥ ७४ ॥

जो सम्यक्त्व तथा सम्यग्ज्ञानसे रहित है, जिसे कभी मोक्ष होता नहीं है, तथा जो संसार संबन्धी सुखमें अत्यन्त रत है ऐसा अभव्य जीव ही कहता है कि यह ध्यानका काल नहीं है अर्थात् इस समय ध्यान नहीं हो सकता ॥ ७४ ॥

पंचसु महव्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥७५॥

जो पांच महाव्रतों, पांच समितियों तथा तीन गुप्तियोंके विषयमें मूढ है और अज्ञानी है वही कहता है कि यह ध्यानका काल नहीं है अर्थात् इस समय ध्यान नहीं हो सकता ॥ ७५ ॥

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥

भरतक्षेत्रमें, दुःषम नामक पञ्चम कालमें मुनिके धर्म्यध्यान होता है तथा वह धर्म्यध्यान आत्मस्वभावमें स्थित साधुके होता है ऐसा जो नहीं मानता वह अज्ञानी है ॥ ७६ ॥

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं ।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥७७॥

आज भी रत्नत्रयसे शुद्धताको प्राप्त हुए मनुष्य आत्माका ध्यानकर इन्द्रपद तथा लौकान्तिक देवोंके पदको प्राप्त होते हैं और वहाँसे च्युत होकर निर्वाणको प्राप्त होते हैं ॥ ७७ ॥

जे पावमोहियमई लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं ।
पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥७८॥

जो पापसे मोहितबुद्धि मनुष्य, जिनेन्द्रदेवका लिङ्ग धारणकर पाप करते हैं वे पापी मोक्ष-मार्गसे पतित हैं ॥ ७८ ॥

जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाहीय जायणासीला ।
आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥७९॥

जो [1]पाँच प्रकारके वस्त्रोंमें आसक्त हैं, परिग्रहको ग्रहण करने वाले हैं, याचना करते हैं तथा अधःकर्म—निन्द्य कर्ममें रत हैं वे मुनि मोक्षमार्गसे पतित हैं ॥ ७९ ॥

णिग्गंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया ।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥८०॥

जो परिग्रहसे रहित हैं, पुत्र-मित्र आदिके मोहसे मुक्त हैं, बाईस परीषहोंको सहन करनेवाले हैं, कषायोंको जीतनेवाले हैं तथा पाप और आरम्भसे दूर हैं वे मोक्षमार्गमें अङ्गीकृत हैं ॥८०॥

---

१. १ अण्डज—कोशा आदि, २ बुण्डज—सूतीवस्त्र, ३ वल्कज—सन तथा जूट आदिसे निर्मित, ४ चर्मज—चमड़ेसे उत्पन्न और ५ रोमज—ऊनी वस्त्र, ये पाँच प्रकारके वस्त्र हैं।

उड्ढड्ढमज्झलोए केई मज्झं ण अहयमेगागी।
इयभावणाए जोई पावंति हु सासयं सोक्खं ॥८१॥

ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोकमें कोई जीव मेरे नहीं हैं, मैं अकेला ही हूँ इस प्रकारकी भावनासे योगी शाश्वत—अविनाशी सुखको प्राप्त होते हैं ॥ ८१ ॥

देवगुरूणं भत्ता णिव्वेयपरंपरा विचिंतंता।
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥८२॥

जो देव और गुरुके भक्त हैं, वैराग्यकी परम्पराका विचार करते रहते हैं, ध्यानमें तत्पर रहते हैं, तथा शोभन—निर्दोष आचारका पालन करते हैं वे मोक्षमार्गमें अंगीकृत हैं ॥ ८२ ॥

णिच्छयणायस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
सो होदि हु सुचरित्तो जोइ सो लहइ णिव्वाणं ॥८३॥

निश्चय नयका ऐसा अभिप्राय है कि जो आत्मा, आत्माके लिये, आत्मामें तन्मयीभावको प्राप्त है वही सुचारित्र—उत्तम चारित्र है। इस चारित्रको धारण करनेवाला योगी निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ ८३ ॥

पुरिसायारो अप्पा जोई वरणाणदंसणसमग्गो।
जो झायदि सो जोई पावहरो भवदि णिद्दंदो ॥८४॥

पुरुषाकार अर्थात् मनुष्य शरीरमें स्थित जो आत्मा, योगी बनकर उत्कृष्ट ज्ञान और दर्शनसे पूर्ण होता हुआ आत्माका ध्यान करता है, वह पापोंको हरनेवाला तथा निर्द्वन्द्व होता है ॥ ८४ ॥

एवं जिणेहिं कहियं सवणाणं सावयाण पुण पुणसु।
संसारविणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं ॥८५॥

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा बार-बार कहे हुए वचन मुनियों तथा श्रावकोंके संसारको नष्ट करनेवाले तथा सिद्धिको प्राप्त करानेवाले उत्कृष्ट कारण स्वरूप हैं ॥ ८५ ॥

गहिऊण य सम्मत्तं सुनिम्मलं सुरगिरीव निक्कंपं।
तं झाणे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खयट्ठाए ॥८६॥

हे श्रावक! (हे सम्यग्दृष्टि उपासक अथवा हे मुने!) अत्यन्त निर्मल और मेरुपर्वतके समान निश्चल सम्यग्दर्शनको ग्रहणकर दुःखोंका क्षय करनेके लिये ध्यानमें उसीका ध्यान किया जाता है ॥ ८६ ॥

सम्मत्तं जो झायदि सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ॥८७॥

जो जीव सम्यक्त्वका ध्यान करता है वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है और सम्यक्त्वरूप परिणत हुआ जीव दुष्ट आठ कर्मोंका क्षय करता है ॥ ८७ ॥

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा नरवरा गए काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥ ८८ ॥

अधिक कहनेसे क्या ? अतीत कालमें जितने श्रेष्ठपुरुष सिद्ध हुए हैं और भविष्यत् कालमें जितने सिद्ध होंगे उस सबको तुम सम्यग्दर्शनका ही माहात्म्य जानो ॥ ८८ ॥

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिवणे वि ण मइलियं जेहिं ॥ ८९ ॥

वे ही मनुष्य धन्य हैं, वे ही कृतकृत्य हैं, वे ही शूरवीर हैं और वे ही पण्डित हैं जिन्होंने सिद्धिको प्राप्त करानेवाले सम्यक्त्वको स्वप्नमें भी मलिन नहीं किया है ॥ ८९ ॥

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे ।
णिग्गंथे पावयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ ९० ॥

हिंसा रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव, निर्ग्रन्थगुरु और अर्हत्प्रवचन—समीचीन शास्त्रमें जो श्रद्धा है वह सम्यग्दर्शन है ॥ ९० ॥

जहजायरूवरूवं सुसंजयं सव्वसंगपरिचत्तं ।
लिंगं ण परोवेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं ॥ ९१ ॥

दिगम्बर मुनिका लिङ्ग (वेष) यथाजात—तत्काल उत्पन्न हुए बालकके समान होता है, उत्तम संयमसे सहित होता है, सब परिग्रहसे रहित होता है और परकी अपेक्षासे रहित होता है—ऐसा जो मानता है उसके सम्यक्त्व होता है ॥ ९१ ॥

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च वंदए जो दु ।
लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु ॥ ९२ ॥

जो लज्जा, भय और गारवसे कुत्सित देव, कुत्सित धर्म और कुत्सित लिङ्गकी वन्दना करता है वह मिथ्यादृष्टि होता है ॥ ९२ ॥

सपरावेक्खं लिंगं राई देवं असंजयं वंदे ।
माणइ मिच्छादिट्ठी ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो ॥ ९३ ॥

परकी अपेक्षासे सहित लिङ्गको, तथा रागी और असंयत देवको वन्दना करता हूँ ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव मानता है शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव नहीं ॥ ९३ ॥

सम्माइट्ठी सावय धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि ।
विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ ९४ ॥

सम्यग्दृष्टि श्रावक अथवा मुनि, जिनदेवके द्वारा उपदेशित धर्मको करता है। जो विपरीत धर्मको करता है उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये ॥ ९४ ॥

मिच्छादिट्ठि जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ।
जम्मजरमरणपउरे दुक्खसहस्साउले जीवो ॥९५॥

जो मिथ्यादृष्टि जीव है वह जन्म जरा और मरणसे युक्त तथा हजारों दुःखोंसे परिपूर्ण संसारमें दुखी होता हुआ भ्रमण करता है ॥ ९५ ॥

सम्मगुण मिच्छदोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु।
जं ते मणस्स रुच्चइ किं वहुणा पलविएणं तु ॥९६॥

सम्यक्त्व गुण है और मिथ्यात्व दोप है ऐसा मनसे विचार करके तेरे मनके लिये जो रुचे वह कर, अधिक कहनेसे क्या लाभ है ? ॥ ९६ ॥

वाहिरसंगविमुक्को ण वि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो।
किं तस्स ठाणमउणं ण वि जाणदि अप्पसमभावं ॥९७॥

जो साधु वाह्य परिग्रह से तो छूट गया है परन्तु मिथ्याभावसे नहीं छूटा है उसका कायोत्सर्गके लिये खड़ा होना अथवा मौनसे रहना क्या है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है क्योंकि वह आत्माके समभावको तो जानता ही नहीं है ॥ ९७ ॥

मूलगुणं छित्तूण य वाहिरकम्मं करेइ जो साहू।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराधगो णिच्चं ॥९८॥

जो साधु मूलगुणोंको छेद कर वाह्य कर्म करता है वह सिद्धिके सुखको नहीं पाता। वह तो निरन्तर जिनलिङ्गकी विराधना करनेवाला माना गया है ॥ ९८ ॥

किं काहिदि वहिकम्मं किं काहिदि वहुविहं च खवणं च।
किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥९९॥

जो साधु आत्मस्वभावसे विपरीत है मात्र वाह्य कर्म उसका क्या कर देगा ? नाना प्रकारका उपवासादि क्या कर देगा ? और आतापनयोग क्या कर देगा ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ ९९ ॥

जदि पढदि वहुसुदाणि य जदि काहिदि वहुविहे य चारित्ते।
तं वालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥१००॥

यदि ऐसा मुनि अनेक शास्त्रोंको पढ़ता है, तथा नाना प्रकारके चारित्रोंका पालन करता है तो उसकी वह सव प्रवृत्ति आत्मस्वरूपसे विपरीत होनेके कारण बालश्रुत और बाल चारित्र कहलाती है ॥ १०० ॥

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य सो होदि।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥१०१॥

जो साधु वैराग्यमें तत्पर होता है वह परद्रव्यसे पराङ्मुख रहता है, इसी प्रकार जो साधु संसार सुखसे विरक्त रहता है वह स्वकीय शुद्ध सुखमें अनुरक्त होता है ॥ १०१ ॥

गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साहू ।
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥१०२॥

गुणोंके समूहसे जिसका शरीर शोभित है, जो हेय और उपादेय पदार्थोंका निश्चय कर चुका है तथा ध्यान और अध्ययनमें जो अच्छी तरह लीन रहता है वही साधु उत्तम स्थानको प्राप्त होता है ॥ १०२ ॥

णवियेहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहि अणवरयं ।
थुव्वंतेहि थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥१०३॥

दूसरोंके द्वारा नमस्कृत इन्द्रादिदेव जिसे नमस्कार करते हैं, दूसरोंके द्वारा ध्यान किये गये तीर्थंकर देव जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं और दूसरोंके द्वारा स्तूयमान—स्तुत किये गये तीर्थंकर जिनेन्द्रभी जिसकी स्तुति करते हैं शरीरके मध्यमें स्थित उस अनिर्वचनीय आत्मतत्त्वको तुम जानो ॥ १०३ ॥

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी ।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०४॥

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठी हैं। ये पांचों परमेष्ठी भी जिस कारण आत्मामें स्थित हैं उस कारण आत्मा ही मेरे लिये शरण हो ॥ १०४ ॥

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव ।
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०५॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये चारों आत्मामें स्थित हैं इसलिये आत्मा ही मेरे लिये शरण है ॥ १०५ ॥

एवं जिणपण्णत्तं मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए ।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥१०६॥

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा इस मोक्ष प्राभृतको जो उत्तम भक्तिसे पढ़ता है, सुनता है और इसकी भावना करता है वह शाश्वत सुख—अविनाशी मोक्ष-सुखको प्राप्त होता है ॥ १०६ ॥

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य विरचित मोक्षप्राभृत समाप्त हुआ ।

लिङ्गप्राभृतम्

काऊण णमोकारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं ।
वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं समासेण ॥ १ ॥

मैं अरहन्तों तथा सिद्धोंको नमस्कार कर संक्षेपसे मुनिलिङ्गका वर्णन करनेवाले प्राभृत शास्त्रको कहूँगा ॥ १ ॥

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥ २ ॥

धर्मसे लिङ्ग होता है लिङ्गमात्र धारण करनेसे धर्मकी प्राप्ति नहीं होती इसलिये भावको धर्म जानो भावरहित लिङ्गसे तुझे क्या कार्य है ?

भावार्थ—लिङ्ग अर्थात् शरीरका वेष धर्मसे होता है, जिसने भावके बिना मात्र शरीरका वेष धारण किया है उसके धर्मकी प्राप्ति नहीं होती, इसलिये भाव ही धर्म है भावके बिना मात्र वेष कार्यकारी नहीं है ॥ २ ॥

जो पावमोहिदमदी लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
उवहसइ लिंगि भावं लिंगं णसेदि लिंगीणं ॥ ३ ॥

जिसकी बुद्धि पापसे मोहित हो रही है ऐसा जो पुरुष, जिनेन्द्रदेवके लिङ्गको—नग्न दिगम्बर वेषको ग्रहण कर लिङ्गीके यथार्थ भावकी हँसी करता है वह सच्चे वेषधारियोंके वेषको नष्ट करता है अर्थात् लजाता है ॥ ३ ॥

णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिङ्गरूवेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ ४ ॥

जो मुनिलिङ्ग धारण कर नाचता है, गाता है, अथवा बाजा बजाता है वह पापसे मोहित-बुद्धि पशु है मुनि नहीं ॥ ४ ॥

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ ५ ॥

जो बहुत प्रकारके प्रयत्नोंसे परिग्रहको इकट्ठा करता है, उसकी रक्षा करता है, तथा आर्त्त-ध्यान करता है वह पापसे मोहितबुद्धि पशु है मुनि नहीं है ॥ ५ ॥

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥ ६ ॥

जो पुरुष मुनिलिङ्गका धारक होकर भी निरन्तर अत्यधिक गर्वसे युक्त होता हुआ कलह करता है, वादविवाद करता है, अथवा जुवा खेलता है वह चूंकि मुनिलिङ्गसे ऐसे कुकृत्य करता है अतः पापी है और नरक जाता है ॥ ६ ॥

पावोपहदिभावो सेवदि य अबंभु लिंगिरूवेण।
सो पावमोहिदमदी हिंडदि संसारकांतारे ॥ ७ ॥

पापसे जिसका यथार्थभाव नष्ट हो गया है ऐसा जो पुरुष मुनिलिङ्ग धारणकर अब्रह्मका

सेवन करता है वह पापसे मोहितवुद्धि होता हुआ संसाररूपी अटवीमें भ्रमण करता रहता है ॥ ७ ॥

दंसणणाणचरित्ते उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण ।
अट्टं झायदि झाणं अणंतसंसारिओ होदी ॥ ८ ॥

जो मुनिलिङ्ग धारण कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको उपवान अर्थात् आश्रय नहीं वनाता है तथा आर्तध्यान करता है वह अनन्तसंसारी होता है ॥ ८ ॥

जो जोडदि विव्वाहं किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च ।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥ ९ ॥

जो मुनिका लिङ्ग रखकर भी दूसरोंके विवाह सम्वन्ध जोड़ता है, तथा खेती और व्यापारके द्वारा जीवोंका घात करता है वह चूंकि मुनि लिङ्गके द्वारा इस कुकृत्यको करता है अतः पापी है और नरक जाता है ॥ ९ ॥

चोराण मिच्छवाण य जुद्ध विवादं च तिव्वकम्मेहि ।
जंतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवासं ॥ १० ॥

जो लिङ्गी चोरों तथा झूठ बोलने वालोंके युद्ध और विवादको कराता है तथा तीव्रकर्म—खरकर्म अर्थात् अधिक हिंसावाले कार्योंसे और यन्त्र अर्थात् चौपड़ आदिसे क्रीड़ा करता है वह नरकवासको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

दंसणणाणचरित्ते तवसंजमणियमणिच्चकम्मम्मि ।
पीडयदि वट्टमाणो पावदि लिंगी णरयवासं ॥ ११ ॥

जो मुनिवेषी दर्शन ज्ञान चारित्र तथा तप संयम नियम और नित्य कार्योंमें प्रवृत्त होता हुआ दूसरे जीवोंको पीडा पहुंचाता है वह नरकवासको प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं ।
माई लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १२ ॥

जो पुरुष मुनिवेषी होकर भी कांदर्पी आदि कुत्सित भावनाओंको करता है तथा भोजनमें रससम्वन्धी लोलुपताको धारण करता है वह मायाचारी, मुनिलिंगको नष्ट करनेवाला पशु है, मुनि नहीं ॥ १२ ॥

धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुंजदे पिंडं ।
अवरुपरूई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो ॥ १३ ॥

जो आहारके निमित्त दौड़ता है, कलहकर भोजनको ग्रहण करता है और उसके निमित्त दूसरेसे ईर्ष्या करता है वह जिनमार्गी श्रमण नहीं है ॥ १३ ॥

भावार्थ—इस कालमें कितने ही लोग जिनलिङ्गसे भ्रष्ट होकर अर्धपालक हुए फिर उनमें

श्वेताम्बरादिक संघ हुए। उन्होंने शिथिलाचारका पोषणकर लिङ्गकी प्रवृत्ति विकृत कर दी। उन्हींका यहाँ निषेध समझना चाहिये। उनमें अब भी कोई ऐसे साधू हैं जो आहारके निमित्त शीघ्र दौड़ते हैं—ईर्यासमितिको भूल जाते हैं और गृहस्थके घरसे लाकर दो-चार संमिलित बैठकर खाते हैं और बँटवारामें सरस-नीरस आने पर परस्पर कलह करते हैं तथा इस निमित्तको लेकर दूसरोंसे ईर्ष्या भी करते हैं सो ऐसे साधु जिनमार्गी नहीं हैं॥ १३॥

गिण्हदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं।
जिणलिंगं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो॥ १४॥

जो मनुष्य जिनलिङ्गको धारण करता हुआ भी बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करता है तथा परोक्षमें दूषण लगा-लगा कर दूसरेकी निन्दा करता है वह चोरके समान है, साधु नहीं है॥ १४॥

उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण।
इरियावह धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो॥ १५॥

जो मुनिलिङ्ग धारणकर चलते समय कभी उछलता है, कभी दौड़ता है, और कभी पृथिवी को खोदता है वह पशु है मुनि नहीं॥ १५॥

बंधे णिरओ संतो सस्सं खंडेदि तह य वसुहं पि।
छिंददि तरुगण बहुसो तिरिक्खजोणी ण सो समणो॥ १६॥

जो किसीके बन्धमें लीन होकर अर्थात् उसका आज्ञाकारी बनकर धान कूटता है, पृथिवी खोदता है और वृक्षोंके समूहको छेदता है वह पशु है मुनि नहीं।

भावार्थ—यह कथन अन्य साधुओं की अपेक्षा है। जो साधु वनमें रहकर स्वयं धान तोड़ते हैं, उसे कूटते हैं, अपने आश्रममें वृक्ष लगाने आदिके उद्देश्यसे पृथिवी खोदते हैं तथा वृक्ष लता आदिको छेदते हैं वे पशुके तुल्य हैं, उन्हें हिंसा पापकी चिन्ता नहीं, ऐसा मनुष्य साधु नहीं कहला सकता॥ १६॥

रागो (रागं) करेदि णिच्चं महिला वग्गं परं च दूसेदि।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो॥ १७॥

जो स्त्रियोंके समूहके प्रति निरन्तर राग करता है, दूसरे निर्दोष प्राणियोंको दोष लगाता है तथा स्वयं दर्शनज्ञानसे रहित है वह पशु है साधु नहीं॥ १७॥

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो।
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो सवणो॥ १८॥

जो दीक्षासे रहित गृहस्थ शिष्यपर अधिक स्नेह रखता है तथा आचार और विनयसे रहित है वह तिर्यञ्च है साधु नहीं॥ १८॥

भावार्थ—कोई-कोई साधु अपने गृहस्थ शिष्यपर अधिक स्नेह रखते हैं, अपने पदका ध्यान

न कर उसके घर आते-जाते हैं, सुख-दुःखमें आत्मीयता दिखाते हैं तथा स्वयं मुनिके योग्य आचार तथा पूज्य पुरुषोंकी विनयसे रहित होते हैं, आचार्य कहते हैं कि वे मुनि नहीं हैं किन्तु पशु हैं ॥१८॥

एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं ।
बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्ठो ण सो सवणो ॥ १९ ॥

हे मुनिवर ! ऐसी खोटी प्रवृत्तियोंसे सहित मुनि, यद्यपि संयमी जनोंके मध्यमें रहता है और बहुत ज्ञानवान् भी है तो भी वह भावसे विनष्ट है अर्थात् भावलिङ्गसे रहित है—यथार्थ मुनि नहीं है ॥ १९ ॥

दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देदि वोपट्ठो ।
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥ २० ॥

जो स्त्रियोंमें विश्वास उपजाकर उन्हें दर्शनज्ञान और चारित्र देता है वह पार्श्वस्थ मुनिसे भी निकृष्ट है तथा भावलिङ्गसे शून्य है, वह परमार्थमुनि नहीं है ॥

भावार्थ—जो मुनि अपने पदका ध्यान न कर स्त्रियोंसे संपर्क बढ़ाता है, उन्हें पासमें बैठाकर पढ़ाता है, तथा दर्शन या चारित्र आदिका उपदेश देता है वह पार्श्वस्थ नामक भ्रष्ट मुनिसे भी अधिक निकृष्ट है। जब मुनि एकान्तमें आर्यिकाओंसे भी बात नहीं करते। सात हाथकी दूरी पर दो या दो से अधिक संख्यामें बैठी हुई आर्यिकाओंसे ही धर्म-चर्चा करते हैं, उनके प्रश्नोंका समाधान करते हैं तब गृहस्थस्त्रियोंको एकदम पासमें बैठाकर उनसे सम्पर्क बढ़ाना मुनिपदके अनुकूल नहीं है। ऐसा मुनि भावलिङ्गसे शून्य है अर्थात् द्रव्यलिङ्गी है, परमार्थमुनि नहीं है ॥ २० ॥

पुंश्चलिघरि जसु भुंजइ णिच्चं संथुणदि पोसए पिंडं ।
पावदि बालसहावं भावविणट्ठो ण सो सवणो ॥ २१ ॥

जो साधु व्यभिचारिणी स्त्रीके घर आहार लेता है, निरन्तर उसकी स्तुति करता है, तथा पिण्डको पालता है अर्थात् उसकी स्तुतिकर निरन्तर आहार प्राप्त करता है वह बालस्वभावको प्राप्त होता है तथा भावसे विनष्ट है, वह मुनि नहीं है ॥ २१ ॥

इय लिंगपाहुडमिणं सव्वं बुद्धेहि देसियं धम्मं ।
पालेहि कट्ठसहियं सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥ २२ ॥

इस प्रकार यह लिङ्गप्राभृत नामका समस्त शास्त्र ज्ञानी—गणधरादिके द्वारा उपदिष्ट है। इसे जानकर जो कष्टसहित धर्मका पालन करता है अर्थात् कष्ट भोगकर भी धर्मकी रक्षा करता है वह उत्तम स्थानको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य विरचित लिंगप्राभृत समाप्त हुआ।

शीलप्राभृतम्

वीरं विसालणयणं रत्तुप्पलकोमलस्समप्पायं।
तिविहेण पणमिऊणं सीलगुणाणं णिसामेह ॥ १ ॥

(बाह्यमें) जिनके विशाल नेत्र हैं तथा जिनके पाँव लाल कमलके समान कोमल हैं (अन्तरङ्ग पक्षमें) जो केवलज्ञानरूपी विशाल नेत्रोंके धारक हैं, तथा जिनका कोमल एवं राग-द्वेषसे रहित वाणीका समूह रागको दूर करने वाला है उन महावीर भगवान्को मन वचन कायसे प्रणामकर शीलके गुणोंको अथवा शील और गुणोंका कथन करता हूँ ॥ १ ॥

सीलस्स य णाणस्स य णत्थि विरोहो वुधेहि णिद्दिट्ठो।
णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति ॥ २ ॥

विद्वानोंने शीलका और ज्ञानका विरोध नहीं कहा है किन्तु यह कहा है कि शीलके बिना विषय ज्ञानको नष्ट कर देते हैं ॥

भावार्थ—शील और ज्ञानका विरोध नहीं है किन्तु सहभाव है। जहाँ शील होता है वहाँ ज्ञान अवश्य होता है और शील न हो तो पञ्चेन्द्रियोंके विषय ज्ञानको नष्ट कर देते हैं ॥ २ ॥

दुक्खेणज्जहि णाणं णाणं णाऊण भावणा दुक्खं।
भावियमई व जीवो विसएसु विरज्जए दुक्खं ॥ ३ ॥

प्रथम तो ज्ञान ही दुःखसे जाना जाता है अथवा दुःखसे प्राप्त किया जाता है, फिर यदि कोई ज्ञानको जानता भी है तो उसकी भावना दुःखसे होती है, फिर कोई जीव उसकी भावना भी करता है तो विषयोंमें विरक्त दुःखसे होता है ॥ ३ ॥

ताव ण जाणदि णाणं विसयबलो जाव वट्टए जीवो।
विसए विरत्तमेत्तो ण खवेइ पुराइयं कम्मं ॥ ४ ॥

जबतक जीव विषयोंके वशीभूत रहता है तबतक ज्ञानको नहीं जानता और ज्ञानके बिना मात्र विषयोंसे विरक्त हुआ जीव पुराने बँधे हुए कर्मोंका क्षय नहीं करता ॥ ४ ॥

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं ॥ ५ ॥

यदि कोई साधु चारित्ररहित ज्ञानका, सम्यग्दर्शनरहित लिङ्गका और संयमरहित तपका आचरण करता है तो उसका यह सब आचरण निरर्थक है ॥

भावार्थ—हेय और उपादेयका ज्ञान तो हुआ परन्तु तदनुरूप चारित्र न हुआ तो वह ज्ञान किस कामका? मुनिलिंग तो धारण किया परन्तु सम्यग्दर्शन न हुआ तो वह मुनिलिंग किस कामका?

इसी तरह तप तो किया परन्तु जीवरक्षा अथवा इन्द्रिय वशीकरणरूप संयम नहीं हुआ तो वह तप किस कामका ? इस सबका उद्देश्य कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त करना है परन्तु उसकी सिद्धि न होने से सबका निरर्थकपना दिखाया है ॥ ५ ॥

णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्गहणं च दंसणविसुद्धं ।
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ ॥ ६ ॥

चारित्रसे शुद्ध ज्ञान, दर्शनसे शुद्ध लिंगधारण और संयमसे सहित तप थोड़ा भी हो तो वह महाफलसे युक्त होता है ॥ ६ ॥

णाणं णाऊण णरा केई विसयाइभावसंसत्ता ।
हिंडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा ॥ ७ ॥

जो कोई मनुष्य ज्ञानको जानकर भी विषयादिकरूप भावमें आसक्त रहते हैं वे विषयोंमें मोहित रहनेवाले मूर्ख प्राणी चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण करते रहते हैं ॥ ७ ॥

जे पुण विसयविरत्ता णाणं णाऊण भावणासहिदा ।
छिंदंति चादुरगदिं तवगुणजुत्ता न संदेहो ॥ ८ ॥

किन्तु जो ज्ञानको जानकर उसकी भावना करते हैं अर्थात् पदार्थके स्वरूपको जानकर उसका चिन्तन करते हैं और विषयोंसे विरक्त होते हुए तपश्चरण तथा मूलगुण और उत्तरगुणोंसे युक्त होते हैं वे चतुर्गतिरूप संसारको छेदते हैं—नष्ट करते हैं इसमें संदेह नहीं है ॥ ८ ॥

जह कंचणं विसुद्धं धम्मइयं खंडियलवणलेवेण ।
तह जीवो वि विसुद्धं णाण विसलिलेण विमलेण ॥ ९ ॥

जिस प्रकार सुहागा और नमकके लेपसे युक्त कर फूंका हुआ सुवर्ण विशुद्ध हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानरूपी निर्मल जलसे यह जीव भी विशुद्ध हो जाता है ॥ ९ ॥

णाणस्स णत्थि दोसो का पुरिसाणो वि मंदबुद्धीणो ।
जे णाण गव्विदा होऊणं विसएसु रज्जंति ॥ १० ॥

जो पुरुष ज्ञानके गर्वसे युक्त हो विषयोंमें राग करते हैं वह उनके ज्ञानका अपराध नहीं है किन्तु मन्दबुद्धिसे युक्त उन कापुरुषोंका ही अपराध है ॥ १० ॥

णाणेण दंसणेण य तवेण चरिएण सम्मसहिएण ।
होहदि परिणिव्वाणं जीवाणं चरितसुद्धाणं ॥ ११ ॥

निर्दोष चारित्र पालन करनेवाले जीवोंको सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन सम्यक्तप और सम्यक्-चारित्रसे निर्वाण प्राप्त होता है ।

भावार्थ—जैनागममें सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र इन चार आराधनाओंसे मोक्षप्राप्ति होती है ऐसा कहा गया है परन्तु ये चारों आराधनाएँ उन्हीं जीवोंके मोक्षका

कारण होती हैं जो चारित्रसे शुद्ध होते हैं अर्थात् प्रमाद छोड़कर निर्दोष चारित्रका पालन करते हैं ॥ ११ ॥

सीलं रक्खंताणं दंसणसुद्धाण दिढचरित्ताणं ।
अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥ १२ ॥

जो शीलकी रक्षा करते हैं, जो शुद्धदर्शन—निर्मल सम्यक्त्वसे सहित हैं, जिनका चारित्र दृढ है और जो विषयोंसे विरक्तचित्त रहते हैं उन्हें निश्चित ही निर्वाण की प्राप्ति होती है ॥ १२ ॥

विसएसु मोहिदाणं कहियं मग्गं पि इट्ठदरिसीणं ।
उम्मग्गं दरिसीणं णाणं पि णिरत्थयं तेसिं ॥ १३ ॥

जो मनुष्य इष्ट—लक्ष्यको देख रहे हैं वे वर्तमानमें भले ही विषयोंमें मोहित हों तो भी उन्हें मार्ग प्राप्त हो गया है ऐसा कहा गया है परन्तु जो उन्मार्गको देख रहे हैं अर्थात् लक्ष्यसे भ्रष्ट हैं उनका ज्ञान भी निरर्थक है ।

भावार्थ—एक मनुष्य दर्शनमोहनीयका अभाव होनेसे श्रद्धा गुणके प्रकट हो जाने पर लक्ष्य—प्राप्तव्य मार्गको देख रहा है परन्तु चारित्र मोहका तीव्र उदय होनेसे उस मार्ग पर चलनेके लिये असमर्थ है तो भी कहा जाता है कि उसे मार्ग मिल गया परन्तु दूसरा मनुष्य अनेक शास्त्रोंका ज्ञाता होने पर भी मिथ्यात्वके उदयके कारण गन्तव्य मार्गको न देख उन्मार्गको ही देख रहा है तो ऐसे मनुष्यका वह भारी ज्ञान भी निरर्थक होता है ॥ १३ ॥

कुमयकुसुदपसंसा जाणंता वहुविहाइं सत्थाणि ।
सीलवदणाणरहिदा ण हु ते आराधया होंति ॥ १४ ॥

जो नाना प्रकारके शास्त्रोंको जानते हुए मिथ्यामत और मिथ्याश्रुतकी प्रशंसा करते हैं तथा शील व्रत और ज्ञानसे रहित हैं वे स्पष्ट ही आराधक नहीं हैं ॥ १४ ॥

रूवसिरिगव्विदाणं जुव्वणलावण्णकंतिकलिदाणं ।
सीलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्मं ॥ १५ ॥

जो मनुष्य सौन्दर्यरूपी लक्ष्मीसे गर्वीले, तथा यौवन, लावण्य और कान्तिसे युक्त हैं किन्तु शीलगुणसे रहित हैं उनका मनुष्य जन्म निरर्थक है ॥ १५ ॥

वायरणछंदवइसेसियववहारणायसत्थेसु ।
वेदेऊण सुदेसु य तेसु सुयं उत्तमं सीलं ॥ १६ ॥

कितने ही लोग व्याकरण, छन्द, वैशेषिक, व्यवहार—गणित तथा न्यायशास्त्रोंको जानकर श्रुतके धारी वन जाते हैं परन्तु उनका श्रुत तभी श्रुत है जबकि उनमें उत्तम शील भी हो ॥ १६ ॥

सीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लहा होंति ।
सुदपारयपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए ॥ १७ ॥

जो भव्यपुरुष शीलगुणसे सुशोभित हैं उनके देव भी प्रिय होते हैं अर्थात् देव भी उनका आदर करते हैं और जो शीलगुणसे रहित हैं वे श्रुतके पारगामी होकर भी तुच्छ—अनादरणीय बने रहते हैं ।। १७ ।।

भावार्थ—शीलवान् जीवोंकी पूजा प्रभावना मनुष्य तो करते ही हैं परन्तु देव भी करते देखे जाते हैं परन्तु दुःशील अर्थात् खोटे शीलसे युक्त मनुष्योंको अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता होनेपर भी कोई पूछता नहीं है वे सदा तुच्छ बने रहते हैं । यहाँ 'अल्पका' का अर्थ संख्यासे अल्प नहीं है किन्तु तुच्छ अर्थ है । संख्याकी अपेक्षा तो दुःशील मनुष्य ही अधिक हैं, शीलवान् नहीं ।

सव्वे वि य परिहीणा रूवविरूवा वि वदिदसुवया वि ।
सीलं जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं ।। १८ ।।

जो सभीमें हीन हैं अर्थात् हीन जातिके हैं, रूपसे विरूप हैं अर्थात् कुरूप हैं और जिनकी अवस्था बीत गई है अर्थात् वृद्धावस्थासे युक्त हैं—इन सबके होनेपर भी जिनमें सुशील है अर्थात् जो उत्तमशीलके धारक हैं उनका मनुष्यपना सुजीवित है—उनका मनुष्यभव उत्तम है ।।

भावार्थ—जाति, रूप तथा अवस्थाकी न्यूनता होनेपर भी उत्तम शील मनुष्यके जीवनको सफल बना देता है इसलिये सुशील प्राप्त करना चाहिये ।। १८ ।।

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे ।
सम्मद्दंसणणाणं तओ य सीलस्स परिवारो ।। १९ ।।

जीवदया, इन्द्रियदमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्तप ये सब शीलके ही परिवार हैं ।। १९ ।।

सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य ।
सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोपाणं ।। २० ।।

शील विशुद्ध तप है, शील दर्शनकी शुद्धि है, शील ही ज्ञानकी शुद्धि है, शील विषयोंका शत्रु है और शील मोक्षकी सीढी है ।। २० ।।

जह विसय लुद्धविसदो तह थावरजंगमाण घोराणं ।
सव्वेसिं पि विणासदि विसयविसं दारुणं होई ।। २१ ।।

जिस प्रकार विषय, लोभी मनुष्यको विष देनेवाले हैं—नष्ट करनेवाले हैं उसी प्रकार भयंकर स्थावर तथा जङ्गम—त्रस जीवोंका विष भी सबको नष्ट करता है परन्तु विषयरूपी विष अत्यन्त दारुण होता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार हाथी, मीन, भ्रमर, पतंग तथा हरिण आदिके विषय उन्हें विषकी भाँति नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार स्थावरके विष मोहरा सोमल आदि, और जङ्गम अर्थात् साँप बिच्छू आदि भयंकर जीवोंके विष सभीको नष्ट करते हैं । इस प्रकार जीवोंको नष्ट करनेकी अपेक्षा विषय और विषमें समानता है परन्तु विचार करनेपर विषयरूपी विष अत्यन्त दारुण होता है । क्योंकि विषसे तो जीवका एक भव ही नष्ट होता है और विषयसे अनेक भव नष्ट होते हैं ।। २१ ।।

वार एकम्मि य जम्मे मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो ।
विसयविसपरिहया णं भमन्ति संसारकान्तारे ॥ २२ ॥

विषकी वेदनासे पीडित हुआ जीव एक जन्ममें एक ही बार मरणको प्राप्त होता है परन्तु विषयरूपी विषसे पीडित हुए जीव संसाररूपी अटवीमें निश्चयसे भ्रमण करते रहते हैं ॥ २२ ॥

णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणुएसु दुक्खाइं ।
देवेसु वि दोहग्गं लहंति विसयासता जीवा ॥ २३ ॥

विषयासक्त जीव नरकोंमें वेदनाओंको, तिर्यञ्च और मनुष्योंमें दुःखोंको तथा देवों में दौर्भाग्यको प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

तुसधम्मंतबलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि ।
तवसीलमंत कुसली खवंति विसयं विसं व खलं ॥ २४ ॥

जिस प्रकार तुषोंके उड़ा देनेसे मनुष्योंका कोई सारभूत द्रव्य नष्ट नहीं होता उसी प्रकार तप और शीलसे युक्त कुशल पुरुष विषयरूपी विषको खलके समान दूर छोड़ देते हैं।

भावार्थ—तुषको उड़ा देनेवाला सूपा आदि तुषध्मत् कहलाता है, उसके बलसे मनुष्य सारभूत द्रव्यको बचाकर तुषको उड़ा देता है—फेंक देता है उसी प्रकार तप और उत्तमशीलके धारक पुरुष ज्ञानोपयोगके द्वारा विषयभूत पदार्थोंके सारको ग्रहणकर विषयोंको खलके समान दूर छोड़ देते हैं। तप और शीलसे सहित ज्ञानी जीव इन्द्रियोंके विषयको खलके समान समझते हैं जिस प्रकार इक्षुका रस ग्रहण कर लेनेपर छिलका फेंक दिये जाते हैं उसी प्रकार विषयोंका सार जानना था सो ज्ञानी जीव इस सारको ग्रहणकर छिलकेके समान विषयोंका त्याग कर देता है। ज्ञानी मनुष्य विषयोंको ज्ञेयमात्र जान उन्हें जानता तो है परन्तु उनमें आसक्त नहीं होता।

अथवा एक भाव यह भी प्रकट होता है कि कुशल मनुष्य विषयको दुष्ट विषके समान छोड़ देते हैं ॥ २४ ॥

वट्टेसु य खंडेसु य भद्देसु य विसालेसु अंगेसु ।
अंगेसु य पप्पेसु य सव्वेसु य उत्तमं सीलं ॥ २५ ॥

इस मनुष्यके शरीरमें कोई अंग वृत्त अर्थात् गोल है, कोई खण्ड अर्थात् अर्धगोलाकार है, कोई भद्र अर्थात् सरल है और कोई विशाल अर्थात् चौड़ा है सो इन अंगोंके यथास्थान प्राप्त होने पर भी सबमें उत्तम अंग शील ही है।

भावार्थ—शीलके बिना मनुष्यके समस्त अंगोंकी शोभा निःसार है इसलिये विवेकी जन शीलकी ओर ही लक्ष्य रखते हैं ॥ २५ ॥

पुरिसेण वि सहियाए कुशमयमूढेहि विसयलोलेहिं ।
संसारे भमिदव्वं अरयघरट्टं व भूदेहिं ॥ २६ ॥

मिथ्यामतमें मूढ हुए कितने ही विषयोंके लोभी मनुष्य ऐसा कहते हैं कि हमारा पुरुष—

ब्रह्म तो निर्विकार है। विषयोंमें प्रवृत्ति भूतचतुष्टयकी होती है इसलिये उनसे हमारा कुछ बिगाड़ नहीं है सो यथार्थ बात ऐसी नहीं है क्योंकि उस भूतचतुष्टयरूप शरीरके साथ पुरुष—ब्रह्मको भी अरहटकी घड़ीके समान संसारमें भ्रमण करना पड़ता है।

भावार्थ—जब तक यह जीव शरीरके साथ एकीभावको प्राप्त हो रहा है तब तक शरीरके साथ इसे भी भ्रमण करना पड़ता है इसलिये मिथ्यामतके चक्रमें पड़कर अपनी विषयलोलुपताको बढ़ाना श्रेयस्कर नहीं है ॥ २६ ॥

आदेहि कम्मगंठी जावद्धा विसयरायमोहेहिं ।
तं छिंदंति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ॥ २७॥

विषय सम्बन्धी राग और मोहके द्वारा आत्मामें जो कर्मोंकी गांठ बांधी गई है उसे कृत-कृत्य—ज्ञानी मनुष्य तप संयम और शीलरूप गुणके द्वारा छेदते हैं ॥ २७ ॥

उदधी व रदणभरिदो तवविणयसीलदाणरयणाणं ।
सोहे तोय ससीलो णिव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥ २८॥

जिस प्रकार समुद्र रत्नोंसे भरा होता है तो भी तोय अर्थात् जलसे ही शोभा देता है उसी प्रकार यह जीव भी तप विनय शील दान आदि रत्नोंसे युक्त है तो भी शीलसे सहित होता ही सर्वोत्कृष्ट निर्वाणको प्राप्त होता है।

भावार्थ—तप विनय आदिसे युक्त होने पर भी यदि मोह और क्षोभसे रहित समता परिणाम-रूपी शील प्रकट नहीं होता है तो मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती इसलिये शीलको प्राप्त करना चाहिये ॥ २८ ॥

सुणहाण गद्दहाण य गोपसुमहिलाण दीसदे मोक्खो ।
जे सोधंति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहि ॥ २९॥

सब लोग देखो, क्या कुत्ते, गधे, गाय आदि पशु तथा स्त्रियोंको मोक्ष देखनेमें आता है? अर्थात् नहीं आता। किन्तु चतुर्थ पुरुषार्थ अर्थात् मोक्षका जो साधन करते हैं उन्हींका मोक्ष देखा जाता है।

भावार्थ—बिना शीलके मोक्ष नहीं होता है। यदि शीलके विना भी मोक्ष होता तो कुत्ते गधे गाय आदि पशु और स्त्रियोंको भी मोक्ष होता परन्तु नहीं होता। यहाँ काकु द्वारा आचार्यने 'दृश्यते' क्रियाका प्रयोग किया है इसलिये उसका निषेधपरक अर्थ होता है। अथवा 'चउत्थं' के स्थान पर 'चउक्कं' पाठ ठीक जान पड़ता है उसका अर्थ होता है—क्रोधादि चार कषायोंको शोधते हैं—दूर करते हैं अर्थात् कषायोंको दूरकर शीलसे—वीतरागभावसे सहित होते हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥

जइ विसयलोलएहिं णाणीहि हविज्ज साहिदो मोक्खो ।
तो सो सुरत्तपुत्तो दसपुव्वीओ वि किं गदो णरयं ॥ ३०॥

यदि विषयोंके लोभी ज्ञानी मनुष्य मोक्षको प्राप्त कर सकते होते तो दशपूर्वोंका पाठी रुद्र नरक क्यों जाता?

भावार्थ—विषयोंके लोभी मनुष्य शीलसे रहित होते हैं अतः ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्वका ज्ञान होने पर भी मोक्षसे वञ्चित रहते हैं। इसके विपरीत शीलवान् मनुष्य अष्ट प्रवचन मातृका-के जघन्य ज्ञानसे भी अन्तर्मुहूर्तके भीतर केवलज्ञानी होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। शीलकी—वीतरागभाव की कोई अद्‌भुत महिमा है॥ ३०॥

जइ णाणेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहि णिद्दिट्ठो।
दस पुव्विस्स य भावो ण किं पुण णिम्मलो जादो॥ ३१॥

यदि विद्वान् शीलके बिना मात्रज्ञानसे भावको शुद्ध हुआ कहते हैं तो दशपूर्वके पाठी रुद्रका भाव निर्मल—शुद्ध क्यों नहीं हो गया?

भावार्थ—मात्रज्ञानसे भावकी निर्मलता नहीं होती। भावकी निर्मलताके लिये राग, द्वेष और मोहके अभाव की आवश्यकता होती है। राग, द्वेष और मोहके अभावसे भावकी जो निर्मलता होती है वही शील कहलाती है। इस शीलसे ही जीवका कल्याण होता है॥ ३१॥

जाए विसयविरत्तो सो गमयदि नरयवेयणां पउरां।
ता लेहदि अरुहपयं भणियं जिण वड्ढमाणेण॥ ३२॥

जो विषयोंसे विरक्त है वह नरककी भारी वेदनाको दूर हटा देता है तथा अरहन्तपदको प्राप्त करता है ऐसा वर्धमान जिनेन्द्रने कहा है।

भावार्थ—जिनागममें ऐसा कहा है कि तीसरे नरक तकसे निकलकर जीव तीर्थंकर हो सकता है सो सम्यग्दृष्टि मनुष्य नरकमें रहता हुआ भी अपने सम्यक्त्वके प्रभावसे नरककी उस भारी वेदनाका अनुभव नहीं करता—उसे अपनी नहीं मानता और वहाँसे निकलकर तीर्थंकर पदको प्राप्त होता है यह सब शीलकी ही महिमा है॥ ३२॥

एवं बहुप्पयारं जिणेहि पच्चक्खणाणदरिसीहिं।
सीलेण य मोक्खपयं अक्खातीदं च लोयणाणेहि॥ ३३॥

इस प्रकार प्रत्यक्षज्ञान और प्रत्यक्षदर्शनसे युक्त लोकके ज्ञाता जिनेन्द्र भगवान्‌ने अनेक प्रकारसे कथन किया है कि अतीन्द्रिय मोक्षपद शीलसे प्राप्त होता है॥ ३३॥

सम्मत्तणाणदंसणतववीरियपंचयारमप्पाणं।
जलणो वि पवणसहिदो डहंति पोराणयं कम्मं॥ ३४॥

सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन तप और वीर्य ये पञ्च आचार पवनसहित अग्निके समान जीवोंके पुरातन कर्मोंको दग्ध कर देते हैं॥ ३४॥

णिद्दड्ढअट्ठकम्मा विसयविरत्ता जिदिंदिया धीरा।
तवविणयसीलसहिदा सिद्धा सिद्धिगदिं पत्ता॥ ३५॥

जिन्होंने इन्द्रियोंको जीत लिया है, जो विषयोंसे विरक्त हैं, धीर हैं अर्थात् परिषहादिके आने पर विचलित नहीं होते हैं, जो तप विनय और शीलसे सहित हैं ऐसे जीव आठकर्मोंको समग्ररूपसे दग्धकर सिद्धि गतिको प्राप्त होते हैं। उनकी सिद्ध संज्ञा है॥ ३५॥

लावण्णसीलकुसलो जम्ममहीरुहो जस्स सवणस्स।
सो सीलो स महप्पा भमित्थ गुणवित्थरो भविए ॥ ३६ ॥

जिस मुनिका जन्मरूपी वृक्ष लावण्य और शीलसे कुशल है वह शीलवान् है, महात्मा है तथा उसके गुणोंका विस्तार लोकमें व्याप्त होता है।

भावार्थ—जिस मुनिका जन्म जीवोंको अत्यन्त प्रिय है तथा समताभावरूप शीलसे सुशोभित है वही मुनि शीलवान् कहलाता है, वही महात्मा कहलाता है, और उसी के गुण लोकमें विस्तारको प्राप्त होते हैं ॥ ३६ ॥

णाणं झाणं जोगो दंसणसुद्धी य वीरियावत्तं।
सम्मत्तदंसणेग य लहंति जिणसासणे बोहिं ॥ ३७ ॥

ज्ञान, ध्यान, योग और दर्शनकी शुद्धि—निरतिचार प्रवृत्ति ये सब वीर्यके आधीन हैं और सम्यग्दर्शनके द्वारा जीव जिनशासन सम्बन्धी बोधि—रत्नत्रयरूप परिणतिको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—आत्मामें वीर्यगुणका जैसा विकास होता है उसीसे अनुरूप ज्ञान, ध्यान, योग और दर्शनकी शुद्धता होती है तथा सम्यग्दर्शनके द्वारा जीव जिनशासनमें बोधि—रत्नत्रयका जैसा स्वरूप बतलाया है उस रूप परिणतिको प्राप्त होते हैं ॥ ३७ ॥

जिणवयणगहिदसारा विसयविरत्ता तवोधणा धीरा।
सीलसलिलेण ण्हावा ते सिद्धालयसुहं जंति ॥ ३८ ॥

जिन्होंने जिनेन्द्रदेवके वचनोंसे सार ग्रहण किया है, जो विषयोंसे विरक्त हैं, जो तपको धन मानते हैं, धीर वीर हैं और जिन्होंने शीलरूपी जलसे स्नान किया है वे सिद्धालयके सुखको प्राप्त होते हैं ॥ ३८ ॥

सव्वगुणखीणकम्मा सुहदुक्खविवज्जिदा मणविसुद्धा।
पप्फोडियकम्मरया हवंति आराहणापयडा ॥ ३९ ॥

जिन्होंने समस्त गुणोंसे कर्मोंको क्षीण कर दिया है, जो सुख और दुःखसे रहित हैं, मनसे विशुद्ध हैं और जिन्होंने कर्मरूपी धूलिको उड़ा दिया है ऐसे आराधनाओंको प्रकट करनेवाले होते हैं ॥ ३९ ॥

अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं।
सीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं ॥ ४० ॥

अरहन्त भगवान्में शुभभक्ति होना सम्यक्त्व है, यह सम्यक्त्व तत्त्वार्थश्रद्धानसे अत्यन्त शुद्ध है और विषयोंसे विरक्त होना ही शील है। ये दोनों हो ज्ञान हैं, इनसे अतिरिक्त ज्ञान कैसा कहा गया है?

भावार्थ—सम्यक्त्व और शीलसे सहित जो ज्ञान है वही ज्ञान, ज्ञान है, इनसे रहित ज्ञान कैसा? अन्यमतोंमें ज्ञानको सिद्धिका कारण कहा गया है परन्तु जिस ज्ञानके साथ सम्यक्त्व तथा शील नहीं है वह अज्ञान है, उस अज्ञानरूप ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती ॥ ४० ॥

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्यविरचित शीलप्राभृत समाप्त हुआ।

द्वादशानुप्रेक्षा

बारसणुपेक्खा [द्वादशानुप्रेक्षा]

मंगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य

णमिऊण सव्वसिद्धे झाणुत्तमखविददीहसंसारे ।
दस दस दो दो व जिणे दस दो अणुपेहणं वोच्छे ।। १ ।।

जिन्होंने उत्तमध्यानके द्वारा दीर्घसंसारका नाश कर दिया है ऐसे समस्त सिद्धों तथा चौबीस तीर्थंकरोंको नमस्कार कर बारह अनुप्रेक्षाओंको कहूंगा ।। १ ।।

बारह अनुप्रेक्षाओंके नाम

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं ।
आसवसंवरणिज्जर धम्मं बोहिं च चिंतेज्जो ।। २ ।।

अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करना चाहिये ।। २ ।।

अध्रुव अनुप्रेक्षा

वरभवणजाणवाहणसयणासणदेवमणुवरायाणं ।
मादुपिदुसजणभिच्चसंबंधिणो य पिदिवियाणिच्चा ।। ३ ।।

उत्तम भवन, यान, वाहन, शयन, आसन, देव, मनुष्य, राजा, माता, पिता, कुटुम्बी और सेवक आदि सभी अनित्य तथा पृथक् हो जानेवाले हैं ।। ३ ।।

सामग्गिंदियरूवं आरोग्गं जोव्वणं बलं तेजं ।
सोहग्गं लावण्णं सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे ।। ४ ।।

सब प्रकारकी सामग्री—परिग्रह, इन्द्रियाँ, रूप, नीरोगता, यौवन, बल, तेज, सौभाग्य और सौन्दर्य ये सब इन्द्रधनुषके समान-शाश्वत् रहनेवाले नहीं है अर्थात् सब नश्वर हैं ।। ४ ।।

जलबुब्बुदसक्कधणुखणरुचिघणसोहमिव थिरं ण हवे ।
अहमिंदट्ठाणाइं बलदेवप्पहुदिपज्जाया ।। ५ ।।

अहमिन्द्रके पद और बलदेव आदिकी पर्यायें जलके बबूले, इन्द्रधनुष, बिजली और मेघकी शोभाके समान-स्थिर रहनेवाली नहीं हैं ।। ५ ।।

जीवणिवद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि ॥ ६ ॥

जब दूध और पानीकी तरह जीवके साथ मिला हुआ शरीर शीघ्र नष्ट हो जाता है तब भोगोपभोगका कारणभूत द्रव्य—स्त्री आदि परिकर नित्य कैसे हो सकता है ? ॥ ६ ॥

परमट्ठेण दु आदा देवासुरमणुवरायविभवेहिं।
वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदमिदि चिंतए णिच्चं ॥ ७ ॥

परमार्थसे आत्मा देव, असुर और नरेन्द्रोंके वैभवोंसे भिन्न है और वह आत्मा शाश्वत है ऐसा निरन्तर चिन्तन करना चाहिये ॥ ७ ॥

अशरणानुप्रेक्षा

मणिमंतोसहरक्खा हयगयरहओ य सयलविज्जाओ।
जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि ॥ ८ ॥

मरणके समय तीनों लोकोंमें मणि, मन्त्र, औषधि, रक्षक सामग्री, हाथी, घोड़े, रथ और समस्त विद्याएँ जीवोंके लिये शरण नहीं हैं अर्थात् मरणसे बचानेमें समर्थ नहीं हैं ॥ ८ ॥

सग्गो हवे हि दुग्गं भिच्चा देवा य पहरणं वज्जं।
अइरावणो गइंदो इंदस्स ण विज्जदे सरणं ॥ ९ ॥

स्वर्ग ही जिसका किला है, देव सेवक हैं, वज्र शस्त्र है और ऐरावत गजराज है उस इन्द्रका भी कोई शरण नहीं है—उसे भी मृत्युसे बचानेवाला कोई नहीं है ॥ ९ ॥

णवणिहि चउदहरयणं हयमत्तगइंदचाउरंगवलं।
चक्केसस्स ण सरणं पेच्छंतो कद्दये कालो ॥ १० ॥

नौ निधियाँ, चौदह रत्न, घोड़े, मत्तहाथी और चतुरङ्गिणी सेना चक्रवर्तीके लिये शरण नहीं हैं। देखते-देखते काल उसे नष्ट कर देता है ॥ १० ॥

जाइजरामरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा।
तम्हा आदा सरणं बंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो ॥ ११ ॥

जिस कारण आत्मा ही जन्म, जरा, मरण, रोग और भयसे आत्माकी रक्षा करता है उस कारण बन्ध उदय और सत्तारूप अवस्थाको प्राप्त कर्मोंसे पृथक् रहनेवाला आत्मा ही शरण है—आत्माकी निष्कर्म अवस्था ही उसे जन्म जरा आदिसे बचानेवाली है ॥ ११ ॥

अरुहा सिद्धाइरिया उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥ १२ ॥

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं। चूंकि ये परमेष्ठी भी आत्मामें निवास करते हैं अर्थात् आत्मा स्वयं पञ्च परमेष्ठीरूप परिणमन करता है इसलिये आत्मा ही मेरा शरण है ॥ १२ ॥

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं च सत्तवो चेव।
चउरो चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१३॥

चूंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्यज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये चारों भी आत्मामें स्थित हैं इसलिये आत्मा ही मेरा शरण है ॥ १३ ॥

एकत्वानुप्रेक्षा

एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१४॥

जीव अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही दीर्घ संसारमें भ्रमण करता है, अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही कर्मका फल भोगता है ॥ १४ ॥

एक्को करेदि पावं विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण।
णिरयतिरियेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१५॥

विषयोंके निमित्त तीव्र लोभसे जीव अकेला ही पाप करता है और नरक तथा तिर्यञ्च गतिमें अकेला ही उसका फल भोगता है ॥ १५ ॥

एक्को करेदि पुण्णं धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण।
मणुवदेवेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१६॥

धर्मके निमित्त पात्रदानके द्वारा जीव अकेला ही पुण्य करता है और मनुष्य तथा देवोंमें अकेला ही उसका फल भोगता है ॥ १६ ॥

पात्रके तीन भेदों तथा अपात्रका वर्णन

उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू।
सम्मादिट्ठी सावय मज्झिमपत्तो हु विण्णेओ ॥१७॥
णिद्दिट्ठो जिणसमये अविरदसम्मो जहण्णपत्तो त्ति।
सम्मत्तरयणरहिओ अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो ॥१८॥

सम्यक्त्वरूपी गुणसे युक्त साधुको उत्तम पात्र कहा है, सम्यग्दृष्टि श्रावकको मध्यम पात्र जानना चाहिये, जिनागममें अविरत सम्यग्दृष्टिको जघन्य पात्र कहा गया है और जो सम्यग्दर्शन-रूपी रत्नसे रहित है वह अपात्र है इस प्रकार पात्र और अपात्रकी अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिये ॥ १७-१८ ॥

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥१९॥

जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे ही भ्रष्ट हैं, सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट मनुष्यका मोक्ष नहीं होता। जो

चारित्रसे भ्रष्ट हैं वे तो (पुनः चारित्र धारण कर लेनेपर) सिद्ध हो जाते हैं परन्तु जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे सिद्ध नहीं हो सकते ।

भावार्थ—जो मनुष्य सम्यग्दृष्टि तो है परन्तु चारित्रमोहका तीव्र उदय आ जानेके कारण चारित्रसे भ्रष्ट हो गया है वह पुनः चारित्रको धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है परन्तु जो सम्यग्दर्शनसे भी भ्रष्ट हो गया है उसका मोक्ष प्राप्त करना सरल नहीं है ।। १९ ।।

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो ।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ संजदो ।। २० ।।

मैं अकेला हूं, ममत्वसे रहित हूँ, शुद्ध हूँ तथा ज्ञान दर्शनरूप लक्षणसे युक्त हूं इसलिये शुद्ध एकत्वभाव ही उपादेय है—ग्रहण करनेके योग्य है इसप्रकार संयमी-साधुको सदा विचार करते रहना चाहिये ।। २० ।।

अन्यत्वानुप्रेक्षा

मादापिदरसहोदरपुत्तकलत्तादिबंधुसंदोहो ।
जीवस्स ण संबंधो णियकज्जवसेण वट्टंति ।। २१ ।।

माता, पिता, सगा भाई, पुत्र तथा स्त्री आदि बन्धुजनों—इष्टजनोंका समूह जीवसे सम्बन्ध रखनेवाला नहीं है । ये सब अपने कार्यके वश साथ रहते हैं ।। २१ ।।

अण्णो अण्णं सोयदि मदो त्ति मम णाहगो त्ति मण्णंतो ।
अप्पाणं ण हु सोयदि संसारमहण्णवे वुड्ढं ।। २२ ।।

यह मेरा स्वामी था, यह मर गया इस प्रकार मानता हुआ अन्य जीव अन्य जीवके प्रति शोक करता है परन्तु संसाररूपी महासागरमें डूबते हुए अपने आपके प्रति शोक नहीं करता ।। २२ ।।

अण्णं इमं सरीरादिगं पि होज्ज बाहिरं दव्वं ।
णाणं दंसणमादा एवं चिंतेहि अण्णत्तं ।। २३ ।।

यह जो शरीरादिक बाह्य द्रव्य है वह सब मुझसे अन्य है, ज्ञान दर्शन ही आत्मा है अर्थात् ज्ञान दर्शन ही मेरे हैं इस प्रकार अन्यत्व भावनाका चिन्तन करो ।। २३ ।।

संसारानुप्रेक्षा

पंचविहे संसारे जाइजरामरणरोगभयपउरे ।
जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं ।। २४ ।।

जिन भगवान्‌के द्वारा प्रणीत मार्गकी प्रतीतिको नहीं करता हुआ जीव, चिरकालसे जन्म, जरा, मरण, रोग और भयसे परिपूर्ण पाँच प्रकारके संसारमें परिभ्रमण करता रहता है । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ये पाँच परिवर्तन ही पाँच प्रकारका संसार कहलाते हैं ।। २४ ।।

द्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप

सव्वे वि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण ।
असयं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे ॥ २५ ॥

पुद्गलपरिवर्तन (द्रव्यपरिवर्तन) रूप संसारमें इस जीवने अकेले ही समस्त पुद्गलोंको अनन्त बार भोगकर छोड़ दिया है ॥ २५ ॥

क्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप

सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तं णत्थि जं ण उप्पण्णं ।
उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ॥ २६ ॥

समस्त लोकरूपी क्षेत्रमें ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह क्रमसे उत्पन्न न हुआ हो। समस्त अवगाहनाओंके द्वारा इस जीवने क्षेत्र संसारमें अनेक बार परिभ्रमण किया है।

भावार्थ—क्षेत्रपरिवर्तनके स्वक्षेत्र परिवर्तन और परक्षेत्र परिवर्तनकी अपेक्षा दो भेद हैं। समस्त लोकाकाशमें क्रमसे उत्पन्न हो लेनेमें जितना समय लगता है वह स्वक्षेत्रपरिवर्तन है और क्रमसे जघन्य अवगाहनासे लेकर उत्कृष्ट अवगाहना तक धारण करनेमें जितना समय लगता है उतना परक्षेत्रपरिवर्तन है। इस गाथामें दोनों प्रकारके क्षेत्रपरिवर्तनोंकी चर्चा की गई है ॥ २६ ॥

कालपरिवर्तनका स्वरूप

अवसप्पिणिउस्सप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु ।
जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालसंसारे ॥ २७ ॥

यह जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालकी समस्त समयावलियोंमें उत्पन्न हुआ है तथा मरा है इस तरह इसने काल संसारमें अनेक बार परिभ्रमण किया है ॥ २७ ॥

भवपरिवर्तनका स्वरूप

णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लया दु गेवेज्जा ।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो ॥ २८ ॥

मिथ्यात्वके आश्रयसे इस जीवने नरककी जघन्य आयुसे लेकर उपरिम ग्रैवेयक तककी भव-स्थितिको धारण कर अनेक बार भ्रमण किया है।

भावार्थ—नरक, तिर्यञ्च; मनुष्य और देवगतिमें जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट आयु तकको क्रमसे प्राप्त कर लेनेमें जितना समय लगता है उतने समयको भवपरिवर्तन कहते हैं। नरक गतिकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरकी है। मनुष्य और तिर्यञ्चगतिकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी और उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्यकी है। तथा देवगतिकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरकी है। परन्तु मिथ्यादृष्टि जीवकी उत्पत्ति देवगतिमें इकतीस सागरकी आयुसे युक्त उपरिम ग्रैवेयक तक ही होती है इसलिये देवगतिमें भव-स्थितिकी अन्तिम सीमा ग्रैवेयक तक ही बतलाई गई है ॥ २८ ॥

भावपरिवर्तनका स्वरूप

सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागपदेसबंधठाणाणि ।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भावसंसारे ।। २९ ।।

इस जीवने मिथ्यात्वके वश समस्त कर्मप्रकृतियोंकी सब स्थितियों, सब अनुभागबन्ध स्थानों और सब प्रदेशबन्ध स्थानोंको प्राप्तकर बार-बार भाव संसारमें परिभ्रमण किया है ।

भावार्थ—ज्ञानावरणादि समस्त कर्म प्रकृतियोंके जघन्यस्थिति बन्धसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध तकके योग्य समस्त कषायाध्यवसायस्थान, समस्त अनुभागाध्यवसाय स्थान और समस्त योग-स्थानोंको प्राप्त कर लेना भाव संसार है । ये पाँचों परिवर्तन ही पाँच प्रकारके संसार हैं । इन संसारोंमें जीवका परिभ्रमण मिथ्यात्वके कारण होता है ।। २९ ।।

पुत्तकलत्तणिमित्तं अत्थं अज्जयदि पापबुद्धीए ।
परिहरदि दयादाणं सो जीवो भमदि संसारे ।। ३० ।।

जो जीव पुत्र तथा स्त्रीके निमित्त पापबुद्धिसे धन कमाता है और दयादानका परित्याग करता है वह संसारमें भ्रमण करता है ।। ३० ।।

मम पुत्तं मम भज्जा मम धणधण्णो त्ति तिव्वकंखाए ।
चइऊण धम्मबुद्धिं पच्छा परिपडदि दीहसंसारे ।। ३१ ।।

जो जीव, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा धनधान्य है इस प्रकारकी तीव्र आकांक्षासे धर्मबुद्धिको छोड़ता है वह पीछे दीर्घसंसारमें पड़ता है ।। ३१ ।।

मिच्छोदयेण जीवो णिंदंतो जोण्हभासियं धम्मं ।
कुधम्मकुलिंगकुतित्थं मण्णंतो भमदि संसारे ।। ३२ ।।

मिथ्यात्वके उदयसे यह जीव जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कथित धर्मकी निन्दा करता हुआ तथा कुधर्म, कुलिङ्ग और कुतीर्थको मानता हुआ संसारमें भ्रमण करता है ।। ३२ ।।

हंतूण जीवरासिं महुमंसं सेविऊण सुरयाणं ।
परदव्वपरकलत्तं गहिऊण य भमदि संसारे ।। ३३ ।।

जीवराशिका घातकर, मधु मांस और मदिरापानका सेवन कर तथा परद्रव्य और परस्त्री को ग्रहणकर यह जीव संसारमें भ्रमण करता है ।। ३३ ।।

जत्तेण कुणइ पावं विसयणिमित्तं च अहणिसं जीवो ।
मोहंधयारसहिओ तेण दु परिपडदि संसारे ।। ३४ ।।

मोहरूपी अन्धकारसे सहित जीव विषयोंके निमित्त यत्नपूर्वक पाप करता है और उससे संसारमें पड़ता है ।। ३४ ।।

णिच्चिदरधादुसत्तय तरुदसवियलिंदिएसु छच्चेव ।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा ॥ ३५॥

नित्य निगोद, इतर निगोद, पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक इन छह प्रकारके जीवोंमें प्रत्येक की सात-सात लाख, प्रत्येक वनस्पति कायिक की दश लाख, विकलेन्द्रियोंकी छह लाख, देव, नारकी तथा पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंमें प्रत्येककी चार-चार लाख और मनुष्योंकी चौदह लाख इस प्रकार सब मिला कर चौरासी लाख योनियां हैं इनमें संसारी जीव भ्रमण करता है ॥ ३५ ॥

संजोगविप्पजोगं लाहालाहं सुहं च दुक्खं च ।
संसारे भूदाणं होदि हु माणं तहावमाणं च ॥ ३६॥

संसारमें जीवोंको संयोग वियोग, लाभ अलाभ, सुख दुःख तथा मान अपमान प्राप्त होते हैं ॥ ३६ ॥

कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोरकंतारे ।
जीवस्स ण संसारो णिच्चयणयकम्मविम्मुक्को ॥ ३७॥

कर्मोंके निमित्तसे यह जीव संसाररूपी भयानक वनमें भ्रमण करता है, किन्तु निश्चयनयसे जीव कर्मोंसे रहित है इसलिये उसका संसार भी नहीं है ।

भावार्थ—जीवके संसारी और मुक्त भेद व्यवहारनयसे बनते हैं, निश्चयनयसे नहीं बनते क्योंकि निश्चयनयसे जीव और कर्म दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं ॥ ३७ ॥

संसारमदिक्कंतो जीवोवादेयमिति विचिंतेज्जो ।
संसारदुहक्कंतो जीवो सो हेयमिति विचिंतेज्जो ॥ ३८ ॥

संसारसे छूटा हुआ जीव उपादेय है ऐसा विचार करना चाहिये और संसारके दुःखोंसे आक्रान्त जीव छोड़ने योग्य है ऐसा चिन्तन करना चाहिये ॥ ३८ ॥

लोकानुप्रेक्षा

जीवादिपयट्ठाणं समवाओ सो णिरुच्चए लोगो ।
तिविहो हवेइ लोगो अहमज्झिमउड्ढभेएण ॥ ३९ ॥

जीव आदि पदार्थोंका जो समूह है वह लोक कहा जाता है । अधोलोक मध्यमलोक और ऊर्ध्वलोकके भेदसे लोक तीन प्रकारका होता है ॥ ३९ ॥

णिरया हवंति हेट्ठा मज्झे दीवंबुरासयो संखा ।
सग्गो तिसट्ठिभेओ एत्तो उड्ढं हवे मोक्खो ॥ ४० ॥

नीचे नरक हैं, मध्यमें असंख्यात द्वीपसमुद्र हैं, ऊपर त्रेशठ भेदोंसे युक्त स्वर्ग है और इनके ऊपर मोक्ष है ॥ ४० ॥

स्वर्गके त्रेशठ भेदोंका वर्णन

इगतीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक्क छक्क चदुकप्पे।
तित्तिय एक्केक्केंदियणामा उडुआदि तेसट्ठी ॥ ४१ ॥

सौधर्म और ऐशान कल्पमें इकतीस, सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें सात, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर कल्पमें चार, लान्तव और कापिष्ठ कल्पमें दो, शुक्र और महाशुक्र कल्पमें एक, शतार और सहस्रार कल्पमें एक तथा आनत प्राणत आरण और अच्युत इन अन्तके चार कल्पोंमें छह इस तरह सोलह कल्पोंमें कुल ५२ पटल हैं। इनके आगे अधोग्रैवेयक, मध्यमग्रैवेयक और उपरिमग्रैवेयकोंके त्रिकमें प्रत्येकके तीन-तीन अर्थात् नौ ग्रैवेयकोंके नौ, अनुदिशोंका एक और अनुत्तरविमानोंका एक पटल है इस तरह सब मिलाकर ऋतु आदि त्रेशठ पटल हैं ॥ ४१ ॥

असुहेण णिरयतिरियं सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो ॥ ४२ ॥

अशुभोपयोगसे नरक और तिर्यञ्च गति प्राप्त होती है, शुभोपयोगसे देव और मनुष्यगतिका सुख मिलता है और शुद्धोपयोगसे जीव मुक्तिको प्राप्त होता है—इस प्रकार लोकका विचार करना चाहिये ॥ ४२ ॥

अशुचित्वानुप्रेक्षा

अट्ठीहिं पडिबद्धं मंसविलित्तं तएण ओच्छण्णं।
किमिसंकुलेहिं भरियमचोक्खं देहं सयाकालं ॥ ४३ ॥

यह शरीर हड्डियोंसे बना है, मांससे लिपटा है, चर्मसे आच्छादित है, कीटसमूहोंसे भरा है और सदा मलिन रहता है ॥ ४३ ॥

दुग्गंधं बीभच्छं कलिमलभरिदं अचेयणं मुत्तं।
सडणप्पडणसहावं देहं इदि चिंतए णिच्चं ॥ ४४ ॥

यह शरीर दुर्गन्धसे युक्त है, घृणित है, गन्दे मलसे भरा हुआ है, अचेतन है, मूर्तिक है तथा सड़ना और गलना स्वभावसे सहित है ऐसा सदा चिन्तन करना चाहिये ॥ ४४ ॥

रसरुहिरमंसमेदट्ठीमज्जसंकुलं पुत्तपूयकिमिबहुलं।
दुग्गंधमसुचि चम्ममयमणिच्चमचेयणं पडणं ॥ ४५ ॥

यह शरीर रस, रुधिर, मांस, चर्बी, हड्डी तथा मज्जासे युक्त है, मूत्र, पीव और कीड़ोंसे भरा है, दुर्गन्धित है, अपवित्र है, चर्ममय है, अनित्य है, अचेतन है और पतनशील है—नश्वर है ॥ ४५ ॥

देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलयो।
चोक्खो हवेइ अप्पा इदि णिच्चं भावणं कुज्जा ॥ ४६ ॥

आत्मा इस शरीरसे भिन्न है, कर्मरहित है, अनन्त सुखोंका भण्डार है तथा श्रेष्ठ है इस प्रकार निरन्तर भावना करनी चाहिये ॥ ४६ ॥

आस्रवानुप्रेक्षा

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति ।
पण पण चउतियभेदा सम्मं परिकित्तिदा समए ॥४७॥

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये आस्रव हैं। उक्त मिथ्यात्व आदि आस्रव क्रमसे पाँच, पाँच, चार और तीन भेदोंसे युक्त हैं, आगममें इनका अच्छी तरह वर्णन किया गया है ॥ ४७ ॥

मिथ्यात्व तथा अविरतिके पाँच भेद

एयंतविणयविवरियसंसयमण्णाणमिदि हवे पंच ।
अविरमणं हिंसादी पंचविहो सो हवइ णियमेण ॥४८॥

एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान यह पाँच प्रकारका मिथ्यात्व है तथा हिंसा आदिके भेदसे पाँच प्रकारकी अविरति नियमसे होती है ॥ ४८ ॥

चार कषाय और तीन योग

कोहो माणो माया लोहो वि य चउव्विहं कसायं खु ।
मण वचिकाएण पुणो जोगो तिवियप्पमिदि जाणे ॥४९॥

क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार प्रकारकी कषाय है। तथा मन, वचन और कायके भेदसे योगके तीन भेद हैं यह जानना चाहिये ॥ ४९ ॥

असुहेदरभेदेण दु एक्केक्कं वण्णिदं हवे दुविहं ।
आहारादी सण्णा असुहमणं इदि विजाणेहि ॥५०॥

मन वचन काय इन तीनों योगोंमेंसे प्रत्येक योग अशुभ और शुभके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है। आहार आदि संज्ञाओंका होना अशुभ मन है ऐसा जानो ॥ ५० ॥

किण्हादि तिण्णि लेस्सा करणजसोक्खेसु गिद्धिपरिणामो ।
ईसा विसादभावो असुहमणं त्ति य जिणा वेंति ॥५१॥

कृष्णादि तीन लेश्याएँ, इन्द्रिय जन्य सुखोंमें तीव्र लालसा, ईर्ष्या तथा विषादभाव अशुभमन है ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं ॥ ५१ ॥

रागो दोसो मोहो हास्सादिणोकसायपरिणामो ।
थूलो वा सुहुमो वा असुहमणो त्ति य जिणा वेंति ॥५२॥

राग, द्वेष, मोह तथा हास्यादिक नोकषायरूप परिणाम चाहे स्थूल हों चाहे सूक्ष्म, अशुभ मन हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं ॥ ५२ ॥

भत्तित्थिरायचोरकहाओ वयणं वियाण असुहमिदि ।
बंधणछेदणमारणकिरिया सा असुहकायेत्ति ॥५३॥

भक्तकथा, स्त्रीकथा, राजकथा और चोरकथा अशुभ वचन है ऐसा जानो। तथा बन्धन, छेदन और मारणरूप जो क्रिया है वह अशुभ काय है ॥ ५३ ॥

मोत्तूण असुहभावं पुव्वुत्तं णिरवसेसदो दव्वं ।
वद समिदिसीलसंजमपरिणामं सुहमणं जाणे ॥५४॥

पहले कहे हुए अशुभभाव तथा अशुभ द्रव्यको सम्पूर्णरूपसे छोड़कर व्रत, समिति, शील और संयमरूप परिणामोंका होना शुभमन है ऐसा जानो ॥ ५४ ॥

संसारछेदकारणवयणं सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं ।
जिणदेवादिसु पूजा सुहकायं त्ति य हवे चेट्ठा ॥५५॥

जो वचन संसारका छेद करनेमें कारण है वह शुभ वचन है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है। तथा जिनेन्द्रदेव आदिकी पूजा रूप जो चेष्टा–शरीरकी प्रवृत्ति है वह शुभकाय है ॥ ५५ ॥

जम्मसमुद्दे बहुदोस वीचिये दुक्खजलचराकिण्णे ।
जीवस्स परिब्भमणं कम्मासवकारणं होदि ॥५६॥

अनेक दोषरूपी तरङ्गोंसे युक्त तथा दुःखरूपी जलचर जीवोंसे व्याप्त संसाररूपी समुद्रमें जीवका जो परिभ्रमण होता है वह कर्मास्रवके कारण होता है। अर्थात् कर्मास्रवके कारण ही जीव संसार समुद्रमें परिभ्रमण करता है ॥ ५६ ॥

कम्मासवेण जीवो बूडदि संसारसागरे घोरे ।
जं णाणवसं किरिया मोक्खणिमित्तं परंपरया ॥५७॥

कर्मास्रवके कारण जीव संसाररूपी भयंकर समुद्रमें डूब रहा है। जो क्रिया ज्ञानवश होती है वह परम्परासे मोक्षका कारण होती है ॥ ५७ ॥

आसवहेदू जीवो जम्मसमुद्दे णिमज्जदे खिप्पं ।
आसवकिरिया तम्हा मोक्खणिमित्तं ण चिंतेज्जो ॥५८॥

आस्रवके कारण जीव संसाररूपी समुद्रमें शीघ्र डूब जाता है इसलिये आस्रवरूप क्रिया मोक्षका निमित्त नहीं है ऐसा विचार करना चाहिये।

भावार्थ—अशुभास्रवरूप क्रिया तो मोक्षका कारण है ही नहीं परन्तु शुभास्रवरूप क्रिया भी मोक्षका कारण नहीं है ऐसा चिन्तन करना चाहिये ॥ ५८ ॥

पारंपज्जाएण दु आसवकिरियाए णत्थि णिव्वाणं ।
संसारगमणकारणमिदि णिंदं आसवो जाण ॥५९॥

परम्परासे भी आस्रवरूप क्रियाके द्वारा निर्वाण नहीं होता। आस्रव संसारगमनका ही कारण है इसलिये निन्दनीय है ऐसा जानो ॥ ५९ ॥

पुव्वुत्तासवभेदा णिच्छयणयएण णत्थि जीवस्स ।
उहयासवणिम्मुक्कं अप्पाणं चिंतए णिच्चं ॥६०॥

पहले जो आस्रवके भेद कहे गये हैं वे निश्चयनयसे जीवके नहीं हैं इसलिये आत्माको दोनों प्रकारके आस्रवोंसे रहित ही निरन्तर विचारना चाहिये ॥ ६० ॥

संवरानुप्रेक्षा

चलमलिनमगाढं च वज्जिय, सम्मत्तदिढकवाडेण ।
मिच्छत्तासवदारणिरोहो होदित्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं ॥ ६१ ॥

चल, मलिन और अगाढ दोष को छोड़कर सम्यक्त्वरूपी दृढ़ कपाटोंके द्वारा मिथ्यात्वरूपी आस्रवद्वारका निरोध हो जाता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

भावार्थ—चल, मलिन और अगाढ ये सम्यग्दर्शनके दोष हैं । इनका अभाव हो जाने पर सम्यग्दर्शनमें दृढ़ता आती है । मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग ये चार आस्रव हैं । यहाँ मिथ्यात्वके निमित्तसे होनेवाले आस्रवको द्वार की तथा सम्यग्दर्शनको सुदृढ़ कपाटकी उपमा दी गई है और उस उपमाके द्वारा कहा गया है कि सम्यग्दर्शनरूपी सुदृढ कपाटोंसे मिथ्यात्वके निमित्तसे होनेवाले आस्रवरूप द्वारका निरोध हो जाता है । आस्रवका रुक जाना ही संवर कहलाता है ॥ ६१ ॥

पंचमहव्वयमणसा अविरमणणिरोहणं हवे णियमा ।
कोहादि आसवाणं दाराणि कसायरहियपल्लगेहि ॥ ६२ ॥

पञ्चमहाव्रतोंसे युक्त मनसे अविरतिरूप आस्रवका निरोध नियमसे हो जाता है और क्रोधादि कषायरूप आस्रवोंके द्वार कषायके अभावरूप फाटकोंसे रुक जाते हैं—बन्द हो जाते हैं ॥ ६२ ॥

सुहजोगस्स पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स ।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि ॥ ६३ ॥

शुभयोगकी प्रवृत्ति, अशुभयोगका संवर करती है और शुद्धोपयोगके द्वारा शुभयोगका निरोध हो जाता है ॥ ६३ ॥

सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स ।
तम्हा संवरहेदू झाणो त्ति विचिंतए णिच्चं ॥ ६४ ॥

शुद्धोपयोगसे जीवके धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान होते हैं इसलिये ध्यान संवरका कारण है ऐसा निरन्तर विचार करना चाहिये ॥ ६४ ॥

जीवस्स ण संवरणं परमट्ठणएण सुद्धभावादो ।
संवरभावविमुक्कं अप्पाणं चिंतए णिच्चं ॥ ६५ ॥

परमार्थनय—निश्चयनयसे जीवके संवर नहीं है क्योंकि वह शुद्धभावसे सहित है । अतएव आत्माको सदा संवरभावसे रहित विचारना चाहिये ॥ ६५ ॥

निर्जरानुप्रेक्षा

बंधपदेसग्गलणं णिज्जरणं इदि जिणेहि पण्णत्तं ।
जेण हवे संवरणं तेण दु णिज्जरणमिदि जाण ।। ६६ ।।

बँधे हुए कर्मप्रदेशोंका गलना निर्जरा है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है । जिस कारणसे संवर होता है उसी कारणसे निर्जरा होती है ।। ६६ ।।

सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा ।
चदुगदियाणं पढमा वयजुत्ताणं हवे विदिया ।। ६७ ।।

फिर वह निर्जरा दो प्रकारकी जाननी चाहिये—एक अपना उदयकाल आनेपर कर्मोंका स्वयं पककर झड़ जाना और दूसरी तपके द्वारा की जाने वाली । इनमें पहली निर्जरा तो चारों गतियोंके जीवोंके होती है और दूसरी निर्जरा व्रती जीवोंके होती है ।। ६७ ।।

धर्मानुप्रेक्षा

एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं ।
सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं ।। ६८ ।।

उत्तम सुखसे सम्पन्न जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है कि गृहस्थों तथा मुनियोंका वह धर्म क्रमसे ग्यारह और दश भेदोंसे युक्त है तथा सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है ।

भावार्थ—आत्माकी निर्मल परिणतिको धर्म कहते हैं । वह धर्म गृहस्थ और मुनिके भेदसे दो प्रकारका होता है । गृहस्थधर्मके दर्शन प्रतिमा आदि ग्यारह भेद हैं और मुनिधर्मके उत्तम क्षमा आदि दश भेद हैं । इन दोनों प्रकारके धर्मोंके पहले सम्यग्दर्शनका होना आवश्यक है उसके विना धर्मका प्रारम्भ नहीं होता ।। ६८ ।।

गृहस्थके ग्यारह धर्म

दंसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्ते य ।
बम्हारंभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे ।। ६९ ।।

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभक्तव्रत, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये ग्यारह देशविरत अर्थात् गृहस्थधर्मके भेद हैं ।। ६९ ।।

मुनिधर्मके दश भेद

उत्तमखममद्दवज्जवसच्चसउच्चं च संजमं चेव ।
तवचागमकिंचण्हं बम्हा इदि दसविहं होदि ।। ७० ।।

उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमआर्जव, उत्तमसत्य, उत्तमशौच, उत्तमसंयम, उत्तमतप, उत्तमत्याग, उत्तमआकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये मुनिधर्मके दश भेद हैं ।। ७० ।।

उत्तमक्षमाका लक्षण

कोहुप्पत्तिस्स पुणो वहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं ।
ण कुणदि किंचि वि कोहो तस्स खमा होदि धम्मो त्ति ॥ ७१ ॥

यदि क्रोधकी उत्पत्तिका साक्षात् वहिरङ्ग कारण हो फिर भी जो कुछ भी क्रोध नहीं करता उसके क्षमा धर्म होता है ॥ ७१ ॥

मार्दवधर्मका लक्षण

कुलरूवजादिवुद्धिसु तपसुदसीलेसु गारवं किंचि ।
जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स ॥ ७२ ॥

जो मुनि कुल, रूप, जाति, वुद्धि, तप, श्रुत तथा शीलके विषयमें कुछ भी गर्व नहीं करता, उसके मार्दव धर्म होता है ॥ ७२ ॥

आर्जवधर्मका लक्षण

मोत्तूण कुडिलभावं णिम्मलहिदएण चरदि जो समणो ।
अज्जवधम्मं तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण ॥ ७३ ॥

जो मुनि कुटिलभावको छोड़कर निर्मल हृदयसे आचरण करता है उसके नियमसे तीसरा आर्जव धर्म होता है ॥ ७३ ॥

सत्यधर्मका लक्षण

परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं ।
जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं ॥ ७४ ॥

दूसरोंको संताप करनेवाले वचनको छोड़कर जो भिक्षु स्वपरहितकारी वचन बोलता है उसके चौथा सत्यधर्म होता है ॥ ७४ ॥

शौचधर्मका लक्षण

कंखाभावणिवित्तिं किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो ।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं ॥ ७५ ॥

जो उत्कृष्ट मुनि काङ्क्षाभावसे निवृत्ति कर वैराग्यभावसे युक्त रहता है, उसके शौचधर्म होता है ॥ ७५ ॥

संयमधर्मका लक्षण

वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण ।
परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा ॥ ७६ ॥

मन वचन कायकी प्रवृत्तिरूप दण्डको त्यागकर तथा इन्द्रियोंको जीतकर जो व्रत और समितियोंके पालनरूप प्रवृत्ति करता है उसके नियमसे संयमधर्म होता है ॥ ७६ ॥

उत्तम तपका लक्षण

विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण ॥७७॥

विषय और कषायके विनिग्रहरूप भावको करके जो ध्यान और स्वाध्यायके द्वारा आत्माकी भावना करता है उसके नियमसे तप होता है ॥ ७७ ॥

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवे चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥७८॥

जो समस्त द्रव्योंके विषयमें मोहका त्याग कर तीन प्रकारके निर्वेदकी भावना करता है उसके त्याग धर्म होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ७८ ॥

आकिञ्चन्य धर्मका लक्षण

होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुदुहदं।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्स किंचण्हं ॥७९॥

जो मुनि निःसङ्ग—निष्परिग्रह होकर सुख और दुःख देनेवाले अपने भावोंका निग्रह करता हुआ निर्द्वन्द्व रहता है अर्थात् किसी इष्ट-अनिष्टके विकल्पमें नहीं पड़ता है उसके आकिञ्चन्य धर्म होता है ॥ ७९ ॥

ब्रह्मचर्य धर्मका लक्षण

सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं।
सो बम्हचेरभावं सक्कदि खलु दुद्धरं धरिदुं ॥८०॥

जो स्त्रियोंके सब अंगोंको देखता हुआ उनमें खोटे भावको छोड़ता है अर्थात् किसी प्रकारके विकार भावको प्राप्त नहीं होता वह निश्चयसे अत्यन्त कठिन ब्रह्मचर्य धर्मको धारण करनेके लिये समर्थ होता है ॥ ८० ॥

सावयधम्मं चत्ता जदिधम्मे जो हु वट्टए जीवो।
सो णय वज्जदि मोक्खं धम्मं इदि चिंतए णिच्चं ॥८१॥

जो जीव श्रावक धर्मको छोड़कर मुनिधर्म धारण करता है वह मोक्षको नहीं छोड़ता है अर्थात् उसे मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होती है इस प्रकार निरन्तर धर्मका चिन्तन करना चाहिये।

भावार्थ—गृहस्थ धर्म परम्परासे मोक्षका कारण है और मुनिधर्म साक्षात् मोक्षका कारण है इसलिये यहां गृहस्थके धर्मको गौणकर मुनिधर्मकी प्रभुता बतलानेके लिये कहा गया है कि जो गृहस्थ धर्मको छोड़कर मुनिधर्ममें प्रवृत्त होता है वह मोक्षको नहीं छोड़ता अर्थात् उसे मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है ॥ ८१ ॥

णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो।
मज्झत्थभावणाए सुद्धप्पं चिंतए णिच्चं ॥८२॥

निश्चयनयसे जीव गृहस्थ धर्म और मुनिधर्मसे भिन्न है इसलिये दोनों धर्मोंमें मध्यस्थ भावना रखते हुए निरन्तर शुद्ध आत्माका चिन्तन करना चाहिये।

भावार्थ—मोह और लोभसे रहित आत्माकी निर्मल परिणतिको धर्म कहते हैं। गृहस्थ धर्म तथा मुनि धर्म उस निर्मल परिणतिके प्रकट होनेमें सहायक होनेसे धर्म कहे जाते हैं, परमार्थसे धर्म नहीं हैं इसलिये दोनोंमें मध्यस्थभाव रखते हुए शुद्ध आत्माके चिन्तनकी ओर आचार्यने यहां प्रेरणा दी है ॥ ८२ ॥

बोधिदुर्लभ भावना

उपज्जदि सण्णाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स।
चिंता हवेइ बोहो अच्चंतं दुल्लहं होदि ॥८३॥

जिस उपायसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है उस उपायकी चिन्ता बोधि है, यह बोधि अत्यन्त दुर्लभ है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको बोधि कहते हैं इसकी दुर्लभताका विचार करना सो बोधिदुर्लभभावना है ॥ ८३ ॥

कम्मुदयजपज्जायं हेयं खाओवसमियणाणं तु।
सगदव्वमुवादेयं णिच्छयत्ति होदि सण्णाणं ॥८४॥

कर्मोदयसे होने वाली पर्याय होनेके कारण क्षायोपशमिक ज्ञान हेय है और आत्मद्रव्य उपादेय है ऐसा निश्चय होना सम्यग्ज्ञान है ॥ ८४ ॥

मूलुत्तरपयदीओ मिच्छत्तादी असंखलोगपरिमाणा।
परदव्वं सगदव्वं अप्पा इदि णिच्छयणएण ॥८५॥

मिथ्यात्वको आदि लेकर असंख्यात लोक प्रमाण जो कर्मोंकी मूल तथा उत्तर प्रकृतियां हैं वे परद्रव्य हैं और आत्मा स्वद्रव्य है ऐसा निश्चयनयसे कहा जाता है।

भावार्थ—ज्ञायक स्वभावसे युक्त आत्मा स्वद्रव्य है और उसके साथ लगे हुए जो नोकर्म द्रव्यकर्म तथा भावकर्म हैं वे सब परद्रव्य हैं ऐसा निश्चयनयसे जानना चाहिये ॥ ८५ ॥

एवं जायदि णाणं हेयमुवादेय णिच्छये णत्थि।
चिंतिज्जइ मुणि बोहिं संसारविरमणट्ठे य ॥८६॥

इस प्रकार स्वद्रव्य और परद्रव्यका चिन्तन करनेसे हेय और उपादेयका ज्ञान होता है अर्थात् परद्रव्य हेय है और स्वद्रव्य उपादेय है। निश्चयनयमें हेय और उपादेयका विकल्प नहीं है। मुनिको संसारका विराम करनेके लिये बोधिका विचार करना चाहिये ॥ ८६ ॥

वारस अणुवेक्खाओ पच्चक्खाणं तहेव पडिक्कमणं ।
आलोयणं समाहिं तम्हा भावेज्ज अणुवेक्खं ॥ ८७ ॥

ये वारह अनुप्रेक्षाएं ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधि हैं इसलिये इन अनुप्रेक्षाओंकी निरन्तर भावना करनी चाहिये ॥ ८७ ॥

रत्तिदिवं पडिकमणं पच्चक्खाणं समाहिं सामइयं ।
आलोयणं पकुव्वदि जदि विज्जदि अप्पणो सत्ती ॥ ८८ ॥

यदि अपनी शक्ति है तो रात दिन प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि, सामायिक और आलोचना करना चाहिये ॥ ८८ ॥

मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण वारअणुवेक्खं ।
परिभाविऊण सम्मं पणमामि पुणो पुणो तेसिं ॥ ८९ ॥

जो पुरुष अनादिकालसे वारह अनुप्रेक्षाओंका अच्छी तरह चिन्तन कर मोक्ष गये हैं मैं उन्हें वारवार प्रणाम करता हूँ ॥ ८९ ॥

किं पलविएण वहुणा, जे सिद्धा णरवरा गये काले ।
सिज्झिहदि जेवि भवियां तं जाणह तस्स माहप्पं ॥ ९० ॥

वहुत कहनेसे क्या लाभ है ? भूतकालमें जो श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं और जो भविष्यत् कालमें सिद्ध होवेंगे उसे अनुप्रेक्षाओंका ही माहात्म्य जानो ॥ ९० ॥

इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहे ।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं ॥ ९१ ॥

इस प्रकार कुन्दकुन्द मुनिराजने निश्चय और व्यवहारका आलम्वन लेकर जो कहा है शुद्ध हृदय होकर जो उसकी भावना करता है वह परम निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ ९१ ॥

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्यविरचित वारसणुपेक्खा—वारह अनुप्रेक्षा ग्रन्थमें
वारह अनुप्रेक्षाओंका वर्णन समाप्त हुआ ।

●

भक्तिसंग्रह

•

भक्तिसंग्रह

१. तीर्थंकरभक्ति

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंतजिणे ।
णरपवरलोयमहिए विहुयरयमले महप्पण्णे ॥ १ ॥

जो कर्मरूप शत्रुओंको जीतने वालोंमें श्रेष्ठ हैं, केवलज्ञानसे युक्त हैं, अनन्त-संसारको जीतने वाले हैं, लोकश्रेष्ठ चक्रवर्ती आदि जिनकी पूजा करते हैं, जिन्होंने ज्ञानावरण दर्शनावरण नामक रजरूपी मलको दूर कर दिया है तथा जो महाप्राज्ञ—उत्कृष्ट ज्ञानवान् हैं ऐसे तीर्थंकरोंकी स्तुति करूंगा ॥ १ ॥

लोयस्सुज्जोययरे धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे ।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो ॥ २ ॥

मैं लोकको प्रकाशित करने वाले तथा धर्मरूपी तीर्थके कर्ता जिनोंको नमस्कार करता हूं । और अरहंत पदको प्राप्त केवलज्ञानी चौबीस तीर्थंकरोंका कीर्तन करूंगा ॥ २ ॥

उसहमजियं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ ३ ॥

मैं ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन और सुमति जिनेन्द्रकी वन्दना करता हूँ । इसी प्रकार पद्मप्रभ, सुपार्श्व और चन्द्रप्रभ भगवान्को नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

सुविहिं च पुप्फयंतं सीयल सेयं च वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं भयवं धम्मं संतिं च वन्दामि ॥ ४ ॥

मैं सुविधि अथवा पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयान्स, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म और शान्तिनाथ भगवान्को नमस्कार करता हूं ॥ ४ ॥

कुंथुं च जिणवरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं ।
वंदामि रिट्ठणेमिं तह पासं वड्ढमाणं च ॥ ५ ॥

मैं कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, अरिष्टनेमि, पार्श्व और वर्धमान जिनेन्द्रको नमस्कार करता हूं ॥ ५ ॥

एवं मए अभित्थुया विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ६ ॥

इस प्रकार मेरे द्वारा जिनकी स्तुति की गई है, जिन्होंने आवरणरूपी मलको नष्ट कर दिया है, जिनके जरा और मरण नष्ट हो गये हैं तथा जो जिनोंमें श्रेष्ठ हैं ऐसे चौबीस तीर्थंकर मेरे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ६ ॥

किंत्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्गणाणलाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं॥ ७॥

जो मेरे द्वारा कीर्तित, वन्दित, और पूजित हैं, लोकमें उत्तम हैं, तथा कृतकृत्य हैं ऐसे ये जिनेन्द्र—चौवीस भगवान् मेरे लिये आरोग्यलाभ, ज्ञानलाभ, समाधि और बोधि प्रदान करें॥ ७॥

चंदेहि णिम्मलयरा आइच्चेहिं अहिय पयासंत्ता।
सायरमिव गंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु॥ ८॥

जो चन्द्रोंसे अधिक निर्मल हैं, सूर्योंसे अधिक प्रभासमान हैं, समुद्रके समान गंभीर हैं तथा सिद्ध पदको प्राप्त हुए हैं ऐसे चौबीस जिनेन्द्र मेरे लिये सिद्धि प्रदान करें॥ ८॥

अंचलिका

इच्छामि भंते! चउवीसतित्थयरभातिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, पंच महाकल्लाणसंपण्णाणं अट्ठमहापाडिहेरसहियाणं चउतीसातिसयविसेससंजुत्ताणं बत्तीसदेविंदमणिमउडमत्थयमहिदाणं बलदेव-वासुदेव-चक्कहररिसिमुणि-जइ-अणगारो व गूढाणं थुइसहस्सणिलयाणं उसहाइ वीर पच्छिम मंगल महापुरिसाणं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ती हो मज्झं॥

हे भगवन्! जो मैंने चौवीस तीर्थंकर भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। जो पांच महाकल्याणकोंसे सम्पन्न हैं, आठ महाप्रातिहार्योंसे सहित हैं, चौंतीस अतिशय विशेषोंसे संयुक्त हैं, बत्तीस इन्द्रोंके मणिमय मुकुटोंसे युक्त मस्तकोंसे जिनकी पूजा होती है, बलदेव, नारायण, चक्रवर्ती, ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चार प्रकारके मुनियोंसे जो परिवृत हैं, तथा हजारों स्तुतियोंके जो घर हैं ऐसे ऋषभादि महावीर पर्यन्तके मङ्गलमय महा-पुरुषोंकी मैं निरन्तर अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वन्दना करता हूं, उन्हें नमस्कार करता हूं। उसके फल स्वरूप मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और मुझे जिनेन्द्रभगवान्के गुणोंकी सम्प्राप्ति हो।

२. सिद्धभक्ति

अट्ठविहकम्ममुक्के अट्ठगुणड्ढे अणोवमे सिद्धे।
अट्ठमपुढविणिविट्ठे णिट्ठियकज्जे य वंदिमो णिच्चं॥ १॥

जो आठ प्रकारके कर्मोंसे युक्त हैं, जो आठ गुणोंसे संपन्न हैं, अनुपम हैं, अष्टम पृथिवीमें स्थित हैं, तथा अपने समस्त कार्यको जिन्होंने समाप्त किया है ऐसे सिद्धोंको मैं नित्य नमस्कार करता हूं॥ १॥

तित्थयरेदरसिद्धे जलथल आयासणिव्वुदे सिद्धे।
अंतयडेदरसिद्धे उक्कस्सजहण्णमज्झियोगाहे॥ २॥

उड्ढमहतिरियलोए छव्विहकाले य णिव्वुदे सिद्धे ।
उवसग्गणिरुवसग्गे दीवोदहिणिव्वुदे य वंदामि ॥ ३ ॥

जो तीर्थंकर होकर सिद्ध हुए हैं, जो तीर्थंकर न होकर सिद्ध हुए हैं, जो जलसे, स्थलसे अथवा आकाशसे निर्वाणको प्राप्त हुए हैं, जो अन्तकृत् होकर सिद्ध हुए, जो अन्तकृत न होकर सिद्ध हुए, जो उत्कृष्ट जघन्य और मध्यम अवगाहनासे सिद्ध हुए हैं, जा ऊर्ध्वलोक, अधो ओथवकला तिर्यक्लोकसे सिद्ध हुए हैं, जो छह प्रकारके कालोंमें निर्वाणको प्राप्त हुए हैं, जो उपसर्ग सहकर अथवा विना उपसर्गके सिद्ध हुए हैं, तथा जो द्वीप अथवा समुद्र से निर्वाणको प्राप्त हुए हैं ऐसे समस्त सिद्धोंको मैं नमस्कार करता हूं ॥ २-३ ॥

पच्छायडेय सिद्धे दुगतिगचदुणाण पंचचदुरजमे ।
परिपडिदा परिपडिदे संजमसम्मत्तणाणमादीहिं ॥ ४ ॥

साहरणासाहरणे समुग्घादेदरे य णिव्वादे ।
ठिद पलियंक णिसण्णो विगयमले परपणाणगे वंदे ॥ ५ ॥

जिन्होंने दो[1], तीन[2] अथवा चार[3] ज्ञानोंके पश्चात् केवलज्ञान प्राप्तकर सिद्ध पद प्राप्त किया है, जिन्होंने पांचों अथवा परिहारविशुद्धिसे रहित शेष चार संयमोंसे सिद्ध पद प्राप्त किया है, जो संयम, सम्यक्त्व तथा ज्ञान आदिके द्वारा पतित होकर अथवा बिना पतित हुए सिद्ध हुए हैं, जो संहरणसे अथवा संहरणके विना ही सिद्ध हुए हैं, अथवा उपसर्गवश साभरण अथवा निराभरण सिद्ध हुए, जो समुद्घातसे अथवा समुद्घातके विना ही निर्वाणको प्राप्त हुए, जो खड्गासन अथवा पल्य-ङ्कासनसे वैठकर सिद्ध हुए हैं, जिन्होंने कर्ममलको नष्ट कर दिया है और जो परमज्ञान उत्कृष्ट केवल-ज्ञानको प्राप्त हैं ऐसे समस्त सिद्धोंको नमस्कार करता हूँ ॥ ४-५ ॥

पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा ।
सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते हु सिज्झंति ॥ ६ ॥

जो पुरुष भावपुरुष वेदका अनुभव करते हुए क्षपक श्रेणि पर आरूढ हुए अथवा भाव स्त्री अथवा भावनपुंसक वेदके उदयसे क्षपक श्रेणि पर आरूढ हुए वे शुक्लध्यानमें तल्लीन होते हुए सिद्ध अवस्थाको प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

पत्तेयसयंबुद्धा बोहियबुद्धा य होंति ते सिद्धा ।
पत्तेयं पत्तेयं समयं समयं पडिवदामि सदा ॥ ७ ॥

जो प्रत्येक वुद्ध, स्वयं वुद्ध अथवा वोधित वुद्ध होकर सिद्ध होते हैं उन सबको पृथक् पृथक् अथवा एक साथ मैं सदा नमस्कार करता हूँ ।

---

१. मतिज्ञान और श्रुतज्ञान । २. मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान अथवा मति श्रुत और मनःपर्ययज्ञान ।
३. मति श्रुत अवधि और मनःपर्ययज्ञान ।

भावार्थ—जो वैराग्यका कोई कारण देखकर विरक्त होते हैं वे प्रत्येक बुद्ध कहलाते हैं, जो किसी कारणको विना देखे ही स्वयं विरक्त होते हैं वे स्वयंबुद्ध कहलाते हैं और भोगोंमें आसक्त रहने वाले जो मनुष्य दूसरोंके द्वारा समझाये जाने पर विरक्त होते हैं वे बोधित बुद्ध कहलाते हैं ॥ ७ ॥

पण णव दु अट्ठवीसा चउ तियणवदी य दोण्णि पंचेव ।
बावण्णहीणविसया पयडि विणासेण होंति ते सिद्धा ॥ ८ ॥

पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तेरानवे, दो और पांच इस प्रकार क्रमसे ज्ञानावरणादि कर्मों की बावन कम दोसो अर्थात् एक सौ अड़तालीस प्रकृतियोंके क्षयसे वे सिद्ध होते हैं ॥ ८ ॥

अइसयमव्वावाहं सोक्खमणंतं अणोवमं परमं ।
इंदियविसयातीदं अप्पत्तं अच्चयं च ते पत्ता ॥ ९ ॥

वे सिद्ध भगवान् अतिशय, अव्याबाध, अनन्त, अनुपम, उत्कृष्ट, इन्द्रिय विषयोंसे अतीत, अप्राप्त—जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ तथा स्थायी सुखको प्राप्त हुए हैं ॥ ९ ॥

लोयग्गमत्थयत्था चरमसरीरेण ते हु किंचूणा ।
गयसित्थमूसगब्भे जारिस आयार तारिसायारा ॥ १० ॥

वे सिद्ध भगवान् लोकाग्रके मस्तक पर विराजमान हैं, चरम शरीरसे किंचित् न्यून है, तथा जिसके भीतरका मोम गल गया है ऐसे सांचेके भीतरी भागका जैसा आकार होता है वैसे आकारसे युक्त हैं ॥ १० ॥

जरमरणजन्मरहिया ते सिद्धा मम सुभत्तिजुत्तस्स ।
दिंतु वरणाणलाहं बुहयण परियत्थणं परमसुद्धं ॥ ११ ॥

जरा, मरण और जन्मसे रहित वे सिद्ध भगवान्, समीचीन भक्तिसे युक्त मुझ कुन्दकुन्दको बुधजनोंके द्वारा प्रार्थित तथा परम शुद्ध उत्कृष्ट ज्ञानका लाभ दें ॥ ११ ॥

किच्चा काउस्सग्गं चतुरट्ठयदोषविरहियं सुपरिसुद्धं ।
अइभत्तिसंपउत्तो जो वंदइ लहु लहइ परमसुहं ॥ १२ ॥

जो बत्तीस दोषोंसे रहित, अत्यन्त शुद्ध कायोत्सर्ग करके अतिशय भक्तिसे युक्त होता हुआ वन्दना करता है वह शीघ्र ही परमसुखको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

अञ्चलिका

इच्छामि भंते सिद्धिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं सम्मणाणसम्मदंसणसम्मचारित्तजुत्ताणं, अट्ठविहकम्मविप्पमुक्काणं, अट्ठगुणसंपण्णाणं, उड्ढलोयमत्थयम्मि पयट्ठियाणं, तवसिद्धाणं, संजमसिद्धाणं, अतीताणागदवट्टमाणकालत्तयसिद्धाणं, सव्वसिद्धाणं, णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि,

दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ वोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

हे भगवन् ! मैंने जो सिद्धभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है उसकी आलोचना करना चाहता हूं। जो सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे युक्त हैं, आठ प्रकारके कर्मोंसे सर्वथा रहित हैं, आठ गुणोंसे सहित हैं, ऊर्ध्वलोकके अग्रभाग पर स्थित हैं, नयसे सिद्ध हैं, संजमसे सिद्ध हैं, अतीत अनागत और वर्तमान काल सम्बन्धी सिद्ध हैं, ऐसे समस्त सिद्धोंकी मैं नित्यकाल अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वंदना करता हूं, उन्हें नमस्कार करता हूं, मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो, और मुझे जिनेन्द्र भगवान्के गुणोंकी संप्राप्ति हो।

२. श्रुतभक्ति

सिद्धवरसासणाणं सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं ।
काऊण णमुक्कारं भत्तीए णमामि अंगाइं ॥ १ ॥

जिनका उत्कृष्ट शासन लोकमें प्रसिद्ध है तथा जो कर्मोंके चक्रसे युक्त हो चुके हैं ऐसे सिद्धों को नमस्कार कर मैं भक्तिपूर्वक वारह अङ्गोंको नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

अङ्गोंके नाम

आयारं सुद्दयणं ठाणं समवाय वियाहपण्णत्ती ।
णादा धम्मकहाओ उवासयाणं च अज्झयणं ॥ २ ॥

वंदे अंतयडदसं अणुत्तरदसं च पण्हवायरणं ।
एयारसमं च तहा विवायसुत्तं णमंसामि ॥ ३ ॥

परियम्मसुत्तपढयाणुओगपुव्वगयचूलिया चेव ।
पवरवरदिट्ठिवादं तं पंचविहं पणिवदामि ॥ ४ ॥

उप्पायपुव्वमग्गायणीय वीरियत्थि णत्थि य पवादं ।
णाणासच्चपवादं आदा कम्मपवादं च ॥ ५ ॥

पञ्चक्खाणं विज्जाणुवादकल्लाणणामवरपुव्वं ।
पाणावायं किरियाविसालमध लोयविंदुसारसुदं ॥ ६ ॥

आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तः-

कृद्दश, अनुत्तरोपपाददश, प्रश्नव्याकरण, तथा ग्यारहवें विपाकसूत्र अङ्गको नमस्कार करता हूँ ॥ २-३ ॥

परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पांच दृष्टिवाद अङ्गके भेद हैं। मैं उक्त पांच प्रकारके उत्कृष्ट दृष्टिवाद अंगको नमस्कार करता हूं ॥ ४ ॥

उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणनामपूर्व, प्राणवाद, क्रियाविशाल और लोक विन्दुसार ये चौदहपूर्व हैं ॥ ५-६ ॥

पूर्वोंमें वस्तुनामक अधिकारोंकी संख्या

दस चउदस अट्ठारस वारस तह य दोसु पुव्वेसु ।
सोलस वीसं तीस दसमम्मि य पण्णरसवत्थू ॥ ७ ॥
एदेसिं पुव्वाणं जावदिओ वत्थुसंगहो भणिओ ।
सेसाणं पुव्वाणं दस दस वत्थू पडिवदामि ॥ ८ ॥

पहले पूर्वमें दश, दूसरे पूर्वमें चौदह, तीसरे पूर्वमें आठ, चौथे पूर्वमें अठारह, पाँचवें और छठवें इन दो पूर्वोंमें बारह बारह, सातवें पूर्वमें सोलह, आठवें पूर्वमें बीस, नौवें पूर्वमें तीस, दशवें पूर्वमें पन्द्रह और शेष चार पूर्वोंमें दश-दश वस्तु नामक अधिकार हैं। इन पूर्वोंमें जितने वस्तु अधिकारोंका संग्रह कहा गया है मैं उन सबको नमस्कार करता हूँ ॥ ७-८ ॥

वस्तुमें प्राभृतोंकी संख्या

एक्केक्कम्मि य वत्थू वीसं वीसं च पाहुडा भणिया ।
विसमसमावि य वत्थू सव्वे पुण पाहुडेहि समा ॥ ९ ॥

एक-एक वस्तु नामक अधिकारमें बीस-बीस पाहुड कहे गये हैं। वस्तु अधिकार तो विषम और सम दोनों प्रकारके हैं जैसे किसीमें चौदह किसीमें अठारह और किन्हींमें वारह-बारह आदि। परन्तु प्राभृतोंकी अपेक्षा सब वस्तु अधिकार समान हैं अर्थात् सब वस्तु अधिकारोंमें प्राभृतोंकी संख्या एक समान बीस-बीस है ॥ ९ ॥

चौदहपूर्वोंमें वस्तुओं और प्राभृतोंकी संख्या

पुव्वाणं वत्थुसयं पंचाणउदी हवंति वत्थूओ ।
पाहुड तिण्णि सहस्सा णवयसया चउदसाणं णि ॥ १० ॥

चौदह पूर्वोंके एक-सौ पंचानवे वस्तु अधिकार होते हैं और पाहुड तीन हजार नौ-सौ होते हैं ॥ १० ॥

एव मए सुदपवरा भत्तीराएण सत्थुया तच्चा ।
सिग्घं मे सुदलाहं जिणवर वसहा पयच्छंतु ॥ ११ ॥

इस प्रकार मैंने भक्तिके रागसे द्वादशाङ्गरूप श्रेष्ठ श्रुतका स्तवन किया। जिनवर वृषभदेव, मुझे शीघ्र ही श्रुतका लाभ देवें ॥ ११ ॥

अंचलिका

इच्छामि भंते ! सुदभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, अंगोवंगपइण्णए पाहुड परियम्म सुत्त पढमाणुओग पुव्वगय चूलिया चेव सुत्तत्थवथुइ धम्मकहाइयं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ॥

हे भगवन् ! मैंने जो श्रुतभक्ति संबंधी कायोत्सर्ग किया है उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। अंग, उपाङ्ग, प्रकीर्णक, प्राभृत, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चूलिका तथा सूत्र, स्तव, स्तुति तथा धर्मकथा आदिकी नित्यकाल अर्चा करता हूँ, पूजन करता हूँ, वन्दना करता हूँ, उन्हें नमस्कार करता हूँ। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो, और मेरे लिये जिनेन्द्र भगवान्के गुणोंकी संप्राप्ति हो।

४. चारित्रभक्ति

तिलोए सव्वजीवाणं हिदं धम्मोवदेसिणं।
वड्ढमाणं महावीरं वंदित्ता सव्ववेदिणं ॥ १ ॥
घादिकम्मविघादत्थं घादिकम्मविणासिणा।
भासियं भव्वजीवाणं चारित्तं पंचभेददो ॥ २ ॥

तीनों लोकोंमें समस्त जीवोंका हित करनेवाले, धर्मोपदेशक, सर्वज्ञ, वर्धमान महावीरको वन्दना करके चारित्र भक्ति कहता हूँ। घातिया कर्मोंका विनाश करनेवाले महावीर भगवान्ने घातिया कर्मोंका विघात करनेके लिये भव्य जीवोंको पाँच प्रकारका चारित्र कहा है ॥ १-२ ॥

पाँच प्रकारका चारित्र

सामाइयं तु चारित्तं छेदोवट्ठावणं तहा।
तं परिहारविसुद्धिं च संजमं सुहुमं पुणो ॥ ३ ॥
जहाखादं तु चारित्तं तहाखादं तु तं पुणो।
किच्चाहं पंचहाचारं मंगलं मलसोहणं ॥ ४ ॥

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात यह पाँच प्रकारका चारित्र है। इनमें यथाख्यातको तथाख्यात भी कहते हैं। मैं मलका शोधन करनेवाले और मंगलस्वरूप पाँच प्रकारका चारित्र धारण कर मुक्ति संबंधी सुखको प्राप्त करता हूँ ॥ ३-४ ॥

मुनियोंके मूलगुण तथा उत्तरगुण

अहिंसादीणि उत्ताणि महव्वयाणि पंच य।
समिदीओ तदो पंच पंच इंदियणिग्गहो ॥ ५ ॥

छब्भेयावास भूसिज्जा अण्हाणत्तमचेलदा।
लोयत्ति ठिदिभुत्ति च अदंतधावणमेव च ॥ ६ ॥

एयभत्तेण संजुत्ता रिसिमूलगुणा तहा।
दसधम्मा तिगुत्तीओ सीलाणि सयलाणि य ॥ ७ ॥

सव्वेवि य परीसहा उत्तुत्तरगुणा तहा।
अण्णो वि भासिया संता तेसिं हाणि मए कया ॥ ८ ॥

अहिंसा आदि पांच महाव्रत कहे गये हैं, पांच समितियाँ, पांच इन्द्रियोंका निग्रह, छह आवश्यक, भूमिशयन, अस्नान, अचेलकता—वस्त्ररहितपना, लौंच करना, स्थिति भक्ति—खड़े खड़े आहार लेना, अदन्तधावन, और एकभक्त—एकवार भोजन करना ये मुनियोंके मूलगुण कहे गये हैं। दश धर्म, तीन गुप्तियां, समस्त प्रकारके शील, और सब प्रकारके परिषहसे उत्तरगुण कहे गये हैं, इनके सिवाय और भी उत्तरगुण कहे गये हैं। यदि उनका पालन करते हुए मैंने उनकी हानि की तो—॥ ८-९ ॥

जइ राएण दोसेण मोहेणाणादरेण वा।
वंदित्ता सव्वसिद्धाणं संजदा सा मुमुक्खुणा ॥ ९ ॥

संजदेण मए सम्मं सव्वसंजमभाविणा।
सव्वसंजमसिद्धीओ लब्भदे मुत्तिजं सुहं ॥ १० ॥

यदि रागसे, द्वेषसे, मोहसे अथवा अनादरसे उक्त मूलगुणों अथवा उत्तरगुणोंसे तो हानि पहुंची हो तो सम्यक् रीतिसे संपूर्ण संयमका पालन करने वाले मुझ संयमी मुमुक्षको, सब सिद्धोंको नमस्कार कर उस हानिका परित्याग करना चाहिये, क्योंकि सकल संयमसे मुक्ति सम्बन्धी सुख प्राप्त होता है ॥ ९-१० ॥

अंचलिका

इच्छामि भंते! चारित्तभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, सम्मणाणुज्जोयस्स, सम्मत्ताहिट्ठियस्स, सव्वपहाणस्स, णिव्वाणमग्गस्स, कम्मणिज्जरफलस्स, खमाहारस्स, पंचमहव्वयसंपुण्णस्स, त्रिगुत्तिगुत्तस्स, पंचसमिदिजुत्तस्स, णाणज्झाणसाहणस्स, समयाइपवेसयस्स, सम्मचारित्तस्स णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ॥

हे भगवन् ! जो मैंने चारित्रभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है उसकी आलोचना करना चाहता हूं। जो सम्यग्ज्ञानरूप उद्योत—प्रकाशसे सहित है, सम्यग्दर्शनसे अधिष्ठित-युक्त है, सबमें प्रधान है, मोक्षका मार्ग है, कर्मनिर्जरा ही जिसका फल है, क्षमा ही जिसका आधार है, जो पांच महाव्रतोंसे परिपूर्ण है, तीन गुप्तियोंसे गुप्त—सुरक्षित है, पांच समितियोंसे सहित है, ज्ञान और ध्यानका साधन है, तथा आगम आदिमें प्रवेश कराने वाला है ऐसे सम्यक्चारित्रको मैं नित्य ही अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वन्दना करता हूं, नमस्कार करता हूँ। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, मुझे रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और मुझे जिनेन्द्रभगवान्‌के गुणोंकी संप्राप्ति हो।

५. योगिभक्ति

थोस्सामि गुणधराणं अणयाराणं गुणेहि तच्चेहिं।
अंजलिमउलियहत्थो अभिवंदंतो सविभवेण ॥ १ ॥

अञ्जलि द्वारा दोनों हाथोंको मुकुलित कर अपनी सामर्थ्यके अनुसार वन्दना करता हुआ मैं गुणोंके धारक अनगारों—योगियों—मुनियोंकी परमार्थभूत गुणोंके द्वारा स्तुति करता हूँ ॥ १ ॥

सम्मं चेव य भावे मिच्छाभावे तहेव बोद्धव्वा।
चइऊण मिच्छभावे सम्मम्मि उवट्ठिदे वंदे ॥ २ ॥

मुनि दो प्रकारके जानना चाहिये—एक समीचीनभावोंसे संपन्न—भावलिङ्गी और एक मिथ्याभावसे संपन्न—द्रव्यलिङ्गी। इनमें मिथ्याभाव वाले—द्रव्यलिङ्गियोंको छोड़कर समीचीनभाव वाले—भावलिङ्गी मुनियोंको वन्दना करता हूँ ॥ २ ॥

दोदोसविप्पमुक्के तिदंडविरदे तिसल्लपरिशुद्धे।
तिण्णिसगारवरहिदे तियरणसुद्धे णमंसामि ॥ ३ ॥

जो राग और द्वेष—इन दो दोषोंसे रहित हैं, जो मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिरूप तीन दण्डोंसे विरत हैं, जो माया-मिथ्या और निदान इन तीन शल्योंसे अत्यन्त शुद्ध अर्थात् रहित हैं, जो ऋद्धि-गारव रसगारव और सातगारव—इन तीन गारवोंसे रहित हैं, तथा तीन करण—मन वचन कायकी प्रवृत्तिसे शुद्ध हैं उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूं ॥ ३ ॥

चउविहकसायमहणे चउगइसंसारगमणभयभीए।
पंचासवपडिविरदे पंचिंदियणिज्जिदे वंदे ॥ ४ ॥

जो चार प्रकारकी कषायोंका मथन करने वाले हैं, जो चतुर्गतिरूप संसारके गमनरूपभयसे भीत हैं, जो मिथ्यात्व आदि पाँच प्रकारके आसवसे विरत हैं, और पञ्च इन्द्रियोंको जिन्होंने जीत लिया है ऐसे मुनियोंको मैं वन्दना करता हूं ॥ ४ ॥

छज्जीवदयापण्णे छडायदणविवज्जिदे समिदभावे ।
सत्तभयविप्पमुक्के सत्ताणभयंकरे वंदे ॥ ५ ॥

जो छह कायके जीवों पर दयालु हैं, जो छह अनायतनों (कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और इनके सेवकों) से रहित हैं, जो शान्त भावोंको प्राप्त हैं, जो सात प्रकार (इसलोक, परलोक, अकस्मात्, वेदना, अत्राण, अगुप्ति, और मरण) के भयोंसे मुक्त हैं तथा जो जीवों-को अभय प्रदान करने वाले हैं ऐसे मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५ ॥

णट्ठट्ठमयट्ठाणे पणट्ठकम्मट्ठणट्ठसंसारे ।
परमट्ठणिट्ठियट्ठे अट्ठगुणड्ढीसरे वंदे ॥ ६ ॥

जिन्होंने ज्ञान-पूजा-कुल-जाति-वल-ऋद्धि तप और शरीर सम्वन्धी आठ मदोंको नष्ट कर दिया है, जिन्होंने ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंको तथा संसारको नष्ट कर दिया है, परमार्थ—मोक्ष प्राप्त करना ही जिनका ध्येय है और जो अणिमा महिमा आदि आठ गुणरूपी ऋद्धियोंके स्वामी हैं उन मुनियोंको मैं वन्दना करता हूँ ॥ ६ ॥

णव बंभचेरगुत्ते णव णयसब्भावजाणवो वंदे ।
दहविहधम्मट्ठाई दससंजमसंजदे वंदे ॥ ७ ॥

जो मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनाके भेदसे नौ प्रकारके ब्रह्मचर्यसे सुरक्षित हैं तथा जो नौ प्रकार (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो तथा उनके नैगम-संग्रह आदि सात भेद इस तरह नौ) के नयोंके सद्भावको जानने वाले हैं ऐसे मुनियोंको वन्दना करता हूँ । इसी प्रकार जो उत्तम क्षमा आदि दश प्रकारके धर्मोंमें स्थित हैं तथा जो दश प्रकार (एकेन्द्रियादि पांच प्रकारके जीवोंकी रक्षा करना तथा स्पर्शनादि पांच इन्द्रियोंको वश करना इस तरह दश भेद वाले) संयमसे सहित हैं उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ७ ॥

एयारसंगसुदसायरपारगे वारसंगसुदणिउणे ।
वारसविहतवणिरदे तेरसकिरियादरे वंदे ॥ ८ ॥

जो ग्यारह अंग रूपी श्रुतसागरके पारगामी हैं, जो वारह अङ्गरूप श्रुतमें निपुण हैं, जो वारह प्रकारके तपमें लीन हैं तथा जो तेरह प्रकारकी क्रियाओं (पांच महाव्रत पांच समिति और तीन गुप्तियों) का आदर करने वाले हैं उन मुनियोंको वन्दना करता हूँ ॥ ८ ॥

भूदेसु दयावण्णे चउदस चउदससु गंथपरिसुद्धे ।
चउदसपुव्वपगब्भे चउदसमलवज्जिदे वंदे ॥ ९ ॥

जो एकेन्द्रियादि चौदह जीवसमास रूप जीवों पर दयाको प्राप्त हैं, जो मिथ्यात्व आदि चौदह प्रकारके अन्तरङ्ग परिग्रहसे रहित होनेके कारण अत्यन्त शुद्ध हैं, जो चौदह पूर्वोंके पाठी हैं तथा जो चौदह मलोंसे रहित हैं ऐसे मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ९ ॥

वंदे चउत्थभत्तादि जाव छम्मासखवणपडिवण्णे।
वंदे आदावंते सूरस्स य अहिमुहट्ठिदे सूरे ॥१०॥

जो चतुर्थभक्त अर्थात् एक दिनके उपवाससे लेकर छह माह तकके उपवास करते हैं उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ। जो दिनके आदि और अन्तमें सूर्यके सन्मुख स्थित होकर तपस्या करते हैं तथा कर्मोंका निर्मूलन करनेमें जो शूर हैं उन मुनियोंको वन्दना करता हूँ॥ १० ॥

बहुविहपडिमट्ठायी णिसिज्जवीरासणेक्कवासी य।
अणिट्ठीवकंडुयवदे चत्तदेहे य वंदामि ॥११॥

जो अनेक प्रकारके प्रतिमा योगोंसे स्थित रहते हैं, जो निषद्या, वीरासन और एक पार्श्व आदि आसन धारण करते हैं, जो नहीं थूकने तथा नहीं खुजलानेका व्रत धारण करते हैं तथा शरीरसे जिन्होंने ममत्वभाव छोड़ दिया है ऐसे मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूं॥ ११॥

ठाणी मोणवदीए अब्भोवासी य रुक्खमूली य।
धुदकेससंसुलोमे णिप्पडियम्मे य वंदामि ॥१२॥

जो खड़े होकर ध्यान करते हैं, मौनव्रतका पालन करते हैं, शीतकालमें आकाशके नीचे निवास करते हैं, वर्षाऋतुमें वृक्षके मूलमें निवास करते हैं, जो केश तथा डांड़ी और मूंछके बालोंका लोंच करते हैं तथा जो रोगादिके प्रतीकारसे रहित हैं ऐसे मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ॥ १२॥

जल्लमल्ललित्तगत्ते वंदे कम्ममलकलुसपरिसुद्धे।
दीहणहमंसुलोमे तवसिरि भरिये णमंसामि ॥१३॥

जल्ल (सर्वाङ्गमल) और मल्ल (एक अङ्गका मल) से जिनका शरीर लिप्त है, जो कर्मरूपी मलसे उत्पन्न होने वाली कलुषतासे रहित हैं, जिनके नख तथा डांड़ीमूँछके बाल बढ़े हुए हैं और जो तपकी लक्ष्मीसे परिपूर्ण हैं उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ॥ १३ ॥

णाणोदयाहिसित्ते सीलगुणविहूसिदे तपसुगंधे।
ववगयरायसुदड्ढे सिवगइ पहणायगे वंदे ॥१४॥

जो ज्ञानरूप जलसे अभिषिक्त हैं, शीलरूपी गुणोंसे विभूषित हैं, तपसे सुगन्धित हैं, रागरहित हैं, श्रुतसे सहित हैं और मोक्षगतिके मार्गके नायक हैं उन मुनियोंको मैं वन्दना करता हूँ॥ १४ ॥

उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे य घोरतवे।
वंदामि तवमहंते तवसंजमइड्ढिसंजुत्ते ॥१५॥

जो उग्रतप, दीप्ततप, तप्ततप, महातप, और घोरतपको धारण करने वाले हैं, जो तपके कारण इन्द्रादिके द्वारा पूजित हैं तथा जो तप, संयम और ऋद्धियोंसे सहित हैं उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूं॥ १५॥

आमोसहिए खेलोसहिए जल्लोसहिए तवसिद्धे ।
विप्पोसहिए सव्वोसहिए वंदामि तिविहेण ॥ १६ ॥

जो आमौषधि, खेलौषधि, जल्लौषधि, विप्रुष् औषधि और सर्वौषधिके धारक हैं तथा तपसे प्रसिद्ध अथवा कृतकृत्य हैं उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १६ ॥

अमयमहुखीरसप्पिसवीए अक्खीणमहाणसे वंदे ।
मणबलि-वचबलि-कायबलिणो य वंदामि तिविहेण ॥ १७ ॥

अमृतस्रावी, मधुस्रावी, क्षीरस्रावी, सर्पिःस्रावी, ऋद्धियोंके धारक, अक्षीणमहानस ऋद्धिके धारक तथा मनोबल, वचनबल और कायबल ऋद्धिके धारक मुनियोंको मैं तीन प्रकार से—मन वचन कायसे नमस्कार करता हूँ ॥ १७ ॥

वरकुट्ठबीयबुद्धी पदाणुसारी य भिण्णसोदारे ।
उग्गहईहसमत्थे सुत्तत्थविसारदे वंदे ॥ १८ ॥

उत्कृष्ट कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारी और संभिन्नश्रोतृत्व ऋद्धिके धारक, अवग्रह और ईहा ज्ञानमें समर्थ तथा सूत्रके अर्थमें निपुण मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १८ ॥

आभिणिबोहिय-सुद ओहिणाणि मणणाणिसव्वणाणी य ।
वंदे जगप्पदीवे पच्चक्खपरोक्खणाणी य ॥ १९ ॥

मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और सर्वज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी इस तरह जगत्को प्रकाशित करनेके लिये प्रदीप स्वरूप प्रत्यक्षज्ञानी और परोक्षज्ञानी मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १९ ॥

आयासतंतुजलसेढिचारणे जंघचारणे वंदे ।
विउवणइड्ढिपहाणे विज्जाहरपण्णसवणे य ॥ २० ॥

आकाश, तन्तु, जल तथा पर्वतकी अटवी आदिका आलम्बन लेकर चलनेवाले मुनियोंको, जङ्घाचारण ऋद्धिके धारक, विक्रियाऋद्धिके धारक, विद्याधर मुनियोंको और प्रज्ञाश्रमण ऋद्धिके धारक मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २० ॥

गइचउरंगुलगमणे तहेव फलफुल्लचारणे वंदे ।
अणुवमतवमहंते देवासुरवंदिदे वंदे ॥ २१ ॥

मार्गमें चार अंगुल ऊपर गमन करनेवाले, फल और फूलोंपर चलनेवाले, अनुपम तपसे पूजनीय तथा देव और असुरोंके द्वारा वन्दित मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २१ ॥

जियभयउवसग्गे जियइंदियपरीसहे जियकसाए ।
जियरायदोसमोहे जियसुहदुक्खे णमंसामि ॥ २२ ॥

जिन्होंने भयको जीत लिया है, उपसर्गको जीत लिया है, इन्द्रियोंको जीत लिया है, परीषहोंको जीत लिया है, कषायोंको जीत लिया है, राग द्वेष और मोहको जीत लिया है तथा सुख और दुःखको जीत लिया है उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २२ ॥

एवं मए अभित्थुया अणयारा रागदोसपरिसुद्धा ।
संघस्स वरसमाहिं मज्झवि दुक्खक्खयं दिंतु ॥ २३ ॥

इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुत, तथा राग-द्वेषसे विशुद्ध—रहित मुनि, संघको उत्तमसमाधि प्रदान करें और मेरे भी दुःखोंका क्षय करें ॥ २३ ॥

अंचलिका

इच्छामि भंते ! योगिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, अड्ढाइज्जदीवदोसमुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु आदावणरुक्खमूलअब्भोवासठाणमोणवीरासणेक्कपासकुक्कुडासणचउत्थपक्खखवणादियोगजुत्ताणं सव्वसाहूणं णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि वंदामि णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होऊ मज्झं ॥

हे भगवन् ! मैंने योगिभक्ति संबंधी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। अढ़ाई द्वीप, दो समुद्रों तथा पन्द्रह कर्मभूमियोंमें आतापनयोग, वृक्षमूलयोग, अभ्रावास (खुले आकाशके नीचे बैठना) योग, मौन, वीरासन, एकपार्श्व, कुक्कुटासन, उपवास तथा पक्षोपवास आदि योगोंसे युक्त समस्त साधुओंकी नित्य ही अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। उसके फलस्वरूप मेरे कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र भगवान्‌के गुणोंकी संप्राप्ति हो।

६. आचार्यभक्ति

देसकुलजाइसुद्धा विसुद्धमणवयणकायसंजुत्ता ।
तुम्हं पायपयोरुहमिह मंगलमत्थु मे णिच्चं ॥ १ ॥

देश, कुल और जातिसे विशुद्ध तथा विशुद्ध, मन, वचन कायसे संयुक्त हे आचार्य ! तुम्हारे चरणकमल मुझे इस लोकमें नित्य ही मंगलरूप हों ॥ १ ॥

सगपरसमयविदण्हू आगमहेदूहिं चावि जाणित्ता ।
सुसमत्था जिणवयणे विणये सत्ताणुरूवेण ॥ २ ॥

वे आचार्य स्वसमय और परसमयके जानकार होते हैं, आगम और हेतुओंके द्वारा पदार्थोंको

को जानकर जिनवचनोंके कहनेमें अत्यन्त समर्थ होते हैं और शक्ति अथवा प्राणियोंके अनुसार विनय करनेमें समर्थ रहते हैं ॥ २ ॥

बालगुरुवुड्ढसेहे गिलाणथेरे य खमणसंजुत्ता।
वट्टावयगा अण्णे दुस्सीले चावि जाणित्ता ॥ ३ ॥

वे आचार्य, बालक, गुरु, वृद्ध, शैक्ष्य रोगी और स्थविर मुनियोंके विषयमें क्षमासे सहित होते हैं तथा अन्य दुःशील शिष्योंको जानकर सन्मार्गमें वर्ताते हैं--लगाते हैं ॥ ३ ॥

वदसमिदिगुत्तिजुत्ता मुत्तिपहे ठावया पुणो अण्णे।
अज्झावयगुणणिलये साहुगुणेणावि संजुत्ता ॥ ४ ॥

वे आचार्य व्रत, समिति और गुप्तिसे सहित होते हैं, अन्य जीवोंको मुक्तिके मार्गमें लगाते हैं, उपाध्यायोंके गुणोंके स्थान होते हैं तथा साधु परमेष्ठीके गुणोंसे संयुक्त रहते हैं ॥ ४ ॥

उत्तमखमाए पुढवी पसण्णभावेण अच्छजलसरिसा।
कम्मिंधणदहणादो अगणी वाऊ असंगादो ॥ ५ ॥

वे आचार्य उत्तमक्षमासे पृथिवीके समान हैं, निर्मलभावोंसे स्वच्छ जलके सदृश हैं, कर्मरूपी ईंधनके जलानेसे अग्नि स्वरूप हैं तथा परिग्रहसे रहित होनेके कारण अग्निरूप हैं ॥ ५ ॥

गयणमिव णिरुवलेवा अक्खोहा सायरुव्व मुणिवसहा।
एरिसगुणणिलयाणं पायं पणमामि सुद्धमणो ॥ ६ ॥

वे मुनिश्रेष्ठ—आचार्य, आकाशकी तरह निर्लेप और सागरकी तरह क्षोभरहित होते हैं। ऐसे गुणोंके घर आचार्य परमेष्ठीके चरणोंको मैं शुद्धमनसे नमस्कार करता हूँ ॥ ६ ॥

संसारकाणणे पुण बंभममाणेहिं भव्वजीवेहिं।
णिव्वाणस्स हु मग्गो लद्धो तुम्हं पसाएण ॥ ७ ॥

हे आचार्य ! संसाररूपी अटवीमें भ्रमण करनेवाले भव्य जीवोंने आपके प्रसादसे निर्वाणका मार्ग प्राप्त किया है ॥ ७ ॥

अविसुद्धलेस्सरहिया विसुद्धलेस्साहि परिणदा सुद्धा।
रुद्दट्टे पुण चत्ता धम्मे सुक्के य संजुत्ता ॥ ८ ॥

वे आचार्य, अविशुद्ध अर्थात् कृष्ण, नील, और कापोत लेश्यासे रहित तथा विशुद्ध अर्थात् पीत पद्म और शुक्ललेश्याओंसे युक्त होते हैं। रौद्र तथा आर्तध्यानके त्यागी और धर्म्य तथा शुक्लध्यानसे सहित होते हैं ॥ ८ ॥

उग्गहईहावायाधारणगुणसंपदेहिं संजुत्ता।
सुत्तत्थभावणाए भावियमाणेहिं वंदामि ॥ ९ ॥

वे आचार्य, आगमके अर्थकी भावनासे भाव्यमान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा नामक गुणरूपी संपदाओंसे संयुक्त होते हैं। उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ९ ॥

तुम्हं गुणगणसंथुदि अजाणमाणेण जो मया वुत्तो।
देउ मम बोहिलाहं गुरुभत्तिजुदत्थओ णिच्चं ॥ १० ॥

हे आचार्य! आपके गुणसमूहकी स्तुतिको न जानते हुए मैंने जो बहुत भारी भक्तिसे युक्त स्तवन कहा है वह मेरे लिये निरन्तर बोधिलाभ—रत्नत्रयकी प्राप्ति प्रदान करे ॥ १० ॥

अंचलिका

इच्छामि भंते! आयरियभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, सम्मणाण-सम्मदंसणसम्मचारित्तजुत्ताणं पंचविहाचाराणं आयरियाणं, आयारादिसुदणाणोव-देसयाणं उवज्झायाणं, तिरयणगुणपालणरयाणं सव्वसाहूणं, णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ॥

हे भगवन्! मैंने आचार्यभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करना चाहता हूं। जो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे युक्त हैं, तथा पांच प्रकारके आचारका पालन करते हैं ऐसे आचार्योंकी, आचारांग आदि श्रुतज्ञानका उपदेश देनेवाले उपाध्यायोंकी, और रत्नत्रयरूपी गुणोंके पालन करनेमें लीन समस्त साधुओंकी मैं निरन्तर अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूं, वन्दना करता हूं, नमस्कार करता हूं, उसके फलस्वरूप मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और मेरे लिये जिनेन्द्र भगवान्‌के गुणोंकी प्राप्ति हो।

७. निर्वाणभक्ति

अट्ठावयम्मि उसहो चंपाए वासुपुज्जजिणणाहो।
उज्जंते णेमिजिणो पावाए णिव्वुदो महावीरो ॥ १ ॥

अष्टापद (कैलास पर्वत) पर ऋषभनाथ, चम्पापुरमें वासुपूज्य जिनेन्द्र, ऊर्जयन्त गिरि (गिरनार पर्वत) पर नेमिनाथ और पावापुरमें महावीर स्वामी निर्माणको प्राप्त हुए हैं ॥ १ ॥

वीसं तु जिणवरिंदा अमरासुरवंदिदा धुदकिलेसा।
सम्मेदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ २ ॥

जो देव और असुरोंके द्वारा वन्दित हैं तथा जिन्होंने समस्त क्लेशोंको नष्ट कर दिया है

ऐसे वीस जिनेन्द्र सम्मेदाचलकी शिखर पर निर्माणको प्राप्त हुए हैं उन सबको नमस्कार हो ॥ २ ॥

सत्तेव य बलभद्दा जदुवणरिंदाण अट्ठकोडीओ।
गजपंथे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ ३ ॥

सात बलभद्र और आठ करोड़ यादव वंशी राजा गजपन्था गिरिके शिखरपर निर्वाणको प्राप्त हुए हैं उन्हें नमस्कार हो ॥ ३ ॥

वरदत्तो य वरंगो सायरदत्तो य तारवरणयरे।
आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ ४ ॥

वरदत्त, वराङ्ग, सागरदत्त और साढे तीन करोड़ मुनिराज तारवर नगरमें निर्वाणको प्राप्त हुए हैं उन्हें नमस्कार हो ॥ ४ ॥

णेमिसामी पज्जुण्णो संवुकुमारो तहेव अणिरुद्धो।
बाहत्तरकोडीओ उज्जंते सत्तसया सिद्धा ॥ ५ ॥

नेमिनाथ स्वामी, प्रद्युम्न, शम्बुकुमार, अनिरुद्ध, और बहत्तर करोड़ सात सौ मुनि ऊर्जयन्त गिरिपर सिद्ध हुए हैं ॥ ५ ॥

रामसुआ विण्णि जणा लाडरिंदाण पंचकोडीओ।
[1]पावागिरिवरसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ ६ ॥

रामचन्द्र के दो पुत्र, लाटदेशके पांच करोड़ राजा पावागिरिके शिखरपर निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो ॥ ६ ॥

पंडुसुआ तिण्णि जणा दविडणरिंदाण अट्ठकोडीओ।
सित्तुंजयगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ ७ ॥

पाण्डुके तीन पुत्र (युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन) और आठ करोड़ द्रविड राजा शत्रुञ्जयगिरि के शिखरपर निर्वाणको प्राप्त हुए, उन्हें नमस्कार हो ॥ ७ ॥

[2]रामहणूसुग्गीवो गवयगवक्खो य णील महणीला।
णवणवदीकोडीओ तुंगीगिरिणिव्वुदे वंदे ॥ ८ ॥

राम, हनुमान्, सुग्रीव, गवय, गवाक्ष, नील, महानील तथा निन्यानवे करोड़ मुनिराज तुङ्गी पर्वतसे निर्वाणको प्राप्त हुए उन्हें वन्दना करता हूँ ॥ ८ ॥

[3]अंगाणंगकुमारा विक्खापंचद्धकोडिरिसिसहिया।
सुवण्णगिरिमत्थयत्थे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ ९ ॥

---

१. पावाए गिरिसिहरे—इति क्रिया कलापे पाठः। २. रामो सुग्गीव हणुओ इति पुस्तकान्तरे पाठः। ३. णंगाणंगकुमारा कोडिपंचद्ध मुणिवरा सहिया। सुवण्णवरगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ ९ ॥ इति पाठान्तरम्।

अङ्ग और अनङ्गकुमार साढ़े पांच करोड़ प्रसिद्ध मुनियोंके साथ सोनागिरिके शिखरसे निर्वाणको प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार हो ॥ ९ ॥

दसमुहराअस्स सुआ कोडीपंचद्धमुणिवरे सहिया ।
रेवाउहयतडग्गे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ १० ॥

दशमुख राजा अर्थात् रावणके पुत्र साढ़े पांच करोड़ मुनियोंके साथ रेवा नदीके दोनों तटोंसे मोक्षको प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार हो ॥ १० ॥

[1]रेवाणइए तीरे पच्छिमभायम्मि सिद्धवरकूडे ।
दो चक्की दह कप्पे आहुट्ठयकोडि णिव्वुदे वंदे ॥ ११ ॥

रेवा नदीके तीरपर पश्चिम भागमें स्थित सिद्धवरकूटपर दो चक्रवर्ती, दश कामदेव और साढ़े तीन करोड़ मुनिराज निर्वाणको प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार करता हूँ ॥ ११ ॥

वडवाणीवरणयरे दक्खिणभायम्मि चूलगिरिसिहरे ।
इंदजियकुंभकण्णो णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ १२ ॥

वड़वानी नगरके दक्षिण भागमें स्थित चूलगिरिके शिखरपर इन्द्रजीत और कुम्भकर्ण निर्वाणको प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार हो ॥ १२ ॥

पावागिरिवरसिहरे सुवण्णभद्दाइ मुणिवरा चउरो ।
चेलणाणईतडग्गे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ १३ ॥

चेलना नदीके तटपर स्थित पावागिरिके उत्कृष्ट शिखरपर सुवर्णभद्र आदि चार मुनिराज मोक्षको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो ॥ १३ ॥

फलहोडीवरगामे पच्छिमभायम्मि दोणगिरिसिहरे ।
गुरुदत्ताइमुणिंदा णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ १४ ॥

फलहोड़ी नामक उत्कृष्ट ग्रामके पश्चिम भागमें द्रोणगिरिके शिखरपर गुरुदत्त आदि मुनिराज निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो ॥ १४ ॥

णायकुमारमुणींदो वालिमहावालि चेव अज्झेया ।
अट्ठावयगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ १५ ॥

नागकुमार मुनिराज, वाली और महावाली कैलास पर्वतके शिखरपर निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो ॥ १५ ॥

---

१. अन्यत्र पुस्तके त्वेवं पाठः
रेवातडम्मि तीरे दक्खिणभायम्मि सिद्धवरकूडे ।
आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ १ ॥
रेवातडम्मि तीरे संभवनाथस्स केवलुप्पत्ती ।
आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ २ ॥

अच्चलपुरवरणयरे ईसाणभाए मेढगिरिसिहरे ।
आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ १६ ॥

अचलपुर (एलिचपुर) नामक उत्कृष्ट नगरकी ऐशान दिशामें मेढगिरि (मुक्तागिरि) के शिखरपर साढ़े तीन करोड़ मुनिराज मोक्षको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो ॥ १६ ॥

[1]वंसत्थलम्मि णयरे पच्छिमभायम्मि कुन्थगिरिसिहरे ।
कुलदेसभूसणमुणी णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ १७ ॥

वंशस्थल नगरके पश्चिम भागमें स्थित कुन्थगिरि (कुन्थलगिरि)के शिखरपर कुलभूषण देशभूषण मुनि निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो ॥ १७ ॥

जसहररायस्स सुआ पंचसया कलिंगदेसम्मि ।
कोडिसिला कोडिमुणी णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ १८ ॥

यशोधर राजाके पाँच-सौ पुत्र और एक करोड़ मुनि कलिङ्ग देशमें स्थित कोटिशिलासे निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो ॥ १८ ॥

[2]पासस्स समवसरणे गुरुदत्तवरदत्तपंचरिसिपमुहा ।
रिस्सिंदीगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ १९ ॥

भगवान् पार्श्वनाथके समवसरणमें गुरुदत्त, वरदत्त आदि प्रमुख पाँच मुनिराज रेशन्दीगिरि के शिखरपर निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो ॥ १९ ॥

जे जिणु जित्थु तत्था जे दु गया णिव्वुदिं परमं ।
ते वंदामि य णिच्चं तियरणसुद्धो णमंसामि ॥ २० ॥

जो जिन जहाँ-जहाँसे परम निर्वाणको प्राप्त हुए हैं मैं उनकी वन्दना करता हूँ तथा त्रिकरण— मन वचन कायसे शुद्ध होकर उन्हें नमस्कार करता हूँ ॥ २० ॥

सेसाणं तु रिसीणं णिव्वाणं जम्मि जम्मि ठाणम्मि ।
ते हं वंदे सव्वे दुक्खक्खयकारणट्ठाए ॥ २१ ॥

शेष मुनियोंका निर्वाण जिस-जिस स्थान पर हुआ है दुःखोंका क्षय करनेके लिये मैं उन सबको नमस्कार करता हूँ ॥ २१ ॥

अंचलिका

इच्छामि भंते ! परिणिव्वाणभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं । इमम्मि अवसप्पिणीए चउत्थसमयस्स पच्छिमे भाए आहुट्ठमासहीणे वासचउक्कमि

---

१. वंसत्थलवरणियडे इति पाठान्तरम्। २. 'पासस्स समवसरणे सहिया वरदत्तमुणिवरा पंच' इति पाठान्तरम्।

सेसकम्मि, पावाए णयरीए कत्तियमासस्स किण्हचउद्दसिए रत्तीए सादीए णक्खत्ते पच्चूसे भयवदो महदिमहावीरोवड्ढमाणो सिद्धिं गदो, तिसुवि लोएसु भवणवासियवाणवितरजोयिसियकप्पवासियत्ति चउव्विहा देवा सपरिवारा दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण, णिच्चकालं अच्चंति, पूजंति, वंदंति, णमंसंति, परिणिव्वाणमहाकल्लाण-पुज्जं अंचेमि पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवन् ! मैंने निर्वाण भक्ति संबंधी कायोत्सर्ग किया है उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। इस अवसर्पिणी संबंधी चतुर्थकालके पिछले भागमें साढ़े तीन माह कम चार वर्ष शेष रहने पर पावा नगरीमें कार्तिकमास श्रीकृष्णचतुर्दशीकी रात्रिमें स्वाति नक्षत्रके रहते हुए प्रभात कालमें भगवान् महति, महावीर अथवा वर्धमान स्वामी निर्वाणको प्राप्त हुए। उसके उपलक्ष्यमें तीनों लोकोंमें जो भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासीके भेदसे चार प्रकारके देव रहते हैं वे सपरिवार दिव्य गन्ध, दिव्य पुष्प, दिव्य धूप, दिव्य चूर्ण, दिव्य सुगन्धित पदार्थ, और दिव्य स्नानके द्वारा निरन्तर उनकी अर्चा करते हैं, पूजा करते हैं, वन्दना करते हैं, नमस्कार करते हैं और निर्वाण नामक महाकल्याणकी पूजा करते हैं। मैं भी यहां रहता हुआ वहां स्थित उन निर्वाण क्षेत्रोंकी नित्यकाल अर्चा करता हूं, पूजा करता हूँ, वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और मुझे जिनेन्द्र भगवान्‌के गुणोंकी संप्राप्ति हो ॥[1]

अतिशयक्षेत्र भक्तिके नामपर २१वीं गाथाके आगे निम्नाङ्कित गाथाएं प्रक्षिप्त हो गई हैं—

पासं तह अहिणंदण णायद्दहि मंगलाउरे वंदे।
अस्सारम्मे पट्टणि मुणिसुव्वओ तहेव वंदामि ॥ १ ॥

नागह्रदमें पार्श्वनाथ, मंगलापुरमें अभिनन्दन और आशारम्य नगरमें मुनिसुव्रतनाथकी वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

वाहूवलि तह वंदमि पोदनपुर हत्थिनापुरे वंदे।
संती कुंथुव अरिहो वाराणसीए सुपास पासं च ॥ २ ॥

पोदनपुरमें वाहुवली, हस्तिनापुरमें शान्ति, कुन्थु और अरनाथ तथा वाराणसीमें सुपार्श्व और पार्श्वनाथ को वन्दना करता हूँ ॥ २ ॥

महुराए अहिछित्ते वीरं पासं तहेव वंदामि।
जंवुमुणिंदो वंदे णिव्वुइपत्तोवि जंबुवणगहणे ॥ ३ ॥

मथुरामें भगवान् महावीर, अहिच्छत्रनगरमें पार्श्वनाथ, और जम्बूनामक सघन वनमें निर्वाणको प्राप्त हुए जम्बूस्वामीको नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

पंचकल्लाणठाणइ जाणिवि संजादमच्चलोयम्मि।
मणवयणकायसुद्धो सव्वे सिरसा णमंसामि ॥ ४ ॥

८. नन्दीश्वरभक्ति

अंचलिका

इच्छामि भंते ! नंदीसरभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं। णांदीसर-दीवम्मि चउदिसविदिसासु अंजणदधिमुहरदिपुरुणवावरेसु जाणि जिणचेइ-याणि ताणि सव्वाणि तिसुवि लोएसु भवणवासियवाणवितरजोइसियकप्पवासियत्ति चउविहा देवा सपरिवारा दिव्वेहि गंधेहि, दिव्वेहि पुप्फेहि, दिव्वेहि धूवेहि, दिव्वेहि चुण्णेहि, दिव्वेहि वासेहि, दिव्वेहि ण्हाणेहि आसाढकत्तियफागुणमासाणं अट्ठमिमाइं काऊण जाव पुण्णिमंति णिच्चकालं अच्चंति, पूजंति, वंदंति, णमसंति णंदीसरमहाकल्याणं करंति, अहमवि, इह संतो तत्थ संताइं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ॥

मनुष्य लोकमें पञ्चकल्याणकोंके जितने भी स्थान हैं मन वचन कायसे शुद्ध होकर उन सबको शिरसे नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

अग्गलदेवं वंदमि वरणयरे णिवडकुंडली वंदे।
पासं सिरिपुरि वंदमि लोहागिरि संख दीवम्मि ॥ ५ ॥

वर नगरमें अर्गलदेवको तथा निवडकुंडली (?) को वन्दना करता हूं। श्रीपुर, लोहागिरि और शङ्खद्वीपके पार्श्वनाथको नमस्कार करता हूं ॥ ५ ॥

गोम्मटदेवं वंदमि पंचसमधणुहदेहउच्चं तं
देवा कुणंति वुट्ठी केसरकुसुमाण तस्स उवरिम्मि ॥ ६ ॥

जिनका शरीर पांच सौ धनुप ऊँचा है, ऐसे गोम्मट स्वामीको नमस्कार करता हूँ। उनके ऊपर देव केशर और पुष्पोंकी वर्षा करते हैं ॥ ६ ॥

णिव्वाणठाण जाणि वि अइसयठाणाणि अइसये सहिया।
संजादमच्चलोए सव्वे सिरसा णमंसामि ॥ ७ ॥

मनुष्य लोकमें जितने निर्वाण स्थान और अतिशयोंसे सहित अतिशय स्थान हैं मैं उन सबको शिरसे नमस्कार करता हूं ॥ ७ ॥

जो जण पढइ तियालं णिव्वुइकंडंपि भावसुद्धीए।
भुंजदि णरसुरसुक्खं पच्छा सो लहइ णिव्वाणं ॥ ८ ॥

जो मनुष्य भावशुद्धि पूर्वक तीनों कालमें निर्वाण काण्डको पढ़ता है वह मनुष्य और देवोंके सुखको भोगता है और पश्चात् निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

हे भगवन् ! मैंने नन्दीश्वर भक्तिसम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। नन्दीश्वर द्वीपकी चारों दिशाओं तथा विदिशाओंमें अंजन गिरि, दधिमुख तथा रतिकर नामक विशाल-श्रेष्ठ पर्वतोंपर जो जिनप्रतिमाएँ हैं उन सबको त्रिलोकवर्ती भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी ये चार प्रकारके देव परिवार सहित, दिव्यगन्ध, दिव्यपुष्प, दिव्यधूप, दिव्यचूर्ण, दिव्यसुगन्धित पदार्थ, और दिव्य अभिषेकके द्वारा आषाढ, कार्तिक और फागुन मासकी अष्टमीसे लेकर पूर्णिमा पर्यन्त नित्यकाल अर्चा करते हैं, पूजा करते हैं, वन्दना करते हैं, नमस्कार करते हैं, तथा नन्दीश्वरद्वीप महान् उत्सव करते हैं। हम भी यहाँ स्थित रहते हुए, वहाँ स्थित रहनेवाली उन प्रतिमाओंकी नित्यकाल अर्चा करते हैं, पूजा करते हैं, वन्दना करते हैं, नमस्कार करते हैं। इसके फलस्वरूप हमारे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो, और जिनेन्द्र भगवान्के गुणोंकी संप्राप्ति हो ।।

९. शान्तिभक्ति

इच्छामि भंते ! संतिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं । पंचमहाकल्लाण-संपण्णाणं, अट्ठमहापाडिहेरसंहियाणं, चउतीसातिसयविसेससंजुत्ताणं, बत्तीस-देवेंदमणिमउडमत्थयमहियाणं, बलदेववासुदेवचक्कहररिसिमुणिजदिअणगारोवगूढाणं थुइसयसहस्सणिलयाणं, उसहाइवीरपच्छिममंगलमहापुरिसाणं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होऊ मज्झं ।।

हे भगवन् ! मैंने शान्तिभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। जो गर्भ-जन्मादि पांच महाकल्याणोंसे संपन्न हैं, आठ महाप्रातिहार्योंसे सहित हैं, चौंतीस अतिशय विशेषोंसे संयुक्त हैं, बत्तीस इन्द्रोंके मणिमयमुकुटोंसे युक्त मस्तकोंसे पूजित हैं, बलदेव, नारायण, चक्रवर्ती, ऋषि, मुनि, यति और अनगारोंसे परिवृत हैं और लाखों स्तुतियोंके घर हैं ऐसे ऋषभादि महावीरान्त मङ्गलमय महापुरुषोंको मैं नित्यकाल अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र भगवान्के गुणोंकी संप्राप्ति हो।

१०. समाधिभक्ति

इच्छामि भंते समाहिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, रयणत्तयपरूव-परमप्पज्झाणलक्खणसमाहिभत्तीए णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि,

दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, वोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवन्! मैंने समाधि भक्तिसम्वन्धी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। रत्नत्रयके प्ररूपकपरमात्माके ध्यानरूप समाधिभक्तिके द्वारा मैं नित्यकाल अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। उसके फलस्वरूप मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र भगवान्‌के गुणोंकी संप्राप्ति हो।

११. पञ्चगुरुभक्ति

मणुयणाइंदसुरधरियछत्तत्तया पंचकल्लाणसोक्खा वलीपत्तया।
दंसणं णाणझाणं अणंतं वलं ते जिणा दिंतु अम्हं वरं मंगलं ॥ १ ॥

राजा, नागेन्द्र और सुरेन्द्र जिनपर तीन छत्र धारण कराते हैं, तथा जो पंचकल्याणकोंके सुखसमूहको प्राप्त हैं वे जिनेन्द्र हमारे लिये उत्कृष्ट मङ्गलस्वरूप अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त-वल और उत्कृष्ट ध्यानको देवें ॥ १ ॥

जेहिं झाणग्गिवाणेहि अइथद्दयं जम्मजरमरणणयरत्तयं दड्ढयं।
जेहिं पत्तं सिवं सासयं ठाणयं ते महं दिंतु सिद्धा वरं णाणयं ॥ २ ॥

जिन्होंने ध्यानरूपी अग्नि वाणोंसे उत्पन्न मजवूत जन्म जरा और मरणरूपी तीन नगरोंको जला डाला तथा जिन्होंने शाश्वत मोक्षस्थान प्राप्त कर लिया वे सिद्ध भगवान् मुझे उत्तमज्ञान प्रदान करें ॥ २ ॥

पंचहाचारपंचग्गिसंसाहया वारसंगाइं सुअजलहि अवगाहया।
मोक्खलच्छी महंती महं ते सया सूरिणो दिंतु मोक्खं गयासं सया ॥ ३ ॥

जो पाँच आचाररूपी पाँच अग्निओंका साधन करते हैं, द्वादशांगरूपी समुद्रमें अवगाहन करते हैं तथा जो आशाओंसे रहित मोक्षको प्राप्त हुए हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी मेरे लिये सदा महत्ती मोक्षरूपी लक्ष्मीको प्रदान करें ॥ ३ ॥

घोरसंसारभीमाडवीकाणणे तिक्खवियरालणहपावपंचाणणे।
णट्ठमग्गाण जीवाण पहदेसिया वंदिमो ते उवज्झाय अम्हेसया ॥ ४ ॥

जिसमें तीक्ष्ण विकराल वरनवाला पापरूपी सिंह निवास करता है ऐसे घोर संसाररूपी भयंकर वनमें मार्ग भूले हुए जीवोंको जो मार्ग दिखलाते हैं उन उपाध्याय परमेष्ठियोंको मैं सदा वन्दना करता हूँ ॥ ४ ॥

उग्गतवचरणकरणेहिं झीणंगया धम्मवरझाण सुक्केक्कझाणं गया ।
णिब्भरं तवसिरीए समालिंगया साहनो ते महं मोक्खपहमग्गया ॥ ५ ॥

उग्र तपश्चरण करनेसे जिनका शरीर क्षीण हो गया है, जो उत्तम धर्म्य ध्यान और शुक्ल-ध्यानको प्राप्त हैं तथा तपरूपी लक्ष्मीके द्वारा जो अत्यन्त आलिङ्गित हैं वे साधु-परमेष्ठी मुझे मोक्षमार्गके दर्शक हों ॥ ५ ॥

एण थोत्तेण जो पंचगुरु वंदए, गरुयसंसारघणवेल्लि सो छिंदए ।
लहइ सो सिद्धिसोक्खाइ वरमाणणं कुणइ कम्मिंधणं पुंजपज्जालणं ॥ ६ ॥

जो इस स्तोत्रके द्वारा पञ्चगुरुओं-पञ्चपरमेष्ठियोंकी वन्दना करता है, वह अनन्त संसार-रूपी सघन वेलको काट डालता है, उत्तमजनोंके द्वारा मान्य मोक्षके सुखोंको प्राप्त होता है, तथा कर्मरूपी ईंधनके समूहको जला डालता है ॥

अरुहा सिद्धाइरिया उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी ।
एयाण णमुक्कारा भवे भवे मम सुहं दिंतु ॥ ७ ॥

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं। इनके लिये किये गये नमस्कार मुझे भवभवमें सुख देवें ॥ ७ ॥

अंचलिका

इच्छामि भंते ! पंचमहागुरुभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, अट्ठमहा-पाडिहेरसंजुत्ताणं अरहंताणं, अट्ठगुणसंपण्णाणं उड्ढलोयमत्थयम्मि पइट्ठियाणं सिद्धाणं, अट्ठपवयणमाउसंजुत्ताणं आयरियाणं, आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं, तिरयणगुणपालणरयाणं सव्वसाहूणं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ॥

हे भगवन् ! मैंने पञ्चमहागुरु भक्ति संबन्धी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करता हूँ। आठ महाप्रातिहार्योंसे सहित अरहन्त, आठगुणोंसे सम्पन्न तथा ऊर्ध्वलोकके मस्तक परस्थित सिद्ध, आठ प्रवचनमातृकासे संयुक्त आचार्य, आचारांग आदि श्रुतज्ञानका उपदेश करनेवाले उपाध्याय, और रत्नत्रयरूपी गुणोंके पालन करनेमें तत्पर सर्वसाधुओंकी मैं नित्यकाल अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वन्दना करता हूँ, और नमस्कार करता हूँ। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो, और जिनेन्द्र भगवान्के गुणोंकी संप्राप्ति हो।

१२. चैत्यभक्ति

अंचलिका

इच्छामि भंते ! चेइयभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं । अहलोय-तिरियलोय-उड्ढलोयम्मिकिट्टिमाकिट्टिमाणि जाणि जिणचेइयाणि ताणि सव्वाणि तिसुवि लोएसु भवणवासियवाणविंतर-जोइसिय-कप्पवासियत्ति चउविहा देवा सपरिवारा दिव्वेण गंधेण दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण णिच्चकालं अच्चंति, पुज्जंति, वंदंति, णमंसंति, अहमवि इह संतो तत्थ संताइं णिच्चकालं अंचेमि, पुज्जेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ॥

हे भगवन् ! मैंने चैत्यभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है, उसकी आलोचना करना चाहता हूँ । अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोकमें जो कृत्रिम अकृत्रिम जिनप्रतिमाएँ हैं उन सबको तीनों लोकोंमें निवास करनेवाले भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, और कल्पवासी इस तरह चार प्रकारके देव अपने परिवार सहित, दिव्यगन्ध, दिव्यपुष्प, दिव्यधूप, दिव्यचूर्ण, दिव्यसुगन्धित पदार्थ और दिव्यअभिषेकके द्वारा नित्यकाल अर्चा करते हैं, पूजा करते हैं, वंदना करते हैं, नमस्कार करते हैं । मैं भी यहाँ रहता हुआ वहाँ रहनेवाली प्रतिमाओंकी नित्यकाल अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूं, नमस्कार करता हूँ । इसके फलस्वरूप मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र भगवान्‌के गुणोंकी प्राप्ति हो ।

●

पञ्चास्तिकाय गाथानुक्रमणिका

समयसारगाथानुक्रमणी

प्रवचनसारगाथानुक्रमणी

नियमसारगाथानुक्रमणी

अष्टपाहुडगाथानुक्रमणी

अष्टपाहुडमें १ दंसणपाहुड २ सुत्तपाहुड ३ चारित्तपाहुड ४ वोधपाहुड ५ भावपाहुड ६ मोक्खपाहुड ७ लिंगपाहुड और ८ सीलपाहुड…इन आठ पाहुडोंका संग्रह है। इस अनुक्रमणिकामें पहला अंक पाहुडका, दूसरा गाथाका और तीसरा पृष्ठका दिखाया गया है।

8059

वारसणुवेंक्खागाथानुक्रमणी

भक्तिसंग्रहगाथानुक्रमणी

इस संग्रह में १ तीर्थंकरभक्ति २ सिद्धभक्ति ३ श्रुतभक्ति ४ चारित्रभक्ति ५ योगिभक्ति ६ आचार्यभक्ति ७ निर्वाणभक्ति ८ नन्दीश्वरभक्ति ९ शान्तिभक्ति १० समाधिभक्ति ११ पञ्चगुरुभक्ति और १२ चैत्यभक्ति इस क्रम से वारह भक्तियों का समावेश है। अनुक्रमणिका में पहला अंक भक्ति का, दूसरा गाथा का और तीसरा पृष्ठ का दिया गया है—

अंचलिका-सूची